भारतीय संविधान तथा नागरिकता

(माध्यमिक शिक्षा परिषद्, यू० पी० द्वारा स्वीकृत)

अष्टम् संशोधित संस्करण



लेखक
अम्बादत्त पंत एम० ए०
राजनीति विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

१९५९

मूल्य ४ ५० रुपया

प्रकाशक
सेन्ट्रल बुक डिपो
इलाहाबाद

प्रकाशक :
सेन्ट्रल बुक डिपो,
इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण १९५१
द्वितीय संस्करण १९५३
तृतीय संस्करण १९५४
चतुर्थ संस्करण १९५५
पंचम संस्करण १९५६
षष्ठ संस्करण १९५७
सप्तम संस्करण १९५८
अष्टम् संस्करण १९५९

मुद्रक :
बेलवेडियर प्रेस,
इलाहाबाद।

अष्टम् संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक में अनेक स्थलों पर परिवर्तन तथा सुधार कर दिये गये हैं। महापालिका अधिनियम (१९५०) के अनुसार उत्तर प्रदेश में जिन महापालिकाओं की स्थापना होगी उनके संगठन आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया गया है। राजनैतिक क्षेत्र में भी जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं उनका समावेश कर दिया गया है। आशा है अध्यापक तथा विद्यार्थी पूर्व की ही भाँति पुस्तक का स्वागत करेंगे।

३० जून १९५९ अम्बादत्त पंत

प्रथम संस्करण की भूमिका

पुस्तक मुख्यतः इंटरमीडिएट बोर्ड के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है परन्तु यह आशा है कि जन साधारण के लिए भी संविधान विषयक मुख्य मुख्य बातों की जानकारी प्राप्त करने के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

संविधान में जुलाई १९५१ तक जो कुछ परिवर्तन तथा संशोधन हुए हैं और निर्वाचन सम्बन्धी जिन नियमों की रचना हुई है उनका पुस्तक में समावेश किया गया है। इसके पश्चात् जो कुछ नये नियम बनेंगे, विद्यार्थियों के लाभ के लिए उनका भी यथाशक्ति तथा यथाशीघ्र परिशिष्ट रूप में अलग प्रकाशित करने का विचार है। राष्ट्रपति के अधिकारों की विवेचना करते हुये उनके अस्थायी अधिकारों का वर्णन इस कारण कर दिया गया है जिससे यह ज्ञात हो जाय कि संविधान आरम्भ होते समय संघीय कार्यकारिणी को क्या-क्या अधिकार दिये गये थे।

संविधान के अतिरिक्त भारतीय नागरिक जीवन की मुख्य समस्याओं का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

इस पुस्तक को लिखने में कई प्रामाणिक ग्रन्थों से सहायता ली गई है। उन सबके लेखकों तथा प्रकाशकों का लेखक अत्यन्त आभारी है। मुख्य-मुख्य ग्रन्थ जिनसे सहायता ली गई है, निम्नोक्त हैं—G. N Singh: Landmarks in Indian Constitutional and National Development; Punnaiah Constitutional History of India; Sitarammaya: History of the Indian National Congress; Smith, W. C.: Modern Islam in India; Joshi G.N.: Constitution of India; M.P. Sharma: Constitution of the Indian Republic; D. D. Basu: A Commentary on the Constitution of India; Amar Nandi: The Constitution of India; Farquhar: Modern Religious Movements in India; Yusuf Ali: A Cultural History of India; Nurullah and Naik: A Student's History of Education in India तथा India and Pakistan Year Book 1950.

इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि पुस्तक में किसी प्रकार की अशुद्धियाँ न रहें, अगर कोई अशुद्धि रह गई हो तो लेखक पाठकों से क्षमा प्रार्थना करता है। अगर कोई पाठक किसी दोष अथवा त्रुटि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करेंगे तो वह उनका अत्यन्त कृतज्ञ होगा।

प्रयाग विश्वविद्यालय — अम्बादत्त पन्त

अगस्त, १९५१

विषय-सूची

अध्याय १

भारत का संविधानिक विकास

यह कथन अत्यन्त ही सत्य है कि इतिहास राज्यों तथा शासन-तन्त्रों का स्रष्टा है। संविधान का निर्माण भी वास्तव में इतिहास के द्वारा ही होता है। इससे यह तात्पर्य है कि प्रत्येक संविधान कुछ विशेष परिस्थितियों का फल होता है और इन परिस्थितियों का जन्म इतिहास का फल है। अतएव यह आवश्यक है कि हम अपने देश के वर्तमान संविधान को उचित रूप से समझने के लिये उस विकास-क्रम का अध्ययन करें जिसका कि यह फल है। भारत के नवीन संविधान का जन्म २६ जनवरी १९५० में हुआ। परन्तु प्रत्येक देश का इतिहास एक इकाई होता है। इसलिये इस संविधान को पूर्णरूपेण समझने के लिये हम भारत के इतिहास पर प्रारम्भ से ही दृष्टिपात करना चाहिये। यह उचित ही होता कि हम प्राचीन काल से ही भारतीय राजनैतिक संगठन के विविध रूपों के ऊपर दृष्टिपात करते और इस प्रकार वर्तमान का भूत से सम्बन्ध स्थापित करते। परन्तु विस्तार-भय से ऐसा करना सम्भव नहीं। हम केवल अत्यन्त संक्षेप में आधुनिक काल में भारत के संविधानिक विकास का वर्णन करेंगे।[1]

आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतीय इतिहास में ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा अंग्रेजी शासन की स्थापना से होता है। अंग्रेज भारत में व्यापार के हेतु आये थे और इसी उद्देश्य से सन् १६०० में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई थी। अंग्रेज व्यापारियों ने सत्रहवीं शताब्दी में सूरत, मसलीपटम, हरिहरपुर, मद्रास तथा बम्बई और कलकत्ता में अपनी फैक्टरियाँ स्थापित कीं। अंग्रेजों का भारत में पुर्तगीज तथा डच व्यापारियों के द्वारा विरोध किया गया।

प्रारम्भ में अंग्रेजों का उद्देश्य केवल व्यापार था। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उनकी नीति में परिवर्तन होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भूमि-विजय की नीति अपनाई। इसका यह फल हुआ कि कालान्तर में कम्पनी एक व्यापारिक संगठन न रहकर एक प्रशासकीय शक्ति हो गई।

अँगरेजी साम्राज्य का प्रारम्भ—अठारहवीं शताब्दी में अनेक कारणों ने अंग्रेजी शक्ति के अभ्युदय में सहायता पहुँचाई। पुर्तगाल तथा हालैण्ड की

1. देखिये—Srinivasan, Democratic Govt in India, ch I

शक्ति क्षीण हो गई थी, इसलिए भारत में वे अंग्रेजों का सामना नहीं कर सके। फ्रांस ने भी भारत में व्यापारिक कम्पनी स्थापित कर ली थी तथा अंग्रेजों की ही भाँति फ्रेन्च कम्पनी भी साम्राज्य स्थापना के स्वप्न देख रही थी। परन्तु अठारहवी शताब्दी में फ्रांस का राजतन्त्र अशक्त हो गया था, इसलिये भारत में फ्रांसीसी कम्पनी को पूरी सहायता नहीं मिल सकी। भारत में मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। देश में जिस-जिस नवाब तथा राजा को अवसर मिला वह स्वाधीन होता चला गया. अराजकता फैलने लगी तथा इन राज्यों में द्वेष, वैमनस्य तथा लोभ के कारण युद्ध होने लगे।

इन राज्यों में साधारण जनता की स्थिति सोचनीय थी। अंग्रेज व्यापारियों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। भारतीय नरेशों का सैनिक-संगठन तथा युद्धकला पिछड़ी अवस्था में थी।[1] उपर्युक्त कारणों से अंग्रेजों को साम्राज्य स्थापना में सफलता मिली।

१७५७ ई० में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब के ऊपर सफलता प्राप्त की। १७६३ ई० के पश्चात् फ्रांस को भारत में साम्राज्य के मधुर-स्वप्न त्याग देने पड़े। अंग्रेजों ने इस समय तक कई शासकों पर, जैसे तंजौर, कर्नाटक, हैदराबाद, बंगाल आदि, अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था तथा कुछ भू-भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। इसके दूसरे वर्ष ही अंग्रेजों ने मुगल-सम्राट् तथा नवाब अवध को बक्सर की लड़ाई में हराया तथा इस विजय के फलस्वरूप बंगाल, बिहार व मिदनापुर की दीवानी मिली। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी शासन का आरम्भ हुआ।[2]

---

1. Clive ने लिखा है "The Moors and the Hindoos are indolent, luxurious, ignorant and cowardly beyond all conception. ....The soldiers, if they deserve that name, have not the least attachment to their Prince, he only can expect service who can pay them best, but it is a matter of indifference whom they serve."

2. "The beginning of our Indian rule dates from the second Governorship of Clive, as our military supremacy had dated from his victory at Plassey. Clive's main object was to obtain the substance, though not the name, of terriorial power, under the fiction of a grant from the Mogul Emperor. This object was obtained by the grant from Shah Alam of the Diwani or fiscal administration of Bengal, Bihar and Orissa." Ilbert, Government of India, pp. 37-38.

पार्लियामेंट के नियन्त्रण का प्रारम्भ (१७७३–१८५८) —कम्पनी के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में जनता का निर्दयतापूर्वक शोषण हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा। इन दोषों के कारण इंगलैंड में यह माँग उठने लगी कि पार्लियामेंट कम्पनी के कामों में हस्तक्षेप करे। सर्वप्रथम सन् १७६७ में पार्लियामेंट ने पाँच कानून बनाये परन्तु इनसे कम्पनी की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ अपितु यह बिगड़ती ही चली गई। सन् १७७३ में कम्पनी ने पार्लियामेंट से ऋण-याचना की। इस अवसर से लाभ उठाकर पार्लियामेंट ने कम्पनी के प्रबन्ध में सुधार की दृष्टि से दो ऐक्ट पास किये। प्रथम ऐक्ट के द्वारा पार्लियामेंट ने कम्पनी को १ ४०० ००० पौंड का ऋण ४% ब्याज की दर से दिया। दूसरे ऐक्ट के द्वारा पार्लियामेंट ने भारत में कम्पनी के संगठन तथा शासन-व्यवस्था में परिवर्तन किये। इस ऐक्ट का नाम रैग्यूलेटिंग ऐक्ट है। इसका बहुत वैधानिक महत्त्व है।

रैग्यूलेटिंग ऐक्ट का उद्देश्य अच्छा था परन्तु व्यवहार में यह सफल न हो सका क्योंकि इसके द्वारा एक दोहरी शासन व्यवस्था की स्थापना की गई थी। इन दोषों को दूर करने के लिये सन् १७८१ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक **संशोधन कानून** पास किया। पिट के प्रधानमंत्रित्व काल में सन् १७८४ में **इण्डिया ऐक्ट** पास किया गया। इस बिल का उद्देश्य कम्पनी को ब्रिटिश सरकार के पूर्णतया अधीन करने का था।[2]

कम्पनी एक व्यापारिक संस्था के साथ साथ एक प्रशासकीय शक्ति भी हो गई थी। भारत तथा चीन में कम्पनी का व्यापारिक एकाधिकार था। सन् १८१३ में भारत तथा सन् १८३३ में चीन में इस एकाधिकार का ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा अन्त कर दिया गया। इस प्रकार कम्पनी पूर्णतः एक शासन

---

1 "*The Act of 1773 is of great constitutional importance* because it definitely recognised the political functions of the Company, because it asserted for the first time the right of Parliament to dictate the form of government in what were considered till then the private possessions of the company and because it is the first of the long series of Parliamentary ... " G N ... National

2 Ilbert—Govt of India, p 63

संस्था हो गई। सन् १८३३ में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने यह घोषित किया कि भारत में जो कुछ कम्पनी के अधिकार में हैं उनके यथार्थ स्वामी ब्रिटिश सम्राट तथा उसके उत्तराधिकारी हैं। सन् १८५३ के आज्ञापत्र में यह कहा गया कि भारत की भूमि तथा प्रान्त तब तक के लिये कम्पनी को प्रदान किये जाते हैं जब तक कि पार्लियामेंट कोई अन्य आदेश न दे। इससे यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत में कम्पनी के शासन को अन्त करने का सोच रही थी।[1]

१८५७ का विद्रोह:—कम्पनी का राज्य भारत में स्थापित हो गया था। कई भारतीय प्रदेशों को पदच्युत कर दिया गया था। भारतीय प्रजा की भावनाओं का कोई आदर नहीं था और न यह जानने की कोई चेष्टा की गई थी कि भारतीय जनता कम्पनी के राज्य से सन्तुष्ट है अथवा असन्तुष्ट। इन सब बातों का फल यह हुआ कि असन्तोष बढ़ने लगा और सन् १८५७ में विद्रोह फूट पड़ा। इसने एक समय तो विदेशी शासन की जड़ हिला दी थी पर अन्त में भारतीयों की आपसी फूट के कारण यह असफल रहा।

गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट:—इस विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने कम्पनी के हाथ से समस्त शक्ति छीन लेने का निश्चय किया और इस प्रकार द्वैध-शासन का, जिसका प्रारम्भ सन् १७७३ में हुआ था, अन्त हुआ। कम्पनी ने पूरा प्रयत्न किया कि उसकी शक्ति न छीनी जावे और इस उद्देश्य से पार्लियामेंट के दोनों भवनों को आवेदन-पत्र भी दिया, परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। सन् १८५८ में पार्लियामेंट ने गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास किया। इसके द्वारा कम्पनी के राजनीतिक अधिकारों का अन्त हो गया। भारत का शासन सीधा सम्राट् (Crown) को दे दिया गया। इसके लिए एक राज्य-मंत्री नियुक्त किया गया जो कि भारत-मंत्री कहलाया। उसके सहायतार्थ एक १५ सदस्यों की भारत कौन्सिल की नियुक्ति की गई। इसमें ८ तो सम्राट् द्वारा नियुक्त तथा ७ का कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स द्वारा निर्वाचन तय हुआ। इस प्रकार कोर्ट ऑव डायरेक्टर्स के हाथ से सब शक्ति छीन ली गई। भारत-कौन्सिल के प्रत्येक सदस्य का १२०० पौंड प्रति वर्ष, वेतन निश्चित हुआ। इस कौंसिल का भारत-मंत्री अध्यक्ष था। कौन्सिल का कार्य उसको सलाह देना था। वह कौन्सिल की राय के विरुद्ध भी निर्णय कर सकता था।

भारत-मंत्री, कौन्सिल के सदस्य तथा उनके कार्यालय (India office) का व्यय भारत को देना पड़ा। भारत-मंत्री को प्रतिवर्ष पार्लियामेंट के सम्मुख

1. Sharma, S. R.—*How India is Governed*, p. 4.

भारतीय आय-व्यय तथा भारत की उन्नति पर एक वक्तव्य रखने को कहा गया।

भारत में गवर्नर-जनरल अब सम्राट् का प्रतिनिधि हो गया। इस कारण वह वाइसराय कहलाने लगा। भारत का शासन गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौन्सिल को सौंपा गया। उसकी तथा गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को दिया गया। इसके कौन्सिल के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार भारत-मंत्री तथा कौन्सिल को दिया गया। कम्पनी की सेना तथा जहाजी-बेड़ा भी सम्राट् के अधीन हो गये। इस प्रकार भारत में कम्पनी के राज्य का अन्त हुआ। १ सितम्बर, १८५८ को कोर्ट ऑव डायरेक्टरों की अन्तिम सभा हुई और उसने भारतीय साम्राज्य सम्राट् को अर्पित कर दिया।

इस ऐक्ट के पास होने के पश्चात् महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा द्वारा भारत के प्रति इंगलैंड की नीति का बखान किया। इस घोषणा में यह कहा गया कि देशी नरेशों को अपने अधिकार से च्युत नहीं किया जावेगा तथा उनके साथ हुई सन्धियों का पालन किया जावेगा। भारतीय जनता को यह आश्वासन दिया गया कि अनेक धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जावेगा तथा सरकारी पदों में शिक्षा तथा योग्यतानुसार, बिना किसी धर्म-जाति भेद के सबों को समान अवसर दिया जावेगा।

अंगरेजी शासन का द्वितीय काल (१८५८-१९१९) —इस युग में शासन के विकास में दो मुख्य बातें दृष्टिगोचर होती है। भारत में धारा सभाओं का विकास होने लगा तथा इनमें अनिश्चित इस काल में भारतीयों को भी शासन में कुछ भाग लेने का अवसर दिया जाने लगा। परन्तु यह बहुत कम था। इस समय ही भारत में कांग्रेस की नींव पड़ी तथा भारतीयों ने शासन में सुधार के लिए आन्दोलन का प्रारम्भ किया। आन्दोलन का प्रारम्भ तो इस माँग से हुआ कि भारतीयों को शासन में भाग मिलना चाहिये परन्तु २०वीं शताब्दी में लगभग आन्दोलन के बाद स्वराज्य की भावना उदित हुई। तिलक तथा ऐनी बेसेन्ट ने होमरूल लीग की स्थापना की। तिलक ने कहा कि "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है"। यह वाक्य सब प्रगतिशील भारतीयों का नारा हो गया।

इन ६० वर्षों में भारत के शासन के लिए अंग्रेजी पार्लियामेंट ने तीन नियम बनाये जो क्रमशः १८६१, १८९२ तथा १९०९ में पास हुए। इसके अतिरिक्त १९१७ में भारत मंत्री ने भारतीय शासन सम्बन्धी नीति की घोषणा की। हम इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

सन् १८६१ का ऐक्ट—यह ऐक्ट एक भारतीय विद्वान् के अनुसार दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो इसके द्वारा भारतीयों को शासन में भाग लेने का अवसर मिला और दूसरा प्रान्तों की सरकारों को कानून बनाने का अधिकार वापिस मिल गया।[1] यह अधिकार उनसे १८३३ में छीन लिया गया था।

इस ऐक्ट से गवर्नर-जनरल के कौंसिल के सदस्यों की संख्या ४ से ५ कर दी गई। गवर्नर-जनरल की कौंसिल में कानून बनाने के लिए कुछ सदस्य और जोड़े गये, जिनकी संख्या ६ से १२ तक हो सकती थी। इनमें से कम से कम आधे गैर-सरकारी सदस्य होने चाहिए थे। इनमें से कुछ भारतीय भी हो सकते थे। इनकी नियुक्ति २ वर्ष के लिए की जाती थी। परन्तु इस सभा का कानून बनाने का अधिकार अत्यन्त संकुचित था। बम्बई तथा मद्रास की सरकारों को एक निश्चित सीमा के अन्दर कानून बनाने का अधिकार मिल गया। गवर्नर-जनरल को बंगाल के लिए भी एक धारा-सभा बनाने का आदेश दिया गया। वह अन्य प्रान्तों में भी ऐसी सभा की स्थापना कर सकता था। इसके फलस्वरूप बंगाल में १८६२ ई० तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त में १८८६ ई० तथा पंजाब में १८९७ ई० में धारा-सभाओं की स्थापना हुई। इन सभाओं के सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत होते थे। इनकी संख्या ४ से ८ तक हो सकती थी।

इस ऐक्ट के द्वारा भारतीयों को कोई भी अधिकार नहीं दिया गया था। केन्द्र तथा प्रान्त में जो धारा-सभाएं बनी थीं उनकी शक्ति अत्यन्त न्यून थी तथा उनका काम यथार्थ में सरकार की आज्ञाओं को ही व्यक्त करना था।[2] जो भारतीय सदस्य मनोनीत होते थे वे या तो कोई राजा, या किसी राज्य के दीवान या बड़े जमींदार आदि होते थे। इसलिए इनसे भारतवासियों को सन्तोष नहीं हुआ। इस समय धीरे-धीरे देश में एक नया वर्ग पैदा हो रहा था जो कि अंग्रेज शिक्षा के फलस्वरूप प्रजातन्त्र तथा उत्तरदायी-शासन-व्यवस्था का पक्षपाती था। देश में बड़े संस्थाओं का जन्म होने लगा। सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। देश में इस लहर के कारण ब्रिटिश पार्लियामेंट ने १८९२ में एक नया नियम पास किया। इसको इण्डियन कौंसिल ऐक्ट कहते हैं।

---

1. G. N. Singh, Ibid. p. 77.

2. Neither at the centre nor in the provinces was it intended to set up "legislatures" as the term is usually understood. The new legislative councils were *limited in their functions* to considering legislative projects alone." Sharma, Ibid. p. 5.

१८९२ का इण्डियन कौंसिल ऐक्ट—इसके द्वारा केन्द्रीय धारा-सभा (Supreme Legislative Council) के सदस्यों की संख्या कम से कम १० तथा अधिक से अधिक १६ कर दी गई। प्रान्तीय कौंसिल में भी सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। बम्बई तथा मद्रास में यह कम से कम ८ तथा अधिक से अधिक २० कर दी गई। बंगाल के लिए अधिक से अधिक संख्या २० तथा उत्तर-पश्चिम प्रान्त और अवध के लिए १५ कर दी गई। इस ऐक्ट के द्वारा कौंसिलों को वार्षिक-वित्तीय विवरण पर सीमित बहस करने का अधिकार तथा प्रश्न पूछने का अधिकार मिल गया। इस कौंसिल में कुछ गैर-सरकारी सदस्यों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होने लगा। इससे तात्पर्य यह है कि कुछ संस्थाओं, जैसे म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, जमींदार, विश्वविद्यालय, चेम्बर ऑव कामर्स, को सरकार के सम्मुख नाम उपस्थित करने का अवसर मिला। यद्यपि यह आवश्यक नहीं था कि उनकी सिफारिश मानी ही जाय परन्तु कार्यरूप में यह कभी भी अस्वीकृत नहीं की गई।[1]

१९०९ का इण्डियन कौंसिल ऐक्ट—इस सुधार से भी जागरूक भारतीयों को सन्तोष नहीं हुआ क्योंकि यथार्थ शक्ति में उनको कोई भी भाग नहीं दिया गया था इसलिए असन्तोष बढ़ता ही गया। शिक्षित-वर्ग इनमें सबसे आगे था। कर्जन के द्वारा बंग-भंग ने इस आन्दोलन को भड़काया। सरकार ने शक्ति से इस आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की। इसके उत्तर में बंगाल में आतंकवाद का जन्म हुआ। इस आन्दोलन के कारण ब्रिटिश सरकार को नये सुधार करने को बाध्य होना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप १९०९ में एक नया नियम पास हुआ जिसको **मोर्ले-मिण्टो सुधार** कहा जाता है। मार्ले भारत मंत्री था तथा मिण्टो भारत का वाइसराय। इस अधिनियम ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी। उदाहरणार्थ केन्द्रीय धारा सभा में अधिक से अधिक ६० सदस्य, मद्रास बम्बई बंगाल संयुक्त प्रान्त बिहार तथा उड़ीसा में ५० और पंजाब बर्मा तथा आसाम में ३० हो सकते थे। इनके अतिरिक्त इन सब धारासभाओं में पदेन (ex-officio) सदस्य भी थे। धारा-सभाओं में मनोनीत तथा निर्वाचित दोनों प्रकार के सदस्य रखे गये। निर्वाचन प्रणाली अप्रत्यक्ष थी। ये सदस्य म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डस विश्वविद्यालय, चेम्बर ऑव कामर्स व्यापारिक संस्थाएँ जमींदार वर्ग आदि के द्वारा निर्वाचित होते थे। मुसलमानों को अलग मताधिकार दिया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिक निर्वाचन का आरम्भ हुआ। सभाओं में मनोनीत सदस्य दो प्रकार के थे—

1 Punniah—Constitutional History of India, p 122.

सरकारी तथा गैरसरकारी। केन्द्रीय धारा सभा में सरकारी सदस्यों का ही बहुमत रखा गया। धारा-सभाओं के अधिकारों में कुछ वृद्धि हुई। उनको प्रस्ताव रखने का अधिकार मिला परन्तु ये प्रस्ताव केवल सिफारिश थे जिनको सरकार माने या न माने। उनको बजट पर बहस करने तथा पूरक प्रश्न पूछने का भी अधिकार मिला। इस सुधार द्वारा भारत मंत्री की कौंसिल तथा वाइसराय की कौंसिल में एक-एक भारतीय सदस्य रखा गया।

इन सुधारों से देश में बड़ी निराशा हुई। यद्यपि शुरू में कुछ लोगों ने समझा कि ये उत्तरदायी शासन की दिशा में प्रथम पग हैं। परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि इनका ऐसा कोई उद्देश्य नहीं। भारतीयों के हाथ में कोई यथार्थ अधिकार नहीं आया और न वे शासन की नीति पर ही किसी प्रकार का दबाव डाल सकते थे। गोखले ने इन सुधारों से असन्तोष प्रकट किया।[1] भारत मंत्री मार्ले ने लार्ड सभा में कहा था (दिसम्बर, १९०८) कि इन सुधारों का उद्देश्य भारत में उत्तरदायी शासन स्थापित करना नहीं है।[2] इन सुधारों का एक दोष यह भी था कि पृथक् निर्वाचन प्रणाली का आरम्भ करके इन्होंने देश की एकता को बहुत धक्का पहुंचाया।

सन् १९१७ की घोषणा :—भारत में असन्तोष बढ़ता गया। ब्रिटिश सरकार की सहयोग नीति भारत में असहयोग की भावना को बढ़ा रही थी। भारतीय शासन में यथार्थ अधिकार पाने को इच्छुक थे। देश में राष्ट्रीयता की भावना दृढ़ हो रही थी। शिक्षित वर्ग तथा मध्यम वर्ग अंग्रेजी नीति से बहुत अधिक असन्तुष्ट थे। जब यह आन्तरिक अवस्था थी, उस समय योरुप में प्रथम महायुद्ध का आरम्भ हुआ। अंग्रेजों की ओर से कहा गया कि इस युद्ध का उद्देश्य प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता की रक्षा है। भारतीयों ने युद्ध में अंग्रेजी सरकार की हृदय से सहायता की। इसके बदले यह स्वाभाविक था कि भारतीय यह मांग करें कि युद्ध के पश्चात् उनको भी स्वतन्त्रता-पूर्वक अपनी नीति निर्धारित

---

1. उन्होंने कहा "That once the Government had made up their mind to adopt a particular course, nothing that the non-official members may say in the council is practically of any avail in bringing about a change in that course."

2. "If it could be said that this chapter of reforms led directly or necessarily up to the establishment of a Parliamentary system in India, I, for one, would have nothing at all to do with it..."

शासन का अधिकार हो। दोनों में होमरूल आन्दोलन आरम्भ हुआ। पहले तो सरकार ने इसको दबाने की चेष्टा की परन्तु कुछ बातों बाद भारतीयों को आश्वासन दिया गया कि युद्ध के पश्चात उनकी मांगों का ध्यान में रखा जायगा। तत्कालीन भारत मंत्री ने २० अगस्त १९१७ को ब्रिटिश संसद में यह घोषणा की कि सम्राट की सरकार की नीति जिससे कि भारत की सरकार पूर्णतया सहमत है, यह है कि शासन के प्रत्येक भाग में भारतीय जनता का सहयोग बढ़ता जाय तथा इसमें स्वायत्त संस्थाओं का विकास हो जिससे कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित हो सके। इस उद्देश्य के लिये शीघ्र ही कदम उठाने का भी वचन दिया गया। इसके साथ-साथ यह भी कहा गया कि इस नीति में क्रमशः प्रगति होगी। ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार ही जिनके ऊपर भारतीय जनता की उन्नति तथा भलाई का उत्तरदायित्व है इसका निर्णय करेंगे कि कब तथा कितना आगे बढ़ा जाय। इस घोषणा में ही यह भी कहा गया था कि भारत मंत्री भारत में आकर वाइसराय से परामर्श करेंगे।

सन् १९१७ की घोषणा भारत के संवैधानिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि इसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने प्रथम बार यह स्वीकार किया कि ब्रिटिश नीति का उद्देश्य भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना है। परन्तु कार्यरूप में इस घोषणा का फल आशाजनक नहीं निकला।

मांटेग्यू चेम्सफोर्ड योजना—भारत मंत्री मि० मांटेग्यू नवम्बर १९१७ में भारत आये तथा यहाँ के वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ इन्होंने भारत की आर्थिक दशा तथा राजनैतिक परिस्थिति से भली प्रकार परिचित होने के लिये देश का दौरा किया। इस पर्यवेक्षण के आधार पर उन्होंने भारतीय विधान के सुधार के ऊपर एक योजना प्रस्तुत की जो कि इसके निर्माणकर्ताओं के नाम से **मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना या मॉन्टफोर्ड योजना** कहलाती है। यह योजना जुलाई १९१८ में छपी थी। इसमें निम्नलिखित मुख्य बातें थीं —

(१) जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय संस्थाओं को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया जाय तथा उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की जाय।

(२) प्रान्तों में सर्वप्रथम उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए कदम उठाना चाहिये।

(३) भारतीय धारा-सभा के सदस्यों की संख्या बढ़ानी चाहिए तथा इसे जनता का अधिक प्रतिनिधित्व करना चाहिए।

(४) जैसे-जैसे ऊपर वर्णित सुधार होते जावें, भारतीय शासन के ऊपर पार्लियामेंट तथा भारत-मन्त्री की शक्ति कम होती जावे।

इसी योजना के ऊपर १९१९ का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट बना।

अंगरेजी शासन का तृतीय काल (१९१९ से १९३५ के ऐक्ट तक)

१९३५ का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट:—१९१९ के नियम की निम्नलिखित विशेषताएं थीं :—

(१) केन्द्र में इस ऐक्ट द्वारा एक भवन वाली धारा-सभा (Imperial Legislative Council) के स्थान पर दो भवनों वाली व्यवस्थापिका स्थापित की गई। उच्च भवन को राज्य-परिषद (Council of States) एवं निचले भवन को विधान-सभा (Legislative Assembly) कहा गया। राज्य-परिषद में ६० तथा विधान-सभा में १४३ सदस्य सभापति के अतिरिक्त, जो कि प्रथम ४ वर्षों के लिये गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किया जाने वाला था, रखे गये। राज्य-परिषद् में ३४ सदस्य निर्वाचित तथा शेष मनोनीत रखे गये। मनोनीत सदस्यों में २० से अधिक सरकारी नहीं हो सकते थे। निर्वाचित सदस्यों में १५ विशेष क्षेत्रों से चुने जाते थे। निर्वाचन की प्रथा प्रत्यक्ष रखी गई परन्तु यह अधिकार केवल थोड़े से व्यक्तियों को मिला क्योंकि बहुत ऊँची सम्पत्ति की योग्यता रखी गयी थी। विधान सभा में २६ सरकारी १४ मनोनीत गैर सरकारी, तथा १०३ निर्वाचित सदस्य थे। परिषद् की आयु पाँच वर्ष तथा विधान-सभा की तीन वर्ष रखी गई।

केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अधिकारों में भी कुछ वृद्धि हुई। इसको कानून बनाने, बजट पर एक निश्चित सीमा के अन्दर मत देने, प्रश्न पूछने तथा प्रस्ताव रखने का अधिकार मिला। परन्तु इन अधिकार में कई रोकें लगा दी गईं। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी बिल को जो कि दोनों भवनों द्वारा पास हो गया हो पुनः उनके विचारार्थ लौटा दे। इस प्रकार व्यवस्थापिका को कोई अधिक शक्ति नहीं दी गई थी।

केन्द्रीय कार्यकारिणी (Executive) भारत-मन्त्री तथा पार्लियामेन्ट के प्रति ही पूर्णतया उत्तरदायी रखी गयी न कि भारतीय व्यवस्थापिका के प्रति गवर्नर-जनरल के कौंसिल के सदस्यों की संख्या ८ कर दी गई। उनको यह अधिकार दिया गया था कि वह कुछ विशेष अवसरों पर अपनी कौंसिल की सम्मति को अस्वीकृत कर दे।

(२) इस ऐक्ट के द्वारा प्रान्तीय तथा केन्द्रीय विषयों को अलग-अलग कर दिया गया।

प्रान्तों की विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि की गई। यह निश्चित हुआ कि इनमें कम से कम ७० प्रतिशत निर्वाचित सदस्य होंगे २० प्रतिशत से अधिक सदस्य सरकारी नहीं होंगे। बंगाल में १३९, बम्बई में १११, मद्रास में १२७, संयुक्त प्रान्त में १२३ पंजाब में ९४ बिहार तथा उड़ीसा में १०३ मध्य प्रान्त में ७० तथा आसाम में ५३ सदस्य थे। प्रत्यक्ष निर्वाचन विधि रखी गई। साम्प्रदायिक निर्वाचन भी रखा गया। इन परिषदों की आयु ३ वर्ष रखी गई। उनके अधिकार भी कुछ बढ़ा दिये गये थे।

प्रान्तीय विषयों को दो भागों में बाँट दिया गया। एक भाग को रक्षित (Reserved) तथा दूसरे को हस्तान्तरित (Transferred) कहा गया। रक्षित विषय गवर्नर की कौंसिल के हाथ में थे। इनके लिये वह विधान परिषद् के प्रति नाममात्र को भी उत्तरदायी न थी बल्कि उसका उत्तरदायित्व गवर्नर के प्रति था। इस भाग में कानून, राजस्व (Revenue), शान्ति, यातायात, औद्योगिक मामले, न्याय, सिंचाई और अकाल निवारण आदि रखे गये। हस्तान्तरित भाग में स्थानीय स्वराज्य, जन-स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, सहकारी समिति, उद्योगधन्धों का विकास आदि रखे गये। इस भाग का प्रबन्ध गवर्नर अपने मन्त्रियों की राय से करता था। ये मन्त्री विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी थे। गवर्नर द्वारा निर्वाचित सदस्यों में से मन्त्री मनोनीत किये जाते थे। इस कार्य-विभाजन को द्वैध शासन (Dyarchy) कहा जाता है।[1]

(३) इस ऐक्ट के द्वारा गृह-सरकार में भी परिवर्तन किये गये। भारत-कौंसिल के सदस्यों की संख्या घटा दी गई। पहले यह १० और १४ के बीच थी। इस ऐक्ट द्वारा यह ८ और १२ के बीच रखी गयी। इन सदस्यों की नियुक्ति ५ वर्ष के लिये की जाती थी। भारत मन्त्री तथा उनके उपमन्त्री का वेतन अंग्रेजी खजाने से देना निश्चय हुआ।

एक नये कर्मचारी की नियुक्ति हुई जिसको कि हाई कमिश्नर (High Commissioner) कहा गया। इसका काम इंगलैंड में भारत सरकार

---

1 "The division of the sphere of Government between two authorities, one amenable to Parliament and the other responsible to the electorates is known as Dyarchy." Sapre, Indian Constitution and Administration, p 321

के एजेन्ट का था। इनको स्टोर-विभाग, भारतीय विद्यार्थी विभाग, भारतीय व्यापार-कमिश्नर के कार्यों का निरीक्षण सौंपे गये। इस प्रकार भारत-मंत्री के हाथ से एजेन्सी कार्य ले लिया गया।

(४) इसी साल एक रियासती परिषद (Chamber of Princes) की भी योजना बनी। इसका विधान १९१९ के नियम में नहीं था। इसकी स्थापना सम्राट् की एक घोषणा द्वारा हुई।

(५) इस ऐक्ट में यह भी कहा गया कि १० वर्ष के पश्चात् एक कमीशन भारत भेजा जायगा। वह इस बात की जाँच-पड़ताल करेगा कि भारत में १९१९ के ऐक्ट द्वारा स्थापित शासन व्यवस्था कहाँ तक सफल रही है।

इस ऐक्ट से भारत को सन्तोष नहीं रहा। यह आशा थी कि इस नियम के द्वारा उत्तरदायी-शासन व्यवस्था स्थापित होगी। इसी समय मँहगी, अनावृष्टि तथा भारतीय मुसलमानों के तुर्की के सुलतान के प्रति किये हुए मित्र-राष्ट्रों के व्यवहार के लिये असन्तोष ने, अंग्रेजों के प्रति असन्तुष्टता को और भड़काया। रौलट ऐक्ट तथा जलियानवाला बाग ने आग में घी का काम किया।[1] गाँधी जी के नेतृत्व तथा अली-बन्धुओं के सहयोग से एक देशव्यापी आन्दोलन फैला। इस आन्दोलन का उद्देश्य अहिंसात्मक उपायों से देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। सरकार का दमन चक्र पूरे जोरों के साथ चला। १९२० में जब नये ऐक्ट के अनुसार चुनाव हुए कांग्रेस ने उनका विरोध किया। आन्दोलन असफल रहा। इसके बाद कांग्रेस के अन्दर एक असेम्बली पार्टी बनी और इस दल के सदस्य असेम्बलियों में गये। इस समय देश में कई स्थानों में साम्प्रदायिक दंगे हुए।

साइमन कमीशन—सन् १९२७ में साइमन कमीशन भारत आया। परन्तु इसका भारतीयों ने सर्वत्र बहिष्कार किया क्योंकि इसमें कोई भी भारतीय सदस्य नहीं था। इस कमीशन की रिपोर्ट १९३० में प्रकाशित हुई परन्तु राष्ट्रीय भारत ने इसको प्रतिक्रियावादी बतलाया। इस समय विलायत में मजदूर दल की सरकार बन गई थी। इसने भारतीय समस्या को सुलझाने के लिए एक गोलमेज सभा बुलवाई। यथार्थ में गोलमेज सभा की माँग कुछ वर्ष पूर्व पं० मोतीलाल ने की थी। लेकिन उस समय अंग्रेजों ने उसे नहीं माना। इस प्रथम गोलमेज सभा में कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। इसके पश्चात् एक दूसरी

1. इन सब बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन 'राष्ट्रीय आन्दोलन' वाले अध्याय में किया गया है।

सभा बुलवाई गई। इसमें कांग्रेस ने भाग लिया परन्तु कोई फल न निकला। इसके बाद एक तीसरी गोलमेज सभा बुलवाई गई। इन सभाओं के फलस्वरूप, यह धारणा सर्वमान्य हो गई कि भारत में एकात्मक सरकार के स्थान में एक संघात्मक सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने भारत की समस्या के ऊपर एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया। इस श्वेतपत्र को ब्रिटिश पार्लियामेंट के दोनों भवनों की एक संयुक्त प्रवरसमिति (Joint Select Committee) के सम्मुख रखा गया। इस कमेटी के अध्यक्ष लार्ड लिनलिथगो थे। इस कमेटी ने जो रिपोर्ट दी उसके ऊपर १९३५ का एक्ट आधारित किया गया।

१९३५ का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट —इस ऐक्ट का राष्ट्रीय भारतीयों ने स्वागत नहीं किया क्योंकि इसका उद्देश्य भारतीयों को यथार्थ शक्ति देना नहीं था। सर० सी० वाई० चिन्तामणि जैसे नरमदली ने इसको अभारतीय ऐक्ट कहा। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थी।[1]

(१) एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना जिसमें की ब्रिटिश भारत के प्रांत तथा देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों।

(२) प्रान्तों को स्वायत्त शासनाधिकार।

(३) प्रान्तों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना परन्तु इसके साथ साथ गवर्नरों को कई विषयों में विशेषाधिकार।

(४) मद्रास बम्बई संयुक्त प्रान्त बंगाल बिहार तथा आसाम में विधान परिषदों (Upper Chambers) की स्थापना।

(५) बर्मा तथा अदन का भारत से सम्बन्ध विच्छेद।

(६) दो नये प्रान्तों—सिन्ध तथा उड़ीसा—का निर्माण तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत को गवर्नर का प्रान्त बनाया जाना।

(७) केन्द्र में द्वैध शासन प्रबन्ध की स्थापना अर्थात् आंशिक उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्रबन्ध।

(८) एक संघीय न्यायालय की स्थापना।

(९) एक रिजर्व बैंक की स्थापना।

संघ निर्माण —भारत संघ का निर्माण सम्राट की एक घोषणा द्वारा होने वाला था। परन्तु इसके लिये एक शर्त आवश्यक थी और वह यह कि उतने देशी

[1] P R Rao, A Survey of Indian Constitutionalism, p 65

राज्य संघ में आने को प्रस्तुत हो जायें जो कि कम से कम राज्य परिषद् में ५२ सदस्य भेजें तथा जिनकी जनसंख्या समस्त देशी राज्यों की जनसंख्या की आधी हो। भारत में संघ शासन स्थापित न हो सका क्योंकि देश के सब मुख्य-मुख्य राजनैतिक दल इसके विरुद्ध थे। इसका कारण यह था कि केन्द्र में गवर्नर-जनरल को इतने अधिक अधिकार दिये गये थे कि उत्तरदायी शासन असम्भव था। इसके अतिरिक्त देशी राज्यों ने भी इसमें सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया।

अधिकार विभाजन—इस ऐक्ट द्वारा अधिकारों का विभाजन संघ सरकार तथा प्रान्त की सरकारों के बीच निम्न प्रकार किया गया था —

संघ-सूची में ५९ विषय थे। उदाहरणार्थ, सेना, समुद्री तथा हवाई बेड़ा, परराष्ट्रनीति, धार्मिक विभाग, डाक, तार, टेलीफोन, रेल, संघीय सेवायें आदि आदि।

प्रान्तीय-सूची में ५४ विषय थे। उदाहरणार्थ, पुलिस, जेल, न्याय, प्रान्तीय सेवायें, स्थानीय-स्वराज्य, जन-स्वराज्य, शिक्षा, रास्ते, नहर तथा सिंचाई, कृषि, जंगलात आदि।

सम्मिलित-सूची में ३६ विषय थे। जैसे विवाह, तलाक, समाचार पत्र, मजदूर-सभायें आदि। इन विषयों पर संघ-सरकार तथा प्रान्तीय सरकार दोनों को कानून बनाने का अधिकार था।

इनके अतिरिक्त अवशिष्ट-शक्तियां (residuary powers) केन्द्रीय सरकार को दी गई थी।

संघ सरकार—केन्द्र में इस ऐक्ट के द्वारा द्वैध-सरकार स्थापित होने वाली थी। इस प्रकार कुछ विषय तो रक्षित थे और इनमें गवर्नर-जनरल, बिना अपने मन्त्रियों के काम कर सकता था। ये विषय रक्षा, परराष्ट्रनीति, कबीला क्षेत्रों से सम्बन्ध तथा ईसाई धर्म थे। इन विषयों के लिए वह अधिक से अधिक ३ कौंसिलर नियुक्त कर सकता था। अन्य विषयों में (हस्तान्तरित विषय) उसको मन्त्रियों की सलाह से काम करना था। परन्तु उसको इतने अधिकार दिये गये थे कि उनकी वह राय के विरुद्ध काम कर सकता था। कुछ अन्य विषयों में वह केवल सम्राट् के प्रति उत्तरदायी था। ये उनके विशेष उत्तरदायित्व के विषय थे—जैसे की शान्ति, अल्पसंख्यकों के हित, देशी राज्यों का हित, सरकारी सेवाओं के उचित हित आदि की रक्षा। इस प्रकार हम देखते है कि उनको इतने अधिकार दिये गये थे कि वह देश का सर्वेसर्वा था।[1]

1. गांधीजी ने उनके विषय में कहा "a personage possessing unheard of powers."

संघ में व्यवस्थापिका के दो भवन होने वाले थे। एक का नाम राज्य परिषद (Council of States) तथा दूसरे का नाम संघ सभा (Federal Assembly)। राज्य परिषद में १५६ प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत से तथा अधिक से अधिक १०४ देशी राज्यों से होने। देशी राज्य अपने प्रतिनिधियों को किसी प्रकार चुन सकते थे परन्तु ब्रिटिश भारत के १५० सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता ६ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत किये जाते परन्तु मत देने का अधिकार सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत में केवल १५०,००० व्यक्तियों को मिलता। राज्य परिषद स्थायी संस्था होती। इसके एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष अवकाश प्राप्त करते।

संघ सभा में अधिकाधिक ३७५ सदस्य होते। २५० ब्रिटिश भारत से तथा १२५ रियासतों से। ब्रिटिश भारत के २४६ सदस्य विभिन्न प्रान्तों से अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते। उनका चुनाव प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा होता। शेष ४ सदस्यों में तीन व्यवसायियों व व्यापारियों के तथा एक मजदूरों का प्रतिनिधि होता। राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन का प्रबन्ध देशी राज्य स्वयं करते। संघ-सभा की अवधि ५ वर्ष रखी गयी थी अगर यह उससे पूर्व ही भंग न कर दी गई हो।

संघीय व्यवस्थापिका को संघीय-सूची में वर्णित सब विषयों पर कानून बनाने का अधिकार होता। यह सम्मिलित सूची में वर्णित विषयों पर भी तथा प्रान्तों की स्वीकृति से प्रान्तीय सूची के विषयों पर कानून बना सकती। संकट ... में यह सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बना सकती। लेकिन ... इसको ... सार अधिकार थे परन्तु यथार्थ में इसके अधिकार नाममात्र के थे। क्योंकि ... विषयों पर यह बिना गवर्नर जनरल की अनुमति के न कानून बना सकती न कोई संशोधन कर सकती। गवर्नर जनरल के कई कानून सम्बन्धी अधिकार होने जैसे उसका आर्डीनेन्स जारी करने का अधिकार होता। वह अपनी इच्छा से कानून भी बना सकता था। गवर्नर जनरल को व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये कानूनों को अस्वीकार करने का अधिकार होता। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि इस एक्ट के अनुसार सर्वोच्च कानून बनाने वाली संस्था व्यवस्थापिका न होकर गवर्नर जनरल ही होता।

व्यवस्थापिका के वित्त अधिकार भी अत्यन्त न्यून थे। संघीय बजट का लगभग तीन चौथाई इसके अधिकार के बाहर था। शेष बजट में भी गवर्नर जनरल को कई अधिकार थे। वह अपने विशेष दायित्व को पूरा करने के हेतु

व्यवस्थापिका द्वारा किसी भी अस्वीकृत व्यय को अधिकृत व्यय की सूची में डाल सकता था।

प्रान्तीय सरकार—इस ऐक्ट द्वारा प्रान्तों को स्वराज तथा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया गया था। प्रान्तों में द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया। गवर्नर के हाथ में कोई रक्षित विषय नहीं रखे गये। सभी विषय प्रान्तीय व्यवस्थापिका तथा मन्त्रिमंडल के आधीन कर दिये गये। मन्त्रिमंडल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। परन्तु इतना होते हुए भी प्रान्तीय सरकारों पर गवर्नर-जनरल तथा भारतमन्त्री का नियंत्रण बना रहा। गवर्नर को भी कई विशेषाधिकार दिये गये थे। वह मंत्रियों के कामों में हस्तक्षेप कर सकता था। उनकी अवहेलना कर सकता था तथा विधान को स्थगित कर सकता था।

कुछ प्रान्तों में दो सदन वाली तथा कुछ में एक सदन वाली व्यवस्थापिका स्थापित की गई थी। इन व्यवस्थापिकाओं के अधिकारों पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। इसलिए प्रान्तों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन नाममात्र को ही स्थापित हुआ क्योंकि पृष्ठभूमि में गवर्नर की मूर्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती रही।

गृह-सरकार—इस ऐक्ट द्वारा गृह-सरकार में बदलाव किया गया। इंडिया-कौंसिल को हटा दिया गया तथा उसके स्थान में एक परामर्शदाताओं की समिति की स्थापना की गई। भारत-मन्त्री को यह अधिकार रहा कि वह इनकी राय माने या न माने। भारत-मन्त्री के परामर्शदाताओं की संख्या संघ बनने तक ८ से १२ तक रखी गई तथा संघ बनने के बाद इसमें तीन से छः तक सदस्य होना निश्चित किया गया। इनका वेतन १३५० पौंड वार्षिक तथा भारत के निवासी को ६०० पौंड वार्षिक भत्ता भी मिलता था। गृह-सरकार की शक्तियों में यद्यपि इस ऐक्ट द्वारा कुछ कमी की गई थी तथापि इसके पश्चात् भी वे काफी व्यापक थीं।

ऐक्ट का कार्यान्वित होना—इस नये ऐक्ट के अनुसार प्रान्तों में चुनाव हुये। कांग्रेस ने इसमें भाग लिया तथा मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा में इसका बहुमत रहा। आसाम तथा पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में भी व्यवस्थापिका में कांग्रेस दल बहुत शक्तिशाली था। जब मन्त्रिमंडल बनने का प्रश्न उठा तो कांग्रेस ने पहले तो गवर्नर के विशेषाधिकार के कारण मन्त्रिमंडल बनाना अस्वीकार कर दिया। परन्तु कुछ काल पश्चात् उनको यह आश्वासन मिला कि गवर्नर अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग साधारणतः

मन्त्रिमडल के कामो मे रोडा अटकाने का नहीं करेंगे। इसके बाद कॉंग्रेस ने ८ प्रान्तो में मन्त्रिमडल बनाया। इस ऐक्ट का सघीय भाग लागू नही किया गया। भारतीय राजनीतिक दलो ने सघीय व्यवस्था का नितान्त असतोषजनक कहा और वे इसमें भाग लेने को किसी भी दशा मे प्रस्तुत नही थे। देशी राज्य भी सघ मे सम्मिलित होने के लिए तैयार नही हुए।

१९३५ के ऐक्ट के दोष —इस ऐक्ट म कई दोष थे। सबसे मुख्य निम्नलिखित थे —

(१) इस ऐक्ट द्वारा जिस सघ का निर्माण होता, उसमें देशी राजाओ के हित सुरक्षित रहते और इस प्रकार देश के एक बड़े भाग में प्रजातन्त्र शासन-व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती थी। देशी राज्यों को बहुत अधिक महत्व दिया गया था।[1]

(२) भारतीय सघ न तो परराष्ट्र नीति मे और न आन्तरिक नीति मे ही स्वतन्त्र होता। यथार्थ मे ऐक्ट का उद्देश्य स्वतन्त्र सघ बनाना था ही नहीं। इस प्रकार सघ स्थापित होने पर भी भारत अपने भाग्य का निर्माता नही हो सकता था।

(३) केन्द्रीय कार्यकारिणी को इतने अधिक अधिकार द दिये गये थे कि वह पूर्ण रूपेण अनियन्त्रित थी। गवनर जनरल अपने मन्त्रियो की राय के विरुद्ध जो चाहे सो कर सकता था। मन्त्रिमडल के हाथो मे एक प्रकार स कुछ भी शक्ति नहीं थी और वह केवल शोभाथ था। इस ऐक्ट ने मन्त्रिमडल को सयुक्त उत्तरदायित्व सिद्धान्त पर भी आधारित नही किया।

(४) केन्द्रीय व्यवस्थापिका को भी बहुत सीमित अधिकार दिये गये थे। गवर्नर जनरल इसके बनाये किसी भी कानून को अस्वीकार कर सकता था। इसके लिये जो निर्वाचित प्रथा बनाई गई थी वह भी अत्यन्त दूषित थी। सघ सभा का अप्रत्यक्ष निर्वाचन अनहोनी बात थी। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। देशी राज्यो की व्यवस्थापिका मे करीबन ४० प्रतिशत सदस्य होते जब कि उनकी जनसख्या देश की जनसख्या की एक-

1 "I am satisfied that the system of construction of the Federation under which the nominees of autocratic rulers are to have a powerful voice in both Houses of the Federation, in order to counteract Indian democracy, is quite indefensible" A B. Keith quoted in H N Banerjee, New Constitution of India, p 41. f n.

निहाई में भी कम थी। इन राज्यों के प्रतिनिधि विदेशी सरकार के पिट्ठू होते, अतएव प्रगति के शत्रु।

(५) प्रान्तीय-स्वराज्य केवल नाममात्र को था। गवर्नर व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। उनका यथार्थ उत्तरदायित्व सम्राट के प्रति था। वे अपने मन्त्रिमडल की राय को मानना अस्वीकार कर सकते थे। इसलिए प्रान्तीय-स्वराज्य द्वारा कोई भी यथार्थ शक्ति भारतवासियों के हाथ में नहीं दी गई।[1]

अंगरेजी शासन का अन्तिम काल (१९३७-४०)—१९३७ में प्रान्तों में मन्त्रिमडल बने। इस प्रकार १९३५ के ऐक्ट का प्रान्तीय शासन सम्बन्धी भाग लागू हो गया। परन्तु इस ऐक्ट का संघ-शासन वाला भाग केन्द्र में लागू नहीं हुआ।

इस समय यूरोप में राष्ट्रों के मध्य वैमनस्य तथा विद्वेष बढ़ता जा रहा था। इसका परिणाम यह हुआ कि १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में भारत भी सम्मिलित कर दिया गया। परन्तु अंग्रेजी शासकों ने यह कार्य बिना भारतीयों की इच्छा के किया था। इस पर काँग्रेस ने यह माँग की कि ब्रिटिश सरकार यह घोषणा करे कि युद्धोपरान्त भारत स्वतन्त्र कर दिया जावेगा। परन्तु अंग्रेजी सरकार के यह माँग स्वीकार न करने पर, काँग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने ८ प्रान्तों में विरोध स्वरूप त्यागपत्र दे दिया। परन्तु सिन्ध, पंजाब तथा बंगाल में काँग्रेस मन्त्रिमण्डल कार्य करते रहे शेष प्रान्तों में गवर्नरों ने समस्त हाथ में शासन ९३ धारा के अनुसार ले लिया।[2]

---

1. K. T. Shah : "It (Provincial Autonomy) is a cloak for the refusal on the part of British Imperialism to part with any substance of power to the people of India in the management of their own concerns."

2. "If at any time the Governor of a province is satisfied that a situation has arisen in which the Government of the Province cannot be carried on in accordance with the provinsons of this Act, he may, by Proclamation :—

(a) declare that his functions shall be exercised by him in his discretion ;

(b) assume to himself all or any of the powers vested in or exercised by any Provincial body or authority.........'

Sec. 93 of 1935 Act.

८ अगस्त १९४० की घोषणा —युद्ध में इंगलैंड के सहायक समस्त पश्चिमी यूरोप में परास्त हो गये थे और केवल इंगलैंड अकेला ही नात्सी सेनाओं का मुकाबिला करने को रह गया था। इस समय भारत के गवर्नर-जनरल ने ब्रिटिश सरकार की ओर से एक घोषणा की (अगस्त ८ १९४०)। इसमें निम्न लिखित मुख्य बातें थीं —

(१) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति में नये सदस्य नियुक्त किये जावेंगे तथा परामर्श देने के लिये एक युद्ध समिति नियुक्त की जावेगी।

(२) युद्ध के पश्चात् भारतीयों के एक प्रतिनिधि मण्डल द्वारा ही भारत का नया विधान बनाया जावेगा। युद्धकाल में ऐसा पग उठाना सम्भव नहीं।

(३) ब्रिटिश सरकार इस बात की चेष्टा करेगी कि विभिन्न राजनैतिक दलों में आपस में समझौता हो जावे।

इस घोषणा से कोई सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतिज्ञा की गई थी वह युद्धोत्तर थी। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट नहीं किया गया था कि औपनिवेशिक-स्वराज्य स्थापित ही कर दिया जावेगा। इसमें महत्वपूर्ण बात यह थी कि अंग्रेज सरकार ने यह बात मान ली थी कि भारत का नया विधान भारतीयों द्वारा ही निर्मित होगा। किसी भी राजनैतिक दल ने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति में अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे। सितम्बर १९४० में कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार की नीति के प्रति विरोध प्रकट करने को व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ किया। गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वे इंगलैंड की कठिनाई से लाभ नहीं उठाना चाहते हैं। इसीलिए इस सत्याग्रह को सीमित रखा गया। जुलाई १९४१ में वाइसराय ने अपनी कार्यकारिणी समिति में पाँच और सदस्यों की नियुक्ति की। ये सब भारतीय थे।

क्रिप्स योजना —इस समय युद्ध पूर्व में भी फैलने लगा था। दिसम्बर १९४१ में जापान ने पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान की प्रगति आश्चर्यजनक गति से हुई। भारत में जापानी आक्रमण का भय बढ़ा। देश में अंग्रेज विरोधी भावना भी प्रतिदिन बढ़ रही थी। इस कारण अंग्रेजी सरकार ने जापान के विरुद्ध भली प्रकार से युद्ध चलाने के लिए भारत का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक समझा। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए ब्रिटेन के युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा। उन्होंने भारतीय नेताओं से वार्तालाप के पश्चात मार्च २९, १९४२ को ब्रिटिश सरकार की ओर से एक योजना की घोषणा की जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं —

(१) भारत में स्वराज्य (Self-government) स्थापित करने की दृष्टि से, युद्ध के उपरान्त एक नवीन भारतीय संघ की स्थापना की जावेगी, जिसका पद उपनिवेश (Dominion) का होगा। यह ब्रिटिश-मण्डल का सदस्य होगा, परन्तु इसको इस राष्ट्र-मंडल से सम्बन्ध विच्छेद करने का पूर्ण अधिकार होगा।

(२) युद्ध के समाप्त होते ही एक निर्वाचित विधान-निर्मात्री सभा बुलाई जावेगी, इसके निर्वाचन के लिये सर्वप्रथम, प्रान्तों में १९३५ के ऐक्ट के अनुसार नए चुनाव किये जायेंगे। इन प्रान्तीय विधान मण्डलों (Lower Houses) के सदस्य, आनुपातिक प्रतिनिधित्व विधि से संविधान सभा के सदस्य चुनेंगे। उनकी संख्या अपने निर्वाचकों की संख्या का $\frac{1}{10}$ होगी।

इनके अतिरिक्त देशी राज्य भी अपनी जनसंख्या के अनुसार इस विधान निर्मात्री सभा में प्रतिनिधि भेजेंगे।

(३) अगर कोई प्रान्त अथवा राज्य इस संविधान सभा द्वारा निर्मित नये विधान को स्वीकार न करे तो उसे यह अधिकार होगा कि वह भारतीय संघ से अलग हो जाय। ऐसे प्रान्त तथा राज्य अपना स्वतन्त्र संघ बना सकेंगे, जिनको वही अधिकार होंगे जो कि भारतीय संघ को।

(४) ब्रिटिश सरकार तथा विधान-निर्मात्री सभा के मध्य अल्पसंख्यकों के हितों के रक्षार्थ तथा सत्ता-परिवर्तन से उत्पन्न अन्य बातों के लिये, एक संधि होगी।

(५) युद्ध काल में तथा नये संविधान के लागू होने तक भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व तथा उसके लिए शक्ति तथा अधिकार गवर्नर-जनरल को होंगे तथा वह ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी होगा। परन्तु सैनिक, नैतिक तथा भौतिक (military, moral and material) साधनों को संगठित करने का उत्तरदायित्व, भारतीय जनता के सहयोग से भारतीय सरकार पर होगा।

इस योजना के दो भाग थे। एक तो युद्धोत्तर, दूसरा युद्धकालीन। युद्ध के बाद भारत को उपनिवेश का पद दिया जाता। इस प्रकार स्वराज्य का सिद्धान्त मान लिया गया था। परन्तु इसमें दो दोष थे। पहला यह कि प्रान्त अथवा राज्यों को भारत संघ से अलग होने का अधिकार प्रदान किया गया था। इससे भारत की एकता भंग हो जाती। यह यथार्थ में मुस्लिम लीग तथा कुछ देशी राज्यों को प्रसन्न करने के लिये किया गया था। दूसरा दोष यह था कि

विधान-निर्मात्री सभा में देशी-राज्यों के जो सदस्य होते वे इन राज्यों की ९ करोड़ जनता के प्रतिनिधि न होते अपितु वे राजाओं द्वारा मनोनीत सदस्य होते। इस प्रकार वे विधान निर्मात्री सभा के अन्दर एक प्रतिक्रिया-वादी शक्ति होते।

युद्धकालीन भाग में दोष यह था कि भारतीयों को अपने देश की रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था। इसके अतिरिक्त वाइसराय की कार्यकारिणी समिति न तो कैबिनेट के रूप में काम करने वाली थी और न वाइसराय ही एक वैधानिक अध्यक्ष के रूप में। इन्हीं कारणों से काँग्रेस ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। इस योजना का तत्कालीन फल कुछ नहीं होता। केवल युद्धोपरान्त ही इससे कुछ फल निकलता। इसी कारण गाँधीजी ने इसको "Post dated cheque" कहा था। अन्य भारतीय दलों ने भी इस योजना को स्वीकार नहीं किया।

"भारत छोड़ो" आन्दोलन—क्रिप्स-योजना की असफलता पर भारत में अत्यन्त निराशा हुई अंग्रेजों के प्रति घृणा तथा क्षोभ का भाव बढ़ा। यह आशा नहीं रही कि समझौता सम्भव है। कांग्रेस ने अंग्रेजों के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वे भारत छोड़ें। इसमें तात्पर्य यह था कि अंग्रेजी राज्य का भारत में अन्त हो। यह प्रस्ताव कांग्रेस की कार्यसमिति ने १४ जुलाई १९४२ को पास किया था। इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए बम्बई में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी की सभा हुई। ८ अगस्त को भारत छोड़ो प्रस्ताव पास हुआ। गाँधीजी ने कहा कि यह उनकी अंग्रेजों के विरुद्ध अन्तिम लड़ाई है। ९ अगस्त के प्रातःकाल काँग्रेस के सब बड़े बड़े नेता अंग्रेजी सरकार ने पकड़ लिए। इससे देश में और क्षोभ बढ़ा। १० अगस्त को भारत-मंत्री एमरी का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ जिसमें यह कहा गया कि काँग्रेस का काम देश में तार काटना, रेल उखाड़ना आदि था। इसके पश्चात् कुछ समय तक देश में देश-भक्तों ने इसी कार्यक्रम को अपना कर काम किया। अंग्रेजी सरकार ने पाशविक अत्याचार किए। गोली चलाना, गाँव जला देना सामूहिक जुर्माने तथा अन्य प्रकार के अत्याचार किए गए। कुछ समय तक तो जनता ने इसका प्रत्युत्तर दिया परन्तु करीबन दो मास पश्चात् देश में यद्यपि असन्तोष बना रहा तथापि आन्दोलन का एक प्रकार से अन्त हो गया।

१० फरवरी १९४३ को गाँधीजी ने २१ दिन का व्रत रखा। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन करना था। मई १९४४ में गाँधी जी जेल में बीमार पड़े। सरकार ने उन्हें मुक्त कर दिया। जेल के बाहर गाँधीजी ने फिर स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्न में लीग के नेता श्री जिन्ना से बातें की ताकि

हिन्दू-मुस्लिम एकता प्राप्त हो जावे। परन्तु इसमें उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। श्री जिन्ना का दावा कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं गांधीजी मानने को प्रस्तुत न थे। इसके बदले में श्री जिन्ना मानने को तैयार न थे।

वैवेल-योजना—अगस्त १९४४ में लार्ड वैवेल भारत के नये वाइसराय होकर आये। उन्होंने देश में गत्यवरोध को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार से सलाह कर (१४ जून १९४५) एक सुझाव रखा। इसको "वैवेल सुझाव" कहा जाता है। इसमें यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार भारत के स्वराज्य प्राप्ति में सहायता करना चाहती है। भारत में विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समझौते के लिए एक सभा बुलाई जावेगी। इस सभा का तत्कालीन उद्देश्य वाइसराय की एक नई कार्यकारिणी समिति बनाना होगा, जिसमें सवर्ण हिन्दू तथा मुसलमानों के बराबर प्रतिनिधि होंगे। भारतीयों को परराष्ट्र विभाग भी दिया जावेगा, परन्तु सेनापति अंग्रेज ही रहेगा। यह कार्यकारिणी समिति वाइसराय के प्रति उत्तरदायी होगी। भारत में ब्रिटिश सरकार एक हाई-कमिश्नर नियुक्त करेगी जैसा कि अन्य उपनिवेशों में है।

१५ जून १९४५, को कांग्रेस के नेता मुक्त कर दिये गये तथा २५ जून को शिमला में सब दलों का नेताओं का सम्मेलन बुलाया गया। कांग्रेस ने इसमें भाग लिया। कोई समझौता न हो सका। क्योंकि मुस्लिम लीग ने यह माँग की कि कार्यकारिणी समिति में सब मुसलमान सदस्य लीग के ही द्वारा मनोनीत होंवे। इसका अर्थ यह होगा कि कांग्रेस हिन्दुओं का संगठन है। कांग्रेस ने इसे मानना अस्वीकार कर दिया। क्योंकि लीग तथा कांग्रेस में समझौता न हो सका इसलिए वाइसराय ने इस सम्मेलन को भंग कर दिया।

नये चुनाव—जब इंगलैंड में १९४५ में चुनाव हुए, चर्चिल के अनुदार दल की विजय नहीं हुई। इसके स्थान में मजदूर दल की सरकार बनी तथा एटली नये प्रधान मन्त्री हुए। इस समय पूर्व में जापान से युद्ध समाप्त हो गया था। इस समय भारत में आजाद-हिन्द-सेना[1] के मसले को लेकर एक कोने से दूसरे कोने तक हलचल मची हुई थी। इंगलैंड की नई सरकार ने वाइसराय को बुलाया। इंगलैण्ड से वापिसी पर १९ सितम्बर १९४५ को लार्ड वैवेल ने एक घोषणा की। इसमें मुख्य बातें निम्नलिखित थीं —

(१) १९४५-४६ के शीतकाल में भारत में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के लिए चुनाव होंगे।

१. इसका वर्णन राष्ट्रीय आन्दोलन वाले अध्याय में देखिये।

(२) चुनाव के पश्चात् ब्रिटिश सरकार एक विधान-निर्मात्री सभा को बुलावेगी। इस उद्देश्य से वाइसराय भारतीय नेताओं से बात कर यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि किस योजना उन्हें मान्य है अथवा वे उनमें कोई परिवर्तन चाहते हैं।

(३) देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों से इस विषय पर वार्तालाप होगा कि वे किस प्रकार आयोजित विधान-निर्मात्री सभा में भाग ले सकेंगे।

कांग्रेस ने इस घोषणा को अपूर्ण तथा अस्पष्ट बतलाया और यह कहा कि उसका उद्देश्य पूर्ण स्वतन्त्रता है। देश में चुनाव का फल यह हुआ कि आठ प्रान्तों में काँग्रेस मन्त्रिमण्डल बने। बंगाल तथा सिंध, में लीगी मन्त्रिमण्डल बना। पंजाब में कांग्रेस, अकाली तथा यूनियनिस्ट दल का मंत्रिमण्डल खिज्र हयात खां के नेतृत्व में बना।

कैबिनेट मिशन—इस समय देश में एक ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का शिष्ट-मण्डल भ्रमण कर रहा था। इसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार ने दिसम्बर १९४५ में की थी। फरवरी १९४६ में इसने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को दी। इसी बीच में भारतीय नौ-सेना की शानदार हड़ताल तथा संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। इस घटना का ब्रिटिश सरकार की नीति पर काफी प्रभाव पड़ा। १९४६ में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि एक तीन सदस्यों का कैबिनेट मिशन भारत भेजा जायगा। इसका काम भारतीय नेताओं से मिल कर शीघ्रातिशीघ्र भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करवाने का था।[1] इसके सदस्य लार्ड पैथिक लारेन्स (भारत मंत्री), सर स्टैफोर्ड क्रिप्स (बोर्ड ऑव ट्रेड के अध्यक्ष), तथा ए० वी० एलेक्जेन्डर (फर्स्ट लार्ड ऑव एडमिरेल्टी), थे। १५ मार्च १९४६ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने कामन्स सभा में एक घोषणा की। उन्होंने कहा कि (१) ब्रिटिश सरकार भारत की स्वतंत्रता की मांग को स्वीकार करती है। (२) किसी भी

---

1 श्री एटली ने मिशन के भारत रवाना होने के विषय में कहा "My colleagues are going to India with the intention of using their utmost endeavours to help her to attain her freedom as speedily as possible What form of Government is to replace the present regime is for India to decide, but our desire is to help her to set-up forthwith the machinery for making that decision ..I hope the Indian people may elect to remain within he British Commonwealth But if she does so elect, it must be by her own free will."

अल्प-संख्यक जाति का बहुसंख्यकों की प्रगति रोकने का अधिकार (veto) नहीं माना जा सकता है। (We cannot allow a minority to place a veto on the advance of the majority)

कैबिनेट मिशन २३ मार्च को करांची तथा एक दिन पश्चात् दिल्ली पहुँचा। उन्होंने वाइसराय तथा प्रान्तों के गवर्नरों से मिलने के पश्चात् भारतीय नेताओं से बातचीत की। एक महीने में उन्होंने १८२ बैठकों में ४७२ नेताओं से मुलाकात की परन्तु फल कुछ न निकला। फिर कांग्रेस तथा लीग का संयुक्त सम्मेलन शिमला में बुलाया गया (५ मई)। परन्तु इसमें भी कोई समझौता न हो सका।

इसके पश्चात् १६ मई १९४६ को कैबिनेट मिशन ने एक योजना भारतीय नेताओं के सामने रखी। इसमें यह कहा गया था कि—

(१) कैबिनेट मिशन का उद्देश्य भारत के राजनैतिक दलों में समझौता करके भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता करना था और इस दृष्टि से मिशन ने भरसक कोशिश की, परन्तु इसमें सफलता प्राप्त न हो सकी।

(२) मुस्लिम लीग भारत के विभाजन पर दृढ़ है और इसलिए पाकिस्तान की माँग रखती है। लीग के मतानुसार इसके दो भाग होंगे: एक तो उत्तर-पश्चिम में, जिसमें पंजाब, सिंध, ब्रिटिश बलूचिस्तान तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त होंगे। दूसरा भाग उत्तर-पूर्व में होगा, जिसमें बंगाल तथा आसाम होंगे। परन्तु इन भागों में गैर मुसलमानों की संख्या इतनी अधिक है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उत्तर-पश्चिमी भाग में ३८ प्रतिशत तथा उत्तर-पूर्वी भाग में ४८ प्रतिशत से कुछ अधिक गैर मुसलमान होंगे। अगर इन दो भागों में केवल उन्हीं क्षेत्रों को पाकिस्तान में रखा जावे जिनमें कि मुसलमानों का बहुमत है तो वह भी ठीक नहीं होगा। उन प्रान्तों की जनता का एक बड़ा भाग ऐसे विभाजन के पक्ष में नहीं है।

इसके अतिरिक्त कई आवश्यक शासनीय, आर्थिक तथा सैनिक प्रश्न भी देश के विभाजन के विरुद्ध हैं।

(३) कैबिनेट मिशन कांग्रेस की योजना से भी सहमत नहीं था। योजना थी कि प्रान्तों को पूर्ण स्वायत्त शासन का अधिकार हो और केन्द्र के पास केवल तीन विषय हों—पर राष्ट्रनीति, यातायात तथा रक्षा। इसके अतिरिक्त अगर कोई प्रान्त चाहे तो वह कुछ अन्य विषय भी केन्द्र को सौंप सकता था। परन्तु इसमें कोई बाध्यता नहीं थी। इस योजना को मिशन ने कई प्रकार की कठिनाइयों से पूर्ण कहा।

(४) देशी राज्यों की समस्या का भी मिशन ने अध्ययन किया था तथा इस परिणाम पर पहुँचा कि सर्वोच्चाधिकार (Paramountcy) नई स्थिति में न तो सम्राट के पास रह सकता था और न भारत की नई सरकार को परिवर्तित किया जा सकता था।

इन कारणों से मिशन ने नए विधान के लिए निम्नलिखित सुझाव रखे —

(अ) एक अखिल भारतीय संघ जिसमें ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्य दोनों सम्मिलित हों, होना चाहिए। इसके अधीन पर राष्ट्र-नीति, रक्षा तथा यातायात विषय रहने चाहिये तथा इस अपने व्यय के लिए धन उगाहने का अधिकार होना चाहिए।

(ब) संघ में एक कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका होनी चाहिये जिसमें कि ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यों के प्रतिनिधि होने चाहिये। अगर व्यवस्थापिका में कोई बड़ा साम्प्रदायिक प्रश्न प्रस्तुत हो तो उसके निर्णय के लिये दो प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित प्रतिनिधियों का अलग अलग तथा समस्त उपस्थित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए।

(स) संघ विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषय तथा शेष अधिकार प्रान्तों को होने चाहिये।

(द) देशी राज्यों को केन्द्र को दिये गये विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों पर अधिकार होना चाहिये।

(य) प्रान्तों को अपने समूह बनाने का अधिकार होना चाहिये। प्रत्येक समूह की अलग कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका होगी।

(ह) विधान में यह धारा होनी चाहिए कि प्रत्येक प्रान्त अपनी धारा-सभा के बहुमत होने पर प्रथम दस वर्ष पश्चात तथा फिर प्रत्येक दस वर्ष बाद, विधान की धाराओं पर पुनर्विचार करवा सकता है।

कैबिनेट मिशन ने विधान निर्मात्री सभा बनाने के लिये भी सुझाव रखे।[1] इस सभा का चुनाव प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा पृथक निर्वाचन सिद्धान्त के अनुसार सुझाया गया था।

इस योजना में कई दोष थे। सर्वप्रथम तो यह था कि केन्द्रीय सरकार को केवल तीन विषयों पर ही अधिकार दिया गया था। इस प्रकार एक शक्तिहीन केन्द्र की व्यवस्था की गई थी। दूसरा दोष यह था कि प्रान्तों को अपने समूह

1 इसका विस्तृत विवरण दूसरे अध्याय में देखिए।

बनाने का अधिकार दिया गया था। इसका उद्देश्य मुस्लिम लीग को खुश करने का था।

इस दीर्घकालीन योजना के अतिरिक्त कैबिनेट मिशन ने एक अन्तर्कालीन सरकार बनाने के लिये भी सुझाव रखा था। इसी को कार्यरूप में परिणत करने के लिये १६ जून १९४६ को एक घोषणा की गई। इसके अनुसार १४ सदस्यों की एक अन्तर्कालीन सरकार का प्रस्ताव रखा गया जिसमें ६ कांग्रेस के, ५ मुस्लिम लीग के तथा ३ अल्पसंख्यकों के सदस्य होंगे। लीग ने इसको स्वीकार किया, परन्तु कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया। कांग्रेस की अस्वीकृति के कारण यह सरकार नहीं बनाई गई। कांग्रेस की अस्वीकृति का कारण यह था कि लीग इस बात को मानने को तैयार न हुई कि कांग्रेस अपने सदस्यों में किसी मुसलमान को भी रखे।

विधाननिर्मात्री सभा का चुनाव तथा अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना—जुलाई में विधान निर्मात्री सभा के लिए चुनाव के फलस्वरूप कांग्रेस को २०५ सीटें मुस्लिम लीग को ७३ सीटें तथा स्वतन्त्र उम्मीदवारों को १८ सीटें प्राप्त हुई। देशी-राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव नहीं हुआ।

इसके पश्चात् वाइसराय ने पं० नेहरू से अन्तर्कालीन-सरकार बनाने को कहा। एक १२ सदस्यों की सरकार बनी सन् (१९४६)। इसमें ५ हिन्दू, ३ मुसलमान, १ हरिजन, १ पारसी, १ सिख, तथा १ ईसाई थे। लीग ने इसके विरोध स्वरूप देश भर में डाइरेक्ट-एक्शन-डे मनाया। इसके फलस्वरूप स्थान स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। अन्त में, अक्टूबर माह में लीग ने इस सरकार में प्रवेश किया। अन्तर्कालीन सरकार के तीन सदस्यों को हटना पड़ा और उनके स्थान पर लीग के ५ सदस्य नियुक्त हुए।

लीग का असहयोग तथा १९४७ का स्वतन्त्रता कानून:—अन्तर्कालीन सरकार में लीग कांग्रेस के साथ सहयोगपूर्वक काम करने के लिए नहीं आई थी। लीग के सदस्यों का कांग्रेस के साथ एक कैबिनेट की तरह काम करना उद्देश्य नहीं था। श्री जिन्ना के लिये अन्तर्कालीन-सरकार केवल वाइसराय कौंसिल थी उससे अधिक कुछ नहीं। लीग देश में पाकिस्तान पाने के लिये अपनी कार्यवाही करती रही। लीग ने यह भी कह दिया कि उनके सदस्य विधान-निर्मात्री सभा में भाग नहीं लेंगे। क्योंकि लीग के अनुसार एक के स्थान पर दो विधान-नर्मात्री सभाओं की नियुक्ति होनी चाहिये थी।

ब्रिटिश कैबिनेट ने वाइसराय प० नेहरू सरदार पटेल, श्री जिन्ना तथा श्री लियाकत अली खां को लन्दन बुलाया। सरदार पटेल न जा सके। प० नेहरू के साथ सरदार बल्देव सिंह गये। इस कान्फ्रेंस का फल यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने अपने वक्तव्य में यह कहा कि प्रान्तों को समूहों में सम्मिलित होने तथा विधान बनाने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। उनके विधान का निश्चय समूह द्वारा ही किया जावेगा। यह लीग की विजय थी। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि अगर कोई दल विधान निर्मात्री सभा में भाग नहीं लेगा तो उसकी अनुपस्थिति में बना विधान उसके ऊपर बाध्य नहीं होगा। यह भी लीग के पक्ष में था।

२० फरवरी १९४७ को ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने एक घोषणा की इसमें यह कहा गया कि जून १९४८ तक ब्रिटिश सरकार भारत में सत्ता भारतीयों के ही हाथों में सौंप देगी। परन्तु घोषणा में यह साफ तौर पर नहीं कहा गया कि भारत एक ही रहेगा अथवा इसका विभाजन किया जावेगा। इसी दिन यह भी ऐलान किया गया कि लार्ड वैवेल के स्थान पर लार्ड माउन्टबैटन भारत के नये वाइसराय नियुक्त होंगे।

नये वाइसराय ने भारत में आकर गांधीजी तथा श्री जिन्ना से विचार-विनिमय किया। इससे यह तो स्पष्ट हो गया कि मुस्लिम लीग बिना पाकिस्तान के मानने को तैयार नहीं थी। इसलिए देश का विभाजन आवश्यक हो गया। परन्तु लीग को यह स्वीकार करना पड़ा कि उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में वे क्षेत्र जिनमें हिन्दू बहुमत है पाकिस्तान में नहीं रहेंगे। इस प्रकार दोनों दलों की सम्मति प्राप्त कर, माउन्टबैटेन ने ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति से ३ जून १९४७ को योजना प्रस्तुत की। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संक्षेप में, इस योजना का आशय यह था कि भारत के दो भाग कर दिये जाय। दूसरे शब्दों में लीग की मांग मान ली गई। ये भाग क्रमशः भारत तथा पाकिस्तान थे। पूर्वी पाकिस्तान में पूरा बंगाल और न पूरा आसाम ही रहा।[1] बंगाल के वे जिले जिनमें मुस्लिम बहुमत था अर्थात् पूर्वी बंगाल तथा आसाम के सिलहट जिले का अधिकांश भाग पूर्वी पाकिस्तान में रहे। पश्चिम में पाकिस्तान

× 1 मुस्लिम बहुमत जिले निम्नलिखित हैं —चटगांव नोआखली तिपरा, बाकरगंज, ढाका, फरीदपुर मैमनसिंह जैसोर, मुर्शिदाबाद, नदिया, बोगरा, दीनाजपुर, मालदा, पाब्ना, राजशाही, रंगपुर।

में पश्चिमी-पंजाब[1] सिन्ध, बलूचिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त रहे। बंगाल तथा पंजाब ने वहाँ की धारा-सभाओं ने प्रान्त के विभाजन के पक्ष में क्रमशः २० जून तथा २३ जून को मत दिया। सिन्ध की धारा-सभा ने पाकिस्तान में सम्मिलित होने के पक्ष में २६ जून को मत दिया। आसाम के सिलहट जिले में जनता ने पाकिस्तान में रहने के पक्ष में मत दिया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी पाकिस्तान के पक्ष में ही जनमत रहा। कांग्रेस ने यहाँ इस मत का बहिष्कार किया था क्योंकि कांग्रेस के अनुसार प्रश्न यह होना था कि इस प्रान्त की जनता पाकिस्तान में रहना चाहती है अथवा स्वतन्त्र पख्तूनिस्तान बनाना चाहती है। परन्तु मतदाताओं के सम्मुख यह प्रश्न रखा गया कि वे पाकिस्तान में रहना चाहते हैं अथवा हिन्दुस्तान में। बलूचिस्तान ने भी पाकिस्तान में ही रहने का निश्चय किया।

इस योजना में देशी राज्य विषयक नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इस योजना को कांग्रेस, लीग तथा सिक्खों ने स्वीकार कर लिया। ४ जुलाई १९४७ को ब्रिटिश पार्लियामेंट में माउन्टबेटेन योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए एक बिल पेश किया गया। यह बिल २८ जुलाई को पास हुआ। इसमें निम्नलिखित मुख्य बातें थीं—

(१) १५ अगस्त १९४७ से दो नये उपनिवेश—भारत तथा पाकिस्तान का जन्म होगा।

(२) इन उपनिवेशों को यह अधिकार दिया गया कि वे ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहें अथवा उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लें।

(३) जब तक नया विधान नहीं बन जाता इन उपनिवेशों का शासन १९३५ के ऐक्ट के अनुसार होगा। परन्तु इस ऐक्ट में कुछ परिवर्तन कर दिए गये। गवर्नर-जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नरों के विशेषाधिकारों का अन्त हो गया तथा वे वैधानिक शासक बना दिये गये, जिन्हें अपने मन्त्रियों की राय से शासन करना होगा। ये मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होंगे।

---

1. मुस्लिम बहुमत जिले—गुजरांवाला, गुरदासपुर, लाहौर, शेखपुरा, स्यालकोट, अटक, गुजरात, जेहलम, मियांवाली, रावलपिंडी, डेरागाजी खां, झंग, लायलपुर, मिंटगुमरी, मुल्तान तथा मुजफ्फरगढ़।

(४) प्रत्येक उपनिवेश को मन्त्रिमण्डल या अपना गवर्नर-जनरल मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। भारत में माउन्टबैटेन ही रहे। पाकिस्तान में जिन्ना प्रथम गवर्नर-जनरल हुए।

(५) देशी राज्यों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि सम्राट् के सर्वोच्च अधिकारों का अन्त हो गया है तथा वे किसी भी उपनिवेश में सम्मिलित होने को स्वतन्त्र है।

१५ अगस्त १९४७ को भारत तथा पाकिस्तान, इन दो उपनिवेशों का जन्म हुआ। भारत की राजधानी दिल्ली रही तथा पाकिस्तान की राजधानी करांची बनाई गई। इस विभाजन के फलस्वरूप सरकार की समस्त सम्पत्ति को जैसे रेल, डाक, तार, फौज का सामान, कारखाने रिजर्व बैंक का धन आदि, दो हिस्सों में बाँट दिया गया। परन्तु इस विभाजन के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के फलस्वरूप, लाखों निरपराध, बालक, बूढ़े युवा स्त्री, तथा पुरुष मौत के घाट उतारे गये। इस साम्प्रदायिक पाशविकता को जितना भी कोसा जाय उतना कम है। संसार की आँखों में हम गिर गये। इसका फल यह हुआ कि लाखों हिन्दू तथा मुसलमानों को अपना घरबार छोड़ना पड़ा और सरकार के सामने शरणार्थियों की समस्या उठ खड़ी हुई, जो अभी तक पूर्ण प्रकार से हल नहीं हो सकी है।

विधान-निर्मात्री सभा ने भारत का नया संविधान बनाया तथा वह २६ जनवरी १९५० से लागू कर दिया गया। इस तिथि से भारत एक गणतन्त्रात्मक प्रजातन्त्र हो गया, परन्तु वह ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल का सदस्य बना रहा।

प्रश्न

(१) सन् १८५८ से सन् १९१९ तक भारत में संवैधानिक विकास का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

(२) सन् १९१९ के ऐक्ट की क्या प्रमुख विशेषताएँ थीं?

(३) सन् १९३५ के ऐक्ट के अनुसार भारत में शासन व्यवस्था का क्या रूप था?

(४) सन् १९३९ से सन् १९४७ तक ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत विभिन्न योजनाओं का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

अध्याय २

संविधान-निर्मात्री सभा तथा इसका कार्य

संविधान सभा —संविधानों का कई दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है। कुछ संविधान ऐसे होते हैं जिनका निर्माण किसी निश्चित तिथि को हुआ हो। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी संविधान हैं जिनका निर्माण किसी निश्चित समय में न होकर क्रमशः विकास द्वारा हुआ हो। शासन-विधान को बनाने में कई सदियाँ लगती हैं। उदाहरणार्थ भारत के संविधान का एक निश्चित समय में निर्माण हुआ है। परन्तु इंग्लैंड का शासन-विधान कई सदियों के विकास का फल है। अमेरिका का संविधान भी एक निश्चित समय में निर्मित हुआ था। इस दृष्टि से संविधान निर्मित तथा विकसित कहलाते हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि विकसित-विधान अलिखित होता है तथा निर्मित-विधान लिखित होता है।

निर्मित-संविधान कई प्रकार से बन सकता है। यह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया जा सकता है या राजा और उसके परामर्शदाताओं द्वारा। साधारणतः व्यवस्थापिका भी विधान का निर्माण कर सकती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व आस्ट्रेलिया का विधान इसी प्रकार बनाया गया था। विधान को बनाने के लिये एक विशेष संविधान सभा का आवाहन भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का विधान, या हमारे देश का संविधान इसी प्रकार की संविधान सभाओं द्वारा निर्मित हुए हैं।

संविधान-सभा से तात्पर्य उन विशेष सभा से है जो कि संविधान के निर्माण हेतु बुलाई जाती है। यह सभा या तो जनता द्वारा निर्वाचित होती है, या यह भी हो सकता है, कि यह किसी राजा, तानाशाह अथवा मुख्य कार्यकारिणी द्वारा स्थापित हो। सर्वप्रथम, अमेरिकन स्वतन्त्रता युद्ध के पश्चात् उत्तरी अमेरिका के निवासियों ने अपने देश का संविधान बनाने के लिए एक ऐसी सभा बुलाई। इसके पश्चात् फ्रांस में राज्यक्रान्ति के बाद ऐसी सभा बुलाई गई। उन्नीसवीं शताब्दी में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं। बीसवीं शताब्दी में रूस का संविधान ऐसी ही सभा द्वारा बनाया गया। हमारा संविधान भी ऐसे ही बना है। हमारी संविधान-सभा के विषय में अनूठी बात यह है कि इसका जन्म विदेशी सरकार

द्वारा बनाये हुये कानून के कारण हुआ। इसका निर्वाचन किस प्रकार होगा ? इसमें कितने सदस्य होंगे ? आदि बातें ब्रिटिश सरकार द्वारा ही निश्चित की गई थीं।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रजातन्त्रवाद का विकास होने लगा और सर्वत्र जनता ने यह माँग रखनी आरम्भ की कि राज्य का कार्य जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही चलाया जाय। इस कारण यह स्वाभाविक था कि संविधान भी जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित हो। इस पद्धति में यह लाभ है कि जनता का विश्वास रहता है कि संविधान में उसके हितों की उपेक्षा नहीं की जावेगी। इसी कारण आधुनिक काल में प्रायः निरंकुश शासन से मुक्ति पाने के पश्चात् जनता के प्रतिनिधियों द्वारा संविधान का निर्माण हुआ है। इन सब संविधानों में जनता के अधिकारों का ध्यान रखा गया है। अधिकतर संविधानों में मूल अधिकारों का वर्णन भी कर दिया गया है।

भारत में संविधान सभा की माँग—यद्यपि कांग्रेस का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में ही हो गया तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में विदेशी शासन के विरुद्ध भावना तथा आन्दोलन बढ़ने लग गए थे और स्वराज्य की माँग उठने लगी थी। तथापि यह नितान्त सत्य है कि गाँधीजी के भारत आगमन के पश्चात ही स्वतन्त्रता आन्दोलन जन-आन्दोलन हुआ। गाँधी जी ने ही एक प्रकार से सर्वप्रथम संविधान सभा का विचार भी भारत को दिया। उस समय यह स्पष्ट नहीं था और केवल एक संकेत मात्र था। सन् १९२२ में गाँधीजी ने कहा था कि भारतीय-विधान भारतीयों की इच्छा का फल होगा न कि विदेशी सरकार द्वारा दिया हुआ दान। इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी जी का यह विचार आरम्भ से ही था कि भारत का विधान भारतीयों द्वारा ही बनाया जायगा। परन्तु इस विचार को गाँधीजी ने उस समय इससे अधिक स्पष्ट रूप में नहीं रखा। सन् १९२४ में पं० मोतीलाल नेहरू ने भी एक संविधान-सभा की माँग रखी थी। परन्तु यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि कई वर्षों तक इस प्रश्न के ऊपर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया। सन् १९३६ में कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया गया था जिसमें स्वतंत्र भारत का विधान बनाने के लिये एक संविधान सभा की माँग रखी गई थी। सन् १९३८ में जवाहरलाल नेहरू ने यह कहा कि स्वतन्त्र भारत के संविधान का निर्माण [1]देश की जनता द्वारा ही होगा। इसके लिये उन्होंने यह सुझाया कि एक संवि-

1 The Congress stands for a genuine democratic State in India where political power has been transferred to the

धान सभा होनी चाहिये। इसका निर्वाचन जनता द्वारा वयस्क-मताधिकार के सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिये। सन् १९२९ में कांग्रेस की कार्यसमिति ने संविधान-सभा की मांग रखते हुए एक प्रस्ताव पास किया था।

ब्रिटिश सरकार का विचार उस समय भारत को स्वतन्त्र करने का नहीं था और न भारत में पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करना ही। इसलिये संविधान सभा की माँग केवल माँग ही रही। परन्तु १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार ने बिना भारत की राय के उसे युद्ध में सम्मिलित कर दिया। देश में युद्ध के प्रति कोई उत्साह नहीं था। इस समय पूर्व में जापान ने भी अंग्रेजो के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। बर्मा इनके हाथ से निकल गया। ऐसे समय में भारत का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने के लिये अंग्रेजी सरकार ने क्रिप्स योजना प्रस्तुत की परन्तु इससे भारत को सन्तोष न हुआ। १९४२ के आन्दोलन के पश्चात् पुनः समझौते की चेष्टा की गई। इंगलैंड में जब मजदूर दल की सरकार बनी तब वहाँ के नये प्रधान मन्त्री ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहा कि भारत की शासन व्यवस्था कैसी हो, इसका निर्णय वहाँ की जनता स्वयं करेगी। इसके पश्चात् ब्रिटिश कैबिनेट मिशन भारत आया और इसकी वार्ताओं के फलस्वरूप संविधान सभा का जन्म हुआ।

कैबिनेट मिशन के संविधान सभा के रूप: सुझाव।—कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना में यह तो स्वीकार किया कि समस्त जनता का अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के लिये यह सबसे अच्छा होता कि संविधान सभा का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर हो। परन्तु इस प्रकार के निर्वाचन के पश्चात् संविधान सभा के निर्माण करने में बहुत समय लगता और इससे विधान के बनने में भी बहुत विलम्ब हो जाता। इस कारण कैबिनेट मिशन ने यह सुझाव रखा था कि संविधान सभा का निर्वाचन प्रान्तीय-व्यवस्थापिका सभा द्वारा हो।

इन दो कठिनाइयों के कारण कैबिनेट मिशन ने सुझाव रखा कि—

(१) प्रत्येक प्रान्त के सदस्यों की संख्या वहाँ की जनसंख्या के आधार पर निश्चित होगी। इसके लिए प्रति दस लाख व्यक्ति पीछे एक सदस्य दिया जायगा।

---

people as a whole and the Government is under their effective control. Such a State can come into existence only through a Constituent Assembly, elected by adult suffrage and having the power to determine finally the constitution of the country."

(२) इस प्रकार जो कुल सदस्य संख्या होगी उसको विभिन्न सम्प्रदायों के बीच उनकी संख्या के अनुपात में बाँटा जावेगा।

(३) प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि व्यवस्थापिका सभा में उसी सम्प्रदाय के सदस्यों द्वारा निर्वाचित हों, जैसे हिन्दू प्रतिनिधि हिन्दू सदस्यों द्वारा मुसलमान प्रतिनिधि मुसलमान सदस्यों द्वारा, आदि।

(४) इस चुनाव के लिये भारत में केवल तीन बड़े सम्प्रदाय माने जायँ साधारण—इसमें हिन्दू, ईसाई, पारसी, दलित-वर्ग आदि रखे जायँ मुस्लिम तथा सिख।

(५) भारत के प्रान्तों को तीन भागों में बाँटा जाय। इसमें से 'क' भाग में वे प्रान्त होंगे जिनमें हिन्दू-बहुमत होगा। 'ख' तथा 'ग' भाग में वे प्रान्त होंगे जिनमें मुस्लिम बहुमत होगा।

इस योजना के अनुसार प्रत्येक भाग के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से निश्चित की गई थी —

'क' भाग

प्रान्त	साधारण सदस्य	मुस्लिम सदस्य	योग
मद्रास	४५	४	४९
बम्बई	१९	२	२१
संयुक्त प्रान्त	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्य-प्रान्त	१६	१	१७
उड़ीसा	९	०	९
योग	१६७	२०	१८७

'ख' भाग

प्रान्त	साधारण सदस्य	मुस्लिम सदस्य	सिख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सिंध	१	३	०	४
उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त	०	३	०	३
योग	९	२२	४	३५

'ग' भाग

प्रान्त	साधारण सदस्य	मुस्लिम सदस्य	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

इसके अतिरिक्त इस सुझाव में यह था कि 'क' भाग में कुछ सदस्य और जोड़े जायेंगे। एक कुर्ग से तथा एक-एक दिल्ली और अजमेर से। इसी प्रकार 'ख' भाग में एक सदस्य ब्रिटिश बलूचिस्तान का जोड़ा जायगा। इससे समस्त ब्रिटिश-भारत के सदस्यों की संख्या २९६ होगी।

जहाँ तक देसी राज्यों के सदस्यों का प्रश्न है उनके लिए यह सुझाव था कि उनके प्रतिनिधियों की संख्या ९३ होगी। परन्तु इन सदस्यों का चुनाव किस प्रकार होगा यह बाद को निश्चित होगा।

इस योजना के अनुसार संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव करने को वाइसराय ने सब प्रान्तों से कहा। इस निर्वाचन के फलस्वरूप ब्रिटिश भारत से कांग्रेस को २०५, मुस्लिम लीग को ७३, तथा १८ स्थान स्वतन्त्र उम्मीदवारों को प्राप्त हुए। इन स्वतन्त्र उम्मीदवारों में ११ हिन्दू, ४ सिख तथा ३ मुसलमान थे। देसी राज्यों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं हुआ।

इस संविधान-सभा में लीग के सदस्यों ने भाग नहीं लिया। क्योंकि लीग के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमान दो राष्ट्र थे। इन दो राष्ट्रों के लिए यह आवश्यक था कि दो संविधान सभाएँ होनी चाहिए न कि एक।

१५ जुलाई १९४७ का ऐक्ट:—इस ऐक्ट द्वारा भारत का विभाजन कर दिया गया तथा दो स्वतन्त्र राष्ट्रों का जन्म हुआ—भारत तथा पाकिस्तान। इन दो देशों में अलग अलग संविधान सभाओं का निर्माण हुआ। पाकिस्तान के निर्माण से भारत की संविधान सभा के संगठन में कुछ बदलाव हो गये। इसके सदस्यों की संख्या ३१० ही रही। इनमें से २३१ ब्रिटिश भारत तथा शेष ७९ राज्यों के सदस्य थे। दो सदस्यों की अनुपस्थिति के कारण संविधान सभा के कार्य में केवल ३०८ सदस्यों ने ही सक्रिय भाग लिया।

१५ जुलाई १९४७ के ऐक्ट में यह था कि १५ अगस्त १९४७ को भारत तथा पाकिस्तान स्वतन्त्र उपनिवेश हो जायेंगे। इसके फलस्वरूप उपर्युक्त तिथि

का भारत की सविधान सभा एक स्वतन्त्र सविधान सभा (Sovereign Constituent Assembly) हो गई। यहाँ पर यह बात नही भूलनी चाहिए कि कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार निर्मित सविधान सभा स्वतन्त्र (Sovereign) नहीं थी। क्योकि इस योजना के अनुसार जो सविधान इस सभा द्वारा बनाया जाता उसके लागू होने के पहले उसको ब्रिटिश पालियामेंट की स्वीकृति प्राप्त करनी होती। परन्तु १५ अगस्त १९४७ को यह बन्धन दूर हो गया।

सविधान सभा का कार्य —इस सभा की प्रथम बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को हुई। इस बैठक में डा० सच्चिदानन्द सिनहा अस्थायी सभापति चुने गये। ११ दिसम्बर को डा० राजेन्द्र प्रसाद सविधान-सभा के स्थायी सभापति चुने गये। अपने भाषण में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भारत में एक ऐसे समाज की स्थापना पर जोर दिया जिसमें कि वर्ग न हो। प० नेहरू ने सविधान-सभा में एक प्रस्ताव रखा जिसमें कि इसके उद्देश्य स्पष्ट कर दिए गये थे। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि भारत एक स्वतन्त्र राज्य होगा। यह एक सघ होगा। इस सघ के प्रदेशो को वे सब अधिकार दिए जायेंगे जो कि सघ को नही मिलेंगे।[1] इस सघ में समस्त शक्ति का स्रोत जनता होगी। यहाँ के नागरिकों को कई अधिकार दिये जायेंगे, जैसे समता का अधिकार स्वतन्त्रता का अधिकार, आदि। इसके साथ-साथ यह भी कहा गया था कि अल्पसख्यक, पिछडी हुई जातियो तथा कबायली क्षेत्र के निवासियो के हितो की रक्षा की जावेगी। यह प्रस्ताव २२ जनवरी १९४७ को स्वीकृत हुआ।

सविधान सभा ने कई समितियाँ स्थापित की। सरदार पटेल की अध्यक्षता में अल्पसख्यको के ऊपर परामर्श देने के लिए एक समिति नियुक्ति की गई। इस समिति के नीचे चार उपसमितियाँ नियुक्त की गईं। इसका कार्य

---

1 इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "The territories shall possess and retain the status of autonomous units together with residuary powers " परन्तु सविधान द्वारा अवशिष्ट शक्तियाँ सघ को दी गई हैं न कि प्रदेशो को। यह परिवर्तन देश के विभाजन के कारण आवश्यक समझा गया।

अल्पसंख्यकों, आदिवासियों, आदि की समस्या पर परामर्श देना था। इन्हीं में से एक समिति नागरिकों के मूल अधिकारों के लिए स्थापित की गई।[1]

संविधान-सभा ने एक समिति विधान का मसविदा (प्रारूप अथवा draft) बनाने के लिए २९ अगस्त १९४७ को बनाई। इसमें ८ सदस्य थे।

(१) डा० अम्बेदकर, सभापति
(२) श्री गोपाल स्वामी आयंगर
(३) श्री अल्लादी कृष्ण स्वामी आयंगर
(४) श्री कन्हैया लाल एम० मुन्शी
(५) श्री एस० एम० सादुल्ला
(६) श्री माधवराव
(७) श्री बी० एल० मित्तर
(८) श्री डी० पी० खेतान

इस समिति ने जो मसविदा प्रस्तुत किया उसमें ३१५ धाराएँ और ८ अनुसूचियाँ थीं। यह मसविदा ५ नवम्बर १९४८ को संविधान-सभा के सम्मुख रखा गया। संविधान-सभा ने इस पर विचार करके २६ नवम्बर १९४९ को संविधान को पास किया। इस अन्तिम रूप में स्वीकृत संविधान में ३९५ धाराएँ तथा ८ अनुसूचियाँ हैं। यह विधान २६ जनवरी १९५० से लागू हुआ। परन्तु कुछ धाराएँ २६ नवम्बर १९४९ से लागू हो गई थीं। उस दिन भारत-उपनिवेश सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक-गणराज्य हो गया। परन्तु यह ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल का सदस्य बना रहा।

---

१. कुछ मुख्य समितियों के नाम :—

(1) Union Constitution Committee.
(2) Union Powers Committee.
(3) The Provincial Constitution Committee.
(4) Advisory Committee on Minorities.

इसके अन्तर्गत चार उपसमितियाँ थीं—

अ—Minorities Sub-Committee.
ब—Fundamental Rights Sub-Committee.
स—North East Tribal and Excluded Area Sub Committee.
द—Tribal and Excluded Areas Sub-Committee.

सविधान के निर्माण में २ वर्ष ११ महीने १८ दिन का समय लगा। अमरीका का विधान बनने में ४ मास का समय, कनाडा का २ वर्ष ५ महीने, आस्ट्रेलिया का ९ वर्ष तथा दक्षिण अफ्रीका का १ वर्ष का समय लगा था। भारतीय सविधान सभा ने ६,३९६,७२९रुपये व्यय किये।

प्रश्न

(१) सविधान सभा से आप क्या समझते हैं? भारत में सविधान सभा की माँग क्यो तथा कैसे प्रारम्भ हुई?

(२) भारतीय सविधान सभा की उत्पत्ति, सगठन तथा कार्य पर एक छोटा निबन्ध लिखिए।

अध्याय ३

भारत के संविधान की विशेषताएँ

संविधान के स्रोत:—प्रत्येक देश के संविधान की कुछ विशेषताएँ होती हैं। ये उस देश के विशेष-परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होती हैं। हमारे संविधान के विषय में यह कहा जाता है कि संसार के सब मुख्य संविधानों के गुणों को यहाँ एकत्रित कर दिया है। इसमें जो कुछ भी सत्यता हो, इतना स्पष्ट है कि भारत के संविधान के निर्माण का कार्य जिन लोगों को सौंपा गया था उन्होंने कई देशों के संविधानों से इसके निर्माण में सहायता ली है। इस प्रकार हमारे संविधान में अन्य देशों के संविधानों का प्रभाव है। एक लेखक के अनुसार 'यह एक अनूठा संविधान है जिसके कि कई स्रोत हैं'।[1]

इंगलैंड की तरह, इस संविधान द्वारा भारत में संसद-पद्धति की सरकार (Parliamentary Form of Government) स्थापित की गई है तथा केन्द्र को शक्तिशाली बनाया गया है। इसके लिये अवशिष्ट अधिकार (Residuary powers) केन्द्र को दिये हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की तरह संविधान में नागरिक के मूल-अधिकारों का वर्णन है तथा एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है। आयरलैण्ड के संविधान का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वहाँ की तरह हमारे संविधान में राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रखा गया है तथा राज्यपरिषद् और विधान परिषदों में कुछ सदस्यों को मनोनीत करने का प्रबन्ध रखा गया है।

हमारे संविधान में १९३५ के ऐक्ट का भी बहुत अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि बहुत सी बातों के लिये १९३५ का ऐक्ट ही नये संविधान का स्रोत है। एक लेखक के अनुसार संविधान में करीबन ७५ प्रतिशत बातें १९३५ के ऐक्ट से ली गई हैं।[2] उदाहरणार्थ केन्द्र तथा

1. "It is a unique document drawn from many sources."
2. Basu : The Constitution of India, p. 4.

Jennings says, "The constitution derives directly from the Government of India Act, 1935, from which in fact many of

राज्यों के बीच वैधानिक सम्बन्ध निश्चित करने वाली धाराओं में अथवा राष्ट्रपति को संकटकाल में असाधारण अधिकार देने वाली धाराओं में १९३५ के ऐक्ट का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार संघ तथा राज्यों के बीच अधिकार विभाजन के लिये जो संघीय राज्यों की तथा समवर्ती सूचियाँ हैं वे भी इसी ऐक्ट पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त १९३५ के ऐक्ट का उद्देश्य भी भारत में संसद-पद्धति की स्थापना करना था न कि अध्यक्षात्मक पद्धति की। कुछ मात्रा तक यह स्वाभाविक था कि १९३५ के ऐक्ट का इतना अधिक प्रभाव हो। क्योंकि जिन मनुष्यों को संविधान का प्रारूप बनाने का कार्य सौंपा गया था उनको इस ऐक्ट का अनुभव था। इसके साथ-साथ प्रशासनीय-सुविधा की दृष्टि से भी १९३५ के ऐक्ट से बहुत कुछ लिया गया। क्योंकि अगर इससे पूर्णतया भिन्न संविधान बनाया जाता तो ब्रिटिश काल में जो प्रशासनीय प्रबंध चला आ रहा था उसमें बहुत कुछ हेर-फेर करना होता।

(१) लिखित तथा निर्मित विधान—हमारा संविधान लिखित तथा निर्मित है। हम पहले अध्याय में बतला चुके हैं कि इस प्रकार के संविधान से क्या तात्पर्य है। संक्षेप में लिखित संविधान वह संविधान है जिसके कि अधिकांश भाग लिखित हों। निर्मित संविधान वह है जिसका कि एक निश्चय समय में निर्माण किया गया हो। इस दृष्टि से भारतीय संविधान इंगलैण्ड के संविधान से पूर्णतया भिन्न है। क्योंकि इंगलैण्ड का संविधान अलिखित तथा विकसित संविधान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहा जाता है। इंगलैण्ड का संविधान इतिहास का फल है। इसका क्रमशः विकास हुआ है। एक समय यह राजतन्त्रीय था परन्तु अब यह प्रजातन्त्रीय है।

यथार्थ में प्रत्येक संविधान कुछ मात्रा तक लिखित तथा कुछ मात्रा तक अलिखित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक संविधान कुछ मात्रा तक निर्मित तथा कुछ मात्रा तक विकसित होता है। इंगलैण्ड के संविधान में कई बातें लिखित हैं। उदाहरणार्थ, १८३२ का सुधार बिल, अथवा १९११ का पार्लियामेंट ऐक्ट। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के विधान में जो कि लिखित तथा निर्मित है कई बातें अलिखित हैं तथा विकास के फलस्वरूप हैं। भारत के संविधान में भी कालान्तर में कई बातें ऐसी आ जावेंगी जिनका कि विधान में कहीं भी उल्लेख नहीं

its provisions are copied textually" Some characteristics of the Indian Constitution, p 17

Also see Malhotra, The Constitution of India, p 1 and Srinivasan, Ibid p 143

मिलेगा। ऐसा प्रत्येक लिखित विधान में हुआ है। अमेरिका के विधान में केवल ४००० शब्द हैं। इसको आधे-घंटे में पढ़ा जा सकता है। परन्तु केवल इसको पढ़ने से ही अमेरिका का शासनतन्त्र समझ में नहीं आ सकता है।[1]

(२) विशाल लेख्य—भारत का संविधान एक विशाल लेख्य (document) है। इस संविधान में ३९५ धाराएँ तथा ८ अनुसूचियाँ हैं। अगर हम इसको संसार के अन्य लिखित संविधानों से तुलना करें तो हम देखेंगे कि यह संसार के समस्त लिखित संविधानों में सबसे बड़ा है। संयुक्त-राष्ट्र-अमेरिका के संविधान में केवल ७ धाराएँ हैं, आस्ट्रेलिया के संविधान में १२० धाराएँ हैं। कैनाडा के संविधान में १४७ धाराएँ हैं। परन्तु १९३५ के ऐक्ट से यह छोटा है। उसमें ४५१ धाराएँ (clauses) तथा १५ अनुसूचियाँ थीं। यह कहना असत्य नहीं होगा कि नये विधान की विशालता बहुत कुछ मात्रा तक १९३५ के ऐक्ट के प्रभाव के फलस्वरूप भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधान निर्माताओं ने इस ऐक्ट को ही मुख्यतः ध्यान में रखकर नये संविधान का निर्माण किया है।

भारतीय संविधान में बहुत सी ऐसी बातों का समावेश कर दिया गया है जो कि यथार्थ में शासन-सम्बन्धी (administrative) हैं तथा जिनका संविधान में वर्णन नहीं होना चाहिए था।[2] प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान डा० जेनिंग्स (Jennings) ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।[3] मगर इस

---

1. अमेरिका के विधान के विषय में एक लेखक लिखता है :—

"A model of conciseness it certainly is, for there are only 4,000 words in it, occupying ten or twelve pages of print, which can be read in half an hour. But let no one make the error of supposing that these ten or twelve pages can be understood merely by reading them, or that they contain all the constitutional rules which govern the American People today."

Munro : The Government of the United States, p. 59.

2. "Many of these matters relate to the details of the administration, and strictly speaking, should have no place in a Constitution."—Dr. M. P. Sharma, The Government of the Indian Republic, p. 28.

3. "The constitution is long and complicated, because the Government of India Act, 1935, on which it was in large measure

प्रकार की बातों का संविधान में बहुत अधिक समावेश कर दिया जावे तो विधान का लचीलापन बहुत मात्रा तक चला जाता है। यह उचित नहीं क्योंकि इसमें संविधान को प्रत्येक नयी परिस्थिति के हल करने में असुविधा का सामना करना पड़ेगा।

संविधान में केवल संघ सरकार तथा इसके तीन प्रमुख तत्वो—कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका—का ही वर्णन नहीं है अपितु संघ के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों तथा इनके विधान का भी वर्णन किया गया है। अमेरिका में संघीय राज्यों को अपना विधान बनाने तथा बदलने का अधिकार है। परन्तु हमारे संविधान द्वारा यह अधिकार राज्यों को नहीं दिया गया है। इसका कारण यह है कि संघ का रूप निश्चित करने में विधान निर्माताओं ने कनेडा के संविधान का अनुसरण किया न कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के। उनका उद्देश्य एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करना था क्योंकि यह देश की एकता बनाये रखने के लिये आवश्यक था।

इसके अतिरिक्त संविधान में नागरिकता तथा नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन है। इन मूल अधिकारों के पश्चात राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों का भी वर्णन है। संविधान में संपत्ति, वित्त व्यापार निर्वाचन, अल्पसंख्यकों की स्थिति सरकारी सेवाएँ आदि का वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ अ तर्कालीन व्यवस्था के लिये भी जो विशेष उपबन्ध हैं उनको संविधान में स्थान दिया गया है। इनमें से बहुत सी बातें ऐसी थी जिनका वर्णन संविधान में आवश्यक नहीं था तथा जिनके लिए भारतीय संसद साधारण विधि बना सकती थी।

प्रश्न यह है कि इन सब बातों का संविधान में वर्णन क्यों किया गया है। कुछ लेखकों का कहना है कि भारत की परिस्थिति ऐसी थी, तथा यहाँ ऐसी समस्याएँ थी कि इन सब बातों का संविधान में समावेश देश के यथार्थ हित में है। अगर नहीं होता तो हमें बहुत सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती। डा० अम्बेदकर ने जो कि संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे इन सब शासन सम्बन्धी बातों का संविधान में समावेश उचित बतलाया। उनके अनुसार भारत में

founded, was long and complicated That Act had to distribute powers, formerly exercised under the authority of the Government of India, among various Indian Agencies and therefore went into great detail often more appropriate to a written Constitution" Jennings and Young, Constitutional Law of the Commonwealth, p 364 (195~ ed) Also see Jennings' Some Characteristics of the Indian Const pp 13 14

प्रजातन्त्र की जड़ें इतनी मजबूत नहीं है कि व्यवस्थापिका को शासन के रूप उपयोग निश्चित करने का अधिकार दिया जावे। क्योंकि वह इनको उचित भाँति से नहीं करेगी।[1]

(३) लोकतन्त्रात्मक संविधान :—भारतीय-संविधान इस सिद्धान्त पर आधारित है कि राज्य की शक्ति का स्रोत जनता है। इसको सार्वजनिक संप्रभुता (Popular Sovereignty) का सिद्धान्त कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा अथवा सरकार राज्य की असली सत्ता नहीं। वे तो केवल जनता के नौकर अथवा प्रतिनिधि है। असली सत्ता जनता है। यह सिद्धान्त यूरोप में आधुनिक काल में आरम्भ हुआ। इंगलैंड मे लॉक में इसका आभास मिलता है। फ्रान्स में रूसो तथा फ्रेंच-क्रान्तिकारियों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अमेरिका का संविधान भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है कि जनता ही राज्य की शक्ति का स्रोत है। संघ में तथा राज्यों में सारी शक्ति जनता के पास मानी गई है। जब पं० नेहरू ने संविधान-सभा के प्रथम अधिवेशन में उद्देश्य प्रस्ताव रखा था, उसमें भी यही कहा गया था कि समस्त शक्ति का स्रोत जनता है। इसी उद्देश्य प्रस्ताव के आधार पर संविधान की प्रस्तावना का निर्माण हुआ। इस प्रस्तावना में कहा गया है :—

हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न-लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये, तथा उसके समस्त नागरिकों को :—

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की स्वतन्त्रता,
प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सब में
व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की
एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता, बढ़ाने के लिए,

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर १९४९ ई० (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी संवत् दो हजार छिः) को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते है।

1. "Democracy in India is only a top dressing on the Indian soil which is essentially undemocratic. In the circumstances it is wiser not to trust the legislatures to prescribe forms of administration. This is the justification for incorporating them in the Constitution."—Dr. Ambedkar.

इस प्रस्तावना में यह व्यक्त किया गया है कि संविधान का निर्माण भारत के लोग कर रहे हैं तथा इन्हीं की इच्छा राज्य की सर्वोपरि इच्छा होगी। जनता अगर चाहे तो विधान में परिवर्तन कर सकती है। दूसरे शब्दों में सत्ता का स्रोत जनता है। इसी के लिये कहा गया है कि भारत 'लोकतन्त्रात्मक' राज्य है। लोकतन्त्र (democracy) से तात्पर्य है कि राज्य का कार्य, जनता के हित में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलाया जावेगा तथा जब जनता समझेगी कि प्रतिनिधि उचित रूप से काम नहीं कर रहे हैं तो वह इनको हटाकर उनके स्थान में नये प्रतिनिधि नियुक्त करेगी। प्रतिनिधि जनता के स्वामी नहीं अपितु सेवक हैं। इसमें यह अर्थ लेना चाहिए कि लोकतन्त्रात्मक प्रणाली इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक को अपने हित को पहचानने की शक्ति है एतदर्थ उसे अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। हमारे संविधान की प्रस्तावना बहुत कुछ अमेरिकन संविधान की प्रस्तावना से मिलती है उसमें भी कहा गया है कि "हम संयुक्त राष्ट्र के लोग ...... इस संविधान को निर्मित तथा स्थापित करते हैं।"[1]

अमेरिकन लेखक मनरो (Munro) लिखता है कि यह सत्य है कि अमरिका की संविधान सभा के सदस्य न तो जनता द्वारा निर्वाचित हुए थे और न उनके द्वारा निर्मित विधान जनता के सम्मुख उसकी स्वीकृति प्राप्त करने को रखा गया। तथापि विधान में यह बात घोषित की गई है कि वह जनता की इच्छा का फल है तथा इस बात को सब मानते चले आ रहे हैं।[2] इसी प्रकार भारतीय संविधान-सभा का निर्वाचन भी जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से तथा वयस्क मताधिकार के ऊपर नहीं हुआ। संविधान सभा का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा हुआ। इन विधान मण्डलों का निर्वाचन १९३५ के ऐक्ट के अनुसार हुआ था। इस ऐक्ट के अनुसार इन चुनावों में केवल १३ प्रतिशत भारतीयों को मत देने का अधिकार था। इस कारण कई आलोचकों का कहना है कि संविधान सभा सम्पूर्ण भारतीय जनता की नहीं, परन्तु इस १३ प्रतिशत की प्रतिनिधि थी। इसलिये इसे समस्त भारतीय जनता के नाम से संविधान बनाने का

1 "We, the people of the United States, in order to form a more perfect Union, establish, justice insure democratic tranquility, provide for the common defence, promote the general welfare, and secure the blessings of liberty to oursleves and our posterity, do ordain and establish this Constitution for the United States of America"

2 Munro · Government of the United States, p 54

कोई अधिकार नहीं था। और इसी कारण यद्यपि संविधान में लोकतन्त्र का नाम लिया गया है परन्तु यथार्थ में यह विधान लोकतन्त्रात्मक नहीं है।

इस आलोचना के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि जिस समय संविधान सभा का निर्माण हुआ उस समय ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि इसका वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन हो सकता। एक तो इस प्रकार के निर्वाचन के लिए बहुत अधिक समय चाहिए था और उस समय इतना अवकाश नहीं था। दूसरे देश में हिन्दू-मुस्लिम समस्या ने इतना गम्भीर रूप धारण कर रखा था कि चुनाव करने का अर्थ देश भर की शान्ति को खतरे में डालना होता। तीसरे, देश में कांग्रेस का इतना अधिक प्रभाव था कि अगर वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन भी होता तब भी संविधान-सभा में कांग्रेस दल का ही नितान्त बहुमत होता।

संविधान की प्रस्तावना में लोकतन्त्रात्मक शासन पद्धति के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) गण-राज्य (Repuplic) है। सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न होने से यह तात्पर्य है कि भारत पूर्णतया स्वतन्त्र है। राज्य की प्रभुता के दो पहलू हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक रूप में प्रभुता से यह तात्पर्य है कि राज्य के अन्तर्गत राज्य की इच्छा ही सर्वोपरि है तथा अपने अन्दर रहने वाले समस्त व्यक्तियों तथा संस्थाओं को अपनी इच्छा मानने को बाध्य कर सकता है। बाह्य रूप में प्रभुता से यह तात्पर्य है कि राज्य किसी अन्य देश के अधीन नहीं है और न किसी रूप में इसकी परराष्ट्र-नीति किसी अन्य राष्ट्र द्वारा निर्धारित या प्रभावित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों पहलुओं में प्रभुता का अर्थ स्वतन्त्रता है। संविधान में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि भारत अपने आन्तरिक तथा बाह्य दोनों क्षेत्रों में पूर्णतया स्वतन्त्र है।[1]

भारत गणराज्य है। गणराज्य का अर्थ है कि भारत में शासन का रूप राजतन्त्र नहीं होगा। राजतन्त्र से तात्पर्य है कि जब देश का प्रधान वंशानुगत-

1. परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये जैसा कि एक विद्वान ने कहा है कि "In India as in every free country with a written constitution, there are constitutional limitations which restrict the sovereignty. The Constitution prescribes its limits; it is restricted by the fundamental rights in several respects, and is controlled or regulated by an independent judiciary in the larger interests of liberty."—Sri K. M. Munshi.

क्रम से कोई राजा हो। गणराज्य की परिभाषा करत हुए गार्नर लिखता है कि यह राज्य का वह रूप है जिनमें राज्य की सर्वोपरि-इच्छा एक मनुष्य के हाथ में न होकर कई मनुष्यो के हाथ में हो। भारत में सविधान द्वारा गणराज्य स्थापित किया गया है न कि राजतन्त्र। जनता के प्रतिनिधियो को समस्त शक्ति दी गई है। वैसे तो देश का प्रधान एक राष्ट्रपति रखा गया है परन्तु यह केवल नाम-मात्र को प्रधान है।

इसके अतिरिक्त भारत को हम गणराज्य एक दूसरे अर्थ में भी कह सकते हैं। स्विस लेखक ब्लन्टश्ली लिखता है कि गणराज्य वह है जहाँ शासन समस्त जनता के हित में होता है। इस दृष्टि से भी भारत गणराज्य है। क्योंकि सविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सविधान का उद्देश्य समस्त नागरिको का उत्थान करना है। इसीलिए इसमें न्याय, स्वतन्त्रता तथा समता को आधार-भूत सिद्धान्तो के रूप में रखा गया है। इससे यह तात्पर्य है कि शासन किसी वर्ग विशेष के हित में नहीं होगा। धनी तथा निर्धनो में किसी प्रकार का भेद-भाव नही किया जावेगा। कानून प्रत्येक को समान दृष्टि से देखेगा। प्रत्येक व्यक्ति को बिना भेद के विकास के लिए समान अवसर दिये जायेंगे। सरकारी सेवाएँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुली हैं। गरीब से गरीब मनुष्य योग्यता होने पर ऊँचे पद पर पहुँच सकता है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी कोई भेद-भाव नही रखा गया है। साम्प्रदायिकता, छुआ-छूत आदि के लिए सविधान में कोई स्थान नही है। स्त्री तथा पुरुषो को समान समझा गया है। इसके साथ साथ वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त भी माना गया है।

(४) **सघात्मक सरकार तथा शक्तिशाली केन्द्र**—सविधान द्वारा भारत में एक *सघात्मक सरकार* की स्थापना की गई है।[1] इस सघ की स्थापना कई स्वतन्त्र राज्यो के आपस मे मिलकर रहने की इच्छा के फलस्वरूप नही हुई है, अपितु एक एकात्मक सरकार सघात्मक सरकार में परिवर्तित कर दी गई है। साधारणत सघ स्वतन्त्र राज्यो के बीच एक समझौते के फलस्वरूप बनते हैं। इस दृष्टि से भारत-सघ अनूठा है।

भारत-सघ कई दृष्टियो से अन्य सघो से भिन्न है। सक्षेप में यह कह सकते हैं कि इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि केन्द्र को बहुत अधिक **शक्तिशाली** बनाया गया है। इसका कारण यह था कि सविधान के निर्माताओ के सम्मुख देश की एकता को अक्षुण्ण रखने का प्रश्न था। इस एकता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने सोचा कि एक शक्तिशाली केन्द्र आवश्यक है। यहाँ पर कैनेडा

1 विस्तृत वणन के लिए चौथा अध्याय देखिये।

के संविधान का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यहाँ तक कि संघ (Union) शब्द ही ब्रिटिश नॉर्थ अटलाण्टिक ऐक्ट की प्रस्तावना में से लिया गया है। डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा कि संघ (Union) शब्द से यह तात्पर्य है कि संघ इकाइयों के बीच किसी प्रकार के समझौता का फल नहीं है तथा इन इकाइयों को संघ को त्यागने का अधिकार नहीं है। यह बात तो प्रस्तावना में ही स्पष्ट हो जाती है कि इकाइयों को संघ त्यागने का अधिकार नहीं है। क्योंकि उसमें यह कहा गया है कि संविधान की रचना समस्त भारत की जनता द्वारा की गई है। इसलिए किसी राज्य-विशेष के इसको छोड़ने का प्रश्न उठता ही नहीं है।

क्योंकि संविधान द्वारा अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र वाले संघ की स्थापना की गई है, इसलिए भारत-संघ अन्य संघों से कई बातों में भिन्न है। इस पर पूरा प्रकाश तो आगे के अध्याय में डाला जायगा। यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि :

(१) संविधान द्वारा अवशिष्ट अधिकार संघ को दिए गये हैं न कि राज्यों को।

(२) संविधान द्वारा समस्त देश के लिए एक ही नागरिकता रखी गई है न कि द्वैध। अर्थात् संघ और राज्यों की अलग नागरिकता नहीं है।

(३) राज्यों को अपना विधान बनाने का अथवा उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन करने का अधिकार नहीं दिया गया है।

(४) समस्त देश के लिए एक ही न्यायपालिका की स्थापना की गई है अर्थात् संघ और राज्यों की न्यायपालिका अलग-अलग नहीं है।

(५) समस्त देश के लिए एक ही विधि (Law) की स्थापना की गई है।

(६) संविधान द्वारा संघ तथा प्रदेशों के अधिकार विभाजनार्थ तीन सूचियों का निर्माण किया गया है—संघ-सूची, राज्य-सूची तथा समवर्ती-सूची। संघ-सूची में दिए गए विषयों में केवल संसद ही कानून बना सकता है। राज्य सूची के विषयों पर राज्यों के विधान-मण्डलों को कानून बनाने का अधिकार है। समवर्ती-सूची के अन्तर्गत विषयों पर संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डल दोनों को कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु यहाँ पर भी संघ संसद् द्वारा निर्मित कानूनों को प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है। कैनेडा के विधान में भी इसी प्रकार तीन सूचियाँ हैं। संघ तथा इकाइयों के मध्य इस प्रकार विस्तारपूर्वक अधिकार विभाजन का फल यह हुआ है कि संविधान में कानूनीपन (legalism) का प्रभाव है।

(७) संकट काल में राष्ट्रपति को असाधारण अधिकार प्रदान किए गए हैं। अगर राष्ट्रपति संकट (आपत्ति) की घोषणा कर दे तो संघ के हाथ में इतने अधिकार आ जाते हैं कि संघ के स्थान में एक एकात्मक सरकार स्थापित हो जायगी। क्योंकि ऐसे अवसरों पर राज्यों को संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अन्त हो जायगा। अन्य संघों में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। ये उपबन्ध १९३५ के एक्ट से लिये गये हैं।

इन सब विशेषताओं के होने के कारण भारत-संघ को लेखकों ने quasi federal कहा है।[1]

(८) संसद् पद्धति—यद्यपि भारत का प्रधान एक राष्ट्रपति है तथापि यहाँ की सरकार अध्यक्षात्मक न होकर संसद-पद्धति की है।[2]

भारतीय संविधान में यद्यपि राष्ट्रपति राज्य का प्रधान है तथापि उसे अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार काम करना पड़ेगा। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए संसद का सदस्य होना आवश्यक है। मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यह तभी तक अपने पद पर रह सकता है जब तक इसको लोक-सभा का विश्वास प्राप्त है, अन्यथा इसे पदत्याग करना पड़ेगा। इन सब कारणों से ही यह कहा गया है कि भारतीय संविधान संसदीय-पद्धति की सरकार की स्थापना करता है। परन्तु इसके साथ-साथ इसमें कुछ बातें ऐसी हैं जो कि संसद-पद्धति में नहीं होनी चाहिये जैसे—

(१) राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल द्वारा दिए हुए किन्हीं आदेशों के लिये यह आवश्यक नहीं कि उनमें किसी मन्त्री द्वारा हस्ताक्षर किये जावें।

(२) राष्ट्रपति या राज्यपाल संसद या विधान मण्डल द्वारा पास किसी बिल को फिर से उनके विचारार्थ वापिस भेज सकते हैं। संसदीय विधि का

---

1 'The Union is not strictly a federal polity but a quasi-federal polity with some vital and important elements of unitariness"—G N Joshi The Constitution of India, p 34

K C Wheare says 'The new Constitution establishes, indeed, a system of government which is at most quasi federal, almost devolutionary in character, a unitary State with subsidiary federal features rather than a federal State with subsidiary unitary features'

2 संसद् पद्धति तथा अध्यक्षात्मक पद्धति के लिये लेखक की पुस्तक नागरिक शास्त्र के आधार देखिये।

आधारभूत सिद्धान्त वैधानिक प्रधान का उत्तरदायित्वहीन होना है। परन्तु भारत के राष्ट्रपति की स्थिति ऐसी नहीं है।[1]

भारतीय विधान में संसद्-पद्धति को इसलिए अपनाया गया है क्योंकि इसमें सरकार जनता के प्रति भली प्रकार उत्तरदायी रहती है। दूसरे, क्योंकि भारत में ब्रिटिश काल में वैधानिक विकास क्रमशः संसदीय-सरकार की तरफ ही हो रहा था। विद्वानों का यह मत है संसद विधि अध्यक्षात्मक पद्धति से अच्छी है। इस विषय में प्रो० लास्की का एक उद्धरण दिया जाता है :—

"संसदीय-पद्धति से कई लाभ हैं। कार्यकारिणी तभी तक पदारूढ़ रह सकती है जब तक इसको व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त है। इस प्रकार इसकी नीति में एक लचीलापन रहता है जिसके कारण कोई गति अवरोध नहीं होने पाता जैसा कि जब कभी राष्ट्रपति तथा कांग्रेस एक दूसरे से सहमत न हों, अमेरिका में हो जाता है। व्यवस्थापिका में कार्यकारिणी के सदस्यों की उपस्थिति इसे अपनी नीति को उचित प्रकार समझाने का अवसर देती है। यह इस प्रकार उन लोगों का ध्यान आकर्षित करती है तथा आलोचना को सुनती है जो कि इसके स्थान में पदारूढ़ होना चाहते हैं। इस प्रकार यह उत्तरदायित्व की स्थापना करती है। यह व्यवस्थापिका को मनमाने कानून बनाने से रोकती है क्योंकि इसका शासन में भी प्रभाव रहता है। और दूसरी तरह यह कार्यकारिणी को भी पतित होने से बचाती है जैसा बहुधा होता है जब कि एक मंत्रिमण्डल की नीति यथार्थ में अपनी नहीं होती है। इस प्रकार यह व्यवस्था उन दो अंगों को संयोजित करती है जिनका मानस में घनिष्ठ सम्बन्ध अच्छे शासन के लिये आवश्यक है।"

(६) संशोधन की विधि.—प्रत्येक संघात्मक विधान अपरिवर्तनशील होता है। अपरिवर्तनशीलता से यह तात्पर्य नहीं है कि यह कभी भी बदला नहीं जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ है कि विधान में परिवर्तन एक विशेष विधि से ही हो सकता है। परिवर्तनशील विधान में तो व्यवस्थापिका ही विधान परिवर्तन करती है। परन्तु अपरिवर्तनशील विधान में साधारण कानून तथा वैधानिक कानूनों में अन्तर रहता है। इस कारण इसमें परिवर्तन के लिये एक विशेष सभा होती है। इसलिए यह कहा जाता है कि अपरिवर्तनशील विधान में परिवर्तन आसानी से नहीं होते हैं। परन्तु भारतीय संविधान में संशोधन की व्यवस्था सरल है। यह कहा जाता है कि संघात्मक सरकार में अपरिवर्तनशील विधान का होना आवश्यक है, अन्यथा सदा यह भय लगा रहेगा कि

1. देखिये अध्याय ९।

संघ-सरकार राज्यों की सरकारों के अधिकारों को हड़प न कर जाय। दूसरे शब्दों में संघात्मक रूप के बने रहने के कारण संविधान में परिवर्तनशीलता आवश्यक गुण माना गया है। यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान 'अपरिवर्तनशीलता तथा परिवर्तनशीलता का मेल है।

संविधान की उन धाराओं में, जो कि संघ तथा राज्यों के मध्य अधिकार का विभाजन करती हैं किसी भी संशोधन के लिए यह आवश्यक है कि उसको भारतीय संसद तथा आधे से अधिक राज्यों के विधान मण्डलों की स्वीकृति प्राप्त हो। परन्तु संविधान के अन्य भागों में किसी भी संशोधन के लिये केवल भारतीय संसद की स्वीकृति की ही आवश्यकता है। परन्तु यहाँ पर यह कह दिया गया है कि उस संशोधन को संसद के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का कम से कम दो तिहाई बहुमत प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार साधारण विधि रचना तथा संशोधन में केवल यही अन्तर रह जाता है कि साधारण विधि के लिए उपस्थित सदस्यों का बहुमत ही पर्याप्त है। परन्तु इन उपबन्धों की संख्या अधिक नहीं है।[1] परन्तु भारतीय संविधान की कठोरता उसकी संशोधन विधि के कारण न होकर उसके आधार के के कारण है।[2]

(७) **धर्म निर्पेक्ष शासन की स्थापना**—संविधान धर्म निर्पेक्ष (Secular) *शासन की स्थापना करता है। धर्मनिर्पेक्ष राज्य से तात्पर्य यह है कि* राज्य का क्षेत्र तथा धर्म का क्षेत्र अलग अलग है। आधुनिक काल से पूर्व ऐसा नहीं होता था। प्रत्येक राज्य का अपना एक विशिष्ट धर्म होता था। उस धर्म के अनुयायियों को राज्य की ओर से कई सुविधाएँ प्रदान की जाती थीं। परन्तु अन्य धर्मावलम्बियों को वे सब सुविधायें नहीं थीं। बहुधा यह भी हुआ है कि अन्य धर्मावलम्बियों के विरुद्ध कानून बना दिये जाते थे।

---

1 विस्तृत वर्णन के लिये पृष्ठ ६४ देखिये

2 Jennings लिखता है—In a Constitution "the degree of rigidity depends upon two factors First it depends on the degree of difficulty in the amending process Secondly, it depends upon the content of the Constitution What makes *the Indian Constitution* so rigid is that, in addition to a somewhat complicated process of amendment it is so detailed and covers so vast a field of law that the problem of constitutional validity must often arise" Jennings—Some Characteristics of the Indian Constitution, pp 9-10 Also see p 66

यूरोप में कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट देशों में इस प्रकार के कई उदाहरण मिल जायेंगे। परन्तु आधुनिक काल में सर्वत्र इस बात को माना जाने लगा है कि धर्म का क्षेत्र तथा राज्य का क्षेत्र सर्वथा अलग-अलग है। यद्यपि हमारे संविधान में कहीं पर लौकिक (Secular) शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है तथापि स्पष्ट है कि संविधान ऐसे राज्य की स्थापना कर रहा है। दूसरे शब्दों में संविधान के अनुसार धर्म प्रत्येक मनुष्य का वैयक्तिक प्रश्न है। राज्य इसमें किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करेगा। जो मनुष्य चाहे जिस धर्म को मान सकता है। राज्य प्रत्येक धर्म के लिये बराबर सुविधायें देगा। ऐसा नहीं कि किसी को सुविधायें दी जावें तथा अन्य धर्मों को वह न दी जावें। प्रत्येक धर्म वाले अपने धर्म का प्रचार कर सकते हैं। इसमें कोई बाधा नहीं पहुँचाई जावेगी। वे अपने पूजार्थ पूजागृह, मन्दिर, मस्जिद, गिर्जे आदि स्थापित कर सकते हैं। सरकार उन्हें ऐसा करने से नहीं रोकेगी। परन्तु यह अधिकार सीमित नहीं हो सकता है। धर्म की स्वतन्त्रता वहीं तक दी जा सकती है जहां तक वह समाज की शान्ति, सुरक्षा तथा नैतिक-भावना के विरुद्ध न हो।

इसी कारण से धर्म के मामले में सरकार पूर्णतया निर्पेक्ष है। सरकारी शिक्षा संस्थाओं में किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती है। उन संस्थाओं में जिनको सरकारी सहायता प्राप्त है किसी को किसी विशेष प्रकार के धार्मिक कृत्य में भाग लेने को बाध्य किया जा सकता है। धर्म के कारण राज्य किसी संस्था को सहायता आदि नहीं देगा। धर्म के कारण किसी व्यक्ति को सरकारी सेवा से वंचित नहीं किया जावेगा। संक्षेप में धर्म से राज्य का कोई प्रयोजन नहीं है। इससे यह तात्पर्य नहीं कि संविधान एक नास्तिक राज्य की स्थापना करता है, न यही अर्थ है कि नास्तिकों को विशेष सुविधायें प्रदान की जावेंगी। परन्तु इससे यह तात्पर्य अवश्य लेना चाहिए कि मनुष्य चाहे आस्तिक हो चाहे नास्तिक, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान, वह राज्य के लिये समान है।

इसी लौकिकता का एक पहलू यह भी है कि संविधान द्वारा अस्पृश्यता अवैध घोषित कर दी गई है। अब सवर्ण हिन्दू हरिजनों को मन्दिरों के अन्दर जाने से नहीं रोक सकते हैं न वे उन्हें कुओं से पानी भरने से रोक सकते हैं। अस्पृश्यता के साथ-साथ साम्प्रदायिकता को भी हटा दिया गया है। इसी उद्देश्य से पृथक निर्वाचन-प्रणाली का अन्त कर दिया गया है। इसके साथ साथ अब पहले की तरह अल्पसंख्यकों के लिये सीटें सुरक्षित नहीं रखी जाती हैं। संयुक्त-निर्वाचन प्रणाली मान ली गई है। परन्तु अब भी हरिजन तथा

आदिम जातियो के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखने के लिए संविधान म उपबन्ध है। परन्तु कुछ काल पश्चात् ये भी हटा दिये जायेंगे।

धर्म-निरपेक्षता तथा अस्पृश्यता एव साम्प्रदायिकता का अन्त इसलिए आवश्यक था कि देश की एकता दृढ की जाय तथा भारत का एक राष्ट्र हो जावे। इसी कारण संविधान निर्माताओ ने सोचा कि समस्त देश के लिए एक भाषा का होना भी आवश्यक है। राष्ट्रीयता के इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ भाषा की एकता ने राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ करने में बहुत सहायता प्रदान की है। इसी कारण भारत में संविधान द्वारा समस्त देश के लिये एक ही राष्ट्र-भाषा स्वीकार की गई। यह हिन्दी है संविधान लागू होने के १५ वर्ष पश्चात् सब काम उसी भाषा में करना होगा। कुछ विद्वानो की राय में हिन्दी को इस प्रकार राष्ट्र-भाषा बनाना उचित नही हुआ है। क्योंकि भारत में कम से कम १४ अन्य ऐसी भाषाए हैं जिनका साहित्य है तथा जो उन्नत अवस्था में हैं। उत्तर भारत की भाषाओ में तो कुछ साम्य है। परन्तु दक्षिण भारत की भाषाएँ उत्तर भारत से सर्वथा भिन्न है। इन लोगो के मतानुसार किसी भाषा को इस प्रकार राष्ट्र भाषा नही बनाया जा सकता है। राष्ट्र-भाषा का तो धीरे धीरे विकास होगा। यह सत्य है कि भाषा की एकता राष्ट्रीयता के लिए नितान्त आवश्यक नही। उदाहरणार्थ, स्विटजरलैण्ड में तीन भाषाएँ हैं, परन्तु एक भाषा ऐसी होनी ही चाहिये जिसमें कि समस्त देश का काम हो सके। साधारण शब्दो में भारत में अंग्रेजी का स्थान लेने के लिए एक अन्य भाषा की आवश्यकता अवश्य है।

(८) मूल-अधिकार—भारतीय संविधान द्वारा नागरिको को कई अधिकार दिये गये हैं। इनका संविधान मे वर्णन किया गया है। इनको नागरिको के मूल अधिकार कहा गया है। इनसे यह तात्पर्य है कि राज्य व्यक्तित्व के विकास के लिये नागरिको के कुछ सुविधाओ को प्राप्त करने में कोई अडचन डाले या सरकार किसी कानून द्वारा नागरिको को उनका उपयोग करने से रोके तो नागरिक इनकी रक्षार्थ न्यायालय की शरण ले सकते हैं। आधुनिक काल में अधिकतर लिखित विधानो मे इस प्रकार के अधिकारो का वर्णन रहता है। संविधान द्वारा निम्नलिखित अधिकार मूल अधिकार कहे गये हैं

(१) समता अधिकार,
(२) स्वातन्त्र्य अधिकार,
(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार,
(४) धर्म स्वातन्त्र्य अधिकार,
(५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

(६) सम्पत्ति का अधिकार,
(७) संविधानिक उपचारों के अधिकार।

इन मूल अधिकारों के अतिरिक्त संविधान में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि राज्य अपनी नीति निर्धारित करने तथा विधि बनाने में कुछ विशेष तत्वों का प्रयोग करेगा। परन्तु इन तत्वों की विशेषता यह है कि इनको किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी। संविधान में यह कहा गया है कि ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं। राज्य का उद्देश्य, एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना कहा गया है, जिसमें कि सबों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त हो। इसलिए राज्य की नीति का सञ्चालन इस प्रकार करने को कहा गया है जिसमें सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन हो; आर्थिक व्यवस्था सभी के लिए हितकर हो; पुरुषों तथा स्त्रियों को समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जाय, आदि। इसी उद्देश्य के लिए राज्य कई कार्य करेगा। ये कार्य निम्नलिखित बतलाये गये हैं :

(१) ग्राम पंचायतों का सगठन,

(२) कुछ अवस्थाओं में नागरिकों को काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार।

(३) श्रमिकों के लिये निर्वाह-मजदूरी,

(४) नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता,

(५) बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध; आदिम जातियों, अनुसूचित जातियों तथा अन्य दुर्बल विभागों की शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति,

(६) जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुधारने का प्रयत्न,

(७) कृषि और पशुपालन का संगठन,

(८) राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों और चीजों का संरक्षण,

(९) कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण,

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय, शान्ति और सुरक्षा की उन्नति।

इन राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों में तथा नागरिक के मूल अधिकारों में यह मुख्य भेद है कि इनको किसी भी न्यायालय द्वारा बाध्यता नहीं दी जा सकती है।

(६) स्वतन्त्र न्यायपालिका—संविधान द्वारा एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है। प्रत्येक स्वतन्त्र-राज्य में एक ऐसी सत्ता का होना

आवश्यक है जिसका निर्णय अन्तिम होगा तथा जिसके विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती है। एकात्मक सरकार जिन देशो में है वहाँ यह सत्ता व्यवस्थापिका के पास होती है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में पार्लियामेंट सर्वोच्च सत्ता है। पार्लियामेण्ट द्वारा बनाये हुये कानून की कोई अवहेलना नहीं कर सकता है। डायसी के अनुसार यह जो कुछ चाहे वह कर सकती है तथा किसी भी कानूनी-बन्धन से नहीं बँधी है। इसको पार्लियामेण्ट की सर्वोच्चता (Parliamentary Supremacy) कहा जाता है। परन्तु संघात्मक सरकार में सर्वोच्च-सत्ता न्यायपालिका है। क्योंकि संघ-राज्य, कई राज्यों के आपस में एक समझौता करने से बनता है। अथवा, एक एकात्मक-राज्य अपने को संघात्मक राज्य में परिवर्तित कर सकता है। दोनों दशाओं में संविधान द्वारा संघ तथा इसकी इकाइयों के मध्य अधिकार-विभाजन हो जाता है। कुछ अधिकार संघ-सरकार को दिये जाते हैं तथा कुछ इसकी इकाइयों को। इस अधिकार-विभाजन में कोई परिवर्तन बिना इन दोनों दलों की स्वीकृति के नहीं हो सकता है। इस कारण यह स्वाभाविक है कि अगर केन्द्रीय व्यवस्थापिका को सर्वोच्च सत्ता बना दिया जावे तो इकाइयों के अधिकार सुरक्षित नहीं रहेंगे। इसलिए यह सत्ता एक तटस्थ-शक्ति के हाथों में होनी चाहिये और यह शक्ति न्यायपालिका है।

संघ-राज्य में न्यायपालिका संविधान का संरक्षण करती है। इसको संविधान का संरक्षक (Guardian of the Constitution) कहा जाता है। इस प्रकार यह संघ तथा राज्य दोनों को अपने निश्चित क्षेत्र के अन्दर रखती है। इसके अतिरिक्त अगर इकाइयों का आपस में कोई झगड़ा हो तो इसका निर्णय भी यही करती है। अन्त में व्यक्ति के अधिकारों की भी यही रक्षक है।

भारतीय संविधान द्वारा भी, इन बातों के लिए एक स्वतन्त्र न्यायपालिका स्थापित की गई। इसकी स्वतन्त्रता तथा तटस्थता अक्षुण्ण रखने के लिए कई उपबन्ध बनाये गये हैं। इनका वर्णन आगे किया गया है।

(१०) उदार संविधान—भारतीय संविधान की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यह एक 'उदार संविधान' है। जैसा पहले लिखा जा चुका है इस संविधान का उद्देश्य भारत के नागरिकों को न्याय, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की प्राप्ति है। ये ही उदारवाद के लक्ष्य हैं। इसी कारण जैसा हम बतला चुके हैं कि संविधान द्वारा, नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं और यह इसी उदारवादी विचारधारा का परिणाम है कि एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है जो कि नागरिकों के मूल अधिकारों की संरक्षक है।

उदारवादी विचारधारा का मूल सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति साधन नहीं है अपितु वह साध्य है। यह सत्य है कि यदि इस सिद्धान्त को अतिदूर तक ले जाया जाय तो यह समष्टि के लिये घातक होगा। परन्तु यह भी नितान्त सत्य है कि केवल समष्टि में ही ध्यान केन्द्रित करने से व्यक्ति की सत्ता का पूर्णतः लोप हो जाता है।

(११) भारत तथा राष्ट्र-मण्डल की सदस्यता.—संविधान द्वारा भारत एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य स्थापित हुआ है। हम बतला चुके हैं कि इसका क्या अर्थ है। परन्तु भारत इसके साथ-साथ राष्ट्र-मण्डल (Commonwealth of Nations) का भी सदस्य है। प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्र-मंडल की सदस्यता से भारत की स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की कमी हुई है तथा क्या एक गणराज्य के लिए उचित है कि वह एक ऐसे मंडल का सदस्य हो जिसका प्रधान एक राजा है।

इन प्रश्नों का उत्तर भली-भांति समझने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि राष्ट्र-मण्डल से क्या समझा जाता है। राष्ट्र-मण्डल का अर्थ उन देशों का मंडल है जो कि एक समय ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन थे। धीरे धीरे इनमें से कई भागों ने इंगलैण्ड से कई प्रकार के अधिकार प्राप्त कर लिये और वे अपने आन्तरिक मामलों से पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये। सन् १९३१ में Statute of Westminster पास हुआ। इसमें यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के सब सदस्य शासन में बराबर हैं कोई किसी के अधीन नहीं हैं तथा सबों ने स्वेच्छा से सम्राट को अपनी एकता का प्रतीक मान रखा है। इस प्रकार आन्तरिक विषयों में तथा बाह्य विषयों में राष्ट्र-मण्डल के सदस्यों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्र-मण्डल में १९४७ से पूर्व केवल वे ही राष्ट्र थे जहाँ कि गोरों की आबादी थी या उनके हाथ में प्रभुता थी। उदाहरणार्थ कैनेडा, न्यूजीलैण्ड, साउथ अफ्रीका। इसी कारण अंग्रेज लेखकों ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि राष्ट्र-मण्डल केवल एक राजनीतिक या आर्थिक एकता का ही फल नहीं है, परन्तु यह एक सांस्कृतिक एकता भी प्रदर्शित करता है।[1]

1. "The unity of the Commonwealth is something more [illegible] and are coming to share more and more, the same sports

पाकिस्तान ने तो राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना आरम्भ में ही निश्चित कर लिया था। परन्तु भारत में इसके ऊपर दो मत थे। पं० नेहरू तथा कांग्रेस के अन्य नेतागण तो इसमें ही रहना चाहते थे। परन्तु देश में कुछ अन्य ऐसे लोग थे जिनके विचार में उसमें नहीं रहना चाहिये था। जब पं० नेहरू अप्रैल १९४९ में ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में गये तो वहाँ यह प्रश्न उठा। पं० नेहरू ने भारत की ओर से यह निश्चय किया कि भारत इसका सदस्य रहेगा। इसलिए ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अन्य सदस्यों ने इसके नाम के आगे से ब्रिटिश हटा दिया। अब यह केवल राष्ट्र मंडल कहलाने लगा।

इस राष्ट्र मण्डल की एकता का प्रतीक सम्राट् है। परन्तु भारत एक गणराज्य है। एक गणराज्य इसका सदस्य कैसे हो गया? इसके समर्थकों का कहना है कि सम्राट तो केवल प्रतीक है और भारत सम्राट् को केवल प्रतीक मानता है इससे अधिक कुछ नहीं। भारत इसकी सदस्यता के फलस्वरूप सम्राट के प्रति कोई अधीनता नहीं प्रदर्शित करता है। सर अर्नेस्ट बार्कर ने लिखा है कि सम्राट (King) तथा राष्ट्र मंडल के सदस्य सम्राट् के अधीन हैं। दूसरी ओर सम्राट् केवल स्वेच्छा से रक्षित एकता का प्रतीक है। परन्तु भारत के साथ एक ही सम्बन्ध है। भारत सम्राट् को केवल एकता का प्रतीक मानता है। भारत सम्राट के अधीन नहीं है।[1]

संविधान में राष्ट्र मंडल की सदस्यता के ऊपर कोई धारा नहीं है। यह सम्बन्ध संविधान के बाहर का है। इस सम्बन्ध का असली आधार कानून न होकर संसार की राजनैतिक स्थिति है हमारे देश के शासकों ने समझा कि हमारे राजनैतिक अधिकार तथा हितों का संरक्षण राष्ट्र मंडल में रहने से होगा।

---

and the same attitude to sports —*Sir, Ernest Barker Parliamentary Affairs*, p 13, Vol IV No 1

1 "The relation of the King to the unity of the Commonwealth was double in its nature On the one hand the King was the recipient of a common allegiance from all the individual members of all the countries of the Commonwealth On the other hand he was a symbol But in India, the King is not a *recipient of allegiance But (he) is* acknowledged as the symbol of the free association of the independent member nations and as such the Head of the Commonwealth"

अतएव उन्होंने इसकी सदस्यता स्वीकार की। अगर कोई दूसरा दल कभी सरकार बनाने में सफल हुआ जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इंग्लैण्ड के साथ सहानुभूति नहीं है तो यह सम्भव है कि भारत राष्ट्र-मण्डल में से निकल जावे।

प्रश्न

(१) भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएं बताइये। (यू० पी० १९५१)

(२) "राष्ट्रमंडल" से आप क्या समझते हैं? भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य होते हुए भी राष्ट्र-मंडल का सदस्य क्यों है?

(३) भारत के नवीन संविधान की क्या विशेषताएं हैं?
(यू० पी० १९५२)

(४) धर्म निरपेक्ष राज्य से क्या अर्थ है? हमारे संविधान द्वारा कहाँ तक ऐसे राज्य की स्थापना हुई है? (यू० पी० १९५३)

At this place it will be interesting to note that Mr. Gordon Walker (who was Secratary of State in the Labour Government) said on February 20th 1953, that Shri Nehru's message to Queen Elizabeth "welcoming Your Majesty as the new head of the Commonwealth" had helped clearly and formally to enunciate that the Crown is the symbol of the free association of all members of the Commonwealth whether they be monarchies or republic."— Amrit Bazar Patrika, 1, 1953.

The statement issued after a Conference of Prime Ministers, attended by Pt. Nehru in London, stated, "The Government of India, have delared and affirmed India's desire to her full membership of the Commonwealth of Nations and her acceptance of the King as the symbol of the free association of the independent nations as the head of the Commonwealth"

अध्याय ४

भारत-संघ तथा इसका राज्य-क्षेत्र

१ भारत संघ

संविधान की प्रथम धारा में लिखा है कि "भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा।" इसलिये हम इस अध्याय में सर्व-प्रथम यह देखना चाहिये कि संघ-राज्य की क्या परिभाषा है, इसके क्या लक्षण हैं, इसकी क्या आवश्यक दशाएँ हैं? इसके पश्चात् हम यह देखेंगे कि भारत संघ में ये लक्षण कहाँ तक वर्तमान हैं, इसके क्या विशेष लक्षण हैं जो अन्य संघ सरकारों से भिन्न हैं, क्या हम इसको संघ कह सकते हैं तथा क्या भारत के लिये संघात्मक विधान उपयुक्त है?

संघ की परिभाषा—प्रो० स्ट्रांग संघात्मक सरकार की परिभाषा करते हुए लिखते हैं "संघ राज्य में कई रियासतें कुछ समान उद्देश्यों के लिए एक हो जाती हैं। केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ रियासतों की शक्तियों के द्वारा सीमित हो जाती हैं। इसलिए एक ऐसी शक्ति होती है जो कि इस अधिकार-विभाजन को निश्चित करती है। विधान ही स्वयं यह शक्ति होता है। इस विधान का स्वरूप एक सन्धि की तरह होता है।

संघ राज्य दो प्रकार से बन सकते हैं, एक ढंग तो यह है कि जब कई स्वतन्त्र रियासतें कई कारणों से मिलकर एक राज्य बना लेती हैं। इस ढंग से संयुक्त-राष्ट्र अमरिका का संघ बना था। दूसरा ढंग यह है कि जब एक एकात्मक सरकार संघात्मक सरकार में परिवर्तित हो जाती है, उदाहरणार्थ १८८९ में ब्राजील का संघ इसी प्रकार बना था। हमारा विधान भी इसी प्रकार बना है।

संघ सरकार के लक्षण—विद्वानों के अनुसार संघ-सरकार में निम्न लिखित लक्षण होने चाहिये—

(१) संघात्मक सरकार में एक ***लिखित विधान*** होना चाहिए। ऐसा विधान निश्चित तथा स्पष्ट होता है।

(२) यह विधान **अपरिवर्तनशील** (rigid) होना चाहिये। नहीं तो रियासतों की सरकारों को सदा अपने अधिकारों के छीने जाने का भय लगा रहेगा।

(३) संघ-सरकार में **विधान की ही प्रधानता** (Supremacy of the Constitution) रहती है।

(४) संघ-सरकार तथा रियासतों की सरकारों के बीच अधिकारों का विभाजन होना चाहिये। यह विभाजन संविधान द्वारा ही किया जाता है।

(५) संघ-सरकार में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना आवश्यक है। यह विधान की संरक्षक है। इसका काम संघ-राज्य तथा रियासतों के बीच झगड़ों का सुलझाना होता है।

संघ-सरकार के लिए आवश्यक दशाएँ —ये निम्नलिखित हैं:—

(१) कई छोटे राज्य हों, अथवा एक बड़ा राज्य हो जिसके विभिन्न भागों को संघ-इकाइयों में बदल लिया जावे।

(२) इन भागों की संस्कृति, सभ्यता, धर्म आदि में अधिक असमानता तथा भेद न हो।

(३) इन भागों में इतिहास की एकता होनी चाहिये।

(४) भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न भाग मिले होने चाहिये। अगर एक रियासत हिन्द-महासागर में तथा दूसरी अटलांटिक-महासागर में हो तो संघ-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती है।

(५) इन राज्यों के राजनैतिक तथा आर्थिक हित परस्पर-विरोधी न हों।

भारत संघ में संघात्मक सरकार के लक्षण :—भारत संघ में संघ-राज्य के प्रायः सभी लक्षण वर्तमान हैं:—

(१) भारत का संविधान लिखित है। इसकी रचना संविधान सभा द्वारा की गई है।

(२) यह विधान अपरिवर्तनशील है। वैधानिक कानून तथा साधारण कानून में अन्तर है। विधान में संशोधन के लिये विशेष विधि है।

(३) भारत में भी संविधान की प्रधानता है।

(४) संघ तथा राज्यों के बीच इस संविधान द्वारा अधिकारों का विभाजन किया गया है तथा दोनों के क्षेत्र निश्चित कर दिये गये हैं।

(५) भारत में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गई है। यह विधान की संरक्षक है तथा इसका काम नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना और संघ तथा इकाइयों के बीच झगड़ों का निर्णय करना है।

भारत संघ के विशेष लक्षण—उपरोक्त वर्णित लक्षणों के होते हुए भी जो कि भारतीय संविधान तथा अन्य संविधानों में समान रूप से पाये जाते हैं, हैं, हमारे संविधान के कुछ विशेष लक्षण हैं। ये निम्नलिखित हैं —

(१) भारत-संघ, जैसा कि साधारणतः अन्य संघ राज्यों के बनने में हुआ है, बहुत से स्वतन्त्र राज्यों के आपस में एक समझौता का फल नहीं है। सन १९३७ में जब कि १९३५ का ऐक्ट लागू किया गया था भारत के प्रान्तों को स्वायत्त-शासन का अधिकार दे दिया गया था। इस प्रकार ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एकात्मक सरकार के स्थान में एक संघात्मक-सरकार की स्थापना की। परन्तु इसके द्वारा ये प्रान्त स्वतन्त्र राज्य नहीं हो गये थे। इसलिये जब हमारे संविधान का निर्माण हुआ उस समय भी भारत में कई स्वतन्त्र राज्य नहीं थे, जो कि पृथ्क राष्ट्रीय उद्देश्यों के लिये एक होना चाहते थे। अपितु केन्द्र में एक सरकार थी जो कि भारत की शान्ति, सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिये उत्तर-दायी थी।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जब संविधान-सभा ने भारत के लिये नये संविधान का निर्माण किया, उसमें विविध प्रान्तों का कोई भाग नहीं था। संविधान भारत की जनता ने, जिसने प्रतिनिधि संविधान-सभा में एकत्रित थे बनाया न कि विविध प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने।

(२) साधारणतः संघ-राज्यों में द्वैध नागरिकता होती है—संघ की तथा राज्यों की। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में ऐसा है। वहाँ प्रत्येक नागरिक, संघ का नागरिक है तथा साथ ही साथ अपने राज्य का भी। प्रत्येक राज्य (इकाई) अपने नागरिकों को कुछ विशेष अधिकार देता है, जैसे नौकरी, व्यापार, शिक्षा आदि विषयों में कुछ सुविधाएँ प्रदान करना है। पर भारतीय संविधान द्वारा द्वैध नागरिकता नहीं स्थापित की गई है। भारत में इकहरी नागरिकता है प्रत्येक व्यक्ति संघ का नागरिक है। राज्यों की अपनी अलग नागरिकता नहीं है। इस कारण कोई भी राज्य अपने नागरिक को कोई ऐसी सुविधा व्यापार, शिक्षा, आदि की नहीं प्रदान कर सकता है जो कि अन्य नागरिकों को उपलब्ध न हो। कनाडा के संविधान में भी इकहरी नागरिकता है। सन् १९३५ के ऐक्ट के द्वारा इकहरी नागरिकता स्थापित हुई थी।

(३) साधारणतः संघ-राज्यों की इकाइयों को यह अधिकार रहता है कि वे संघ के अन्तर्गत अपने संविधान का स्वयं ही निर्माण करें। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राष्ट्र में संविधान सभा ने केवल संघ के संविधान की ही रचना की थी न कि इकाइयों की भी। उनको यह अधिकार दे दिया गया था कि वे जिस प्रकार का

चाहे लोकतन्त्रात्मक विधान बनायें। आस्ट्रेलिया में भी इकाइयों को इस प्रकार का अधिकार है। परन्तु भारत में कैनाडा की तरह संविधान द्वारा राज्यों का संविधान का भी निश्चय कर दिया गया है। राज्यों को इन उपबन्धों में किसी प्रकार के परिवर्तन का भी अधिकार नहीं है।

(४) साधारणतः संघ राज्यों में सम्पूर्ण सरकार की व्यवस्था ही दोहरी होती है—संघ की व्यवस्था तथा राज्यों की व्यवस्था। इस कारण संघ राज्यों में दोहरी व्यवस्थापिका, दोहरी कार्यपालिका, तथा दोहरी न्यायपालिका होती है। परन्तु भारतीय संविधान में कई ऐसे उपबन्ध हैं जिनके द्वारा यह दोहरापन बहुत कम कर दिया गया है। सर्वप्रथम संविधान द्वारा सम्पूर्ण संघ के लिए एक ही न्यायपालिका की स्थापना की गई है। अमेरिका में संघीय न्यायपालिका तथा राज्यों की न्यायपालिकाएँ अलग-अलग होती हैं। परन्तु भारतीय संविधान में ऐसा नहीं किया गया है। कैनाडा के संविधान में भी ऐसा ही है। इसके अतिरिक्त समस्त देश के लिये एक ही दीवानी व फौजदारी कानून है। इसी कारण दीवानी व फौजदारी कानून को समवर्ती सूची में रखा गया है। इसके साथ-साथ शासन की एकता के लिए समस्त देश के लिए अखिल-भारतवर्षीय सेवाओं का प्रबन्ध किया गया है। इस सेवा (Service) के सदस्य सभी राज्यों में उच्च स्थानों में नियुक्त किये जाते हैं। संघ तथा राज्यों की अपनी-अपनी सेवाएँ हैं, परन्तु ये दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र के अन्दर संघ राज्य के कानूनों को कार्यान्वित कर सकती हैं।

(५) भारत में एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की गई है। साधारण समय में भी केन्द्र के पास कई ऐसी शक्तियाँ हैं जो साधारणतः अन्य संघात्मक संविधानों में नहीं पाई जाती हैं। राष्ट्रपति को राज्यों के राज्यपालों की नियुक्ति का अधिकार है। संघ सरकार कुछ विषयों में राज्य की सरकारों को आदेश दे सकती है और अगर कोई राज्य इन आदेशों का पालन न करे तो संघ सरकार स्वल्पकाल के लिये उस राज्य की शक्ति अपने हाथ में ले सकती है। संघ सरकार को राज्य-सूची में दिए हुए किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार दिया गया है, यदि राज्यपरिषद् (Council of States) दो-तिहाई मत से यह पास कर दे कि वह विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है। संविधान में यह भी कहा गया है कि अगर राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनाया हुआ कोई कानून राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लिया गया है, तो वह बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति के लागू नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त उपबन्ध साधारणकालीन हैं। संकट-काल में तो संघ-सरकार के पास इतनी शक्ति आ जाती है कि यह वस्तुतः एकात्मक सरकार में परिणत हो जाती है। अन्य संविधान में ऐसी कोई विधि नहीं जिसके द्वारा कि संघात्मक सरकार के स्थान में एकात्मक सरकार स्थापित हो जाये। इस विषय में भारत का विधान अनूठा है। संकटकाल में इस प्रकार संघ के अधिकारों की वृद्धि सन् १९३५ के ऐक्ट से ली गई है।

(३) साधारणतः संघ राज्यों में यह व्यवस्था है कि संघ संसद् के ऊपरी भवन में प्रत्येक इकाई के बराबर सदस्य होते हैं। दूसरे शब्दों में राज्यों की जन-संख्या के आधार पर ऊपरी-भवन के लिये सदस्यों का निर्वाचन नहीं होता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में प्रत्येक राज्य सीनेट में दो सदस्य भेजता है। इस प्रकार के प्रतिनिधित्व का आधार यह सिद्धान्त है कि संघ के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य बराबर है। निचले-भवन के लिये प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होते हैं। भारतीय संविधान में ऐसा नहीं है। ऊपरी-भवन (राज्य-परिषद्) में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर रखा गया है। कुछ राज्यों को केवल एक ही प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है जब कि उत्तर प्रदेश से ३१ प्रतिनिधि भेजे जायेंगे। कैनाडा में भी राज्यों की बराबरी का सिद्धान्त नहीं माना गया है। वहाँ की ऊपरी भवन में इकाइयों के बराबर प्रतिनिधि नहीं है। अधिक से अधिक २४ तथा कम से कम ४ हैं।

(७) भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन की जो विधि है वह भी अन्य संघात्मक संविधानों से भिन्न है। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति का निर्वाचन व्यवहार में जनता द्वारा ही होता है। आस्ट्रेलिया अथवा कैनेडा के गवर्नर-जनरल की नियुक्ति कैबिनेट की राय के अनुसार सम्राट् द्वारा की जाती है। भारत अगर उपनिवेश ही रहता तो यही विधि यहाँ भी लागू होती। भारत के स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह विधि सम्भव नहीं थी। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति का चुनाव संसद के दोनों भवनों के सदस्य तथा राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों द्वारा एक-परिवर्तनीय-मत-विधि (Single Transferable Vote) द्वारा होगा।

(८) भारतीय संविधान में कानूनीपन (legalism) की बहुत कमी है। साधारणतः संघात्मक संविधानों में कानूनीपन अधिक होता है। इसका कारण यह होता है कि संघात्मक संविधान का स्वरूप एक सन्धि की तरह होता है। जिसके द्वारा संघ सरकार तथा राज्यों की सरकारों के मध्य अधिकार विभाजन किया जाता है। इस अधिकार विभाजन के फलस्वरूप इन दो दलों में

कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उस समय फैसले के लिये न्यायालय की शरण लेनी पड़ती है। परन्तु भारतीय संविधान में ऐसे झगड़ों के लिये कम स्थान है क्योंकि संघ तथा राज्यों की सरकारों के बीच अधिकार-विभाजन अधिक स्पष्ट रूप से किया गया है। इसके लिए तो सूचियाँ बनाई गई हैं। एक तो संघ-सूची है। इसमें ९७ विषय हैं। राज्य-सूची में ६६ विषय रखे गए हैं तथा समवर्ती सूची में दिए गए विषयों में भी संघ सरकार को प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है। अवशिष्ट अधिकार भी संघ को दिए गए हैं।

(९) भारतीय संविधान में यद्यपि संशोधन की व्यवस्था सरल रखी गयी है तथापि इसके विस्तार के कारण इसमें संशोधन कठिन होगा। इसलिए विद्वानों के अनुसार भारतीय संविधान में अपरिवर्तनशीलता विशेष रूप से है।[1]

क्या भारत का संविधान संघात्मक है?:—भारतीय संविधान के उपर्युक्त वर्णित लक्षणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि विधान निर्माताओं का उद्देश्य एक शक्तिशाली केन्द्र स्थापना थी। इसी कारण संघ सरकार को कुछ ऐसे अधिकार दिए गए हैं जिनके द्वारा वह राज्यों के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती है तथा संकटकाल में सब राज्यों के सब अधिकार अपने हाथ में ले सकती है तथा इसका कारण यह कहा है कि यही एक रास्ता था जिसके द्वारा भारत की एकता को अक्षुण्ण रखा जा सकता था। भूतकाल में भारत की एकता कई बार भंग हुई है। परन्तु भविष्य में ऐसा न हो इस कारण शक्तिशाली केन्द्र स्थापित किया गया है। इसके अतिरिक्त कई समस्यायें ऐसी हैं जो सार्वदेशीय हैं। इस कारण भी संघ-सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाया गया।

परन्तु प्रश्न यह नहीं है कि शक्तिशाली केन्द्र भारत के हित में है या नहीं? प्रश्न वैधानिक (Constitutional) है और वह यह है कि क्या हम भारत को संघ-राज्य कह सकते हैं? विद्वानों के अनुसार भारत संघ-राज्य तो है परन्तु इसमें एकात्मक सरकार के भी कई लक्षण वर्तमान हैं।[2] डा॰ अम्बेदकर ने संविधान-सभा में स्वयं इस बात को स्वीकार किया संघात्मक-सरकार के साथ साथ एकात्मक सरकार के लक्षण भी भारतीय संविधान में वर्तमान हैं। लेखकों के अनुसार भारतीय संविधान में एकात्मक-सरकार के लक्षण मुख्य हैं

1. देखिये Jennings का Characteristics of the Constitution.

2. "It may be correctly described as a quasi-federation with many elements of unitariness."—G. N. Joshi, Ibid, p. 1361 (1952 ed).

तथा सघात्मक के लक्षण गौण। एक अन्य लेखक के अनुसार यह एक नवीन प्रकार का सघ है।[1]

क्या भारत में संघ सरकार की स्थापना उपयुक्त है ?—इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमें सघ-सरकार की आवश्यक दशाओं का ध्यान रखना चाहिये इनका हम पहले वर्णन कर चुके हैं।

(१) भारतवर्ष एक विशाल देश है। इसके अन्तर्गत कई प्रदेश हैं जो कि जनसंख्या तथा क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से ससार के कई राष्ट्र से भी बड़े हैं। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल, करीबन इगलैंड के बराबर है। इसकी जनसंख्या करीबन ५ करोड ६३ लाख ४६ हजार है। इसी प्रकार अन्य प्रदेश भी हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष की आबादी ३१ करोड ८७ लाख ७६ हजार है। इसका क्षेत्रफल १२ लाख १८ हजार ३२७ वर्गमील है। यह स्पष्ट है कि इतने बड़े देश का शासन एक केन्द्रीय सरकार द्वारा सचारू रूपसे सम्पन्न नही हो सकता है।

(२) सघात्मक सरकार मे ब्राइस (Bryce) के अनुसार केन्द्रीय सरकार के ऊपर इतना अधिक काम नही रहता है कि वह कार्य-भार के कारण दब जाय। अपितु राज्यो की एक निश्चित-सीमा के अन्दर अपनी समस्याएँ अपने आप हल करने का अधिकार रहता है। इसका फल यह होता है कि दैनिक जीवन के मामलो में केन्द्रीय सरकार को अपना समय बर्बाद नही करना पडता परन्तु वह राष्ट्रीय महत्व के कामो में अपना समय लगा सकती है।

(३) भारत में भाषा, धर्म, तथा कुछ मात्रा में संस्कृति की विभिन्नता है। इसको स्वीकार न करना केवल हठधर्मी ही हो सकता है। इसलिए विभिन्न

Prof K C Wheare writes, But just as in Canada the federal principle was modified by unitary elements in the form of control by the general government of principal governments, so also in the Indian Constitution—but much more so -the central government is given powers of intervention on the conduct of affairs of the state governments which modifies the federal principal The Constitution does not indeed claim to establish a federal union, but the federal principal has been introduced into its terms to such an extent that it is justifiable to describe it as a quasi federation "—Federal Government, p 28 (2nd ed)

1 Durga Das Basu, A Commentary on the Constitution of India, p 31.

भाषा-भाषी प्रान्तों को कुछ मात्रा तक स्वायत्त शासन देना आवश्यक है। इस प्रकार वे उत्साहपूर्वक काम करेंगे तथा अपनी समस्याओं को भली भाँति सुलझाने की चेष्टा करेंगे। केन्द्र से यह आशा करना कि वह प्रादेशिक समस्याओं को उतनी ही अच्छी प्रकार समझ सकता है तथा हल कर सकता है जितना कि उस प्रदेश की सरकार, उचित नहीं है।

(४) संघात्मक सरकार एकात्मक सरकार से अधिक प्रजातन्त्रात्मक कही जाती है। क्योंकि इसमें जनता को शासन-प्रबन्ध में भाग लेने का अधिक अवसर मिलता है। संघात्मक सरकार में संघीय संसद् के द्वारा तथा राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा भी, जनता शासन के काम में नियन्त्रण रखती है।

(५) हमारे देश में प्रादेशिक विभिन्नताओं के साथ-साथ इतिहास तथा संस्कृति की एक व्यापक अर्थ में एकता रही है। विभिन्न प्रदेशों के राजनैतिक तथा आर्थिक हित एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। इनमें आपस में भौगोलिक एकता भी है।

उपर्युक्त कारणों से यह कहा जा सकता है कि भारत के लिए संघात्मक संविधान ही उपयुक्त था।

११ संविधान में संशोधन की व्यवस्था

इस स्थान पर यह अनुचित नहीं होगा कि संशोधन व्यवस्था का भी वर्णन कर दिया जावे। हम पहले लिख चुके हैं कि यद्यपि भारत का संविधान कठोर है तथापि इसकी संशोधन व्यवस्था अन्य कठोर संविधानों की तुलना में सरल है। संघात्मक विधानों में कठोरता का होना आवश्यक माना गया है, क्योंकि अगर विधान में संशोधन की प्रथा तथा साधारण कानून निर्माण करने की प्रथा में कोई अन्तर न हो, दूसरे शब्दों में अगर संसद साधारण-विधि से ही संविधान में संशोधन कर ले, तो संघ के राज्यों को सदा यह भय लगा रहेगा कि उनके अधिकार सुरक्षित नहीं हैं। इस कारण संघात्मक विधान कठोर रखा जाता है।

भारतीय संविधान के संशोधन के लिये विशेष व्यवस्था है। परन्तु यह अत्यन्त सरल रखी गयी है। इसका कारण बतलाते हुए पं० नेहरू ने कहा था, कि, "हम यह चाहते हैं कि यह संविधान स्थायी हो, परन्तु संविधानों में स्थायित्व नहीं होता है। उनमें परिवर्तनशीलता होनी चाहिये। अगर आप किसी वस्तु को कठोर तथा स्थायी बनायें तो आप राष्ट्र की प्रगति को रोक रहे हैं...."

प्रत्येक दशा में, हमें इस संविधान को इतना कठोर नहीं बनाना चाहिये कि यह बदलती हुई अवस्थाओं के अनुसार न बदल सके"।[1]

(अ) भारतीय संविधान के कुछ भाग ऐसे हैं जिसमें कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन का अधिकार भारतीय संसद् को दिया गया है। अर्थात्, संसद् साधारण बहुमत से उनको बदल सकती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन उपबन्धों में कोई बदलाव संविधान का संशोधन नहीं माना गया है। इस प्रकार के उपबन्ध निम्नलिखित हैं —

(१) *नये राज्यों का निर्माण और वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नामों का बदलना;*

(२) राज्यों में विधान-परिषद् का उत्सादन (abolition) या सृजन (creation),

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित भागों का विधान बनाना;

(४) अनुसूचित क्षेत्रों अथवा अनुसूचित आदिम जातियों का शासन-प्रबन्ध;

(ब) इन उपबन्धों के अतिरिक्त संविधान में जो उपबन्ध हैं उनको बदलने को संशोधन कहा जायगा। इन उपबन्धों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है :—

(a) संविधान में कुछ उपबन्ध ऐसे हैं जिनमें संशोधन के लिये संसद् के प्रत्येक सदन में कुल सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि स्वायत्त राज्यों के विधान-मंडलों, में से कम से कम आधे राज्यों के विधान-मंडलों की स्वीकृति प्राप्त हो। केवल इसके पश्चात् ही राष्ट्रपति के समक्ष उसको अनुमति के लिये रखा जावेगा। इस कोटि के उपबन्ध निम्नलिखित हैं :—

---

1. "While we want this Constitution to be as solid and permanent as we can make it, there is no permanence in Constitution. There should be a certain flexibility If you make anything rigid and permanent, you stop the nation's growth ...

In any event, we could not make this Constitution so rigid that it cannot be adapted to changing conditions"

(१) राष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्ध रखने वाले (धारा ५४);

(२) राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि (Manner of Election) से सम्बन्ध रखने वाले (धारा ५५);

(३) संघीय कार्यपालिका की शक्ति की सीमा से सम्बन्ध रखने वाले, (धारा ७३);

(४) स्वायत्त राज्यों की कार्यपालिका की शक्ति की सीमा से सम्बन्ध रखने वाले (धारा १६२);

(५) केन्द्रीय शासित प्रदेशों के उच्च न्यायालय से सम्बन्ध रखने वाले (धारा २४१);

(६) संघीय न्यायपालिका से सम्बन्ध रखने वाले (भाग ५ का अध्याय ४)

(७) स्वायत्त राज्यों के उच्च-न्यायालय से सम्बन्ध रखने वाले (भाग ६ का अध्याय ५);

(८) संघ तथा राज्यों के विधानीय सम्बन्धों (Legislative relations) से सम्बन्ध रखने वाले (भाग ११ का अध्याय १);

(९) संघ तथा राज्यों की विधानीय-सूची (Legislative Lists) से सम्बन्ध रखने वाले (सातवीं अनुसूची);

(१०) संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व से सम्बन्ध रखने वाले;

(११) संशोधन प्रथा से सम्बन्ध रखने वाले (धारा ३६८)।

(b) इन उपर्युक्त उपबन्धों के अतिरिक्त संविधान के अन्य उपबन्धों में संशोधन के लिए संसद के किसी सदन में इस उद्देश्य से एक प्रस्ताव उपस्थित किया जायेगा। यदि उस प्रस्ताव को प्रत्येक सदन में कुल सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत प्राप्त हो जावे तथा उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जावे तो वह संविधान में संशोधन हो जावेगा।

संशोधन के प्रस्ताव के कानून होने के लिए भी राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है। इसलिए संसद द्वारा ऐसे किसी भी प्रस्ताव के पारित होने पर उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जायगा। परन्तु संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह किसी ऐसे प्रस्ताव पर अपनी अनुमति न दे।

एक बात संशोधन-व्यवस्था के सम्बन्ध में याद रखनी चाहिये कि संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार केवल संसद को दिया गया है। राज्यों

को यह अधिकार नहीं है कि वे अपने आन्तरिक विधान में किसी प्रकार का संशोधन करें। अमेरिका में राज्यों को यह अधिकार प्रदान किया गया है।

III भारत का राज्य-क्षेत्र

संविधान द्वारा भारत को एक संघ बनाया गया है। इस संघ की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी इकाइयों को इससे निकलने (secede) का अधिकार नहीं है। भारत के अन्तर्गत राज्यों को प्रारम्भ में संविधान द्वारा चार श्रेणियों में बाँटा गया था। इनका संविधान की प्रथम अनुसूची में क्रमश: क, ख, ग, तथा घ वर्गों के राज्य कहा गया था। इस प्रकार से राज्यों का विभाजन इन विभिन्न प्रकार की कोटियों में किया गया था क्योंकि भारत के विभिन्न भाग राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टि से विभिन्न स्तरों में थे। उदाहरणार्थ, जो पहले ब्रिटिश भारत के प्रान्त थे वे भाग देशी रियासतों वाले भाग से अधिक उन्नत थे। इन अलग-अलग वर्गों में प्रशासनीय व्यवस्था आदि में अन्तर रखा गया था। संक्षेप में इन चार वर्गों का वर्णन किया जायगा।

राज्य-पुनर्गठन के पूर्व व्यवस्था

'क' वर्ग के राज्य—इस वर्ग में वे राज्य थे जो कि ब्रिटिश काल में प्रान्त कहलाते थे। इनकी संख्या १० थी। ये निम्नलिखित थे—आसाम, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा आन्ध्र।

इन राज्यों को स्वायत्त शासन का अधिकार था। इनका मुखिया राज्यपाल (Governor) कहलाता था। इनमें से प्रत्येक में विधान-मंडल था। किन्हीं में दो सदन तथा किन्हीं में एक सदन था। इनका शासन प्रबन्ध वही था जो वर्तमान स्वायत्त राज्यों का है।

'ख' वर्ग के राज्य—इस वर्ग के राज्य पहले की देशी रियासतें थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् देशी रियासतों का प्रश्न एक अत्यन्त ही जटिल प्रश्न के रूप में उपस्थित हुआ। स्वर्गीय सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अत्यन्त ही योग्यता पूर्वक इसका समाधान किया। यह आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ पर इन देशी रियासतों की समस्या का वर्णन किया जाय।

अंग्रेजों के शासन-काल में भारत दो भागों में बँटा हुआ था यद्यपि इन दोनों भागों के ऊपर अंग्रेजों का अधिकार पूर्णरूपेण स्थापित था। एक भाग तो ब्रिटिश भारत कहलाता था। इसमें ११ प्रान्त तथा ६ चीफ कमिश्नर के प्रान्त थे। दूसरा भाग भारतीय रियासतों का था। इनका शासन भारतीय राजाओं या नवाबों द्वारा होता था। इनका कुल क्षेत्रफल ७१२,५०८ वर्गमील था। यह समस्त भारत के क्षेत्रफल का ४५ प्रतिशत था। इन सब राज्यों की जनसंख्या लगभग ९३,२००,००० थी। यह भारत की जनसंख्या का लगभग चौथाई भाग थी। सब मिलाकर ५६२ रियासतें थीं। इनमें से २३५ को राज्य कहा जाता था, शेष को रियासत, जागीर, आदि। अगर हम रियासत की परिभाषा करें तो यह कहा जायगा कि यह भारत की भूमि का टुकड़ा था जो कि ब्रिटिश भारत के अन्तर्गत नहीं था, जिसका शासन एक भारतीय नरेश के हाथ में था, परन्तु यह स्वतन्त्र नहीं था, क्योंकि सर्वोच्च-सत्ता (Paramount Power) इंगलैंड के सम्राट के हाथ में थी।

ये रियासतें विभिन्न आकार की थीं। कुछ रियासतें तो इतनी बड़ी थीं जितनी कि ब्रिटिश भारत के प्रान्त जैसे हैदराबाद, काश्मीर आदि। कुछ अन्य रियासतें भी काफी बड़ी थी, जैसे ट्रावनकोर, कोचीन, बड़ौदा, मैसूर आदि। दूसरी ओर ऐसी भी रियासतें थीं जिनका क्षेत्रफल केवल कुछ एकड़ था। शिमला पहाड़ों में एक रियासत की आबादी केवल २७ थी। इसकी वार्षिक आय करीब ९०० रुपया थी। गुजरात तथा काठियावाड़ में कई छोटी रियासतें थीं। इनकी संख्या करीबन २८६ थी। वार्षिक आय की दृष्टि से कुछ रियासतें ऐसी थीं जिनकी आय १ करोड़ रुपये से अधिक थी जैसे हैदराबाद, मैसूर, आदि। कुछ रियासतें ऐसी थीं, जिनकी आय ५० लाख से ७० लाख के बीच में थी। परन्तु उनकी संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। अधिकतर रियासतों की आय बहुत कम थी।

रियासतें तथा सम्राट :—देशी रियासतें ब्रिटिश भारत से अलग थीं। उनकी प्रजा ब्रिटिश प्रजा नहीं थी परन्तु इन नरेशों की प्रजा थी। वे अंग्रेजी पार्लियामेंट के कानून से भी बाहर थे। इन देशी रियासतों तथा ब्रिटिश सरकार के बीच सम्बन्ध कानून की दृष्टि से इनके तथा सम्राट के बीच सम्बन्ध था। सम्राट् ही सर्वोच्च सत्ता थी। सम्राट् इन रियासतों के प्रति अपने कार्य भारत-मन्त्री या वाइसराय के द्वारा करता था।

प्रश्न यह है कि सार्वभौम-सत्ता का इन देशी रियासतों से क्या सम्बन्ध था? इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन है क्योंकि इस सम्बन्ध का कभी भी स्पष्ट रूप से

वर्णन नहीं किया गया। ब्रिटिश सरकार तथा इन रियासतों के बीच जो सन्धियाँ हुई थी वे सब एक प्रकार की न थी, परन्तु उनमें आपस में बहुत मतभेद था। सन् १९२७ ई० में जो भारतीय रियासतों के मामले में कमेटी नियुक्त की गई थी वह भी इस बात का संतोषजनक उत्तर नहीं दे सकी कि इन देशी रियासतों की वैधानिक स्थिति क्या थी। इस कमेटी ने यह कहा कि "सर्वोच्च-सत्ता सर्वोच्च है" (Paramountcy is Paramount)। इस प्रकार हम देखते हैं कि देशी रियासतों की वैधानिक-स्थिति कभी भी स्पष्ट नहीं की गई। इसलिये इस विषय पर मत-विभिन्नता होना स्वाभाविक है। कुछ लोगों का यह विचार था कि ये रियासतें स्वतन्त्र राज्य थे तथा इनके और ब्रिटिश सरकार के आपस में सम्बन्ध सन्धि द्वारा निर्धारित थे। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि वास्तव में देशी-रियासतें स्वतन्त्र राज्य नहीं थे। ब्रिटिश सरकार न केवल इनके बाह्य मामलों पर ही नियन्त्रण रखती थी अपितु इनके आन्तरिक मामलों में भी अन्ततोगत्वा ब्रिटिश सरकार का शब्द ही कानून था।

इन देशी रियासतों को यह अधिकार नहीं था कि वे किसी विदेशी राज्य से सम्बन्ध स्थापित कर सकें। उन्हें न केवल राजनैतिक परन्तु व्यापारिक संबंध स्थापित करने का भी अधिकार नहीं था। देशी रियासतों को यह अधिकार नहीं था कि वे किसी अन्य राज्य से युद्ध की घोषणा कर सकें अथवा सन्धि कर सकें। बिना सर्वोच्च सत्ता की अनुमति के वे अपनी भूमि का कोई भाग न बेच सकते थे और न किसी रियासत को दे सकते थे।

इस प्रकार बाह्य मामलों में इन रियासतों के हाथों में कोई अधिकार नहीं था। अगर हम आन्तरिक मामलों में दृष्टिपात करें तो वहाँ भी वस्तुतः यही स्थिति पायेंगे। अधिकतर देशी राज्यों में नरेशों की इच्छा ही कानून थी। अपने अपने क्षेत्र के अन्दर प्रत्येक रियासत दीवानी तथा फौजदारी दोनों मामलों में कानून बनाती थी तथा फैसला करती थी। राज्य के उच्चतम न्यायालय से निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं हो सकती थी। वे अपने शासन प्रबन्ध के खर्च के लिए करों को लगाते थे। कुछ रियासतें जिनके पास समुद्रीतट था बाहर जाने वाले तथा भीतर आने वाले माल पर चुंगी लगाती थी। १५ देशी रियासतों में अपना डाक-विभाग था और लगभग २० रियासतों में अपने सिक्के चलते थे।[1] परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी देशी रियासतें आन्तरिक क्षेत्र में भी स्वतन्त्र नहीं थी। ब्रिटिश सरकार इनके आन्तरिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकती थी तथा इसने कई बार हस्तक्षेप किया। कई राजाओं को विभिन्न कारणों

1 Ramaswamy. . The Law of the Indian Const. p. 78.

गद्दी से उतार दिया गया तथा उनके स्थान में उनके लड़के को गद्दी पर बिठलाया गया। अगर रियासत की गद्दी के लिये उत्तराधिकार का कोई झगड़ा हो तो ब्रिटिश सरकार ही उसको तय करती थी। इसी प्रकार उत्तराधिकार नाबालिग (minor) होता था तो देसी रियासत का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश-सरकार द्वारा ही किया जाता था। अगर उन रियासतों में आपस कोई झगड़ा उठ खड़ा होता तो ब्रिटिश सरकार ही उसका निपटारा करती थी। इन रियासतों की सेना की संख्या निश्चित थी और वह बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इन राजाओं को यहाँ तक अधिकार नहीं था कि वे अपनी रियासतों में किला बना सकें। पुराने किले की मरम्मत भी वे बिना गवर्नर-जनरल की अनुमति के नहीं कर सकते थे।

ये रियासतें किसी विदेशी को अपनी रियासत में बिना भारत-सरकार की अनुमति के नौकर नहीं रख सकती थीं। कोई भारतीय नरेश अथवा उनकी प्रजा बिना भारत सरकार के पासपोर्ट के विदेश नहीं जा सकते थे। यद्यपि देसी रियासतों में उनके ही कानून लागू थे तथापि छावनी, रेजीडेंसी, रेल की भूमि, तथा रियासत के अन्दर ब्रिटिश-प्रजा पर ब्रिटिश सरकार का ही कानून चलता था। इन रियासतों को अंग्रेजों को फाँसी देने का अधिकार भी नहीं था।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ये रियासतें किसी भी अर्थ में स्वतन्त्र नहीं थीं। किसी भी भारतीय नरेश के लिए अंग्रेज सरकार के विरुद्ध कोई काम कर अपनी गद्दी में क्षण भर बैठे रहना असम्भव था। ब्रिटिश सरकार इन राज्यों के मामलों में तब तक हस्तक्षेप नहीं करती थी जब तक यह देखती थी कि यह नरेश कोई इस प्रकार का काम नहीं कर रहे हैं जिससे कि अंग्रेजों के हितों को हानि पहुँचे। परन्तु ऐसा अगर कभी हुआ तो राजा को गद्दी छोड़नी पड़ी।

रियासतों में शासन-प्रबन्ध:—कुछ थोड़ी-सी रियासतों को छोड़ कर शेष में आधुनिक अर्थ में कोई शासन-प्रबन्ध न था। नरेश की इच्छानुसार सब कुछ होता था। कानून आए दिन बदलते थे। कुछ भी निश्चित नहीं था। छोटी रियासतों में तो दशा और भी खराब थी। कुछ राज्यों में तो एक प्रधान मंत्री तथा कुछ सहायक मन्त्री होते थे। ये सब विषयों में नरेशों का मुँह ताकते थे क्योंकि वे तभी तक अपने पदों में थे जब तक कि ये इन नरेशों को प्रसन्न कर सकें। इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रजा की अधिक चिन्ता न कर ये नरेशों को प्रसन्न रखने की अधिक चिन्ता रखते थे। शासन में भ्रष्टाचार बहुत अधिक था। पदाधिकारी अधिकतर अयोग्य थे। बड़े-बड़े पदों में नालायक भरे थे।

जनता का कानून बनाने में कोई भाग नहीं था। क्योंकि जनता के प्रतिनिधि कभी भी शासन-प्रबन्ध में शामिल नहीं किये गये। अधिकतर राज्यों में निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन था। कुछ राज्यों में विधान-मण्डल स्थापित हुये थे। परन्तु इनमें अधिकतर सदस्य सरकारी होते थे। गैरसरकारी सदस्य या तो मनोनीत किये जाते थे या उनका म्यूनिसिपैलिटी आदि द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव होता था। इन विधान-मंडलों के पास यथार्थ में कुछ शक्ति नहीं थी। उनको न राज्य के कानून बनाने का अधिकार था और न आय-व्यय निश्चित करने का। अधिकतर ये विधान-मंडल केवल परामर्श देने के लिये थे। नरेश के पास यह अधिकार था कि इनकी बात माने या न माने।

करीबन ४० रियासतों में हाईकोर्ट थे तथा इनका संगठन ब्रिटिश भारत की तरह किया गया था। ३४ रियासतों में न्याय-विभाग तथा शासन विभाग अलग-अलग थे। करीबन ३० रियासतों में विधान मंडल थे। जहाँ तक स्थानीय स्वराज्य का प्रश्न है बहुत थोड़ी-सी रियासतों में इस ओर कदम उठाया गया था। कहीं कहीं म्यूनिसिपैलिटी स्थापित की गई थी, परन्तु सरकारी सदस्य अधिक थे।

इन राज्यों में आय-व्यय का प्रबन्ध भी आधुनिक ढंग से नहीं होता था। करों के लगाने में आधुनिक कर-प्रणाली के किसी भी सिद्धान्त का पालन शायद ही किसी रियासत में किया गया हो। अधिकतर रियासतों में करों का लगाना, घटाना-बढ़ाना नरेश की इच्छा पर निर्भर था। हर साल नए कर लग जाते थे। इससे जो आय होती थी उसका एक बड़ा भाग तो राजाओं के निजी खर्च के लिये चला जाता था। दूसरा बड़ा भाग राज्य कर्मचारियों के वेतन आदि में लग जाता था। केवल एक छोटा-सा भाग शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई के ऊपर खर्च होता था।

अधिकतर राज्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। केवल कुछ बड़ी रियासतों को छोड़कर शेष में उद्योग-धन्धों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। इस कारण प्रमुख व्यवसाय खेती था। खेती भी पुराने ढंग से की जाती थी। इसलिए पैदावार कम थी। लगान बहुत अधिक थे। जागीरदार, जमींदार, महाजन आदि उपज का एक बड़ा भाग हथिया लेते थे। इन सब कारणों से किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। कुछ राज्यों में कल-कारखाने खुल गये थे। परन्तु इसका मुख्य कारण यह था कि यहाँ मजूरी बहुत सस्ती थी। इसलिये इनके खुलने से जनता को लाभ नहीं हुआ। मजदूरों की दशा भी अत्यन्त खराब थी।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी रियासतें श्रत्यन्त पिछड़ी थीं। अधिकतर रियासतों में शिक्षा आदि का कोई भी प्रबन्ध नहीं था। इन सब रियासतों में सब मिलाकर केवल दो विश्वविद्यालय थे। दसवें दर्जे तक के स्कूलों की कुल संख्या ४०० से अधिक न थी। इसके अतिरिक्त पुस्तकालय, मनोविनोदशालाएँ आदि का भी अभाव था। अधिकतर राज्यों में पत्र तथा पत्रिकाओं का भी अभाव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन रियासतों की जनता प्रत्येक दृष्टि से पिछड़ी हुई थी।

देशी रियासतें तथा भारतीय संघ :—सन् १८५७ के विद्रोह के समय भारतीय रियासतों ने अंग्रेजी रियासतों की बहुत अधिक सहायता की थी। इसके कारण १८५८ से ब्रिटिश सरकार ने इनके साथ उदार बर्ताव करना शुरू कर दिया और यह आश्वासन दिया कि उनके क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप नहीं होगा। क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने यह देख लिया था कि भारतीय नरेश संकट-काल में सदा सहायक होंगे।

ब्रिटिश सरकार ने १९१७ के पश्चात् कुछ बड़ी रियासतों में रेजीडेन्ट्स नियुक्त किये। अन्य कई रियासतों के लिए एक रेजीडेन्ट होता था। छोटी रियासतों के लिये रेजीडेन्ट के नीचे पोलिटिकल एजेन्ट्स होते थे। इन सबका काम ब्रिटिश-हितों को देखना तथा इन नरेशों पर नियन्त्रण रखना था। नरेशों का प्रयत्न रहता था कि वे इन रेजीडेन्ट्स को प्रसन्न रखें। कहना अनुचित नहीं होगा कि ये अधिकारी ही रियासतों में सर्वेसर्वा थे। नरेश इनके हाथों में केवल कठपुतली-मात्र थे।

जब बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश भारत में स्वतन्त्रता की भावना बढ़ने लगी तथा राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ने लगा, तो अंग्रेजों ने इन रियासतों को सम्पूर्ण भारत की राजनैतिक व्यवस्था के अन्दर लाने की सोचा। इसका फल यह हुआ कि जो कुछ सुधार अंग्रेजों को करने पड़ते उनका असर खतम हो जाता। इसी-लिए जब १९१९ के ऐक्ट द्वारा कुछ सुधार किए गए, रियासतों का एक संगठन बनाया गया जिसको नरेन्द्र-मंडल (Chamber of Princes) कहा गया। इसकी स्थापना सन् १९२१ में सम्राट की घोषणा द्वारा हुई। इसमें १२० सदस्य थे। १०८ सदस्य तो १०८ बड़ी रियासतों के थे बाकी १२ सदस्य बाकी १२६ रियासतों के थे। बाकी ३२६ रियासतों को इसमें प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया क्योंकि वे केवल जागीरें थीं। इस नरेन्द्र मंडल की सदस्यता कुछ बड़ी रियासतों ने स्वीकार नहीं की, जैसे हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा।

नरेन्द्र-मंडल स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि सब विषयों पर जो कि ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों दोनों से सम्बन्धित थे, वाइसराय रियासतों का मत जान सकें।

इस समय भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन जोरों पर था। भारतीय नरेशों को यह चिन्ता हुई कि अगर ब्रिटिश भारत में लोकतन्त्रात्मक भावना बढ़ी तो वह शीघ्र ही इन रियासतों में भी पहुँचेगी और इसका परिणाम यह होगा कि उनके स्वेच्छाचारी शासन का अन्त हो जायगा। दूसरी तरफ नरेशों ने यह देखा कि भारत की सरकार उनके ऊपर अपनी प्रधानता की मांगें बढ़ाती जा रही है।[1] इसलिये इन नरेशों ने यह माँग की कि रियासतों की समस्या पर एक कमेटी की स्थापना की जावे। इस कमेटी को बटलर कमेटी कहते हैं। इस कमेटी ने यह कहा कि सर्वोच्च शक्ति (Paramountcy) भारत की सरकार के हाथों में न होकर सम्राट् के पास है। सम्राट यह शक्ति किसी भी भारत में स्थापित उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार को बिना नरेशों की सहमति के नहीं सौंपेगा। इसका फल हुआ कि जब १९३५ का ऐक्ट बना उसमें देशी रियासतों की स्थिति बहुत अच्छी रही। उनको यह अधिकार रहा कि वे भारतीय संघ में आवें या न आवें। परन्तु १९३५ का ऐक्ट केन्द्र में लागू नहीं हुआ।

जब ३ जून १९४७ को भारत की वैधानिक समस्या पर ब्रिटिश सरकार ने सुझाव रखे तो भारतीय रियासतों के बारे में उसमें यह कहा गया है कि वे भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित हो सकती हैं या स्वतन्त्र हो सकती है। यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। जहाँ तक सम्राट् की सर्वप्रधानता का प्रश्न था भारतीयों को शक्ति हस्तान्तरित करते समय उसका अन्त हो जावेगा।[2] इस प्रकार भारत की नई सरकार के सामने समस्या उठ खड़ी हुई कि किस प्रकार इन रियासतों को भारत-संघ में लाया जावे।

रियासतों में स्वतन्त्रता आन्दोलन—यद्यपि रियासतों में जनता का अधिकांश भाग अशिक्षित था तथा आधुनिक सामाजिक तथा राजनैतिक शक्तियों के प्रति उदासीन था तथापि क्रमशः वहाँ भी चेतना का संचार होना प्रारम्भ हुआ। देशी रियासतों में भी नरेशों के स्वेच्छाचारी तथा भ्रष्ट शासन का अन्त कर लोकतन्त्रात्मक प्रणाली की स्थापना के लिये आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

---

1 Punnaiah Constitutional History of India p 324

2 जुलाई १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता ऐक्ट में यह उपबन्ध था। कि एक निश्चित तिथि से 'The suzerainty of His Majesty over the Indian states lapses, and with it all treaties and agreements in force at the date of the passing of this Act between His Majesty and the Rulers of the Indian States" Sec 7 (1) 6

परन्तु प्रत्येक रियासत में जहाँ इस प्रकार का आन्दोलन हुआ, नरेशों तथा उनकी सरकारों ने इसको दबाने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखी। इन रियासतों की जनता को उसी प्रकार की—कभी कभी उससे भी अधिक—बर्बरता तथा नृशंसता का सामना करना पड़ा, जैसा कि ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को। रियासतों की जनता ने स्टेट्स कांग्रेस की स्थापना की। इसको भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सहानुभूति प्राप्त थी परन्तु यह उसका एक भाग नहीं था। रियासतों में आन्दोलन के विरुद्ध जो दमन हुआ उसका कारण एक तो यह था कि रियासतों के नरेश, सामन्त तथा अधिकारी वर्ग सभी लोक-तंत्रात्मक प्रणाली से भयभीत थे, क्योंकि ऐसी प्रणाली में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। दूसरी बात यह थी कि इन रियासतों में अंग्रेजी-सरकार के प्रतिनिधि सर्वदा आन्दोलन को भली-भांति कुचलने के पक्ष में थे।

१६४७ के पश्चात रियासतों की स्थिति—हम कह चुके हैं कि जुलाई १६४७ के ऐक्ट के द्वारा रियासतों के सामने तीन मार्ग खुले थे: (१) वे भारत में सम्मिलित हों; (२) वे पाकिस्तान में सम्मिलित हों; (३) वे स्वतन्त्र हो जावें। यद्यपि तीसरा मार्ग सबसे कठिन था तथापि कुछ रियासतें इसका ही अवलम्बन करना चाहती थीं। परन्तु इन रियासतों की कठिन समस्या यह थी कि न इनकी रक्षा के लिये भारत में ब्रिटिश-सत्ता ही थी, और न इनको अपनी प्रजा का ही सहयोग प्राप्त था। इस कारण जिन रियासतों ने इस प्रकार का प्रयत्न किया भी उनको सफलता नहीं मिली। ट्रावनकोर, जूनागढ़ तथा हैदराबाद इन तीनों को अन्त में भारत के ही अन्तर्गत आना पड़ा।

राज्यों की समस्या को सुलझाने के लिए ५ जुलाई १९४७ को भारत सरकार ने राज्य-विभाग की स्थापना की। इसका कार्य यह था कि यह सब रियासतों को भारत में सम्मिलित करे। सर्वप्रथम तो भारत की सरकार ने रियासतों से केवल यही माँग की कि वे तीन महत्वपूर्ण विषयों को—यातायात, सुरक्षा, तथा परराष्ट्र विभाग—भारत को सौंप दें। यह कार्य करीबन १५ अगस्त १९४७ तक पूरा हो गया।

यह केवल पहला कदम था। इसके पश्चात् यह आवश्यक था कि वे छोटी-छोटी रियासतें जो कि भारत में सर्वत्र बिखरी हुई थीं, जिनके पास सुशासन के लिए न पैसा था और न कर्मचारी, अपने पड़ोसी प्रान्तों में विलीन हो जावें। ये रियासतें इसके लिए तत्पर हो गईं। क्योंकि इनमें से कई में इस समय जन-आन्दोलन जोरों पर था और ये रियासतें उसे सँभाल सकने में असमर्थ थीं। इसलिए अपने ही हित में इन नरेशों ने अपनी रियासतों को प्रान्तों में विलीन करना स्वीकार

कर लिया। इसके फलस्वरूप २१६ रियासतें, जिनका क्षेत्रफल १०८,७३९ वर्गमील तथा जनसंख्या १,९१,५८,००० थी प्रान्तों में विलीन हो गईं। इस प्रकार इनकी अलग सत्ता का अन्त हो गया तथा सब विषयों में ये प्रान्तों का ही भाग हो गईं।

इनके अतिरिक्त अन्य रियासतें थी जो कि शासन की स्वावलम्बी इकाइयाँ होने के योग्य न थी। उनका क्षेत्र-विस्तार बहुत अधिक नहीं था, उनकी आय भी कम थी। इसलिए उन रियासतों को जो कि भौगोलिक दृष्टि से एक थी, आपस में संयुक्त कर, उनके संघ बना दिये गए। इसके फलस्वरूप निम्नलिखित रियासती संघ बने :—

(१) सौराष्ट्र संघ,
(२) पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासती संघ,
(३) मध्य-भारत संघ,
(४) त्रावणकोर-कोचीन संघ,
(५) संयुक्त राजस्थान संघ।

इन संघों से 'ख' वर्ग के राज्यों का निर्माण हुआ। इनका मुखिया राजप्रमुख कहलाता था। इसके अतिरिक्त उपराजप्रमुख भी नियुक्त हुए। किसी संघ में सम्मिलित रियासतों में से सबसे मुख्य का राजा राजप्रमुख बनाया गया। इस वर्ग में पहले विन्ध्यप्रदेश भी था। परन्तु वहाँ शासन-प्रबन्ध ठीक न होने के कारण बाद को वह 'ग' वर्ग के राज्यों की कोटि में रख दिया गया। इन ५ रियासती संघों का क्षेत्रफल १,१५,४५० वर्ग मील तथा जनसंख्या ३,४६१९,००० थी। इन संघों के अन्तर्गत २७५ रियासतें सम्मिलित थीं।

शेष रियासतों में से ६१ रियासतें 'ग' वर्ग में रखी गई थी। उनको ७ राज्यों में संगठित किया गया है। ये राज्य निम्नलिखित थे :—

(१) हिमाचल प्रदेश,
(२) कच्छ,
(३) बिलासपुर,
(४) भोपाल,
(५) त्रिपुरा,
(६) मनीपुर,
(७) विन्ध्य-प्रदेश।

इनका कुल क्षेत्रफल ६३,७०४ वर्गमील तथा जनसंख्या ६९ लाख थी ये राज्य केन्द्र द्वारा शासित थे।

तीन रियासतें जो कि क्षेत्रफल तथा आय दोनों दृष्टियों से काफी बड़ी थी भारत संघ की इकाइयां बना ली गई। वे मैसूर, हैदराबाद तथा काश्मीर की रियासत थी। मैसूर के भारत में सम्मिलत होने में कोई विशेष बात नहीं हुई। हैदराबाद में रजाकारों के उपद्रव के कारण तथा वहां के शासन की षड़यन्त्री नीति के कारण भारत की सेना वहाँ प्रवेश कर गई और १९४९ के अंत में वह भारत का भाग हो गया था। काश्मीर नरेश भी अपने राज्य को स्वतन्त्र बनाना चाहता था, परन्तु वह इसलिये भारत में सम्मिलित होने को बाध्य हुआ क्योंकि पाकिस्तान ने उस क्षेत्र में कबायली इलाके वालों को आक्रमण करने भेज दिया। इस प्रकार काश्मीर भी भारत में सम्मिलित हो गया। (काश्मीर की स्थिति पर आगे अधिक विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।)

नरेशों का प्रिवी पर्स:—जब तक इन रियासतों का शासन भारत से अलग था इसके नरेश रियासतों की आय का एक बड़ा भाग अपने ऊपर या अपने रिश्तेदारों, आदि के ऊपर खर्च कर देते थे। राजाओं के खर्च के विविध मद थे—नाच-गाना, विदेश, यात्रा, मोटरकारें, महल बनवाना, या अन्य भोग विलास की वस्तुएं। परन्तु स्वतन्त्र भारत में सम्मिलित होने के बाद उनका व्यक्तिगत व्यय निश्चित कर दिया गया। प्रत्येक नरेश का प्रिवी-पर्स उसके भारत सरकार से हुए समझौते में वर्णित कर दिया गया। इसका निश्चय इस प्रकार किया गया। प्रत्येक नरेश को अपनी रियासत की वार्षिक आय के प्रथम १ लाख पर १५ प्रतिशत, इसके पश्चात् दूसरे लाख से ५ लाख तक १० प्रतिशत तथा इसके बाद की आय पर ७½ प्रतिशत दिया गया। परन्तु किसी भी दशा में यह १० लाख वार्षिक से अधिक नहीं रखा गया। परन्तु कुछ रियासतें ऐसी थी जिनके नरेशों को इससे अधिक दिया गया। जैसे, हैदराबाद के निजाम को ५० लाख वार्षिक या बड़ौदा को २६ लाख वार्षिक देना निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त जयपुर जोधपुर, बीकानेर, पटियाला, त्रावनकोर, इन्दौर, मैसूर के नरेशों को भी १० लाख से अधिक दिया गया। परन्तु यह प्रबन्ध केवल वर्तमान शासकों के साथ ही किया गया था। उनके उत्तराधिकारियों को १० लाख की सीमा के अन्दर ही दिया जायगा।

'ग' वर्ग के राज्य—इस वर्ग में १० राज्य थे। इनमें से तीन संविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व चीफ-कमिश्नर के प्रान्त कहलाते थे। ये दिल्ली, अजमेर तथा कोड़ग थे। इनके अतिरिक्त इस वर्ग में कुछ देशी रियासतें भी रक्खी गई

थी। सविधान में यह कहा गया था कि इनका शासन केन्द्र द्वारा होगा। परन्तु सितम्बर सन् १९५१ के 'ग' राज्य सम्बन्धी विधेयक द्वारा इनमें से छ राज्यो को सीमित स्वायत्त शासन का अधिकार दिया गया था। इस वर्ग में निम्नलिखित राज्य थे

अजमेर, कच्छ, कोडग त्रिपुरा, दिल्ली बिलासपुर, भोपाल मनीपुर, हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश।

सविधान की धारा २३९ (सप्तम् सशोधन के पूर्व) के अनुसार 'ग' भाग के राज्यो के शासन के लिये राष्ट्रपति उत्तरदायी था। उसे इनके शासन के लिये चीफ-कमिश्नर या लेफ्टिनेन्ट गवर्नर की नियुक्ति का अधिकार दिया गया था। ससद् को इन राज्यो के शासन के लिये विधान-मडल बनाने का अधिकार सविधान द्वारा दिया गया था। ससद् को इन राज्यो में परामर्शदाताओ अथवा मन्त्रियो की कौंसिल बनाने का भी अधिकार दिया गया था।

ससद् ने सितम्बर १९५१ में 'ग' वर्ग के राज्यो के लिये एक ऐक्ट पास किया था, जो Part C States Act 1951 कहलाता था। इस ऐक्ट के द्वारा कुछ राज्यो में विधान-मडल तथा कुछ राज्यो में परामर्श समिति की स्थापना की गई थी। परन्तु यह नही सोचना चाहिये कि इस ऐक्ट द्वारा 'ग' [illegible] था

[illegible]

(१) दिल्ली, अजमेर, कोडग, भोपाल, हिमाचल प्रदेश तथा विन्ध्य प्रदेश में एक निर्वाचित विधान सभा की स्थापना की गई थी। इनके सदस्यो की सख्या इस प्रकार रखी गई थी दिल्ली–४८; अजमेर–३०, कोडग–२४, भोपाल–३०; हिमाचल प्रदेश–३६ तथा विन्ध्य प्रदेश–६०। इनमें से कुछ स्थान हरिजनो के लिये तथा भोपाल, कोडग और विन्ध्य प्रदेश में कुछ स्थान जन जातियो के लिये सुरक्षित रखे गये थे।

इन विधान-सभाओ का कार्यालय सामान्यत ५ वर्ष का था परन्तु आपात उद्घोषणा काल में बढाया भी जा सकता था। प्रत्येक विधान सभा में एक अध्यक्ष तथा एक उपाध्यक्ष होता था। प्रत्येक सदस्य को स्थान ग्रहण करने के पूर्व एक शपथ लेनी पडती थी।

इन विधान-मडलो को राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में वर्णित विषयो पर विधि-निर्माण का अधिकार दिया गया था। परन्तु यदि इनका कोई कानून

संसद् के कानून का विरोधी हो तो संसद् के कानून को ही प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई थी। क्योंकि दिल्ली संघ की राजधानी है, इसलिये दिल्ली के विधान-मंडल के अधिकार अन्य विधान मंडलों से अधिक संकुचित रखे गये थे। जैसे सुरक्षा, शक्ति, पुलिस तथा रेलवे पुलिस, नगरपालिका तथा अन्य स्थानीय शक्तियों और अदालत सम्बन्धी कानून बनाने का अधिकार इसको नहीं था।

'ग' भाग के राज्यों के विधान मंडल कई विषयों जैसे, राज्य सेवा आयोग, जुडिशियल कमिश्नर की अदालत का विधान तथा संगठन, आदि, पर चीफ कमिश्नर (या लेफ्टिनेंट गवर्नर) की आज्ञा के बिना विधेयक नहीं पास कर सकते थे। इसी प्रकार वित्तीय विधेयक भी कार्यकारिणी के ही उत्तरदायित्व पर पेश हो सकते थे। प्रत्येक विधेयक को विधान मंडल द्वारा पारित हो जाने पर चीफ कमिश्नर या लेफ्टिनेन्ट गवर्नर राष्ट्रपति के विचारार्थ प्रस्तुत करता था।

(२) इन राज्यों में चीफ कमिश्नर या लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को मन्त्रणा देने के लिये एक मन्त्रिमंडल होता था। परन्तु चीफ कमिश्नर केवल नाम मात्र का ही प्रधान नहीं था। वह मन्त्रिमंडल की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता था। उसकी अनुपस्थिति में मुख्य मन्त्री यह स्थान ग्रहण करता था। यदि चीफ कमिश्नर का किसी विषय में मन्त्रिमंडल से मतभेद हो जाय तो यह प्रबन्ध था कि वह राष्ट्रपति के विचारार्थ उसके द्वारा भेजा जाता और राष्ट्रपति का निर्णय अन्तिम निर्णय था। दिल्ली में चीफ कमिश्नर का मन्त्रिमंडल के ऊपर और भी अधिक अधिकार थे। कुछ विशेष परिस्थितियों में वह बिना मन्त्रिमंडल के राय के ही निर्णय ले सकता था।

चीफ कमिश्नर (लेफ्टिनेन्ट गवर्नर) तथा उसका मन्त्रिमंडल राष्ट्रपति के सामान्य नियन्त्रण में रखे गये थे।

(३) कुछ 'ग' वर्ग के राज्यों में विधान सभा की स्थापना नहीं की गई थी परन्तु इनके स्थान पर परामर्शदात्री समितियों की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया था। इस समिति की स्थापना का अधिकार राष्ट्रपति को था तथा उसके सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पदों में रहते थे। मनीपुर में इस प्रकार की समिति की स्थापना की गई थी।

'घ' वर्ग के राज्य :—इस वर्ग में अन्दमान तथा निकोबार द्वीप रखे गये थे। इन क्षेत्रों का शासन राष्ट्रपति चीफ कमिश्नर या किसी अन्य अधिकारी द्वारा करवाता था। इन राज्यों के लिये संसद् द्वारा निर्मित किसी भी कानून को राष्ट्रपति रद्द कर सकता था। उसको इनके लिये नियम (Regulations) बनाने का अधिकार था।

नये राज्यों का प्रवेश तथा स्थापना सम्बन्धी उपबन्ध —संविधान द्वारा संसद् को यह शक्ति दी गई है कि वह संघ में नये राज्यों की स्थापना या प्रवेश कर सकती। संसद् कानून द्वारा किसी राज्य से उसका प्रदेश अलग कर नये राज्य स्थापित कर सकती है। यह दो या अधिक राज्यों या उनके भागों को मिलाकर राज्य अथवा किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नया राज्य बना सकती है।

इसको राज्यों का क्षेत्र घटाने तथा बढ़ाने का भी अधिकार है। यह राज्यों की सीमाओं को बदल सकती है। इसी प्रकार इसे राज्यों के नाम बदलने का भी अधिकार है।

परन्तु उपर्युक्त सब मामलों में इससे पूर्व कि कोई विधेयक संसद् में प्रस्तुत किया जाय, राष्ट्रपति की सिफारिश प्राप्त करना आवश्यक होगा। यदि किसी विधेयक द्वारा किसी राज्य राज्यों की सीमाओं अथवा नामों में परिवर्तन करना सोचा गया है तो राष्ट्रपति उस राज्य या उन राज्यों के विधान मण्डलों की राय जाने बिना अपनी सिफारिश नहीं देगा।

जम्मू तथा कश्मीर के विषय में संविधान में यह कहा गया है कि कोई भी विधेयक जिसका उद्देश्य इस राज्य के क्षेत्रफल में कमी या बढ़ती करना हो या इस राज्य के नाम अथवा सीमाओं में परिवर्तन करना हो, संसद् में बिना वहाँ की व्यवस्थापिका की सहमति के प्रस्तुत नहीं किया जायगा।

यह पहले लिखा जा चुका है कि इस प्रकार का कोई भी परिवर्तन संसद् के साधारण बहुमत से पारित हो जायगा तथा यह संविधान का संशोधन नहीं समझा जायगा।

राज्य पुनर्गठन

अक्टूबर सन् १९५३ में संसद् द्वारा आन्ध्र के राज्य की स्थापना गई थी। मद्रास राज्य में से ११ तेलुगु भाषा भाषी जिले निकाल कर इस नवीन राज्य का निर्माण किया गया था। इस नवीन प्रदेश की स्थापना की घोषणा के पश्चात् कई अन्य स्थानों से भी भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण की माँग उठने लगी। अकाली दल ने पञ्जाबी भाषी प्रान्त की माँग की। बंगाल में यह माँग उठी कि बिहार के बंगाली भाषी जिले बंगाल में मिला दिए जाँय। इसी प्रकार दक्षिणी भारत में यह माँग उठी कि हैदराबाद रियासत का अन्त कर दिया जाय। देश में अनेक प्रभावशाली व्यक्ति भाषावार प्रान्तों के निर्माण के पक्ष में थे। अनेक राजनीतिक दल भी इस माँग का समर्थन

कर रहे थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भी इस प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण था।

राष्ट्रीय काँग्रेस तथा पुनर्गठन का प्रश्न :—राज्यों के पुनर्गठन के प्रश्न पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति बहुत पहले से ही स्पष्ट थी। कांग्रेस का यह मत था कि ब्रिटिश शासन ने भारत का अनेकों प्रान्तों तथा प्रदेशों में विभाजन किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि ब्रिटिश शासन ने इन प्रान्तों के निर्माण में अपनी सामाजिक राजनैतिक, तथा प्रशासनीय आवश्यकताओं तथा सुविधाओं को ध्यान में रखा न कि देश के हित को। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "The existing structure of the states of the Indian Union is partly the result of accident and the circumstances attending the growth of the British power in India and partly a by-product of the historic process of the integration of former Indian states The division c[illegible] to British provinces and [illegible] and had no basis in Indian [illegible] that, as a result of the abandonment, after the upheaval of 1857, of the objective of extending the British dominion by absorbing princely territories, the surviving states escaped annexation The map of the territories annexed and directly administered by the British was also not shaped by any rational or scientific planning but by the military, political or administrative exigencies or conveniences of the moment."

कांग्रेस ने भाषा-सिद्धान्त को सन् १९०२ से ही अपना समर्थन प्रदान किया है जब कि इसने बंगाल-विभाजन का विरोध किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर सन् १९०८ में कांग्रेस का बिहार प्रान्त तथा १९१७ में आन्ध्र तथा सिन्ध के कांग्रेस प्रान्तों का निर्माण हुआ। परन्तु यह सत्य है कि १९१७ के कांग्रेस अधिवेशन में डा० ऐनी बेसेन्ट के नेतृत्व में कुछ लोगों ने इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया। परन्तु सन् १९२० में नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के सिद्धान्त को स्वीकार किया। सन् १९२७ में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा की कि प्रान्तों का भाषा के आधार पर निर्माण होना चाहिये।

प्रान्तों के पुनर्गठन के प्रश्न पर नेहरू कमेटी का भी यही विचार था कि यह भाषा के आधार पर होना चाहिये। इसके अनुसार, "यह अत्यन्त

वाञ्छनीय है कि प्रान्तों का पुनर्संगठन भाषा के आधार पर हो। भाषा सामान्यतः एक विशिष्ट संस्कृति, परम्परा तथा साहित्य की सूचक है। एक भाषा-क्षेत्र में ये सब कारण प्रान्त की उन्नति में सहयोग देंगे।"

कांग्रेस ने सन् १९३७ में कलकत्ता अधिवेशन में तथा सन् १९३८ में वार्धा में इसकी कार्यकारिणी समिति ने इस सिद्धान्तों का समर्थन किया। १९४५-४६ में अपने चुनाव-घोषणा में भी कांग्रेस ने इस मत को दुहराया कि प्रान्तों का निर्माण भाषा के आधार पर होना चाहिये।

सन् १९४७ में संविधान सभा की स्थापना हुई और इसने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की जिसे दर आयोग (Dar Commission) कहा जाता है। इस आयोग ने दिसम्बर, १९४८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा यह कहा कि केवल भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्गठन अनुपयुक्त है, मुख्यतः ध्यान प्रशासनीय सुविधा पर रखना चाहिये।

इसके पश्चात् दिसम्बर १९४८ में कांग्रेस ने एक समिति का निर्माण किया, जिसको जे० वी० पी० (J. V. P.) समिति कहा जाता है। इसके सदस्य श्री नेहरू, सरदार पटेल तथा डा० पट्टाभि सीतारम्मैया थे। इस समिति के अनुसार प्रान्तों का पुनर्संगठन देश की एकता के अहित में नहीं किया जा सकता। अतएव भारत की सुरक्षा, एकता तथा आर्थिक समृद्धि को ध्यान में रखते हुये ही यह किया जा सकता है। भाषावार प्रान्तों के निर्माण में अत्यन्त ही सावधानी की आवश्यकता है। इसलिये इस समिति का यह मत था कि यह प्रश्न स्थगित कर दिया जाय परन्तु यह आन्ध्र प्रदेश के निर्माण के पक्ष में थी।

आन्ध्र का निर्माण जैसा हम देख चुके हैं १ अक्टूबर, १९५३ में किया गया। इसके पश्चात् ही राज्य पुनर्संगठन आयोग की स्थापना की गई।

आयोग की रिपोर्ट—राज्य पुनर्संगठन आयोग की रिपोर्ट ३० सितंबर १९५५ को भारत सरकार को पेश की गई थी और सरकार द्वारा इसका प्रकाशन १० अक्टूबर को किया गया।

भारत सरकार ने जिस प्रस्ताव द्वारा राज्य पुनर्संगठन आयोग की स्थापना की गई थी उसमें यह भी कहा गया था इस समस्या पर विचार करते समय आयोग को निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिये।

(१) भारत की एकता तथा सुरक्षा;
(२) भाषा तथा संस्कृति की समानता;

(३) वित्तीय, आर्थिक तथा प्रशासकीय सुविधा; तथा
(४) राष्ट्रीय योजना की सफलता।

राज्य-पुनर्संगठन आयोग इस विषय में एकमत था कि देश के अन्दर राज्यों का निर्माण एक वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिये। अंग्रेजों ने प्रान्तों का निर्माण इस प्रकार नहीं किया था। विदेशी शासकों के सम्मुख देश का हित तथा देश की उन्नति गौण विषय थे। उनके लिये तो प्रमुख विषय यह था कि उनके प्रशासन में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। जहां तक भारत का ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी राज्यों में विभाजन था वह भी केवल अकस्मात् हो गया था। यह विभाजन देश के हित में नहीं था। इसके फलस्वरूप देश का लगभग आधा भाग (४५% क्षेत्र) उन्नति नहीं कर सका और वहां की जनता अत्यन्त ही पिछड़ी स्थिति में रह गई। यद्यपि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में सुधार हुआ परन्तु मूलस्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

आयोग के अनुसार पुनर्संगठन की किसी भी योजना को निम्नलिखित तत्वों पर पूरा ध्यान देना चाहिये :—

(१) पुनर्संगठन की किसी भी योजना को यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि इसका उद्देश्य भारत की एकता तथा सुरक्षा है। यदि देश की एकता को किसी भी प्रकार धक्का पहुँचता है तो वह योजना देश की जनता के हित में नहीं हो सकती। यह नहीं भूलना चाहिये कि देश के विभिन्न भागों का हित इसी में है कि भारत की एकता अक्षुण्ण रहे। विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों को भारत के अन्दर अपना विकास करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। परन्तु देश की एकता देश की सुरक्षा के लिये आवश्यक है।

(२) केवल भाषा अथवा संस्कृति के आधार पर ही राज्यों का पुनर्संगठन न सम्भव है और न वांछनीय ही है। इस समस्या को उचित प्रकार सुलझाने के लिये एक संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता है ताकि देश की एकता को भय न उत्पन्न हो। इस प्रकार के संतुलित दृष्टिकोण के लिये निम्नोक्त बातें आवश्यक हैं[1] :—

(अ) यह मानना चाहिये कि भाषा की एकता एक महत्वपूर्ण बात है, जिससे प्रशासकीय सुविधा तथा कुशलता में वृद्धि होगी, परन्तु केवल इस सिद्धान्त को इतना अधिक अनिवार्य नहीं माना जा सकता कि प्रशासकीय वित्तीय तथा राजनैतिक बातों पर ध्यान ही न दिया जाय।

1 S R C Report p 46 para 163

(ब) इस बात का ध्यान रखना होगा कि विभिन्न भाषा-भाषी समूहों की सचार शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी आवश्यकताओं की उचित प्रकार पूर्ति हो, चाहे वे एक भाषा-भाषी राज्य में हों अथवा मिश्रित राज्य में।

(स) जहाँ सन्तोषजनक परिस्थितियाँ हों तथा आर्थिक, राजनैतिक और प्रशासकीय, सुविधाएँ वर्त्तमान हों वहाँ मिश्रित (Composite) राज्य बने रहने चाहिये, परन्तु इस बात की व्यवस्था होनी चाहिये कि इनमें सभी वर्गों को समान अधिकार तथा अवसर प्राप्त हों।

(द) निवास-स्थान सिद्धान्त (Homeland concept) का स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि यह भारतीय संविधान के इस आधार भूत सिद्धांत के प्रतिकूल है कि संघ के अन्तर्गत समस्त नागरिकों का समान अवसर तथा अधिकार प्राप्त हैं।

(य) 'एक भाषा एक राज्य' का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यह भाषा की समानता के आधार पर उचित नहीं है क्योंकि बिना भाषा-सिद्धान्त का उल्लंघन किये एक ही भाषा बोलने वालों के एक से अधिक राज्य हो सकते हैं। यह सिद्धान्त व्यावहारिक भी नहीं है क्योंकि यह सदैव सम्भव नहीं कि एक ही भाषा बोलने वालों को, जैसे देश की हिन्दी भाषी विशाल जनसंख्या एक-भाषी राज्य में ही संगठित किया जा सके।

(र) अन्त में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि एक भाषा-भाषी राज्यों निर्माण से जो पृथकता तथा प्रान्तीयता की भावना जागृत होगी उसके निराकरण के लिये यह आवश्यक है कि भारतीय राष्ट्रवाद को अनेक प्रकार से अधिक गहन तथा गम्भीर बनाया जाय।

(३) राज्यों के पुनर्गठन में आर्थिक तथा वित्तीय बातों पर भी ध्यान देना चाहिये। राज्यों को आर्थिक दृष्टि से इतना सम्पन्न तो होना चाहिये कि साधारणतः वे अपना व्यय-भार स्वयं वहन कर सकें। यह सत्य है कि केन्द्रीय सहायता आवश्यक हो जाती है परन्तु इसका उपयोग विकास-कार्यों के लिये ही होना चाहिये।

(४) यद्यपि यह सत्य है कि राज्यों का इस प्रकार पुनर्गठन नहीं हो सकता कि वे आर्थिक क्षेत्रों के अनुरूप हों। न आर्थिक निर्भरता का सिद्धान्त ही स्पष्ट प्रमाण है। परन्तु यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिये कि विकास कार्य के लिये जो साधन आवश्यक हैं उनका कुछ भाग वे अवश्य ही जुटा सकें। यह वाँछनीय ही होगा कि राज्यों के मध्य यथासम्भव आर्थिक साधनों में अधिक भेद नहीं हो।

(५) राज्य इतने बड़े हों कि उनमें प्रशासकीय कुशलता हो तथा आर्थिक विकास और लोक-कल्याण कार्यवाहियों के मध्य संयोजन हो सके।

(६) पुनर्गठन के प्रश्न पर अन्य बातों के साथ जनता की इच्छा को भी महत्त्व देना चाहिये।

(७) वर्तमान स्थिति के तथ्यों को आर्थिक महत्त्व देना चाहिये न कि ऐतिहासिक तर्कों को।

(८) प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से केवल भौगोलिक समीपता पर ध्यान देना चाहिये।

(९) पुनर्गठन के प्रस्ताव केवल किसी एक ही बात पर निर्भर नहीं हो सकते। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व उपर्युक्त सभी बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

इकाइयों का मूल रूप :—पुनर्गठन आयोग ने यह सिफारिश की कि राज्यों का विभिन्न वर्गों में वर्तमान विभाजन उचित नहीं है। 'ख' वर्ग तथा 'क' वर्ग के मध्य भेद मिटाने के लिये राजप्रमुख के पद को समाप्त कर देना चाहिये और राज्यपालों की नियुक्ति होनी चाहिये। 'ग' वर्ग के राज्यों को अपने समीपस्थ बड़े राज्यों में यथासम्भव विलीन कर देना चाहिये। केवल हिमाचल प्रदेश, कच्छ तथा त्रिपुरा के ऊपर केन्द्रीय सरकार के कुछ निरीक्षण के अधिकार रहेंगे। वे 'ग' वर्गीय राज्य जिनका किन्हीं कारणों से विलयन नहीं हो सकता है, केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित होंगे। इस प्रकार भारत संघ में केवल दो प्रकार की इकाइयाँ होंगी। संघ की प्राथमिक इकाइयाँ तथा केन्द्रीय शासित क्षेत्र।

आयोग की रिपोर्ट के अनुसार भारत में सोलह प्राथमिक इकाइयाँ तथा तीन केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्र होंगे। ये निम्नलिखित हैं :—

संघ की प्राथमिक इकाइयाँ

राज्यों के नाम	क्षेत्रफल		जन-संख्या
मद्रास	५०,१७० वर्ग मील		३ करोड़
केरल	१४,९८०	,,	१ करोड़ ३६ लाख
कर्नाटक	७२,७३०	,,	१ करोड़ ९० लाख
हैदराबाद	४५,३००	,,	१ करोड़ १३ लाख
आंध्र	६४,९१०	,,	२ करोड़ ९ लाख

राज्यों के नाम	क्षेत्रफल		जनसंख्या
बम्बई	१५१,३६०	वर्ग मील	४ करोड २ लाख
विदर्भ	३६,८८०	,,	७६ लाख
मध्य प्रदेश	१७१,२००	,,	२ करोड ६१ लाख
राजस्थान	१३२,३००	,,	१ करोड ६ लाख
पंजाब	४८,१४२	,,	१ करोड ७२ लाख
उत्तर प्रदेश	११३,४१०	,,	६ करोड ३२ लाख
बिहार	६६,५२०	,,	३ करोड ८५ लाख
पश्चिमी बंगाल	३४,५९०	,,	२ करोड ६५ लाख
आसाम	८९,०४०	,,	९७ लाख
उडीसा	६०,१४०	,,	१ करोड ४६ लाख
जम्मू तथा काश्मीर	९२,७८०	,,	४४ लाख

केन्द्रीय शासित क्षेत्र

क्षेत्र	क्षेत्रफल	जनसंख्या
दिल्ली	५७८ वर्ग मील	१,७४४,०७२
मणिपुर	८,६२८ ,,	५७७,६०५
[1] अण्डमन तथा निकोबार	३,२१५ ,,	३०,९७१

राज्यपुनर्गठन ऐक्ट —आयोग की इसी रिपोर्ट पर आधारित कर भारत सरकार ने संसद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया और यह विधेयक संसद द्वारा पारित होकर राज्य पुनर्गठन ऐक्ट कहलाया। ३१ अगस्त १९५६ को इसे राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई। इसे प्रभावी करने के लिए संविधान में संशोधन की आवश्यकता हुई। यह संविधान का सप्तम् संशोधन अधिनियम कहलाता है।

इस राज्य पुनर्गठन ऐक्ट की निम्नलिखित विशेषताएं है —

(१) इस अधिनियम द्वारा स्वायत्त राज्यो का 'क' तथा 'ख' वर्ग में विभाजन समाप्त कर दिया गया। सम्पूर्ण भारत क्षेत्र को दो प्रकार की इकाइयो में बाँटा गया है। इनको क्रमशः राज्य तथा केन्द्रीय क्षेत्र कहा गया है 'ख' वर्ग के राज्यों के लुप्त हो जाने के कारण राजप्रमुख के पद का भी लोप हो गया है। इन नवीन स्वायत्त राज्यो की जिनका शासन उत्तरदायित्वपूर्ण है संख्या १४ है। ये निम्नलिखित है —

राज्यों के नाम	क्षेत्रफल	जनसंख्या
(१) आंध्र	१०५,९६३	३१,२६०,१३३
(२) आसाम	८५,०१२	९,०४३,७०७
(३) बिहार	६७,१४६	३८,७८९,५६२
(४) बम्बई	१९०,९१९	४८,२६५,२२१
(५) केरल	१५,०३५	१३,५४९,११८
(६) मध्य भारत	१७१,२०१	२६,०७१,६३७
(७) मद्रास	५०,११०	२९,९७४,९३६
(८) मैसूर	७४,३६३	१९,४०१,१९३
(९) उड़ीसा	६०,१३६	१४,६४५,९४६
(१०) पंजाब	४७,४५६	१६,१३४,८९०
(११) राजस्थान	१३२,०७८	१५,९७०,७७४
(१२) उत्तर-प्रदेश	११३,४०९	६३,२१५,७४२
(१३) पश्चिमी बंगाल	३३,९२८	२६,३०६,६०२
(१४) जम्मू तथा काश्मीर	९२,७८०	४,४००,०००

उपर्युक्त राज्यों के प्रधान, जम्मू तथा काश्मीर के अतिरिक्त, राज्यपाल कहलाते हैं तथा इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। काश्मीर राज्य का प्रधान सदर-ई-रियासत कहलाता है। इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति वहाँ की व्यवस्थापिका की सिफारिश पर करता है। परन्तु इन सब राज्यों की संविधान के अन्तर्गत एक ही स्थिति है। ये सब स्वायत्त राज्य हैं। परन्तु काश्मीर की स्थिति अभी भी कुछ मात्रा तक विशेष है।

चार राज्यों में इस अधिनियम द्वारा कोई क्षेत्रीय तथा सीमा-सम्बन्धी परिवर्तन नहीं हुए। ये राज्य जम्मू तथा काश्मीर, उत्तर प्रदेश, आसाम तथा उड़ीसा हैं। बिहार के दो छोटे टुकड़े पश्चिमी बंगाल में मिला दिये गये हैं। आंध्र प्रदेश में हैदराबाद रियासत का तेलंगाना क्षेत्र मिला दिया गया है। बम्बई राज्य में पुराने हैदराबाद रियासत का मराठवाड़ा क्षेत्र, राजस्थान का एक छोटा टुकड़ा तथा पुराने मध्य प्रदेश का विदर्भ क्षेत्र मिला दिये गये हैं। नवीन मैसूर राज्य में करनाटक क्षेत्र, कोडग, मद्रास का दक्षिणी कन्नड़ जिला तथा कोलेगल तालुक मिला दिये हैं। मद्रास का मलाबार प्रदेश केरल में मिला दिया गया है। मध्य प्रदेश में पुराना मध्य भारत, भोपाल, विन्ध्य प्रदेश तथा राजस्थान का एक छोटा सा भाग मिला दिए गये हैं। पेप्सू को पंजाब में विलीन कर दिया गया है।

इन नवीन राज्यों का आधार भाषा है। इसी कारण दक्षिण भारत में विशेषतः राज्य-पुनर्गठन की माँग बहुत बलवती थी। परन्तु दो राज्यों के निर्माण में यह सिद्धान्त लागू नहीं हो सका है—बम्बई तथा पंजाब। इस कारण बम्बई में काफी असन्तोष है।

इन स्वायत्त राज्यों के अतिरिक्त ६ संघीय क्षेत्रों का निर्माण किया गया है। 'ग' तथा 'घ' वर्ग के मध्य भेद समाप्त हो गया है।

संघीय क्षेत्र	क्षेत्रफल	जनसंख्या
हिमाचल प्रदेश	१०,९०४	१,१०९,४६६
मनीपुर	८,६२८	५७७,६३५
त्रिपुरा	४,०३६	६३९,०२९
दिल्ली	५७८	७४४,०७२
अन्डमान तथा निकोबार	३,२१५	३०,९७१
लक्षद्वीप समूह	१०	२१,०३५

इन संघीय क्षेत्रों में स्वायत्त शासन नहीं है। राष्ट्रपति इनका शासन एक शासक के द्वारा करेगा।

(२) राज्य का पुनर्गठन अधिनियम द्वारा पाँच मण्डलीय परिषदों (*Zonal Councils*) की स्थापना की गई है। निम्नलिखित प्रत्येक मंडल में एक ऐसी परिषद् होगी :—

(१) उत्तरी मण्डल—इसमें पंजाब, राजस्थान, जम्मू तथा काश्मीर, दिल्ली तथा हिमाचल प्रदेश रखे गये हैं।

(२) केन्द्रीय मण्डल—इसमें उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश हैं।

(३) पूर्वी मण्डल—इसमें बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, आसाम, मनीपुर तथा त्रिपुरा रखे गये हैं।

(४) पश्चिमी मण्डल—बम्बई तथा मैसूर राज्य इसके अन्तर्गत हैं।

(५) दक्षिणी मण्डल—आंध्र, मद्रास तथा केरल के राज्य इसमें आते हैं। प्रत्येक मंडल की मंडलीय परिषद् में निम्नलिखित सदस्य होंगे :—

(१) राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत एक संघ मंत्री;
(२) इसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य का मुख्य मन्त्री तथा प्रत्येक ऐसे राज्य के दो अन्य मन्त्री जो कि काश्मीर में सदर-ए-रियासत द्वारा तथा अन्य राज्यों में राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। परन्तु यदि किसी राज्य में मन्त्रिपरिषद् न हो तो उस राज्य से तीन सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायेंगे।
(३) यदि किसी मण्डल में कोई संघ द्वारा शासित क्षेत्र सम्मिलित है तो ऐसे प्रत्येक क्षेत्र से राष्ट्रपति द्वारा दो सदस्य मनोनीत किये जायेंगे।
(४) अनुसूचित क्षेत्र के लिये आसाम के राज्यपाल का परामर्शदाता भी पूर्वी मंडल की परिषद् का एक सदस्य होगा।

राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत संघीय मन्त्री मंडलीय परिषद् का सभापति होगा। राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय गृह मन्त्री प० गोविन्दवल्लभ पन्त को पांचों मंडलीय परिषदों का सभापति नियुक्त किया गया है। प्रत्येक मंडल में सम्मिलित राज्यों के मुख्य मन्त्री क्रमानुसार इसकी परिषद् के उपसभापति होंगे। प्रत्येक का कार्य-काल एक वर्ष होगा। परन्तु यदि इस समय किसी राज्य में मन्त्रिमंडल न हो तो राष्ट्रपति वहां के किसी सदस्य को मण्डलीय परिषद् का उपसभापति मनोनीत कर सकता है।

प्रत्येक मण्डलीय परिषद् में निम्नलिखित व्यक्ति परिषद् को इसके कार्य में सहायता देने के लिये परामर्शदाताओं के रूप में नियुक्त किये जायेंगे।

(अ) एक व्यक्ति योजना आयोग द्वारा नियुक्त किया जायगा;
(ब) उस मण्डल के अन्तर्गत प्रत्येक सम्मिलित राज्य की सरकार का मुख्य सचिव (Chief-Secretary);
(स) उस मंडल के अन्तर्गत प्रत्येक सम्मिलित राज्य का विकास आयुक्त अथवा राज्यपाल द्वारा मनोनीत कोई अन्य पदाधिकारी।

उपर्युक्त प्रत्येक परामर्शदाता को परिषद् के वादाविवाद अथवा किसी कमेटी के, जिसका वह सदस्य बनाया गया हो, वादाविवाद में भाग लेने का अधिकार होगा परन्तु उसे परिषद् अथवा कमेटी में मतदान का अधिकार नहीं होगा।

मंडलीय परिषद की बैठक कब हो इसकी तिथि इसके सभापति द्वारा निश्चित की जावेगी। इसकी बैठकों में ऐसे प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों का पालन किया

जायगा जो कि सभापति केन्द्रीय सरकार से मन्त्रणा कर समय समय पर निश्चित करे।

परिषद की बैठकें उस मंडल के अन्तर्गत राज्यों में क्रमानुसार होंगी। यदि

इन बैठकों में प्रत्येक प्रश्न का निर्णय बहुमत द्वारा होगा। परन्तु यदि किसी प्रश्न में मत बराबर हो तो सभापति का एक मत और प्रदान करने का अधिकार होगा। परिषद् की प्रत्येक बैठक की कार्यवाही का विवरण केन्द्रीय सरकार तथा सदस्य राज्य सरकारों को भेजा जायगा।

मण्डलीय परिषद् समय समय पर प्रस्ताव पारित कर अपने सदस्यों तथा परामर्शदाताओं की कमेटियां नियुक्त कर सकती हैं। ये कमेटियाँ ऐसे कार्य सम्पादन करेंगी जैसा करने का अधिकार इन्हें मण्डलीय परिषदों द्वारा प्रदान किया जायगा।

प्रत्येक मण्डलीय परिषद् का एक सचिवालय कर्मचारीवर्ग (Secretariat Staff) होगा। इसमें एक सचिव, एक संयुक्त-सचिव तथा ऐसे अन्य पदाधिकारी और कर्मचारी होंगे जिनकी नियुक्ति सभापति करना आवश्यक समझे। प्रत्येक परिषद् के अन्तर्गत सम्मिलित प्रत्येक राज्य का मुख्य सचिव बारी-बारी से उस परिषद् का एक एक वर्ष के लिये सचिव नियुक्त किया जायगा। संयुक्त-सचिव की नियुक्ति ऐसे पदाधिकारियों में से की जावेगी जो कि उस मण्डलीय परिषद् के सदस्य राज्यों की सेवा में नहीं हैं।

प्रत्येक मण्डलीय परिषद् का दफ्तर उस मण्डल के अन्दर किस स्थान पर हो इसका निश्चय उस परिषद् द्वारा किया जायगा। इस प्रसंग में जो भी व्यय होगा उसको केन्द्रीय सरकार देगी।

इन परिषदों के कार्य

(अ) प्रत्येक मण्डलीय परिषद एक परामर्शदात्री परिषद है। यह ऐसे विषयों पर विचार-विमर्श करेगी जिनमें उस मण्डल के सब या कुछ राज्यों का अथवा संघ तथा उस मण्डल के किसी सदस्य राज्य का समान हित हो।[1]

1. प० गोविन्द वल्लभ पन्त ने केन्द्रीय मण्डल परिषद् की अध्यक्षता करते हुये (मई, १९५७) कहा कि इन मण्डलीय परिषदों का कार्य केवल परामर्शदात्री है। यदि ये इस कार्य को ठीक प्रकार से कर सकें तो इन्हें अपने उद्देश्य प्राप्ति में सफलता समझनी चाहिये।

(ब) विशेषतः ये परिषदें निम्नलिखित विषयों पर विचार करेंगी :

(१) सीमान्त सम्बन्धी विवाद;
(२) अल्पभाषी समूहों से सम्बन्धित प्रश्न,
(३) अन्तर राज्य परिवहन;
(४) आर्थिक योजना से सम्बन्धित प्रश्न;
(५) सामाजिक योजना क्षेत्र के अन्तर्गत विभिन्न प्रश्न।

इन मण्डलीय परिषदों की संयुक्त बैठकें भी हो सकती हैं। यदि किसी एक मण्डल के राज्य तथा दूसरे मण्डल के किसी राज्य अथवा राज्यों के मध्य ऐसे विषय हों जिन पर उनका समान हित हो तो ऐसे अवसरों पर संयुक्त बैठक हो सकती है।

अभी तक केवल दो उत्तरी परिषद तथा केन्द्रीय-परिषद् की बैठकें हुई हैं। इस बैठक में सभापति—पं० गोविन्द वल्लभ पन्त—ने इन परिषदों के कार्य और महत्त्व पर प्रकाश डाला। यदि ये परिषदें ठीक प्रकार से काम कर सकीं तो इसमें सन्देह नहीं है कि ये देश की उन्नति तथा एकता में अत्यन्त ही सहायक सिद्ध होंगी।

राज्य पुनर्गठन-एक समीक्षा :—राज्य पुनर्गठन यद्यपि अब समाप्त हो चुका है तथा इसके आधार पर नये राज्यों का निर्माण और व्यवस्थापिका का संगठन हो चुका है तथापि अभी भी देश में इस प्रश्न का महत्त्व बना है। इसका कारण यह है कि राज्यों के पुनर्गठन के समय देश में यह दृष्टिगोचर हुआ कि प्रान्तीयता की भावना बहुत प्रबल है। गुजरात तथा बम्बई में जो काण्ड हुये उसने देश में सभी विचारशील व्यक्तियों की आंखें खोल दी और यह स्पष्ट हो गया कि देश की एकता को, यदि इस प्रकार की प्रवृत्तियों को अनियन्त्रित बढ़ने दिया जाय तो, कभी भी भय उत्पन्न हो सकता है। इसलिये यद्यपि राज्यों का पुनर्गठन देश की सांस्कृतिक उन्नति के लिये आवश्यक था तथापि इसे इतना अधिक आगे नहीं ले जाना चाहिये कि हम देश को अशक्त कर दें।

भारत संघ के राज्यों तथा क्षेत्रों का संक्षिप्त परिचय

(१) आन्ध्र प्रदेश :—इसका क्षेत्रफल १०५,९६२ वर्गमील तथा जनसंख्या ३१,२६०,१३३ है। इसके अन्तर्गत २० जिले हैं। भाषा यहां की तेलगू है। आंध्र प्रदेश में खेती योग्य उपजाऊ भूमि तथा कपास की खेती के लिये काली

मिट्टी है। यहाँ की पैदावार में तम्बाकू, गन्ना, अरारोट, कपास, जूट आदि मुख्य है। यहाँ १२ कपड़े की मिलें हैं। इसके अतिरिक्त चीनी तथा कागज की मिलें भी हैं। यहाँ की राजधानी हैदराबाद है।

(२) आसाम —यह भारत का सबसे पूर्वी प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल ८५,०१० वर्ग मील तथा जनसंख्या ९,०४३,७०७ है। इसके अन्तर्गत १२ जिले हैं। इसकी राजधानी शिलांग है। यहाँ का सबसे मुख्य उद्योग चाय है। इसमें लगभग ५ लाख व्यक्ति लगे हैं। आसाम में जूट की पैदावार मुख्य है। भारत में यही सबसे मुख्य स्थान है जहाँ मिट्टी का तेल पाया जाता है।

(३) पश्चिमी बंगाल —इसका निर्माण १९४७ में विभाजन के फलस्वरूप हुआ। पूर्वी बंगाल, जहाँ कि मुस्लिम बहुमत था, पाकिस्तान में चला गया। पश्चिमी बंगाल भारत में रहा। जनवरी १, १९५० में कूच बिहार रियासत तथा अक्टूबर ०, १९५४ को चन्द्रनगर पश्चिमी बंगाल में विलीन कर दिये गये। राज्य पुनर्गठन के फलस्वरूप बिहार से कुछ भाग बंगाल में मिला दिये गये। अब इसका क्षेत्रफल ३३,९५८ वर्गमील तथा इसकी जनसंख्या २६,३०६,६०२ है। इसकी राजधानी कलकत्ता है। बंगाल भारत संघ का एक अत्यन्त घना बसा हुआ भाग है। यहाँ प्रति वर्गमील ८०६ जनसंख्या है। बंगाल की मुख्य पैदावार चावल, गन्ना चाय है। इसके अतिरिक्त चना, जौ, सरसों, कपास तम्बाकू आदि भी यहाँ पैदा होते हैं। बंगाल में कई उद्योग भी हैं। भारत में पजीकृत उद्योगों का २३% यहाँ हैं। यहाँ की जूट मिलों में लगभग ३१०,००० लोग काम करते हैं। कपड़े की बंगाल में २२ मिलें हैं। उत्तरपाड़ा में बिड़ला का मोटर बनाने का कारखाना है। बंगाल भारत के मुख्य प्रदेशों से एक है। स्वतन्त्रता संग्राम तथा साहित्यिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों में इस प्रदेश का महत्वपूर्ण दान रहा है।

(४) बिहार —इसका क्षेत्रफल ६७,१६४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ३८,७८९,१६२ है। राज्य पुनर्गठन के द्वारा बिहार से ३,१६५ वर्गमील भूमि तथा १,४४९,०८७ जनसंख्या बंगाल को हस्तान्तरित कर दिये गये। पहले बिहार लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के अधीन था। सन् १९१९ के ऐक्ट द्वारा गवर्नर के अधीन किया गया। सन् १९३७ में यहाँ स्वायत्त शासन की स्थापना हुई। राज्य पुनर्गठन के पूर्व यह 'क' वर्ग का राज्य था।

बिहार मुख्यतः एक कृषि प्रधान प्रदेश है। इसकी जनसंख्या का ८२% भाग पूर्णतः कृषि पर निर्भर है। केवल ७-८% भाग खदान कार्य तथा उद्योगों

में लगे हैं। बिहार की मुख्य पैदावार धान, गन्ना, गेहूँ, जौ, जूट, तम्बाकू, तिलहन, मटर आदि हैं। उत्तरी बिहार दक्षिणी बिहार से अधिक उपजाऊ है।

(५) बम्बई :—नवीन बम्बई राज्य का निर्माण पुराने बम्बई प्रदेश में कच्छ सौराष्ट्र, हैदराबाद का मराठी भाषी क्षेत्र, तथा मध्य प्रदेश का विदर्भ क्षेत्र मिलाने से हुआ है। परन्तु पुराने बम्बई से कुछ क्षेत्र वर्तमान मैसूर तथा एक छोटा भाग वर्तमान राजस्थान को चले गये हैं। वर्तमान बम्बई राज्य द्वि-भाषीय है। यहाँ लगभग २ करोड़ ६० लाख मराठी भाषी, १ करोड़ ६० लाख गुजराती भाषी तथा १५ लाख भारत की अन्य भाषा बोलने वाले हैं। बम्बई का क्षेत्रफल १९०,९१९ वर्ग मील तथा जनसंख्या ४८,२६५,२२१ है। यद्यपि बम्बई वाणिज्य व्यापार तथा उद्योगों की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है तथापि कृषि यहाँ की जनसंख्या के बहुसंख्यक भाग का पेशा है। यहाँ की मुख्य पैदावार ज्वार, बाजरा, कपास, तम्बाकू, अरारोट, चावल, गेहूँ, जौ, चना, आदि हैं।

(६) मध्य प्रदेश :—यह राज्य भौगोलिक दृष्टि से भारत का केन्द्रीय राज्य है। इसका क्षेत्रफल १७१,२०१ वर्गमील तथा जनसंख्या २६,०७१६३७ है। वर्तमान मध्य प्रदेश का निर्माण पहले के मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, भोपाल पुराने मध्य प्रदेश के १७ जिले तथा कोटा रियासत का एक छोटा भाग मिलने से हुआ है।

इस राज्य की अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कृषि प्रधान है। इसकी जनसंख्या का ७८% भाग कृषि पर निर्भर है। यहाँ की मुख्य पैदावार चावल, गेहूं, ज्वार, मक्का, बाजरा, दाल, तिलहन, कपास है। खनिज पदार्थों की दृष्टि से यह राज्य सम्पन्न है। इस राज्य की मुख्य भाषा हिन्दी है। परन्तु इसके अतिरिक्त अनेक स्थानीय तथा क्षेत्रीय बोलियाँ यहाँ हैं।

(७) मद्रास :—यहाँ का क्षेत्रफल ५०,११० वर्ग मील तथा जनसंख्या २९ ११४,९३६ हैं। यहाँ की भाषा तामिल है। भाषा की दृष्टि से यह एक-भाषीय राज्य है। यहाँ की मुख्य पैदावार मूँगफली, कपास, गन्ना, नारियल, धान, दाल, आलू, प्याज, केला आदि है। मद्रास में खनिज पदार्थ भी पाये जाते हैं। यहाँ के मुख्य उद्योग कपड़ा, चीनी, तम्बाकू, दियासलाई, तेल, सिमेन्ट आदि हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ रेशम, लोहा, इस्पात, चाय, काफी आदि के भी कारखाने हैं।

(८) उड़ीसा :—यहाँ की जनसंख्या १,४६,४५,९४६ तथा क्षेत्रफल ६०,१३६ वर्ग मील है। उड़ीसा की जनसंख्या में स्त्रियों की संख्या लगभग पुरुषों से २ लाख अधिक है। उड़ीसा मुख्यतः गाँवों का बना है। यहाँ जनसंख्या का केवल

४.०६ भाग नगरों में रहता है। उद्योग धंधों की दृष्टि से यह पिछड़ा हुआ है। यहाँ घरेलू उद्योग काफी बढ़े हुए हैं।

(६) पंजाब :—यह भारत का सबसे पश्चिमी प्रदेश है तथा पाकिस्तान से इसकी सीमा मिली हुई है। यहाँ की जनसंख्या लगभग १६,४३५,८९० तथा क्षेत्रफल १७,९५७ वर्ग मील है। राज्य पुनर्गठन द्वारा पुराने पंजाब तथा पेप्सू के मिलने से वर्तमान पंजाब राज्य का निर्माण हुआ है। पंजाब में १९४ शहर तथा २१,५१६ गाँव है। पंजाब भी एक द्विभाषीय राज्य है। अतएव यहाँ हिन्दी और पंजाबी दोनों राज्य-भाषाएँ मानी गई हैं। जनसंख्या का ६६.५% भाग कृषि पर निर्भर है। यहाँ की मुख्य फसल गेहूँ चना, जौ, मक्का, बाजरा, गन्ना, ज्वार, कपास, सरसों है। इसके अतिरिक्त यहाँ थोड़ी बहुत मात्रा में चाय, तम्बाकू, मूँगफली तथा अलसी भी पैदा होती है। यहाँ के मुख्य उद्योग कपड़ा ऊनी कपड़ा, तथा खेलकूद का सामान है।

(१०) उत्तर-प्रदेश :—इसका क्षेत्रफल ११३,४०९ वर्गमील तथा जनसंख्या ६३,२१६,७४२ है। राज्यपुनर्गठन का इस प्रदेश पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रदेश को सबसे पहले उत्तर-पश्चिमी सूबा कहा जाता था। सन् १९०२ में इसका नाम आगरा तथा अवध का संयुक्त प्रान्त कर दिया गया। जब यहाँ १९३५ के ऐक्ट के अनुसार स्वायत्त शासन की स्थापना हुई तब १ अप्रैल १९३७ से इसका नाम केवल संयुक्त-प्रान्त रखा गया। नये संविधान के प्रारम्भ से दो दिन पूर्व २४ जनवरी १९५० से इसका नाम बदल कर उत्तर-प्रदेश रख दिया गया। उत्तर प्रदेश कृषि तथा उद्योग दोनों ही दृष्टियों से भारत के उन्नतिशील भागों में से है। यहाँ गेहूँ, चावल, जौ, दाल, चाय, तम्बाकू, कपास पैदा होती है। यहाँ के उद्योगों में कपड़ा तथा चीनी मुख्य हैं।

(११) राजस्थान :—राजपूताना की अनेक रियासतों के मिलने से इस प्रदेश का निर्माण हुआ है। इसका क्षेत्रफल १३२,०७६वर्ग मील तथा जनसंख्या १५,९७०,७७४ । यह राज्य अधिक उन्नत नहीं है। यहाँ की मुख्य फसलें ज्वार, बाजरा, गेहूँ, मक्का, जौ तथा चना है। यहाँ थोड़ी बहुत कपास भी पैदा होती है। शिक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त ही पिछड़ा प्रदेश है।

(१२) मैसूर :—नवीन मैसूर राज्य का क्षेत्रफल ७४,३४७ तथा जनसंख्या १,९६,००,००० है। यहाँ की मुख्य भाषा कन्नड है जो कि लगभग ६६% जनसंख्या की भाषा है। परन्तु इसके अतिरिक्त ६४ और भाषाएँ यहाँ बोली जाती है। मैसूर भारत में केवल ऐसा प्रदेश है जहाँ सोना निकाला जाता

है तथा चंदन का तेल बनता है। इसके अतिरिक्त यहाँ इस्पात, साबुन के उद्योग भी हैं।

(१३) केरल —यह राज्य संसार का प्रथम राज्य है जहाँ प्रजातन्त्रात्मक रीति से साम्यवादी दल ने शासन हस्तगत किया है। यहाँ का क्षेत्रफल १५,०३५ वर्ग मील तथा जनसंख्या १३,५४९,११८ है। शिक्षा दृष्टि से भारत का सर्वाधिक उन्नत प्रदेश है। यहाँ की मुख्य पैदावार चावल, नारियल, गन्ना, रबर, चाय, काफी इत्यादि हैं। उद्योग धन्धों की दृष्टि से भी यह उन्नत है।

(१४) जम्मू तथा काश्मीर राज्य —राज्य पुनर्गठन के पश्चात यह अकेला 'ख' वर्ग का राज्य है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। २६ जनवरी सन् १९५७ से काश्मीर में एक नया संविधान लागू हो गया है जिसके द्वारा यह भारत का एक अविभाज्य अंग घोषित किया गया है। भारत संघ के अन्तर्गत काश्मीर का स्थिति विशेष है। यहाँ का राज्य-प्रधान सदर-इ-रियासत कहलाता है। इसका अपना झंडा है परन्तु भारत का झंडा यहाँ का भी राष्ट्रीय झंडा है।

संघ तथा काश्मीर राज्य के मध्य सम्बन्ध १९५० के संविधान आदेश तथा राष्ट्रपति द्वारा घोषित अन्य आदेशों और १९५२ के काश्मीर तथा भारतीय सरकार के मध्य समझौते पर आधारित थे। इनके अनुसार केवल तीन विषयों में ही काश्मीर ने भारत संघ में प्रवेश किया था। ये विषय निम्नोक्त थे—रक्षा, यातायात तथा वैदेशिक सम्बन्ध। भारत संघ की प्रशासकीय तथा न्यायिक शक्तियाँ भी काश्मीर में सीमित थीं। १९५२ के समझौते के अनुसार काश्मीर द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया था कि राष्ट्रपति के संकट कालीन अधिकार काश्मीर पर लागू होंगे। परन्तु आन्तरिक संकट के विषय में कार्यवाही राज्य की विधान-सभा की सहमति बिना नहीं की जायगी। इसी प्रकार नागरिकों के मूल अधिकारों को भी काश्मीर ने कुछ संशोधन के साथ स्वीकार किया। काश्मीर ने बिना प्रतिकार दिये ही जमींदार उन्मूलन कर दिया।

जम्मू-काश्मीर राज्य का क्षेत्रफल ९२,७८० तथा जनसंख्या ४,४१०,००० है। यह राज्य मुख्यतः पहाड़ी है। अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के लिये काश्मीर संसार प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष हजारों यात्री इसकी प्राकृतिक सुषमा का पान करने के लिये दूर दूर से आते हैं। काश्मीर में मुख्य उद्योग ऊनी कपड़ा, रेशम, तथा लकड़ी का काम है। काश्मीर में कई खनिज पदार्थ भी पाये जाते हैं। परन्तु आर्थिक दृष्टि से यह पिछड़ा हुआ है जनसंख्या का अधिकांश भाग निर्धन है। जनसंख्या की दृष्टि से काश्मीर मुख्यतः एक मुस्लिम प्रदेश है। जनसंख्या का ७७% भाग मुस्लिम है।

जम्मू काश्मीर राज्य का ⅓ भाग पाकिस्तान के अधीन है। काश्मीर प्रश्न पर भारत तथा पाकिस्तान के मध्य कोई समझौता अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख यह प्रश्न है। परन्तु इसके द्वारा भी इसको सुलझाया नहीं जा सका है। हमारी सरकार का यह कहना है और यही काश्मीर सरकार का भी मत है कि काश्मीर भारत का अविच्छिन्न अंग हो गया है। इस लिये का सार या प्रश्न केवल यह है कि पाकिस्तान अपनी सेनाओं को वहाँ से हटा ले परन्तु पाकिस्तानी सरकार इसके लिये प्रस्तुत नहीं है।

केन्द्रीय क्षेत्रों का संक्षिप्त वर्णन

(१) दिल्ली — यह भारत की राजधानी है। यहाँ का क्षेत्रफल ५७३ वर्गमील है तथा जनसंख्या १७४४,०७ है। भारत के इतिहास में दिल्ली का बड़ा ही महत्व है। राज्य-पुनर्गठन के पश्चात दिल्ली के लिये राष्ट्रपति ने एक परामर्शदात्री समिति का निर्माण किया है। यह कमेटी केन्द्रीय गृहमंत्री के अधीन कार्य करेगी। इसके सदस्य निम्नोक्त हैं—दिल्ली से संसद के सब सदस्य, चीफ कमिश्नर, शिक्षाधिकारी, वाइस चान्सलर, दिल्ली नगरपालिका का अध्यक्ष तथा नई दिल्ली नगरपालिका का उपाध्यक्ष। यहाँ एक नगर निगम की स्थापना कर दी गई है।

(२) हिमाचल प्रदेश — राज्य पुनर्गठन के पूर्व यह ग वर्ग का राज्य था। इसका क्षेत्रफल १०,९०४ वर्ग मील तथा जनसंख्या ११,०९,४६६ है। यहाँ की जनसंख्या का ९४% भाग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है। यहाँ की मुख्य फसल गेहूँ, मक्का, जौ, चावल, चना तथा आलू आदि हैं।

हिमाचल प्रदेश हिमालय की तलहटी में स्थित है। छोटे छोटे राज्यों और बिलासपुर राज्य के मिलने से बना है। इस समय यहाँ का प्रधान एक लैफ्टिनेंट गवर्नर है। यह स्वायत्त राज्यों की कोटि में नहीं है।

(३) मनीपुर — आसाम के दक्षिण पूर्वी कोन में स्थित है। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल ८,६२८ वर्ग मील तथा जनसंख्या ५,७७,६३५ है। क्योंकि चतुर्दिक जन जाति क्षेत्रों से घिरा हुआ है इसी कारण इसे केन्द्रीय शासन में रखा गया है। मनीपुर की मुख्य फसल धान है। यहाँ चाय की भी खेती होती है। करघा उद्योग यहाँ का मुख्य उद्योग है।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति ने यहाँ के लिये एक परामर्शदात्री समिति का निर्माण किया है। इसमें ५ सदस्य हैं तथा चीफ कमिश्नर इसका सभापति है।

(४) त्रिपुरा —इसका क्षेत्रफल ४,०३२ वर्गमील तथा जनसंख्या ६३९,०२९ है। यह खनिज पदार्थों तथा जंगल में सम्पन्न है। यहां की मुख्य फसल जूट, चाय, गन्ना, कपास तथा तिलहन है। यह राज्य पुनर्गठन के पूर्व एक 'ग' वर्ग का राज्य था तथा यहां की परामर्शदात्री समिति १९५१ में स्थापित हुई थी। उद्योग-धंधों में यह राज्य बहुत पिछड़ा है।

(५) लक्कादीव, मीनीकाय तथा अमीनदिव द्वीप :—इसका क्षेत्र १० वर्गमील तथा जनसंख्या २१,०३५ है। राज्य पुनर्गठन के पूर्व यह प्रशासन के लिये मद्रास राज्य में सम्मिलित थे परन्तु अब इनका शासन केन्द्र द्वारा ले लिया गया है। इस द्वीप समूह में कुल १९ द्वीप हैं जिनमें से १० में जनसंख्या निवास करती है। यहां का शासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक द्वारा होता है। इन द्वीप समूहों के सब निवासी मुसलमान हैं।

(६) अण्डमान तथा निकोबार द्वीप :—यह द्वीप समूह बंगाल की खाड़ी में है। इसका क्षेत्रफल ३,२१५ तथा जनसंख्या ३०,९७१। इस समूह में २०४ द्वीप हैं। राज्य पुनर्गठन के पूर्व यह 'घ' वर्ग का राज्य था। अब इसका शासन राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त प्रशासक के अधीन है।

प्रश्न

(१) "भारतीय संविधान संघात्मक भी है और एकात्मक भी।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (यू० पी० १९५३)

(२) भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५४)

(३) भारतीय संविधान में केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के लिये किन किन नियमों का प्रयोग किया गया है? भारत के लिये सशक्त केन्द्रीय सरकार की क्यों आवश्यकता है? (यू० पी० १९५६)

(४) "भारतीय संविधान देखने में संघात्मक है, पर वास्तव में एकात्मक है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये। (यू० पी० १९५८)

भारतीय-नागरिकता

नागरिकता का अर्थ—नागरिकता का अर्थ किसी देश के नागरिक होने से है। इसलिए नागरिकता उस दशा को कहते हैं जिसमें कि किसी व्यक्ति को राज्य की ओर से सामाजिक तथा राजनैतिक अधिकार प्राप्त हों। इन अधिकारों के बदले नागरिक को राज्य के प्रति कई कर्तव्य निबाहने पड़ते हैं। इनका पालन आवश्यक है।

नागरिक दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक नागरिक तथा राज्यकृत नागरिक। स्वाभाविक नागरिकता के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त हैं पहला तो वंश सिद्धान्त है। किसी मनुष्य की नागरिकता का निर्णय उसके पिता की नागरिकता से किया जाता है। दूसरा जन्मस्थान से किया जाता है। तीसरा सिद्धान्त इन दोनों सिद्धान्तों के मेल से बना है।

राज्यकृत नागरिकता से तात्पर्य उनसे है जो जन्म से तो किसी अन्य राज्य के नागरिक थे परन्तु जिन्होंने अब इस राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली है। प्रत्येक राज्य का अधिकार है कि वह विदेशियों को कुछ शर्तें पूरी करने पर अपनी नागरिकता प्रदान कर दे।

भारतीय नागरिकता — हम पहले कह चुके हैं कि भारत में संघात्मक राज्य होते हुए भी द्वैध नागरिकता नहीं स्थापित की गई है। भारत में केवल भारत संघ की ही नागरिकता है, राज्यों की नहीं। यद्यपि भारत राष्ट्र मण्डल का सदस्य है इस कारण भारत का नागरिक राष्ट्र मण्डल की नागरिकता का भी उपभोग करता है।

भारतीय संविधान में केवल यह बताया गया है कि इस संविधान के लागू होने समय अर्थात् २६ जनवरी १९५० को कौन-कौन भारत के नागरिक थे। परन्तु संविधान में यह नहीं बतलाया गया है कि भारत की नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है तथा किस प्रकार उसकी समाप्ति हो सकती है। इस विषय में संविधान यह कहता है कि संसद् को उपबन्ध बनाने का अधिकार है। इस प्रकार भविष्य में नागरिकता सम्बन्धी नियमों की रचना का अधिकार संसद् को दिया गया है। इस विषय में संसद् का अधिकार संविधान में दिये हुये

उपबन्धों से सीमित नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर संसद् चाहे तो वह किसी भी व्यक्ति की नागरिकता की (जिसको संविधान के लागू होने पर, उसमें वर्णित उपबन्धों के अनुसार नागरिकता मिली हो) समाप्ति कर सकती है तथा उनको किसी अन्य प्रकार से संकुचित कर सकती है।

नागरिक कौन है—संविधान के अनुसार भारतीय नागरिकता तीन श्रेणी के लोगों को दी गई है

(१) वे जो कि संविधान के लागू होते समय भारत के निवासी थे।

(२) वे व्यक्ति जो कि पाकिस्तान से भारत को प्रवजन (migrate) कर आये हैं, अर्थात् पाकिस्तान से आये शरणार्थी।

(३) भारत के बाहर रहने वाले भारतीय, अर्थात् वे भारतीय जो कि विदेशों में रह रहे हैं।

इनमें से प्रत्येक श्रेणी को हम क्रमशः लेंगे।

(१) वे लोग जो कि संविधान के लागू होते समय भारत के निवासी थे, यहाँ के नागरिक समझे जावेंगे, अगर वे नीचे लिखी तीन शर्तों को पूरा करते हों।

(अ) उनका जन्म भारत-राज्य क्षेत्र में हुआ हो;

(ब) या, उनके माता-पिता में से कोई भारत-राज्य में जन्मा हो,

(स) या, जो कि संविधान के प्रारम्भ के ठीक पहले कम से कम पाँच वर्ष से भारत राज्य-क्षेत्र में साधारणतः रहे हों।

(२) पाकिस्तान से आये शरणार्थी भारत के नागरिक समझे जावेंगे अगर वे नीचे लिखी शर्तों को पूरा करते हों :

(अ) वे शरणार्थी जो कि १९ जुलाई १९४८ के पूर्व भारत में आ गये थे, भारत के नागरिक समझे जायेंगे, यदि वे, उनके माता-पिता या महाजनकों में से कोई, अविभाजित भारत में (अर्थात् जैसा कि पाकिस्तान बनने के पूर्व था) जन्मा हो। इसके अतिरिक्त यह शर्त भी थी कि भारत में आने की तारीख से सामान्यतः भारत के निवासी रहे हों।

(ब) वे शरणार्थी जो कि १९ जुलाई १९४८ के बाद में आये, भारत के नागरिक समझे जायेंगे, यदि वे, उनके माता-पिता या महाजनकों में से कोई, अविभाजित भारत में जन्मा हो। इसके अतिरिक्त यह शर्त भी थी कि वे भारत-सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए पदाधिकारी को आवेदन-पत्र देकर अपना नाम

संविधान लागू होने की तिथि (२६ जनवरी १९५०) से पूर्व पंजीबद्ध (register) करा ले। परन्तु उनका नाम पंजीबद्ध तभी होगा जब वे आवेदन-पत्र देने की तिथि से कम से कम ६ मास पूर्व से भारत में रह रहे हों। इसका तात्पर्य यह हुआ कि केवल वे ही शरणार्थी इस प्रकार से नागरिक हो सकते थे जो कि भारत में २५ जुलाई १९४९ के बाद न आये हों।

(स) संविधान में यह कहा गया है कि वे व्यक्ति जो १ मार्च सन् १९४७ के पश्चात् भारत-राज्य क्षेत्र से उस राज्य को चले गये थे जो अब पाकिस्तान कहलाता है, भारत के नागरिक नहीं होंगे। परन्तु यह प्रतिबन्ध उन लोगों पर लागू नहीं होगा जो कि भारत को फिर से लौट आए हैं तथा जिन्हें फिर से भारत में निवास करने के लिए भारत सरकार की अनुमति मिल गई हो। ऐसे सब व्यक्तियों पर वे ही उपबन्ध लागू होंगे जो कि १९ जुलाई १९४८ के बाद आए शरणार्थियों पर लागू होते हैं। अर्थात् यह समझा जायगा कि ये सब व्यक्ति १९ जुलाई १९४८ के बाद भारत आये। यह उपबन्ध उन मुसलमानों की सुविधा के लिए बनाया गया जो कि भारत में ही रहना चाहते थे, जैसे राष्ट्रीय मुसलमान, या सरकारी नौकर, परन्तु जो साम्प्रदायिक स्थिति के कारण अपने परिवार को पाकिस्तान पहुँचा आए थे परन्तु स्थिति सुधर जाने पर फिर से भारत में आना चाहते थे। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी। प० नेहरू ने संविधान सभा में कहा कि (अगस्त १२,१९४२) इनकी संख्या दो या तीन हजार से अधिक नहीं होगी।

(३) भारत से बाहर विदेशों में रहने वाले भारतीय जिनका या जिनके माता-पिता का या महाजनकों में से किसी का अविभाजित भारत में जन्म हुआ हो, भारत के नागरिक समझे जायेंगे अगर उन्होंने भारत के राजनीतिक (diplomatic) या वाणिज्यिक (consular) प्रतिनिधि को, इस संविधान के लागू होने से पहले या बाद, आवेदन-पत्र देकर अपने को पंजीबद्ध करा लिया है।

नागरिकता पर प्रतिबन्ध—संविधान में यह कहा गया है कि अगर किसी व्यक्ति ने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित कर ली है तो वह भारत का नागरिक नहीं समझा जायगा।

नागरिकता सम्बन्धी उपरोक्त उपबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि भारतीय संविधान द्वारा वंश-सिद्धान्त तथा जन्म-स्थान-सिद्धान्त दोनों नागरिकता निर्धारित करने के लिए मान लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त भारत में

कुछ काल का निवास भी भारत की नागरिकता निर्धारित करने के लिये काफी माना गया है।

यह स्पष्ट है कि नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध अपूर्ण है। उदाहरणार्थ अगर कोई विदेशी अभारतीय भारत का नागरिक होना चाहे तो किस प्रकार होगा, इस विषय में संविधान में कुछ नहीं है। इसका कारण यह है कि भारतीय संसद को नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध बनाने का पूर्ण अधिकार दिया गया है। इसलिए इस प्रकार की जो बातें संविधान में छूट गई हैं वे सब समद् साधारण विधि (law) द्वारा पूरी कर देगी।

भारतीय नागरिकता अधिनियम

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है भारतीय संविधान संसद् को नागरिकता सम्बन्धी उपबन्ध बनाने का पूर्ण अधिकार देता है। संविधान में नागरिकता के विषय में जो उपबन्ध हैं वे पूर्ण नहीं थे क्योंकि उनमें केवल यही बताया गया था कि २६ जनवरी १९५० को भारत के नागरिक कौन थे परन्तु इस तिथि के पश्चात् भारतीय नागरिकता का निर्णय कैसे किया जायगा इस विषय में विधि-निर्माण आवश्यक था। इसीलिए गृह-मन्त्री प० गोविन्द वल्लभ पंत ने संसद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया जो पारित होने पर "भारतीय नागरिकता अधिनियम" (Indian Citizenship Act of 1955) कहलाया। इस अधिनियम के मुख्य उपबन्ध निम्नोक्त हैं :

नागरिकता प्राप्ति

(१) जन्मजात नागरिक—भारत में २६ जनवरी १९५० को या इस तिथि के पश्चात उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात भारतीय नागरिक होगा यदि वह विदेशी दूत अथवा विदेशी शत्रु की सन्तान न हो।

(२) वंशाधिकार से नागरिकता की प्राप्ति :—कोई भी व्यक्ति जिसका जन्म २६ जनवरी १९५० या इस तिथि के पश्चात् भारत के बाहर हुआ हो भारत का वंशाधिकार के आधार पर (by descent) नागरिक माना जायगा यदि उसका पिता उसके जन्म के समय भारत का नागरिक था।

(३) रजिस्ट्री के द्वारा नागरिकता :—कोई व्यक्ति जो कि संविधान के उपबन्धों द्वारा या इस अधिनियम के अन्य उपबन्धों द्वारा भारतीय नागरिक नहीं है, प्रार्थनापत्र देने पर इस देश की नागरिकता प्राप्त कर सकता है, यदि वह निम्नलिखित वर्गों (categories) में से किसी एक वर्ग में हो :

(अ) वे भारतीय (Persons of Indian origin) जो साधारणत भारत में ही निवास करते हैं तथा रजिस्ट्री के प्रार्थनापत्र देने से ६ महीने पूर्व से भारत में ही निवास कर रहे हो,

(ब) वे भारतीय (Persons of Indian origin) जो साधारणत अविभाजित भारत से बाहर किसी स्थान में निवास करते हो,

(स) वे स्त्रियाँ जिनका विवाह भारत के नागरिको से हुआ हो

(द) भारतीय नागरिको के अवयस्क (minor) बच्चे,

(य) निम्नलिखित देशो के नागरिक—संयुक्त राज्य (United Kingdom), कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका संघ, पाकिस्तान सीलोन रहोडेसिया तथा न्यासालैण्ड संघ तथा आयरलैण्ड का गणतन्त्र।

किसी वयस्क को रजिस्ट्री के द्वारा नागरिकता प्राप्ति तभी हो सकती है यदि वह नागरिकता की शपथ ग्रहण करे।[1]

केन्द्रीय सरकार विशेष परिस्थितियों में किसी अवयस्क को भी भारतीय नागरिक रजिस्टर (register) कर सकती है।

ऊपर के उपबन्धो में भारतीय (Person Indian of origin) से यह तात्पर्य है कि वह व्यक्ति अथवा उसके माता-पिता में से एक या दादा-दादी में से एक, अविभाजित भारत में जन्मा हो।

(४) नागरिकीकरण द्वारा नागरिकता प्राप्त होना—कोई विदेशी (राष्ट्र मण्डल के सदस्य देशो अथवा आयर्लैण्ड-गणतन्त्र के नागरिको के अतिरिक्त) प्रार्थना पत्र देने पर केन्द्रीय सरकार द्वारा नागरिकीकरण (Naturalisation) द्वारा भारत का नागरिक बनाया जा सकता है यदि वह निम्नांकित शर्तों को पूरा करता हो

(१) वह किसी ऐसे देश का नागरिक न हो जहाँ कि भारत के नागरिको के नागरिकीकरण पर विधि या व्यवहार द्वारा रोक हो,

(२) उसने अपनी पहली नागरिकता का परित्याग कर दिया हो तथा केन्द्रीय सरकार को इसकी सूचना दे दी हो।

---

1. यह शपथ है "I, AB do solemnly affirm (or swear) that I will bear true faith and allegiance to the Constitution of India as by law established, and that I will faithfully observe the laws of India and fulfil my duties as a citizen of India."

(३) वह प्रार्थना-पत्र देने के पूर्व भारत में लगातार १२ माह रहा हो या सरकार की नौकरी में भारत में १२ माह लगातार रहा हो,

(४) इस १२ मास की अवधि से पूर्व ७ वर्षों के समय में वह कम से कम ४ वर्ष तक कुल मिलाकर (in the aggregate) भारत में रहा हो,

(५) वह सच्चरित्र हो,

(६) भारतीय संविधान में आठवीं अनुसूची में उल्लिखित किसी भारतीय भाषा का उसे पर्याप्त ज्ञान हो,

(७) नागरिककरण प्राप्त हो जाने पर उसका विचार भारत में निवास करने का हो या भारत सरकार की नौकरी या किसी ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नौकरी करने का हो जिसका भारत सदस्य हो।

इन उपर्युक्त शर्तों को भारत सरकार किसी ऐसे व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में जिसने विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन, विश्व-शान्ति अथवा मानव-उन्नति के दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया हो, हटा भी सकती है।

(५) क्षेत्र-विस्तार द्वारा :—यदि कोई भू-भाग (territory) भारत राज्य में सम्मिलित होता है तो भारत-सरकार उसके निवासियों को भारतीय नागरिकता प्रदान कर सकती है।

नागरिकता का लोप

(१) कोई भारतीय वयस्क नागरिक, जो कि किसी अन्य देश का भी नागरिक है, एक घोषणा द्वारा भारत की नागरिकता त्याग सकता है।

(२) यदि कोई पुरुष भारत का नागरिक नहीं रह जाता तो उसके अवयस्क बच्चे भी भारतीय नागरिकता से वंचित हो जायेंगे।

(३) यदि भारत का कोई नागरिक, किसी प्रकार स्वेच्छतया, २६ जनवरी १९५० तथा इस नागरिकता अधिनियम के लागू होने के मध्य काल में अन्य किसी देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है तो उसकी भारतीय नागरिकता का लोप हो जायगा।

(४) भारत-सरकार किसी ऐसे व्यक्ति की नागरिकता का अन्त कर सकती है जिसने नागरिककरण या रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट प्राप्त करने में किसी प्रकार की बेईमानी की हो।

(५) यदि कोई ऐसा नागरिक भारतीय संविधान के प्रति विश्वासघातक हो तो सरकार उसकी नागरिकता का अन्त कर देगी।

(६) यदि युद्धकाल, में उसने अवैध रूप से किसी शत्रु देश के साथ सम्बन्ध रखा हो या व्यापार किया हो तो उसकी नागरिकता छिन जायगी।

(७) यदि नागरिककरण अथवा रजिस्ट्रीकरण के ५ वर्ष के भीतर उसे किसी देश में कम से कम २ वर्ष का कारावास दण्ड मिला हो तो उसकी नागरिकता का अन्त हो जायगा।

(८) यदि ऐसा नागरिक ७ वर्ष तक लगातार भारत के बाहर निवास करता रहा हो तो उसकी नागरिकता समाप्त कर दी जायेगी।

परन्तु उपर्युक्त सभी दशाओं में भारत सरकार तभी नागरिकता का अन्त करेगी यदि उसे ऐसा विश्वास हो कि ऐसे व्यक्ति को भारत का नागरिक रखना सार्वजनिक हित के विरुद्ध होगा। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को यह अधिकार दिया जायगा कि वह सरकार के सम्मुख अपने पक्ष का प्रतिनिधित्व करे।

इस अधिनियम द्वारा नागरिकता प्राप्ति तथा लोप के नियमों को जो कि संविधान में पूरे नहीं थे पूरा कर दिया गया है। इस अधिनियम के द्वारा नागरिकता प्राप्ति के सभी सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की गई है।

प्रश्न

(१) भारतीय संविधान में नागरिकता सम्बन्धी उपबन्धों का वर्णन कीजिये।

अध्याय ६

नागरिकों के मूल-अधिकार

मूल अधिकारों का अर्थ तथा प्रयोजन—आधुनिक काल में कई लिखित विधानों में नागरिकों के कुछ अधिकारों का वर्णन कर दिया गया है। इन अधिकारों को मूल-अधिकार कहते हैं, अर्थात् वे अधिकार जो कि स्वयं संविधान द्वारा प्रदान किए गये हैं। प्रत्येक राज्य द्वारा अपने नागरिकों को कुछ सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, क्योंकि इन सुविधाओं के बिना व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का आधार ही व्यक्ति का विकास है। परन्तु लोकतन्त्रात्मक प्रणाली में बहुमत की सरकार होती है। भय है कि बहुसंख्यक अल्प-संख्यकों के हितों का ध्यान ही न रखें तथा इस प्रकार उन्हें वे सुविधाएँ न प्रदान करें जो कि व्यक्तित्व के विकास की आवश्यक दशाएँ हैं। इसलिए इन सुविधाओं का अर्थात् अधिकारों का विधान में समावेश कर दिया जाता है और इस प्रकार अल्पमत-दल उनके उपभोग से वंचित रहता है।

संविधान में कुछ अधिकारों का इस प्रकार वर्णन करने का परिणाम यह होता है कि सरकार नागरिकों की इन सुविधाओं को आसानी से हटा नहीं सकती है। ये अधिकार चाहे कोई भी दल शासनारूढ़ क्यों न हो बने रहते हैं।[1] बहुमतीय दल इनको अपनी इच्छानुसार आसानी से बदल नहीं सकता क्योंकि संविधान में उनका वर्णन होने के कारण वे श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते हैं। परन्तु अगर बहुमत दल चाहे तो इनमें परिवर्तन कर ही सकता है। उदाहरणार्थ हमारे देश में, मूल-अधिकारों में अभी कुछ संशोधन किया गया है। देश में संगठित जनमत का एक बड़ा भाग इन संशोधनों के विरुद्ध था परन्तु तब भी ये संशोधन संसद द्वारा पास कर दिए गये क्योंकि संसद में सरकार का ही बहुमत था।

---

1. अमेरिकन उच्चतम न्यायालय के एक मुख्य-न्यायाधिपति ने इन अधिकारों की निम्नलिखित परिभाषा की है "The very purpose of fundamental rights was to withdraw certain subjects from [illegible] reach of majori- [illegible] principles to be

एक बात नहीं भूलनी चाहिये कि मूल-अधिकार भी असीमित नहीं हो सकते हैं। कोई भी अधिकार अगर समाज के हितों के विरुद्ध है तो अधिकार नहीं रह सकता है। इसलिए प्रत्येक अधिकार की एक निश्चित सीमा है। वह यह है कि वह समाज का अहित न करे। इसलिए, उदाहरणार्थ, स्वतन्त्रता का अधिकार मुझे हिंसा करने या किसी को हानि करने का अधिकार नहीं देता है। धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार मुझे दूसरे धर्मों के विरुद्ध लोगों को भड़काने का अधिकार या कुछ ऐसे काम करने का अधिकार जो कि हमारे नैतिक भावना के विरुद्ध हो नहीं देता। इसी प्रकार प्रत्येक अधिकार सीमित है।

फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने सन् १७८९ में "मनुष्य के अधिकारों की घोषणा" में कुछ मौलिक अधिकारों का वर्णन किया। अमेरिकन संविधान में भी एक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) का समावेश किया गया है। आजकल तो कई विधान हैं जिनमें कि नागरिकों के मूल अधिकारों का वर्णन है। उदाहरणार्थ, आयरलैंण्ड, रूस, आदि के। परन्तु कुछ विधान ऐसे भी हैं जहाँ कि विधान में मूल-अधिकारों का वर्णन नहीं है, उदाहरणार्थ इंगलैण्ड का। वहाँ तो संविधान अलिखित है। इसमें मूल-अधिकारों के संविधान में वर्णन का प्रश्न उठता ही नहीं परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वहाँ नागरिकों के अधिकार असुरक्षित हैं, वहाँ उनकी रक्षा साधारण विधि द्वारा होती है। परन्तु वहाँ क्योंकि पार्लियामेण्ट की सर्वप्रधानता है, इसलिए अगर पार्लियामेण्ट किसी विधि द्वारा किसी अधिकार का अन्त कर दे तो न्यायालय इसके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते हैं। परन्तु उन देशों में जहाँ कि न्यायपालिका की सर्वप्रधानता है वहाँ नागरिक किसी भी कानून को जो कि उसके मूल-अधिकार में कुठाराघात करते हैं, न्यायालय के सामने ला सकता है तथा न्यायालय अगर यह समझे कि वह कानून नागरिक के मूल अधिकारों का अतिक्रमण करता है तो वह अवैध घोषित कर दिया जायेगा। इसलिये यह कहा जाता है कि मूल अधिकारों की रक्षा के लिये न्यायपालिका की सर्वप्रधानता (Judicial supremacy) आवश्यक है। क्योंकि अगर इन अधिकारों को मनवाने (enforce) का कोई साधन न हो तो वे व्यर्थ हैं तथा उनमें कोई लाभ नहीं।

भारतीय संविधान में मूल-अधिकार—संविधान में निम्नलिखित अधिकारों का वर्णन है, समता अधिकार, स्वातन्त्र्य-अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार, संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, तथा संविधानिक उपचारों के अधिकार। इन अधिकारों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। इनमें से कुछ अधिकार तो ऐसे हैं जो कि केवल नागरिकों को ही प्रदान किये गये हैं। उदाहरणार्थ स्वतन्त्रता का अधिकार

केवल नागरिकों को ही प्रदान किये गये हैं। परन्तु जीवन- सम्पत्ति, रक्षा आदि, अधिकार सबों को प्रदान किये गये हैं।

इन अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे हैं जो कि राज्य की शक्ति के ऊपर एक संवैधानिक नियन्त्रण स्थापित करते हैं। दूसरे वे हैं जो कि व्यक्ति की स्वतन्त्रताओं की रक्षा करते हैं। पहले प्रकार के अधिकारों पर व्यवस्थापिका किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। यदि वह ऐसा करेगी तो न्यायपालिका ऐसे किसी भी विधान को अवैध घोषित कर देगी। परन्तु दूसरी श्रेणी के अधिकारों पर राज्य कुछ सीमा तक नियमन कर सकता है।[1]

संविधान में यह कहा गया है कि वे सब कानून जो कि नये संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत में लागू थे उस मात्रा तक शून्य होंगे जिस तक वे मूल-अधिकारों से असंगत हैं। इसके अतिरिक्त राज्य को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह कोई ऐसा कानून बनावे जो कि इन अधिकारों को छीनता हो या कम करता हो। राज्य शब्द से यहाँ पर तात्पर्य, संघीय सरकार, राज्यों की सरकारें तथा भारत के अन्दर या बाहर-भारत-सरकार के अधीन सब अधिकारियों से है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि मूल अधिकार इन सब अधिकारियों को नियन्त्रित करते हैं।

समता का अधिकार:—प्रत्येक नागरिक राज्य की दृष्टि में समान है। राज्य ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, आदि का भेद नहीं करेगा। सबों को राज्य की ओर से समान अवसर दिए जायेंगे। यह अधिकार लोक-तन्त्रात्मक प्रणाली में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बिना इसके हम लोक-तन्त्रात्मक सरकार की कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। संविधान द्वारा इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें रखी गई हैं:—

(१) विधि के समक्ष समता—इसका अर्थ यह है कि भारत-राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत कानून के सामने सब बराबर हैं तथा सब को समान रूप से कानूनों का संरक्षण प्राप्त होगा। इसमें किसी प्रकार का भी भेद-भाव नहीं किया जावेगा।

(२) धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, या जन्म-स्थान के आधार पर या इनमें से किसी एक के आधार पर राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध कोई विभेद नहीं करेगा। इससे यह तात्पर्य है कि ऊपर वर्णित बातों के आधार पर राज्य द्वारा

1. Asok Chanda—Indian Administration, p. 51.

नागरिकों में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जायगा। राज्य द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह दुकानों सार्वजनिक भोजनालयों होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में जैसे पार्क सिनेमा आदि में बिना किसी बाधा के प्रवेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त संविधान में यह भी कहा गया है कि उन सब कुओं, तालाबों स्नान घाटों सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों (public resorts) के जिनको कि राज्य से किसी प्रकार की सहायता मिली है या जो साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित किए गए हैं उपयोग का बिना किसी भेदभाव के सब नागरिकों को अधिकार होगा।

(३) राज्य में सब नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के लिये सब नागरिकों को बराबर अवसर दिया जावेगा। धर्म जाति लिंग आदि के आधार पर नौकरियों में कोई भेद-भाव नहीं किया जावेगा। स्त्री तथा पुरुषों में भी इस बात में कोई फर्क नहीं किया जावेगा। दोनों को समान अवसर प्रदान किया जावेगा।

(४) संविधान द्वारा अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। इस धारा द्वारा हिन्दू समाज में जो बड़ा भारी कलङ्क था उसको दूर करने की चेष्ठा की गई है। छुआछूत के कोढ़ को जिसने हमारे समाज की दुर्दशा कर दी थी इस प्रकार हटाने का प्रयत्न किया है। राज्य की दृष्टि में सब व्यक्ति समान हैं। अगर कोई मनुष्य किसी दूसरे पर अस्पृश्यता के आधार पर कोई रोक-टोक लगावे तो वह राज्य द्वारा दण्डित होगा।

(५) राज्य द्वारा सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधियों के अतिरिक्त और किसी प्रकार का खिताब प्रदान नहीं किया जावेगा। इस प्रकार सामाजिक समानता स्थापित करने की चेष्टा की गई है। यह भी संविधान में कहा गया है कि भारतीयों को विदेशी सरकार से भी कोई खिताब स्वीकार करने का अधिकार नहीं है। परन्तु अगर कोई विदेशी भारत-सरकार की सेवा में है तो वह राष्ट्रपति की सम्मति से किसी राष्ट्र से खिताब स्वीकार कर सकता है।

संविधान में उपरोक्त उपबन्धों के साथ साथ यह भी स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि समता का अधिकार राज्य को निम्नलिखित काम करने में नहीं रोक सकेगा।

(१) सार्वजनिक स्थानों में हर एक को प्रवेश करने का बराबर अधिकार है परन्तु राज्य को यह अधिकार होगा कि वह स्त्रियों तथा बच्चों की सुविधा के लिए विशेष उपबन्ध बनावे।

(२) राज्य को यह भी अधिकार है कि वह सामाजिक दृष्टि से तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए किसी वर्ग के लिये या अनुसूचित-जातियों अथवा जन-जातियों के लिये कोई विशेष उपबन्ध बनावे।[1]

(३) यद्यपि नौकरियों में सबको समान अवसर दिया जावेगा परन्तु राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़े हुये किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका राज्य की नौकरियों में प्रतिनिधित्व कम है, कुछ स्थान सुरक्षित कर सकता है।

(४) राज्य को यह अधिकार है कि वह किसी नौकरी के लिये अगर चाहे तो निवास सम्बन्धी योग्यता निर्धारित कर सकता है।

(५) अगर किसी कानून के द्वारा यह प्रबन्ध है कि किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक संस्था के पदाधिकारी किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय के हों तो ऐसा समता के अधिकार का विरोधी नहीं माना जावेगा।

स्वातन्त्र्य अधिकार—"स्वतन्त्रता ही जीवन है।" यह आधुनिक काल में प्रत्येक लोकतन्त्रात्मक दल का नारा रहा है। व्यक्ति का विकास बिना स्वतन्त्रता के असम्भव है। बिना स्वतन्त्रता के हम अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकते हैं। यथार्थ में जो राष्ट्र परतन्त्र रहे हैं उनका सांस्कृतिक, नैतिक तथा बौद्धिक ह्रास हुआ है। किसी प्रकार की भी उन्नति बिना स्वतन्त्रता के सम्भव नहीं है। आधुनिक काल में सभी सभ्य देशों में नागरिकों को यह अधिकार दिया गया है। भारतीय-संविधान में स्वतंत्रता का अधिकार मूल-अधिकारों की कोटि में रखा गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित अधिकार नागरिकों को दिये गये हैं:—

(१) भाषण तथा लेखन की स्वतंत्रता इसके अन्तर्गत प्रेस की स्वतन्त्रता भी सम्मिलित है।

यह अधिकार असीमित नहीं है। संविधान-संशोधक बिल (१९५१) द्वारा यह पास किया गया कि यह अधिकार राज्य को कोई ऐसा कानून पास करने से नहीं रोक सकेगा जो राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, शिष्टाचार या सदाचार के हित में भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता पर रोक लगाते हों। इस संशोधन का बहुत विरोध किया गया था। परन्तु पं० नेहरू ने इसे अत्यन्त आवश्यक बताया तथा यह संसद द्वारा पास हो गया।

---

1. संसद द्वारा जो प्रथम संशोधक-बिल पास हुआ है उसके द्वारा यह उप-बन्ध बढ़ा दिया गया है।

(२) शान्तिपूर्वक तथा बिना हथियार सभा करने की स्वतन्त्रता। परन्तु इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर भी राज्य सार्वजनिक व्यवस्था के हित में उचित प्रकार रोक लगा सकता।

(३) सस्था या संघ बनाने की स्वतन्त्रता। यहाँ भी राज्य को सार्वजनिक व्यवस्था के हित में युक्तियुक्त रोक लगाने का अधिकार है।

(४) भारत के राज्य-क्षेत्र में सब जगह से रोक-टोक घूमने (अबाध सचारण) की स्वतन्त्रता।

(५) भारत के राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता।

(६) सम्पत्ति के अर्जन, धारण तथा व्यय करने की स्वतन्त्रता।

परन्तु राज्य को साधारण जनता के हित में या किसी कानून-द्वारा ४, ५, ६ में वर्णित स्वतन्त्रता में युक्तियुक्त रोक लगाने का अधिकार है।

(७) किसी भी प्रकार वृत्ति उपजीविका व्यापार कारबार करने की स्वतन्त्रता।

परन्तु यह अधिकार भी असीमित नहीं है। राज्य जनहित में इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर भी रोक लगा सकता है।

(८) बिना अपराध किसी मनुष्य को दण्ड नहीं दिया जायगा और कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दण्डित नहीं किया जावेगा। किसी व्यक्ति को अपने ही विरुद्ध गवाही देने को बाध्य नहीं किया जावेगा।

(९) बिना कानून के किसी व्यक्ति को अपने प्राण या शारीरिक स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जावेगा। परन्तु इस सम्बन्ध में संसद को यह अधिकार है कि अगर वह प्राण या शारीरिक-स्वतन्त्रता से वंचित करने का कोई कानून बनावे तो न्यायालय उसकी अवहेलना नहीं कर सकते हैं। न्यायालय यह नहीं कह सकते हैं कि यह कानून अवैध है। इस प्रकार इस विषय में व्यवस्थापिका के हाथ में शक्ति है न कि न्यायपालिका के।

इस अधिकार से यह अर्थ है कि सरकार मनमानी न करे और बिना किसी अपराध के कोई मनुष्य अपराधी न करार दिया जावे तथा जेल में न ठूस दिया जावे। इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। अन्यथा सरकार अपने विरोधियों से मनमाना व्यवहार कर सकती है।

(१०) बन्दीकरण और निरोध से संरक्षण—इसके अन्तर्गत संविधान में यह कहा गया है कि कोई व्यक्ति जो बन्दी किया गया है बिना बन्दीकरण

के कारणों को बताये हवालात में नहीं रखा जायगा। बन्दीकरण के बाद वह २४ घण्टे के अन्दर किसी मजिस्ट्रेट के सामने ले जाया जायगा तथा बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के आगे हवालात में नहीं रखा जायगा। उसको यह अधिकार होगा कि वह अपने पसन्द के वकील से सलाह करे तथा उसे अपनी रक्षा के लिए नियुक्त करे।

परन्तु अगर कोई व्यक्ति उस समय भारत का विदेशी-शत्रु है या कोई व्यक्ति जो कि नजरबन्दी कानून में पकड़ा गया है, उनके मामले में ऊपर वर्णित उपबन्ध लागू नहीं होते।

इस स्थल पर हमें नजरबन्दी कानून (निवारक-निरोध-विधियाँ preventive detention) पर विचार करना चाहिए। संविधान द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी व्यक्ति को बिना मुकदमा चलाये तीन महीने के लिये नजरबन्द कर सकता है। परन्तु यह अवधि दो प्रकार से बढ़ायी भी जा सकती है। (१) अगर नजरबन्दी के मामले में राय देने वाली समिति यह समझे कि यह अवधि बढ़ा देनी चाहिये। इस समिति के सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जो कि उच्चतम-न्यायालय के न्यायाधीश रह चुके हों या न्यायाधीश होने की योग्यता रखते हों (२) अगर संसद् कोई कानून बनाकर यह निश्चय करे कि कितने काल के लिए किसी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता है। संसद् को यह अधिकार भी है कि वह यह निश्चित करदे कि अधिक से अधिक कितने काल के लिए किसी व्यक्ति को नजरबन्द किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को जो कि नजरबन्द किया जावेगा सरकार शीघ्र यह बतावेगी कि वह क्यों नजरबन्द किया गया है। परन्तु अगर सरकार यह सोचे कि कुछ बातें जनहित के विरुद्ध हैं तो वह उन्हें बतलाने को बाध्य नहीं है। नजरबन्द व्यक्ति को अपनी नजरबन्दी के विरुद्ध आवेदन करने के लिये अवसर दिया जावेगा। (भारतीय संसद् ने २५ फरवरी १९५० को एक कानून बनाया जिसके द्वारा किसी भी व्यक्ति को देश की सुरक्षा अथवा शान्ति के लिये १ वर्ष के लिए नजरबन्द किया जा सकता है। १९५१ में यह कानून कुछ परिवर्तनों के साथ फिर पास किया गया। नजरबन्दी कानून भारतीय संसद् द्वारा पुनः पास कर दिया गया है। इसको देश की शान्ति के लिये आवश्यक बतलाया गया है। प्रतिवर्ष इस कानून को एक वर्ष के लिये पारित किया जाता है।)

इस कानून की संविधान सभा में बहुत अधिक आलोचना की गई थी। कुछ सदस्यों ने इसे नागरिक-स्वतन्त्रता का घातक कहा है। ऐसे उपबन्धों में

सबसे अधिक भय इस बात का रहता है कि अगर सरकार चाहे तो वह इन्हें अपने विरोधियों की कार्यवाही को रोकने के लिए प्रयुक्त कर सकती है।

शोषण के विरुद्ध-अधिकार —संविधान द्वारा इस अधिकार के प्रभाव से भारत राज्य क्षेत्र में मनुष्यों का पण्य अर्थात् खरीदना और बेचना, बेगार तथा किसी अन्य प्रकार का जबरदस्ती लिया हुआ श्रम अपराध बना दिया गया है। अगर कोई व्यक्ति इसका उल्लंघन करेगा तो उसको राज्य द्वारा दण्ड दिया जायगा। हमारे गाँवों में तथा पहिले की देशी रियासतों में बेगार की प्रथा थी। जमींदार तथा ताल्लुकेदार अपने खेतों में अछूत जातियों या गाँव में बसने वाले अन्य लोगों से बेगार करवाते थे। बेगार का अर्थ उस श्रम से है जिसका मेहनताना नहीं दिया जाता है। यह बहुत अनुचित प्रथा थी। संविधान ने इसे बन्द कर बहुत अच्छा किया है। आवश्यकता इस बात की है कि इसका पूर्णतया पालन करवाया जाय।

ऊपर दिये हुए अधिकार से राज्य के इस अधिकार में कोई कमी नहीं आती कि वह किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा लागू करे। उदाहरणार्थ, राज्य देश की रक्षा के लिये सब योग्य व्यक्तियों को सेना में अनिवार्य भर्ती कर सकता है।

संविधान में यह भी कहा गया है कि १४ वर्ष से कम आयु वाले बालकों को कारखाने, खान अथवा किसी अन्य संकटमय नौकरी में नहीं लगाया जायगा। इस उपबन्ध का उद्देश्य यह है कि भारत के भावी नागरिकों का स्वास्थ्य न बिगड़ जावे। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक था कि १४ वर्ष के बजाय १६ वर्ष रखा जाता तथा बालकों के साथ साथ स्त्रियों का भी खान आदि में काम करना बन्द कर दिया जाता। क्योंकि खान आदि में काम करना स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। विशेषकर हमारे जैसे देश में जहाँ कि पूँजीपतियों ने मजदूरों की दशा सुधारने का बहुत ही कम प्रयास किया है।

धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार —इसके अन्तर्गत संविधान द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा अपने धर्म को बिना किसी रुकावट से मानने, प्रचार करने तथा आचरण करने का अधिकार दिया गया है। परन्तु इस प्रकार का अधिकार असीमित नहीं है। इसलिये यह अधिकार सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा स्वास्थ्य के विरुद्ध नहीं हो सकता है।

धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार इसलिए आवश्यक है क्योंकि अन्यथा जो दल शक्ति में होता है वह अपने धार्मिक विचारों को और सबों से मनवाने की

भी चेष्टा करता है। यह उचित नहीं है। ऐसे उदाहरण इतिहास में मिलते हैं।[1] सभी सभ्य राज्य आजकल धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। भारत भी धर्म के विषय में निष्पक्ष है। अर्थात्, राज्य स्वयं किसी धर्म-विशेष को ऐसी सुविधाएँ प्रदान नहीं करेगा जोकि अन्य धर्मावलम्बियों को न दी गई हों।

सिक्खों को कृपाण धारण करने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को धार्मिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनके पोषण का अधिकार दिया गया है। उनको धार्मिक-कार्यों के प्रबन्ध की स्वतन्त्रता दी गई है। वह इस उद्देश्य से जगम तथा स्थावर सम्पत्ति खरीद तथा रख सकता है।

राज्य ने अपने हाथ में यह अधिकार रखा है कि किसी धर्म से सम्बन्धित किसी प्रकार की आर्थिक या राजनैतिक क्रियाओं के लिए नियम बना सके या उन्हें रोक सके। राज्य को समाज-सुधार के उद्देश्य से या हिन्दू-समाज के सब वर्गों के लिए हिन्दू सार्वजनिक संस्थाओं को खोलने के लिए, कानून बनाने का भी अधिकार है। हिन्दुओं में सिख, बौद्ध तथा जैन भी शामिल हैं।

किसी व्यक्ति को किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए करों को देने की स्वतन्त्रता दी गई है। उसको इनके लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है। राज्य की शिक्षा-संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक-शिक्षा नहीं दी जावेगी। उन शिक्षा-संस्थाओं में जिनको इस उद्देश्य से ही स्थापित किया गया है, ये उप-बन्ध लागू नहीं होंगे। परन्तु उन शिक्षा-संस्थाओं में भी धार्मिक शिक्षा के लिये किसी को बाध्य नहीं किया जावेगा।[2]

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार :—भारत एक विशाल देश है। इसमें विभिन्न भाषा-भाषी लोग हैं। यद्यपि यह सत्य है कि व्यापक अर्थ में भारत में संस्कृति की एकता है तथापि यह भी सच है कि प्रत्येक भाग की अपनी-अपनी भाषा तथा संस्कृति है। भारत में १४ उन्नत भाषाएँ हैं जिनका अपना साहित्य तथा इतिहास है। इसलिए सांस्कृतिक-स्वतन्त्रता ऐसे देश में आवश्यक है। इस में भी जहाँ कि कई विभिन्न संस्कृतियाँ पाई जाती हैं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

भारतीय संविधान में इस विषय पर निम्नलिखित उपबन्धों की रचना की गई है —

1. *G.N. Joshi, Ibid*, p. 85.
2. इस विषय में भारतीय-संघ की विशेषताएँ वाला अध्याय देखिये।

(१) प्रत्येक अल्प-संख्यक वर्ग को जिसकी अपनी भाषा लिपि या संस्कृति है उसको बनाये रखने का अधिकार है।

(२) ऐसी शिक्षा-संस्थाओं में जो राज्य द्वारा चलाई जाती हैं या जिनको राज्य आर्थिक सहायता देता है प्रत्येक नागरिक को प्रवेश करने का अधिकार है। अर्थात धर्म भाषा जाति या इनमें से किसी के आधार पर कोई भी नागरिक ऐसी संस्थाओं में प्रवेश पाने से वंचित नहीं किया जावेगा। परन्तु प्रथम संशोधन बिल (१९५१) द्वारा राज्य को यह अधिकार है कि वह पिछड़ी हुई जातियों के लिए इनमें कुछ स्थान सुरक्षित कर दे।

(३) धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्प-संख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रबन्ध का अधिकार है।

(४) राज्य द्वारा शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में इस आधार पर कोई भेद नहीं किया जावेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्प संख्यक वर्ग के प्रबन्ध में हैं।

सम्पत्ति का अधिकार—सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज दार्शनिक लाक ने कहा था कि जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति प्राकृतिक अधिकार हैं। तब से वह सिद्धान्त लोकतन्त्रात्मक सरकारों ने (साम्यवादी-लोकतन्त्र को छोड़कर) माना है कि नागरिकों की सम्पत्ति में उनकी आज्ञा के बिना हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। नागरिकों की आज्ञा व्यवस्थापिका में उनके प्रतिनिधियों द्वारा दी जाती है। यह वही सिद्धान्त है कि बिना प्रतिनिधित्व के कर लागू नहीं होंगे।

भारतीय संविधान में भी इस प्रकार के उपबन्ध हैं। कहा गया है कि कोई भी मनुष्य कानून के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जावेगा। परन्तु राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति सार्वजनिक कार्य के लिये हस्तगत करने का अधिकार है और इसके लिए यह व्यवस्था की गई है कि अगर इस प्रकार कोई किसी की सम्पत्ति लेगा तो उसको प्रतिकार (मुआवजा) देगा।[1] अगर राज्यों के विधान-मण्डल कोई इस प्रकार का कानून बनावें तो उसके प्रभावी होने के लिये राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक है।

1 Under this (provision for compensation) the British interest in India will be protected Moreover, however great may be the urgency for social control the vested interests cannot generally be disturbed" S K Sen—Salient Features of Our New Constitution, p 9

न्यायालयों द्वारा जमींदारी-उन्मूलन-कानून को अवैध घोषित कर उसे लागू होने से रोका न जाय इसलिए प्रथम संशोधन बिल (१९५१) में एक विशेष उपबन्ध की रचना की गई जो सम्पत्ति अधिकार को पहले से अधिक सीमित कर देता है। इस संशोधन की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि बिहार के हाईकोर्ट द्वारा जमींदारी उन्मूलन कानून व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कहकर अवैध करार दे दिया गया था।

संविधान के चतुर्थ संशोधन अधिनियम (अप्रैल, १९५५) द्वारा प्रतिकार निश्चित करने में न्यायालयों की शक्ति और अधिक संकुचित कर दी गई है।

संविधानिक उपचारों के अधिकार—इनसे तात्पर्य उन अधिकारों से है जो कि नागरिकों को अपने मूल अधिकारों के रक्षार्थ दिये गये हैं। क्योंकि केवल मूल-अधिकारों के वर्णन मात्र से ही उनका नागरिक उपयोग नहीं कर सकते हैं। इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि अगर कोई नागरिक या स्वयं राज्य ही किसी नागरिक के मूल अधिकारों में हस्तक्षेप करे तो उसके अधिकारों की रक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये।

संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने मूल अधिकारों के रक्षार्थ उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की शरण ले सकता है।[1] यह न्यायालय इन मूल अधिकारों को प्रवर्तित करने के हेतु निदेश (directions), आदेश (orders) या लेख (writs) निकाल सकता है।[2] इसी प्रकार राज्यों के उच्च-न्यायालयों (High Courts) को भी अपने क्षेत्र के अन्दर इस प्रकार के निदेश, आदेश तथा लेख निकालने का अधिकार दिया गया है। परन्तु नागरिक सीधा उच्चतम-

1. उच्चतम न्यायालय ने एक मुकदमे में निर्णय देते हुए कहा कि "उच्चतम न्यायालय संविधान द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षक बनाया गया है।

2. संविधान द्वारा न्यायालयों को मूल अधिकारों के रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के लेख निकालने की शक्ति दी गई है। संक्षेप में उन लेखों का वर्णन किया गया है।

(अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)—यह लेख कई प्रकार का होता है। परन्तु सबसे मुख्य वह है जिसके द्वारा न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी भी गिरफ्तार व्यक्ति को अपने सम्मुख उपस्थित करवाने

यायालय के पास आवेदन कर जा सकता है। इसके अतिरिक्त संसद् किसी अन्य न्यायालय को भी कानून द्वारा इस प्रकार का अधिकार प्रदान कर सकती है।

क्या मूल अधिकार निलम्बित अथवा संकुचित (suspended and restricted) किये जा सकते हैं —इस प्रश्न का उत्तर है कि ये अधिकार ज्य द्वारा निलम्बित तथा संकुचित किये जा सकते हैं —

(१) विधान में संशोधन द्वारा इन मूल-अधिकारों को संकुचित किया जा सकता है। प्रथम विधान-संशोधन बिल (१९५१) द्वारा इन मूल-अधिकारों में कुछ परिवर्तन किया गया है। इनका हम यथास्थान वर्णन कर चुके हैं।

का आदेश दे सकता है। इस प्रकार न्यायालय इस बात की जाँच कर सकता है कि वह व्यक्ति कानून के अनुसार गिरफ्तार किया गया है या नहीं। यह लेख नागरिक की स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा कार्यपालिका से नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है। इसका सर्वप्रथम प्रारम्भ (१६६१) में इंग्लैण्ड में हुआ था।

(ब) परमादेश (Mandamus) —यह लेख एक आदेश है जिसके द्वारा एक उच्च न्यायालय किसी व्यक्ति, संस्था या निचले न्यायालय को उसका काम करने का आदेश देता है जिसका करना उसका कर्तव्य है। यह साधारणतः राजनिक कृत्य तथा सार्वजनिक संस्थाओं के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसका प्रयोग तब होता है जब कि अधिकार तो हो परन्तु उसके प्रवर्तन के लिये उपचार न हो।

(स) प्रतिषेध (prohibition) —यह लेख उच्च न्यायालय द्वारा अपने से निम्न न्यायालय के लिये निकाला जाता है और इसका उद्देश्य निम्न न्यायालय को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर जाने से रोकना है।

(द) अधिकार पृच्छा (Quo warranto) —इस लेख द्वारा न्यायालय किसी भी व्यक्ति को जिसने गैर-कानूनी तरीके से किसी पद, अधिकार आदि को प्राप्त किया हो उस पद पर या अधिकार का उपयोग करने से रोक सकता है।

(न) उत्प्रेषण (Certiorary) —इस लेख द्वारा एक उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ निम्न न्यायालय से किसी मुकदमे के कागजात आदि यह जानने की माँग सकता है कि कहीं वह अपने निश्चित क्षेत्र से बाहर तो नहीं जा रहा है।

(२) संसद् को यह शक्ति है कि वह यह निर्धारित करे कि सेना में या सार्वजनिक शान्ति की रक्षावाले सेनाओं में ये मूल-अधिकार किस अवस्था तक कम या समाप्त किये जा सकते हैं, ताकि उनमें अनुशासन बनाये रखने तथा उनसे कर्तव्य पालन करवाने में कठिनाई न हो।

(३) संसद् को शक्ति है कि वह सेना-विधि (Court martial) लगे हुए क्षेत्र में काम को मान्य कर सकती है। कार्य रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि सेना-विधि लगे हुये क्षेत्र में मूल अधिकार निलम्बित रहेंगे।

(४) अगर राष्ट्रपति संकट-काल की घोषणा कर दे तो भाषण-लेखन की स्वतन्त्रता, संघ तथा सभा की स्वतन्त्रता, आदि अधिकार उस काल के लिये निलम्बित हो जावेंगे। इसके साथ-साथ अन्य मूल-अधिकार भी अगर राष्ट्रपति आदेश दे दे तो संकट-काल की घोषणा जब तक लागू रहेगी तब तक के लिये निलम्बित हो जायेंगे।

मूल-अधिकारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—कुछ लेखकों के अनुसार भारतीय संविधान द्वारा जितने अधिकार प्रदान किये गये हैं उतने किसी भी अन्य देश के संविधान में उपलब्ध् नहीं है। इसलिए इनके विचार में भारतवर्ष का संविधान लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य का आदर्श उपस्थित करता है।

यह सत्य है कि संविधान में नई मूल-अधिकारों का वर्णन है तथा इस प्रकार नागरिक को सुविधाएँ प्रदान की गई हैं जो उसके व्यक्तित्व के विकास में सहायक होंगी। समता तथा स्वतन्त्रता के अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। परन्तु इसमें कमी यह है कि विधान में इन अधिकारों को निलम्बित तथा संकुचित करने के लिये इतने उपबन्ध दिये गये हैं जिनसे यह भय होता है कि ये अधिकार कार्य-रूप में अधिक काम नहीं करेंगे। संविधान के मूल अधिकारों से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्धों में संशोधन किया जा सकता है। इसलिए यह भय है कि सरकार किसी भी समय संशोधन द्वारा इनको संकुचित कर सकती है। इसके अतिरिक्त इन अधिकारों का उद्देश्य राजनैतिक प्रजातंत्र स्थापित करना तो है परन्तु आर्थिक प्रजातन्त्र का इस भाग में कोई वर्णन नहीं। यह सच है कि राज्य की नीति के निर्देशक तत्व वाले भाग में कुछ इस प्रकार के उपबन्ध हैं। वे यथार्थ में व्यर्थ से हैं क्योंकि न्यायालय द्वारा उनका प्रवर्तन नहीं कराया जा सकता है। हमारे विचार में इन अधिकारों में इस प्रकार के अधिकार अवश्य सम्मिलित होने चाहिए थे जिनसे देश में आर्थिक प्रजातन्त्र स्थापित करने की ओर कदम उठाया जा सकता है। संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह संकट काल की घोषणा द्वारा इन अधिकारों को निलम्बित कर सकता

है। राष्ट्रपति का आदेश संसद् के सम्मुख उपस्थित किया जायेगा। परन्तु संविधान में यह कहीं पर नहीं दिया हुआ है कि संकट जारी होने के कितने दिन के भीतर, राष्ट्रपति का इन मूल-अधिकारों का निलम्बित करने वाला आदेश संसद् के सम्मुख रखा जाय और न संसद् की आज्ञा ऐसे आदेश के जारी रहने के लिये आवश्यक की गई है। यह उचित नहीं है। यह कार्य-पालिका को बहुत अधिक शक्ति देती है। इस प्रकार के उपबन्ध भय पूर्ण हैं क्योंकि कार्यपालिका संकट के नाम में नागरिकों के अधिकारों का अपहरण कर सकती है। एक लेखक के अनुसार इन उपबन्धों में नागरिक की स्वतन्त्रता के हित में शीघ्रातिशीघ्र संशोधन होना चाहिये।[1]

प्रश्न

(१) मूल अधिकारों से क्या तात्पर्य है? भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को क्या क्या मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं? (यू० पी० १९५२)

(२) मूल अधिकारों का नागरिकों के जीवन पर क्या महत्व है? भारतीय संविधान को ध्यान में रखते हुए लिखिये।

(३) भारतीय संविधान में नागरिक के मूल अधिकार क्या हैं? इनकी रक्षा किस प्रकार हो सकती है? (यू० पी० १९५६)

1. Dr M P Sharma—The Government of the Indian Republic, p 60

अध्याय ७

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

पिछले अध्याय में हमने नागरिक के मूल अधिकारों का वर्णन किया था। इन अधिकारों की विशेषता यह है कि न्यायालय को उन्हें प्रवर्तित करने की शक्ति संविधान द्वारा प्रदान की गई है। इसलिये अगर राज्य उनकी अवहेलना करे तो न्यायालय नागरिक की रक्षा कर सकते हैं। इन अधिकारों के अतिरिक्त संविधान के चतुर्थ भाग में कुछ उपबन्ध दिये जाते हैं। ये उपबन्ध भी कुछ ऐसी सुविधाओं का वर्णन करते हैं जिनकी प्राप्ति से नागरिकों का जीवन अच्छा हो सकता है। इनको राज्य की नीति के निदेशक तत्व कहा गया है। इन निदेशक तत्वों को विधान में क्यों स्थान दिया गया है इसका केवल यही उत्तर हो सकता है कि भारत सरकार इन तत्वों की प्राप्ति का सर्वदा ध्यान रखे अर्थात् कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका दोनों का यह कर्तव्य है कि वे इन तत्वों की प्राप्ति की चेष्टा करें। परन्तु कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका अगर इन तत्वों पर ध्यान न रखें तो क्या होगा? इसका उत्तर यह है कि उनको कोई बाध्य नहीं कर सकता है कि वे इन तत्वों का ध्यान रखें ही। क्योंकि इन तत्वों को किसी न्यायालय द्वारा मान्यता न दी जा सकेगी। इस प्रकार ये न्यायालय के संरक्षण में नहीं हैं। कोई नागरिक अथवा संस्था न्यायालय को यह आवेदन नहीं दे सकती है कि राज्य इन तत्वों की अवहेलना कर रहा है और इसको बाध्य किया जावे कि वह ऐसा न करे। संक्षेप में यह राज्य का नैतिक कर्तव्य कहा जा सकता है कि वह इन तत्वों का अपनी नीति निर्धारित करने में ध्यान रखे। परन्तु नैतिक कर्तव्य के पीछे केवल एक ही शक्ति है जो कि उनका पालन करवा सकती और वह जनमत है। इसलिए देश में जागरूक जनमत होगा जो कि प्रत्येक पग में सरकार के कार्यों का भली-भांति निरीक्षण कर रहा है तथा जब सरकार ने गलत कदम उठाया उसकी आलोचना कर रहा है, तब तो कुछ मात्रा तक आशा की जा सकती है कि इन निदेशक तत्वों का राज्य की नीति के बनाने में ध्यान रखा जायगा, अन्यथा ये केवल शोभार्थ रह जावेंगे। इतिहास यह बतलाता है कि सरकार तभी तक ठीक काम करती है जब तक उसको यह भय रहता है कि

अगर वह और प्रकार से शासन न कर तो वह स्थान च्युत कर दी जावेगी। क्योंकि जैसा प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार लार्ड एक्टन (Acton) ने कहा है All power tends to corrupt and absolute power corrupts absolutely

जब संविधान सभा में इन नीति निदेशक तत्व पर व्यवस्था के ऊपर विचार हो रहा था तब कुछ सदस्यों ने यह विचार प्रकट किया था क्योंकि इनके पीछे कोई कानूनी शक्ति नहीं है इसलिए ये व्यर्थ से ही हैं। उन्होंने इनको केवल पवित्र इच्छाएँ कहा था। इस प्रकार की आलोचना के उत्तर में विधान समिति के अध्यक्ष डा० अम्बेदकर ने कहा था कि यद्यपि यह सच है कि इन निदेशक तत्वों के पीछे कानून का बल नहीं है तथापि यह कहना कि उनके पीछे कोई भी शक्ति नहीं है उचित नहीं। इनको हमें उन आदेश पत्रों (Instrument of Instructions) की तरह समझना चाहिए जो कि १९३५ के एक्ट के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को दिये जाते थे। यद्यपि डा० अम्बेदकर यह मानने को प्रस्तुत नहीं हुए कि ये निदेशक तत्व शक्ति हीन हैं तथापि यह भी स्पष्ट है कि ये केवल कुछ आदेशमात्र हैं।

कुछ लेखकों के अनुसार इन तत्वों के इस प्रकार संविधान में वर्णन से एक बहुत बड़ा लाभ यह हुआ है कि चाहे कोई भी दल चुनावों में जीत के फलस्वरूप शासन का कार्य सम्भाले राज्य की नीति में एक प्रकार की स्थिरता रहेगी। क्योंकि लोकतन्त्रात्मक प्रणाली में यह सम्भव है कभी तो अनुदार दल की सरकार हो तथा कभी कोई ऐसा दल शक्ति में आ जाय जिसका कि क्रान्तिकारी कार्यक्रम हो। इन निदेशक तत्वों के द्वारा अनुदार दल प्रतिक्रियावादी नीति के अनुसार न चल सकेगा तथा इसी प्रकार क्रान्तिकारी दल को भी अपनी नीति में परिवर्तन करना होगा।

इन तत्वों के संविधान में वर्णन से यह सूचित किया गया कि राज्य अपनी आन्तरिक नीति को इस प्रकार चलाएगा जिससे कि नागरिकों का जीवन आर्थिक कष्ट आदि से स्वतन्त्र होगा। पर राष्ट्रनीति में राज्य शान्ति की नीति ग्रहण करेगा। जैसा कि एक लेखक ने कहा है कि राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिक के लिए अच्छे जीवन की समुचित दशाएँ उपस्थित करे और अच्छे जीवन के लिए आधुनिक काल में ये सब बातें आवश्यक हैं जो कि निदेशक तत्व वाले भाग में वर्णित हैं। परन्तु इन सब बातों के वर्णन के लिए संविधान उपयुक्त स्थान नहीं है।

हमारे विचार में इनका संविधान में वर्णन तभी उचित था अगर इनके पीछे कानून की शक्ति होती अन्यथा इनका वर्णन बेकार है।[1]

संविधान में कहा गया है कि ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं तथा कानून बनाने में इनका प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा। क्योंकि ये तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं इसलिए सरकार के प्रत्येक अंग का कर्तव्य इनका प्रयोग करना होगा।

ये तत्व निम्नलिखित हैं। इनका क्रमशः वर्णन किया जायेगा।

(१) राज्य लोक-कल्याण की उन्नति के लिये ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना तथा रक्षा करेगा जिसमें कि सबों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय प्राप्त हो सके। इस उपबन्ध में प्रयुक्त सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय शब्द संविधान की प्रस्तावना में भी पाये जाते हैं। जब कि प्रस्तावना में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संविधान को बनाने का उद्देश्य ही समाज में न्याय की स्थापना है, तो फिर से उसको लिखने में अधिक लाभ नहीं प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्रश्न यह उठता है कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय की प्राप्ति कैसे होगी? जबतक यह न बतलाया जावे कि इन आदर्शों को प्राप्त करने का मार्ग क्या है, केवल आदर्शों को लिख देने से अधिक लाभ नहीं हो सकता है। संविधान में यह कहीं पर नहीं कहा गया है कि इन उद्देश्य के लिए उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जायेगा। जब तक कि इन साधनों का राष्ट्रीयकरण नहीं होता है, तब तक देश में आर्थिक प्रजातन्त्र के स्थापित होने की आशा करना केवल कल्पना है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह उपबन्ध अस्पष्ट है।

(२) राज्य की नीति का उद्देश्य निम्नलिखित बातों को प्राप्त करना बतलाया गया है:—

(क) भारत के सब नागरिकों को—नर तथा नारी—समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार। इसका अर्थ यह हुआ कि भारत से बेकारी उठ जायेगी। आज तो देश में एक बहुत बड़ी संख्या बेकारों की है। प्रश्न यह है कि किस प्रकार राज्य बेकारी को दूर करेगा? इसका उत्तर हमें कहीं नहीं मिलता है। कुछ अन्य विद्वानों से भी यह कहा गया है कि बेकारी

1. एक विद्वान के अनुसार 'As these principles cannot be enforced in any court they amount to little more than a manifesto of aims and of aspirations." *Prof.* K. C. Wheare.

को नष्ट किया जायगा। परन्तु इसके लिए उनमें यह उपबन्ध है कि प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता अनुसार काम करने का अधिकार (right to work) दिया गया है। जब तक ऐसा नहीं होगा बेकारी नहीं हट सकती है।

(ख) समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे समस्त समाज का हित हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे कि धन तथा उत्पादन के साधन थोड़े से लोगों के हाथों में ही न केन्द्रित हो जायँ और इस प्रकार सर्वसाधारण का अहित हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।

(ङ) सुकुमार बालकों की अवस्था का तथा श्रमिक पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य तथा शक्ति का दुरुपयोग न हो। इसके अतिरिक्त ऐसा न हो कि आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर लोग ऐसे काम करें जो कि उनकी आयु या शक्ति के अनुसार न हो।

(च) शैशव तथा किशोर अवस्था का शोषण और आर्थिक तथा नैतिक परित्याग (abandonment) से बचाव हो।

इस भाग में वर्णित उपबंधों का उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब कि उत्पादन साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों का अधिकार न हो कर सम्पूर्ण समाज का हो। बिना ऐसा किए हुए न तो बेकारी दूर की जा सकती है और न धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के हित में केन्द्रीयकरण।

(३) ग्राम पंचायत का संगठन—महात्मा गांधी का यह विचार था कि स्वतन्त्र भारत की प्रशासनीय इकाई ग्राम ही हो। भारत में जन-संख्या का बड़ा भाग गावों में ही रहता है तथा खेती ही हमारे आर्थिक जीवन का आधार है। इन्हीं कारणों से गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम में ग्राम-सुधार बहुत महत्वपूर्ण था। इसी के प्रभाव स्वरूप संविधान में भी यह कहा गया है कि राज्य ग्राम-पंचायतों का संगठन करेगा। इन पंचायतों को ऐसी शक्तियाँ तथा अधिकार दिये जायगे ताकि वे स्वायत्त-शासन (Self-Government) की इकाइयों के रूप में काम कर सकें।

कुछ राज्यों में, जैसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि में इस प्रकार के संगठन स्थापित किये गये हैं। इन्हें सफलता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि ये स्वार्थी

मनुष्यों के हाथों में न पहुँच जावें। इनके अधिकारों का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

(४) राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार इस बात का प्रयत्न करेगा कि सब मनुष्य काम पा सकें तथा शिक्षा पा सकें। इसके अतिरिक्त राज्य इस बात का भी प्रयत्न करेगा कि बेकारी बुढ़ापा अंगहानि तथा अन्य अनर्हअभाव (undeserved want) की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पा सकें। आजकल कई सभ्य राज्यों में इन उद्देश्यों के लिये कानून बनाये गये हैं। १९वीं शताब्दी तक यह राज्य का काम नहीं समझा जाता था कि वह इस प्रकार के काम करें। परन्तु २०वीं शताब्दी में सभी विचारक इस बात को मानने लगे हैं कि राज्य को इस प्रकार के काम करने चाहिये।

(५) राज्य इस बात का प्रबन्ध करेगा कि काम करने की दशाएँ उचित हों। वे ऐसी हों जो कि मनुष्यों के लायक हों, इससे यह तात्पर्य है कि काम की दशाएँ ऐसी न हों जहाँ कि जीवन को खतरा हो, अथवा किसी अन्य प्रकार से शरीर को हानि पहुँचावें या आदमी के मान के प्रतिकूल हों। इसके साथ साथ राज्य इस बात का भी प्रयत्न करेगा कि प्रसूति अवस्था में स्त्रियों को सहायता मिले। प्रत्येक सभ्य देश में इस उद्देश्य के लिये कुछ कानून बने हुए हैं।

(६) राज्य कानूनों के द्वारा (या आर्थिक-संगठन द्वारा) या अन्य किसी प्रकार से इस बात का प्रयत्न करेगा कि सब श्रमिकों चाहे वे कृषि के हों या उद्योग के या अन्य किसी प्रकार के काम, निर्वाह, मजूरी आदि मिले। श्रमिक अपना जीवन ठीक प्रकार से यापन कर सकें इसलिये उनके जीवन-स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जावेगा। वे अपने अवकाश का उचित रीति से उपभोग करें तथा उनको सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर मिलें, इसका भी राज्य प्रयत्न करेगा। इसके साथ-साथ गाँवों में अवस्था सुधारने के लिए राज्य कुटीर-उद्योगों की स्थापना करेगा।

(७) भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार-संहिता (Civil Code) प्राप्त कराने का प्रयत्न करेगा। इसका यह उद्देश्य है कि समस्त [illegible]
law) हो। इसका अर्थ [illegible]
चाहिये। भारत में आज [illegible]
का उद्देश्य इस प्रकार के विभिन्न कानूनों को हटाने का प्रयत्न करता है।

(८) राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष के अन्दर सब बालकों को १४ वर्ष की समाप्ति तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दी जाय। हमारे विचार से यह उपबन्ध मूल-अधिकार वाले भाग में होना चाहिये था। हमारे देश में इतनी अशिक्षा है कि बिना अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा के इसका अन्त नहीं किया जा सकता है। यह राज्य का कर्तव्य है कि वह अशिक्षा का समूल नाश करे।

(९) यद्यपि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति का प्रयत्न करेगा तथापि विशेषतया जनता के पिछड़े हुए भागों—आदिम जातियों तथा हरिजनों—के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय और शोषण से उनकी रक्षा करेगा। यह उचित ही है कि राज्य जनता के पिछड़े भागों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दे। आयरलैण्ड के संविधान में भी इस प्रकार का उपबन्ध है।

(१०) राज्य इस बात का प्रयत्न करे तथा इसको अपने मुख्य कर्तव्यों में माने कि लोगों का स्वास्थ्य सुधारा जाय तथा उनके आहार पुष्टितल (Level of Nutrition) और जीवन स्तर को ऊँचा किया जाय। हमारे देशवासियों के स्वास्थ्य को सुधारने तथा आहार पुष्टितल और जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिये यह आवश्यक है कि देश से गरीबी तथा बेकारी को दूर किया जावे। जब तक राज्य इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाता है तब तक यह उपबन्ध व्यर्थ है। हमारे देश में प्रति व्यक्ति पीछे औसतन आमदनी इतनी कम है कि पूरा पेट भोजन ही सम्भव नहीं है अच्छे भोजन का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

राज्य अपने लोगों का स्वास्थ्य सुधारने के लिये हानिकर मादक-पेयों तथा औषधियों के उपभोग पर सिवाय दवा के लिये प्रतिषेध लगाने का प्रयास करेगा। अर्थात् राज्य शराब तथा नशीली चीजों पर रोक लगावेगा। यह बहुत अच्छा है कि राज्य मादक वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगावेगा। यह समाज के गरीब वर्गों के हितार्थ किया जायगा। परन्तु प्रश्न यह है कि लोग नशीली वस्तुओं का व्यवहार क्यों करते हैं? इसका उत्तर यह है कि निम्न वर्गों का जीवन इतना नीरस तथा शुष्क है कि दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् मनोरंजन का कोई अन्य साधन न होने के कारण वे अपनी शारीरिक थकान को नशे से मिटाना चाहते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इन वस्तुओं का सेवन स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है तथा उनकी आर्थिक अवस्था को और भी खराब कर देता है तथापि यह भी सत्य है कि यह उनके मनोरंजन का मुख्य साधन भी

है। इसलिए केवल 'शराब मत पिओ' कहने से न तो शराब पीना बन्द हो जावेगा और न सरकार का कर्त्तव्य ही पूरा होगा। सरकार को चाहिये कि वह इन निम्न वर्गों के लिये कोई मनोरंजन के साधन प्रस्तुत करे, उनके जीवन की दशाओं को सुधारने की कोशिश करे तथा उनके शिक्षा का प्रचार करें। तब तो इस ओर सफलता मिल सकती है नहीं तो पहले लोग खुलकर पीते थे अब छिपकर पियेंगे।

(११) राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि कृषि तथा पशु-पालन आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से हों। यह गायों, बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्ल को बचाने तथा सुधारने की चेष्टा करेगा। भारत जैसे कृषिप्रधान देश में यह आवश्यक है कि हमारे खेती के ढंग को सुधारा जाय। आज भी भारत में अधिकतर किसान बाबाआदम के जमाने से चले आये तरीकों से खेती करते हैं। इसका फल यह है कि प्रति एकड़ उपज हमारे यहाँ अन्य सभ्य देशों की तुलना में अत्यन्त कम है। हम दूसरे देशों का खाने के लिए मुंह ताकते हैं। ढोरों की नस्ल सुधारना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(१२) राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह ऐतिहासिक या कलात्मक महत्व के प्रत्येक स्मारक या वस्तु को नष्ट होने से बचावे। इसके लिये संसद द्वारा कानून बनाया जावेगा। भारत में इस प्रकार के कई स्थान हैं। उनकी रक्षा कार्यपालिका को करनी चाहिये क्योंकि वे हमारी महानता के चिन्ह हैं।

(१३) राज्य अपनी लोक सेवाओं को न्यायपालिका से पृथक करने के लिये अग्रसर होगा। भारत में इसकी बहुत आवश्यकता है कि इन दोनों का पूर्ण पृथक्करण कर दिया जावे। इनका इस प्रकार पृथक्करण निष्पक्ष न्याय के लिये वांछनीय है। इस दिशा में थोड़ा-सा कदम उठाया गया है। परन्तु यह आवश्यक है कि शीघ्र ही यह पूर्ण रूप से कर दिया जावे।

(१४) अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी राज्य कुछ आदर्शों को लेकर चलने का प्रयत्न करेगा। ये निम्नलिखित हैं :—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, तथा सुरक्षा की उन्नति,

(ख) राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करना,

(ग) राष्ट्रों के आपस के व्यवहारों में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा सन्धियों के प्रति आदर-भाव बनाना,

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय-विवादों को मध्यस्थता (arbitration) द्वारा निबटारे के लिए प्रोत्साहित करना। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विवाद शान्तिपूर्ण उपाय से हल किये जायें।

उपर्युक्त नीति निदेशक-तत्वों में उन सब बातों का वर्णन किया गया है—यद्यपि उनको बाध्यता नहीं दी गई है—जो कि एक सभ्य राज्य की आन्तरिक तथा बाह्य नीति को निर्धारित करते हैं।

प्रश्न

(१) राज्य के निदेशक सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिये। संविधान में इन का क्या महत्व है ? (यू० पी० १९५२)

(२) राज्य की नीति के भारतीय संविधान के अनुसार क्या निदेशक तत्व हैं ?

(३) संविधान में दिये गये नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख कीजिये। इनका क्या महत्व है ? पिछले दस वर्षों में इन तत्वों की कहाँ तक पूर्ति हुई है ? (यू० पी० १९५७)

अध्याय ८

संघीय कार्यपालिका : राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति

संविधान के द्वारा हमारे देश में संसद् पद्धति के शासन की स्थापना की गई है। इस प्रकार के शासन की मुख्य विशेषता यह होती है कि इसमें एक नाम मात्र का प्रधान होता है जिसके नाम से शासन-कार्य चलाया जाता है। परन्तु शासन की यथार्थ-शक्ति मंत्रिमण्डल के हाथ में होती है। यह यथार्थ-कार्यपालिका संसद् के प्रति उत्तरदायी होती है। भारत में राष्ट्र के प्रधान को राष्ट्रपति कहा जाता है। संविधान की ५२वीं तथा ५३वीं धाराओं में कहा गया है कि "भारत का एक राष्ट्रपति होगा। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा।" राष्ट्रपति वास्तव में केवल कार्यपालिका का ही प्रधान नहीं है वह राज्य का प्रधान (Head of the State) है। भारत का राष्ट्रपति संविधान द्वारा कुछ ऐसे अधिकारों से विभूषित किया गया है कि नाममात्र का प्रधान होते हुए भी उसकी शक्तियाँ यथार्थ हैं।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—भारत के राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति संसार के समस्त अन्य देशों से भिन्न है। उदाहरणार्थ, फ्रांस का राष्ट्रपति संसद द्वारा निर्वाचित होता है। अमेरिका का राष्ट्रपति एक निर्वाचक मण्डल (electoral college) द्वारा चुना जाता है जिसके सदस्य प्रत्येक राज्य से जनता द्वारा चुने जाते हैं। परन्तु भारत के राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति इससे भिन्न है। साम्यता केवल यही है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जायगा परन्तु अप्रत्यक्ष होगा। फ्रांस तथा अमेरिका में भी ऐसा ही है।

भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए एक निर्वाचक-गण स्थापना की जावेगी। भारतीय-संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य इस निर्वाचन-गण के सदस्य होंगे। अर्थात्, इसमें मनोनीत सदस्यों को स्थान नहीं दिया गया है। इस निर्वाचक गण के सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव करेंगे। राष्ट्रपति के निर्वाचन में संसद् के

निर्वाचित सदस्यों की जनसंख्या तथा राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की जनसंख्या बराबर होगी।

प्रथम प्रश्न यह है कि इस निर्वाचन-गण के सदस्यों की मत-संख्या किस प्रकार निश्चित की जायगी ? इसके लिए निम्नलिखित आयोजन है

(१) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों में से प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मतसंख्या —किसी राज्य की जनसंख्या को उस राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग दिया जायगा जो भाग फल आवेगा उसको फिर से १००० द्वारा भाग दिया जायेगा। इस प्रकार जो भागफल आवेगा उस राज्य के विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य को उतने ही मत देने का अधिकार होगा। इसको इस प्रकार रखा जा सकता है।[2]

$$\frac{\text{राज्यों की कुल संख्या}}{\text{राज्य की विधान-सभा के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} - १०००$$

१००० से भाग देने के बाद जो शेष बचेगा अगर वह ५०० से कम हुआ तो वह छोड़ दिया जायेगा परन्तु अगर वह ५०० से अधिक हुआ तो प्रत्येक सदस्य के मत में एक और जोड़ दिया जावेगा। उदाहरणार्थ मान लीजिये भारत में किसी राज्य की जनसंख्या ५१२१२६०० है। वहाँ की विधान-सभा में ५०० निर्वाचित सदस्य हैं। प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत-संख्या उपरोक्त विधि से निश्चित करनी है। यह इस प्रकार होगा।

$$\text{प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या} = \frac{५१२१२६००}{५००} - १०००$$

= १०२ तथा शेष ४२३ बचा। परन्तु यह ५०० से कम है इसलिये इसको छोड़ दिया जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक निर्वाचित-सदस्य की मत-संख्या निश्चित की जावेगी।

---

1 This has been done "in order to ensure his dual responsibility as a federal officer' to the State Assemblies and as a 'National officer' to the Union parliament Banerjee B N—New Constitution of India, p 72

2 Dr M P Sharma, Ibid, p 104

इस विधि में यह स्पष्ट है कि जिन राज्यों की जनसंख्या अधिक होगी उनकी विधान-सभाओं के सदस्यों को कम जन-संख्या वाले राज्यों के सदस्यों से, राष्ट्रपति के निर्वाचन में अधिक मत देने का अधिकार होगा। इसी प्रकार अधिक जनसंख्या वाले राज्यों के कम जनसंख्या वाले राज्यों से अधिक मत होंगे अर्थात्, राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों को बराबर मत नहीं दिए गए हैं क्योंकि मत निश्चित करने का आधार जनसंख्या को रखा गया है। इस प्रकार राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व एक से मापमान से किया गया है।

(२) संसद् के दोनों सदनों के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत-संख्या।—संविधान में यह कहा गया है कि संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की मत-संख्या का योग सब राज्यों के विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मत-संख्या के योग के बराबर होगा उदाहरणार्थ, अगर सब राज्य के विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मतसंख्या का योग तीन लाख है तो संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की मत-संख्या का योग भी इतना ही होगा।

इससे यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक संसद् की निर्वाचित सदस्य की मत-संख्या निश्चित करने के लिए भारत के सब राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के मतों के योग को, संसद् के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से भाग दे दिया जावे। जो भागफल आवेगा उसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जावेगा तथा अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जावेगी।

उदाहरणार्थ, मान लीजिये सब राज्यों के विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की मत-संख्या का योग ३००,००० (तीन लाख है)। भारतीय संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की संख्या ७०० है।[1] प्रत्येक संसद् के निर्वाचित सदस्य को $\frac{३००,०००}{७००}$ मत अर्थात् $४२८\frac{४}{७}$ देने का अधिकार होगा।

यहाँ पर $\frac{४}{७}$ आधी भिन्न से अधिक है, इसलिए प्रत्येक संसद् का निर्वाचित-सदस्य ४२९ मत देगा।

---

१. यह प्रत्येक संख्या यथार्थ संख्या नहीं है, केवल समझाने के लिए मान ली गई है।

इस निर्वाचन-गण के सदस्यो के मतो द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित होगा। यह निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional representation) के अनुसार एक परिवर्तनीय मत विधि (Single Transferable Vote) द्वारा होगा, अर्थात् मत इस विधि से गिने जायगे।[1] इस निर्वाचन में मतदान गुप्त (Secret ballot) होगा।

विद्वानो के अनुसार एक-परिवर्तनीय मतविधि की यह आवश्यक दशा है कि बहुनिर्वाचन मडल हो अर्थात एक से अधिक प्रतिनिधि एक मडल में से चुने जायें। परन्तु राष्ट्रपति के निर्वाचन में तो केवल एक ही उम्मीदवार को चुनना है। अतएव इस विधि का प्रयोग कैसे होगा यह स्पष्ट नही है।[2]

राष्ट्रपति के लिये निर्वाचन पद्धति में तीन विशेष बातें दृष्टिगोचर होती है।

(१) अप्रत्यक्ष निर्वाचन—राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्यक्ष-प्रणाली से वयस्क मताधिकार द्वारा नहीं रखा गया है। सविधान सभा में कुछ सदस्यो का मत था कि प्रत्यक्ष प्रणाली से निर्वाचन हो। परन्तु इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिये गए।

(अ) प्रत्यक्ष-प्रणाली का व्यवहार करने में बहुत अधिक समय तथा शक्ति की हानि होगी।

(ब) मतदाताओ की सख्या करीबन अठारह करोड ५० लाख होगी। इतनी बडी सख्या के लिये उचित प्रकार की निर्वाचन व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन है।

(स) सविधान द्वारा यथार्थ शक्ति मन्त्रिमडल तथा व्यवस्थापिका को दी गई है न की राष्ट्रपति को। इसलिये यह अनावश्यक है कि राष्ट्रपति का वयस्क मताधिकार द्वारा प्रत्यक्ष प्रणाली से निर्वाचन हो।[3]

(द) भारत के अधिकाश व्यक्ति अशिक्षित है। अतएव अपने उत्तर-दायित्व को ठीक प्रकार नही पूरा कर सकेंगे।

---

1 सविधान में इसके लिये 'एकल सक्रमणीय मत' शब्द प्रयुक्त हुये है। इसका अर्थ समझने के लिए लेखक की 'नागरिक शास्त्र के आधार' पुस्तक देखिये।

2 एक के लेखक अनुसार "Possibly what the Constitution intends is election of the President by the alternative of the preferential vote" Dr Sharma, Ibid, p 105

3 पडित नेहरू ने सविधान निर्मात्री सभा में कहा था, "If we had the President elected on adult franchise and did not give him any power it might become a "little anomalous"

(२) संसद के सदस्यों की मत संख्या का योग सब राज्यों के विधान-सभा के सदस्यों की मत-संख्या के बराबर रखा गया है। इसका कारण यह है कि संसद् के सदस्य भी सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। तथा विधान सभाओं के सदस्य भी सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए दोनों की राष्ट्रपति के निर्वाचन में समान होना चाहिए।

(३) राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य भी राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते। इसका कारण यह बतलाया गया है कि संसद् में साधारणतः एक ही दल का बहुमत होगा तथा वही दल मन्त्रिमण्डल का भी निर्माण करेगा। इसलिए अगर केवल संसद् को ही राष्ट्रपति के निर्वाचन का अधिकार होता तो यह भय था कि बहुमत दल किसी ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति चुनता जो कि उसका ही समर्थक होता। परन्तु यह उचित नहीं होता। इसलिए विधान-निर्माताओं ने राज्यों को भी राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार दिया है।

राष्ट्रपति के लिए योग्यताएँ :—राष्ट्रपति होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिये।

(अ) भारत का नागरिक हो।

(ब) पैंतीस की आयु पूरी कर चुका हो।

(स) लोक सभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

(द) भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन या इन सरकारों से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य अधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद न धारण किये हुए हो। परन्तु लाभ के पद के अन्तर्गत, राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति, राज्यपाल अथवा संघ या राज्यों के मन्त्रियों का पद नहीं समझा जावेगा। इससे यह तात्पर्य है कि ये लोग सरकारी नौकरी में होते हुए भी राष्ट्रपति-पद के लिए उम्मीदवार हो सकते हैं।

(य) जो व्यक्ति राष्ट्रपति के रूप में पद ग्रहण कर रहा है अथवा कर चुका है वह पुनः अगर उसमें उपरोक्त योग्यताएँ वर्तमान हैं राष्ट्रपति पद के लिए उम्मीदवार हो सकता है। अमेरिका में पहले एक अधिसमय बन गया था कि कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए दो बार से अधिक नहीं चुना जावेगा। परन्तु रूजवेल्ट (एफ० डी०) ने चार बार निर्वाचित होकर इस अधिसमय को भंग कर दिया। परन्तु अब अमेरिका में संविधान ने ही यह

संशोधन हो गया है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक इस पद के लिये निर्वाचित नहीं होगा।

) अन्य शर्तें —(अ) राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन का और न किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य होगा। अगर संसद के किसी सदन का, अथवा किसी राज्य के विधान-मण्डल के सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जावे, तो राष्ट्रपति के रूप में पद-ग्रहण की तारीख से उसकी उस सदन की सदस्यता का अपने आप अन्त हो जावेगा।

(ब) राष्ट्रपति अन्य कोई लाभ का पद धारण न करेगा। यह उपबन्ध इसलिये रखा गया है ताकि राष्ट्रपति अपना सम्पूर्ण समय अपने पद के कर्त्तव्यों के निबाहने में ही लगावे तथा वह अन्य किसी उद्देश्य से प्रभावित न होगा। जो मनुष्य कोई अन्य आर्थिक लाभ का पद धारण किये होगा वह स्वभावतः ही अपनी राष्ट्रपति पद की शक्तियों को उस संस्था अथवा व्यक्ति के हितार्थ उपयोग करने की चेष्टा करेगा जिसके नीचे वह आर्थिक-लाभ का पद ग्रहण किये हुये है।

पदावधि —राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा। परन्तु यह अवधि कुछ दशाओं में कम हो सकती है —

(क) अगर राष्ट्रपति ५ वर्ष से पूर्व ही त्यागपत्र दे दे। इसमें उसके हस्ताक्षर होने चाहिये। यह त्यागपत्र उपराष्ट्रपति को सम्बोधित किया जावेगा। उपराष्ट्रपति इसकी सूचना एकदम लोक-सभा के अध्यक्ष को देगा।

(ख) अगर राष्ट्रपति संविधान का अतिक्रमण करे तो वह संसद् द्वारा महाभियोग से अपने पद से हटाया जा सकेगा।

रिक्त स्थान पूर्ति —नये राष्ट्रपति का निर्वाचन पहले राष्ट्रपति की पदावधि पूरी होने से पूर्व ही कर दिया जावेगा। राष्ट्रपति अपने पद की समाप्ति हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक पद-धारण किये रहेगा। यदि किसी राष्ट्रपति का पद पूरी अवधि से पहिले ही रिक्त हो जावे, जैसे उसकी मृत्यु हो जावे या वह पद त्याग दे, या वह महाभियोग द्वारा हटाया जावे, तो उस दशा में पद रिक्त होने के ६ मास बीतने के पहिले ही नये राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जावेगा। नया राष्ट्रपति पद-ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष

तक अपने पद पर रहेगा। ऐसे अवसरों पर नये राष्ट्रपति के चुनाव तक उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा।

राष्ट्रपति का वेतन आदि—राष्ट्रपति के लिये, संविधान द्वारा १०,००० रु० मासिक वेतन निश्चित किया गया है। इसके अतिरिक्त उसको रहने के लिये एक निवास-स्थान दिया जायगा। उसको इसका किराया नहीं देना होगा। राष्ट्रपति को अन्य भत्ते आदि भी दिये जावेंगे। जब तक इनका निश्चय संसद् नहीं करेगी तब तक राष्ट्रपति प्रति वर्ष लगभग १५,२६,००० रुपये यात्रा, सत्कार, भत्ते, अनुदान, आदि पर व्यय कर सकता है। उसके कार्यकाल में उसके भत्ते, आदि नहीं घटाये जावेंगे। यद्यपि पहले के गवर्नर-जनरलों की तुलना में राष्ट्रपति का वेतन भत्ते आदि बहुत कम हैं, तथापि यह भी सत्य है कि हमारी आर्थिक-अवस्था को देखते हुये यह काफी ऊँचे रखे गये हैं।

महाभियोग—राष्ट्रपति अपने पद से ५ वर्ष की अवधि समाप्त होने के पूर्व भी हटाया जा सकता है। इसके लिये संविधान में महाभियोग का उपबन्ध है। अगर कोई राष्ट्रपति संविधान का अतिक्रमण कर रहा है तो संसद् का कोई भी सदन उसके विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव रख सकता है। ऐसे प्रस्ताव को उस सदन के कम से कम एक-चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर प्राप्त होने चाहियें। यह दिखलायेगा कि इन सदस्यों का समर्थन उसे प्राप्त है। इस प्रस्ताव की सूचना कम से कम १४ दिन पूर्व देनी चाहिये। अगर यह प्रस्ताव उस सदन में कम से कम दो-तिहाई बहुमत से पास हो गया तो यह दूसरे सदन को भेजा जावेगा। यह दूसरा सदन राष्ट्रपति के विरुद्ध दोषारोपण का अनुसंधान करेगा या करावेगा। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह इस अनुसंधान में उपस्थित हो सकता है, या अपना प्रतिनिधि भेज सकता है। अगर अनुसंधान के फल-स्वरूप दूसरा भवन दो तिहाई बहुमत से दोषारोपणों को मान ले तो प्रस्ताव पास हो जावेगा। इसका फल होगा कि राष्ट्रपति को उस तारीख से पद-त्याग करना होगा। राष्ट्रपति इसके विरुद्ध कोई अपील नहीं कर सकता है।

इस महाभियोग की व्यवस्था संविधान में इस कारण की गई है जिससे राष्ट्रपति अपनी शक्तियों तथा अधिकारों का दुरुपयोग न करे। क्योंकि संविधान में कहीं पर ऐसा उपबन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल की राय माने ही।

अमेरिका के संविधान में भी राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्था है। परन्तु अन्तर यह है कि भारत में संसद् का कोई भी भवन दोषारोपण पर विचार तथा निर्णय कर सकता है जबकि दूसरे सदन ने दोषारोपण लगाया

हो परन्तु अमेरिका में केवल सीनेट ही इसका निर्णय करती है। व्यवस्थापिका (काँग्रेस) के निचले भवन को इसके निर्णय का अधिकार नही है।

) राष्ट्रपति द्वारा शपथ —प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्र-... के रूप में काम कर रहा है, अपने पद-ग्रहण से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति के समक्ष निम्न-रूप में शपथ करेगा तथा उसमें हस्ताक्षर करेगा —

"मैं ... अमुक, ईश्वर की शपथ लेता हू। सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हू कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यो का निर्वहन) करुगा तथा अपनी पूरी योग्यता से सविधान और विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरण करूगा और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण मे निरत रहूँगा।

अन्तर्कालीन व्यवस्था —ऊपर राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि तथा अन्य उससे सम्बन्धित बातो पर वर्णन किया गया है। इस प्रकार राष्ट्रपति की निर्वाचन सर्वप्रथम मई १९५२ मे, जब कि सघ तथा राज्यो में आम-निर्वाचनो के पश्चात् नई व्यवस्थापिका का निर्माण हो गया था तब हुआ। परन्तु भारतीय सविधान २६ जनवरी १९५० से लागू हो गया था। अन्तर्काल के लिये राष्ट्रपति चाहिये था। इसलिये सविधान सभा को ही सविधान के अनुसार यह अ..कार दे दिया गया था कि वह एक अन्तर्कालीन राष्ट्रपति का निर्वाचन कर ले। उस समय डा० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति सर्वसम्मति से चुने गये थे। (२५ जनवरी, १९५०)।

मई १९५२ का राष्ट्रपति का चुनाव —राष्ट्रपति के लिये ससद् के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या ४,०५७ थी। इसमें ४९९ लोक सभा के २०४ राज्य परिषद के तथा ३,३५८ क, ख तथा ग वर्ग के राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य थे। इनमें काश्मीर की सविधान-सभा के ८५ सदस्य भी शामिल हैं। काश्मीर के ससद् के १० सदस्यों को भी निर्वाचन में मत प्रदान का अधिकार मिला। काश्मीर के सदस्यो को इस अधिकार को प्रदान करने के लिये राष्ट्रपति ने "The Constitution (Applicable to Jammu and Kashmir) (Amendment) Order, 1952' की घोषणा की।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में विभिन्न राज्यो की विधान सभाओ के सदस्यो को निम्न सख्या में मताधिकार प्राप्त हुआ .

राज्य का नाम	निर्वाचित सदस्यों की संख्या	प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या	राज्य का नाम	निर्वाचित सदस्यों की संख्या	प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या
आसाम	१०८	७९	मैसूर	९९	८२
बिहार	३३०	११९	पटियाला तथा पूर्वी राज्य	६०	४५
बम्बई	३१५	१०४			
मध्य प्रदेश	२३२	९०	राजस्थान	१६०	९२
मद्रास	३७५	१०५	सौराष्ट्र	९०	६६
उड़ीसा	१४०	१०३	त्रिवाकुर-कोचीन	१०८	७९
पंजाब	१२६	१००	अजमेर	३०	२४
उत्तर-प्रदेश	४३०	१४३	भोपाल	३०	२८
पश्चिमी बंगाल	२३८	१०२	कोड़ग	२४	७
हैदराबाद	१७५	१०१	दिल्ली	६८	३२
काश्मीर	७५	५९	विंध्य प्रदेश	६०	३५
मध्य भारत	९९	७९	हिमाचल प्रदेश	३६	३०

विधान सभाओं के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या ३,३५८ थी तथा उनके मतों का योग ३,४५,२९१ था। इसलिये संसद् के दोनों भवनों के निर्वाचित सदस्यों की भी कुल मत संख्या ३,४५,२५१ ही हुई और प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या $\frac{३,४५,२५१}{४९५+२०४}$ = ४९५ हुई।

इस निर्वाचन में डा० राजेन्द्र प्रसाद के अतिरिक्त श्री के० टी० शाह, श्री एल० जी थट्टे, श्री हरी राम तथा श्री के० के० चटर्जी भी उम्मीदवार थे, परन्तु डा० राजेन्द्र प्रसाद को ८४ प्रतिशत, श्री साह को १५ प्रतिशत तथा शेष उम्मीदवारों को १ प्रतिशत मत मिले। अतएव डा० राजेन्द्र प्रसाद निर्वाचित हुए और २३ मई सन् १९५२ को उन्होंने अपने पद की शपथ ली।

मई १९५७ का राष्ट्रपति का निर्वाचन—क्योंकि राष्ट्रपति की पदावधि ५ वर्ष है इसलिए १० मई १९५७ को पुन. इस पद के लिए निर्वाचन हुआ। डा० राजेन्द्र प्रसाद पुन. भारी बहुमत से निर्वाचित हुए। उनके उपलब्ध मतों

उसकी पदावधि में उसके विरुद्ध उसे बन्दी बनाने के लिये कोई आदेशिका (वारन्ट) नहीं निकाली जा सकेगी। राष्ट्रपति के विरुद्ध, अपने वैयक्तिक रूप में किये गये किसी कार्य के बारे में, चाहे वह पदग्रहण करने के पूर्व या बाद में किया गया हो, कोई दीवानी कार्यवाही तब तक नहीं की जा सकेगी, जब तक कि उसे दो मास पूर्व लिखित सूचना न दी गई हो। इस सूचना में कार्यवाहियों का स्वरूप, वाद का कारण (cause of action), तथा ऐसी कार्यवाहियों को सन्स्थित करने वाले पक्षकार का नाम, विवरण, निवास-स्थान, आदि दिया होना चाहिये।

इस प्रकार के उपबन्ध अन्य देशों के संविधानों में भी हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका का राष्ट्रपति भी अपने पद के कार्यों के लिए किसी न्यायालय के सम्मुख उत्तरदायी नहीं।

राष्ट्रपति के अधिकारों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(१) साधारण कालीन अधिकार :—इनका प्रयोग वह देश की प्रतिदिन की समस्याओं तथा शासन में करेगा।

(२) संकटकालीन अधिकार :—इनका प्रयोग वह संकटकाल की घोषणा होने पर करेगा तथा संकट का अन्त होते ही इनका प्रयोग भी बन्द हो जावेगा।

(१) साधारण कालीन अधिकार :—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित अधिकार हैं : कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार, विधायिनी-शक्ति सम्बन्धी अधिकार तथा न्याय सम्बन्धी अधिकार। इनका क्रमशः वर्णन किया जावेगा।

कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार (Executive Powers) :—वह कार्यपालिका का मुखिया है। वे सब विषय जिनके विषय में संसद् को कानून बनाने का अधिकार है, कार्यपालिका के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इनके अतिरिक्त वे अधिकार जो कि भारत सरकार को किसी सन्धि द्वारा प्राप्त होंगे इसी के क्षेत्र के अन्दर होंगे। राष्ट्रपति के नाम में ही समस्त देश का प्रशासन होता है। भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिये तथा मन्त्रियों में उक्त कार्य के बटवारे के लिये राष्ट्रपति को नियम बनाने का अधिकार है। वह देश की रक्षा-दलों (defence forces) का प्रधान है। उसे युद्ध तथा संधि करने का अधिकार है। उसे अन्य देशों को राजदूत भेजने का अधिकार है। बाहर के राजदूत उसी को अपना प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करेंगे।

राष्ट्रपति को मुख्य-मुख्य सरकारी कर्मचारी, जैसे प्रधान मन्त्री तथा उसकी राय से अन्य मन्त्री, सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश, हाईकोर्टों के न्यायाधीश, राज्यपाल, निर्वाचन आयुक्तों (Election Commissioners), संघीय सेवा

आयोग के सदस्य, आडीटर जनरल, एटर्नी जनरल, वित्त-आयोग तथा भाषा आयोग के सदस्य आदि की नियुक्ति का अधिकार है। वह सुप्रीम-कोर्ट तथा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों, संघीय तथा राज्यों के सेवा-आयोगों के सदस्यों को निश्चित प्रक्रिया द्वारा हटा भी सकता है।

राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि राज्यों की सरकारों को कुछ निश्चित विषयों में आदेश दे सकता है। केन्द्रीय सत्ता के शासन का उत्तरदायित्व उसी पर है।

विधायनी शक्ति सम्बन्धी अधिकार —किसी भी अन्य देश में निर्वाचित अध्यक्ष को भारत के राष्ट्रपति की तरह विधायिनी शक्ति सम्बन्धी अधिकार नहीं है। वह राज्य परिषद में १२ सदस्य मनोनीत करेगा तथा लोक सभा में एंग्लो इण्डियन सम्प्रदाय के दो प्रतिनिधि मनोनीत कर सकता है। उसे संसद के अधिवेशन बुलाने का तथा स्थगित करने और भंग करने का अधिकार है। राष्ट्रपति को संसद के किसी एक सदन अथवा इकट्ठा दोनों सदनों को सम्बोधित करने का अधिकार है। वह संसद के किसी भी सदन को सन्देश भेज सकता है। उस सन्देश पर वह सदन शीघ्रता से विचार करेगा। कोई भी बिल बिना उसकी स्वीकृति के कानून नहीं हो सकता है। वह किसी भी संसद द्वारा पास बिल को सिवाय धन-विधेयकों (money bills) के स्वीकृति देना मना कर सकता है और उन्हें फिर से संसद के विचारार्थ लौटा सकता है। परन्तु अगर संसद उसे फिर पास कर दे तो राष्ट्रपति को अपनी स्वीकृति देनी होगी। कुछ विशेष बिलों को बिना उसकी सिफारिश के संसद में पेश नहीं किया जा सकता है जैसे धनविधेयक या कोई बिल जो किसी राज्य की सीमा, नाम आदि बदलना चाहते हों।

उसको राज्यों के क्षेत्र में भी कुछ नियन्त्रिणी शक्तियाँ हैं। वह गवर्नरों की घोषणा से राज्यों के विधान-मण्डल के अधिकार संसद को सौंप सकता है। राज्यों में कुछ विषयों पर बिल बिना उसकी पूर्व स्वीकृति के विधान मण्डल में प्रस्तुत नहीं हो सकते हैं जैसे कि राज्य के अन्दर या अन्य राज्यों के साथ सार्वजनिक हित में व्यापार आदि पर प्रतिबन्ध लगाने वाले बिल। कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर राज्यों के विधान मण्डल द्वारा स्वीकृत बिल बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति के लागू नहीं हो सकते हैं। जैसे नागरिकों के जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर कर लगाने वाले बिल, या सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये बनाये गए बिल या समवर्ती सूची में वर्णित विषयों पर बनाए हुए बिल यदि वे संसद द्वारा निर्मित कानूनों के विरुद्ध हों।

राष्ट्रपति को अन्दमान तथा लक्ष द्वीप के लिये नियम बनाने का अधिकार है। उन सब विषयों पर जिन पर संसद् को कानून बनाने का अधिकार है। राष्ट्रपति अगर संसद् अधिवेशन में न हो तो अध्यादेश (Ordinances) जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का प्रभाव वैसे ही होगा जैसा कि संसद् द्वारा पारित अधिनियमों का होता है। ये अध्यादेश संसद् के फिर आरम्भ होने पर उसके सामने रखे जायेंगे तथा इस आरम्भ होने की तारीख से केवल ६ सप्ताह तक जारी रहेंगे। परन्तु संसद् इस अवधि के पूर्व भी उनको रद्द कर सकती है।

वित्त-सम्बन्धी अधिकार —राष्ट्रपति के वित्त-सम्बन्धी अधिकार भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। संसद में कोई भी धन-विधेयक बिना उनकी सिफारिश के नहीं रखा जा सकता है। प्रत्येक वित्तीय-वर्ष के प्रारम्भ में वह संसद के सम्मुख एक वित्तीय-विवरण (Financial Statement) रखता है। इसमें संघ के उस वर्ष के अनुमानित आय-व्यय का विवरण होता है। उसके हाथ में, भारत की आकस्मिकता-निधि है और इसमें से वह संसद की आज्ञा से पूर्व आवश्यक व्यय के लिये धन दे सकता है। आय-कर से जो रकम प्राप्त होगी उसका संघ तथा राज्यों के बीच विभाजन का अधिकार भी राष्ट्रपति को है। जूट के निर्यात कर से हुई आय के हिस्से के बदले में, राष्ट्रपति को आसाम, पश्चिमी-बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा को सहायक-अनुदानों (Grants-in-aid) को देने का अधिकार है। उनको संविधान लागू होने के दो वर्ष के अन्दर एक वित्त आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति का अधिकार है। यह आयोग इस बात का निर्णय करेगा कि संघ तथा राज्यों के बीच करों से आई हुई आय का बँटवारा किस प्रकार हो तथा राज्यों की आर्थिक-सहायता के लिए सुझाव रखेगा। इसके पश्चात् प्रति पाँचवे वर्ष या उससे पहिले राष्ट्रपति इसी प्रकार के आयोग की स्थापना करेगा। आयोग की स्थापना हो चुकी है।

न्याय सम्बन्धी अधिकार :—संविधान की ७२ वीं धारा द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह दण्ड पाये हुये व्यक्ति को क्षमा कर दे। वह दण्ड को कम कर सकता है, कुछ काल के लिए रुकवा सकता है या दंडित-व्यक्ति को पूर्णतया क्षमा कर सकता है। वह मृत्यु-दंड को भी स्थगित कर सकता है। वह मृत्यु-दंड को क्षमा कर सकता है या आजन्म कारावास में परिणित कर सकता है।

उन सब अवस्थाओं में भी जहाँ की दंड सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया हो उसको यह अधिकार है। परन्तु इसका प्रभाव किसी सैनिक अधिकारी के सैनिक-न्यायालय द्वारा दिये गए दंड को कम करने या छोड़ने या स्थगित करने

न कानून द्वारा प्राप्त अधिकार पर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार राष्ट्रपति के क्षमा आदि अधिकार का प्रभाव राज्यपालों के भी इसी प्रकार के अधिकार पर नहीं पड़ेगा।

राष्ट्रपति को उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार है।

ऊपर के ये साधारण कालीन अधिकार हैं।

(२) संकट कालीन अधिकार——इनसे तात्पर्य उन अधिकारों से है जो कि संविधान द्वारा राष्ट्रपति को संकट काल में उत्पन्न कठिनाइयों का मुकाबिला करने के लिए दिए गए हैं। ये अधिकार अत्यन्त विस्तृत हैं। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह निम्नलिखित तीन स्थितियों में संकटकाल की घोषणा कर सकता है। इस घोषणा का फल यह होगा कि राष्ट्रपति के हाथों में बहुत से अधिकार आ जायेंगे जो कि साधारण काल में उसके द्वारा प्रयुक्त नहीं किए जा सकते हैं। इनमें से प्रत्येक का वर्णन किया जाता है।

(१) युद्ध, बाहरी आक्रमण, आन्तरिक अशान्ति या इनकी सम्भावना से उत्पन्न होने वाला भय——अगर राष्ट्रपति को यह समाधान हो जाये कि देश का अथवा देश के किसी भाग का सुरक्षा भय अशान्ति, युद्ध, बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण संकट में है, तो वह इस आशय की घोषणा कर सकता है। राष्ट्रपति इस आशय की घोषणा उस दशा में भी कर सकता है जब उसे केवल इसका समाधान हो जाय कि ऐसा संकट उपर्युक्त कारणों से निकट भविष्य में पैदा हो सकता है। अर्थात् केवल सम्भावना-मात्र से ही वह संकटकाल की घोषणा कर सकता है।

संकटकाल की घोषणा को संसद् के प्रत्येक सदन के सम्मुख रखा जायगा। यह घोषणा दो महीने तक लागू रहेगी परन्तु अगर इस समय से पहिले ही यह संसद द्वारा स्वीकार कर ली गई तो वह दो महीने बाद भी लागू रहेगी।

परन्तु इस प्रकार की घोषणा उस समय की गई हो जब कि लोक सभा भंग हो या लोक सभा बिना इस घोषणा को स्वीकार किए ही इसके शुरू होने से दो महीने के अन्दर भंग हो गई हो तब उस अवस्था में अगर इस घोषणा को राज्य-परिषद् की स्वीकृति मिल जाय तो यह लोक-सभा के नये अधिवेशन होने की तारीख से ३० दिन तक लागू रहेगी। अगर इन ३० दिनों के बीच इस लोक सभा की स्वीकृति मिल गई तो यह लागू ही रहेगी अन्यथा ३० दिन के बाद रद्द हो जायेगी। राष्ट्रपति संकटकाल की घोषणा को दूसरी घोषणा द्वारा रद्द कर सकता है।

इस संकटकाल की घोषणा का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। इसके द्वारा राष्ट्रपति सारे देश का शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकता है। संक्षेप में, संघात्मक विधान के स्थान में एकात्मक व्यवस्था स्थापित हो जाती है। संघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को इस विषय में आदेश दे सकती है कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से उपयोग करे। संसद-राज्यों की सूची में वर्णित विषयों पर भी कानून बना सकती है और अगर कोई राज्य का कानून इस समय संसद के कानून के विरुद्ध हो तो वह नहीं माना जायगा। संकटकाल में, नागरिकों के कई मूल अधिकार, जैसे, भाषण तथा लेखन की स्वतन्त्रता, संघ तथा सभा की स्वतन्त्रता आदि (इनका हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं) स्थगित हो जाते हैं। राष्ट्रपति नागरिकों के मूल अधिकारों के रक्षार्थ किसी न्यायालय की शरण में जाने से भी रोक सकता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार भी है कि वह संघ तथा राज्यों के बीच राजस्व-विभाजन (Revenue Distribution) सम्बन्धी सब उपबन्धों को निलम्बित (suspend) कर सकता है।

(२) राज्यों में संविधान तन्त्र की विफलता के कारण होने वाला संकट—अगर राष्ट्रपति को किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख से रिपोर्ट मिलने पर या किसी अन्य प्रकार यह समाधान हो जावे कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन संविधान के अनुसार नहीं चलाया जा सकता है तो वह संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी घोषणा करने के लिये यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्रपति को राज्य के प्रधान से सूचना मिले ही। वह अपने आप भी ऐसी घोषणा कर सकता है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यों को कुछ आदेश देने का अधिकार है। अगर किसी राज्य से उसके द्वारा दिये गये आदेशों का पालन न हो तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि राज्य में संविधान तंत्र विफल हो गया है और वह संकट की घोषणा कर सकता है।

इस घोषणा का प्रभाव यह होगा कि राष्ट्रपति उस राज्य की कार्यपालिका शक्ति को अपने हाथ में ले सकता है। राज्य के विधान मण्डल की शक्तियाँ संसद को दे सकता है। यद्यपि राष्ट्रपति राज्य के विधान मण्डल या उच्च न्यायालय की शक्तियाँ अपने हाथ में नहीं ले सकता है तथापि संसद को यह अधिकार है कि वह विधान मण्डल की शक्तियाँ राष्ट्रपति या अन्य किसी अधिकारी को दे दे।[1] उसको यह अधिकार भी है कि इस दशा में अगर लोक सभा

१. ३० अप्रैल १९५३ को लोकसभा द्वारा Patiala and East Punjab States Union Legislature (Delegation of Powers Bill) पास किया गया था जिसके द्वारा इस प्रदेश की विधायिनी शक्ति राष्ट्रपति को दे दी गई थी

अधिवेशन में न हो तो वह किसी राज्य की संचितनिधि में से व्यय करने की आज्ञा भी दे सकता है।

इस प्रकार की घोषणा को राष्ट्रपति दूसरी घोषणा द्वारा रद्द कर सकता है। इस घोषणा को संसद के दोनों भवनों की स्वीकृति दो मास के अन्दर मिलनी चाहिए अन्यथा दो महीने पश्चात यह लागू नहीं रहेगी। संसद की स्वीकृति के बाद यह ६ महीने तक लागू रह सकती है। इसके बाद फिर से नई की जा सकती है। परन्तु किसी भी दशा में ऐसी घोषणा ३ वर्ष से अधिक लागू नहीं रह सकती और न एक समय में ६ महीने से अधिक के लिये संसद द्वारा स्वीकार की जा सकती है।

अगर ऐसी घोषणा उस समय की जाय जब कि लोक सभा भंग हो या बिना उस घोषणा को स्वीकार किये इसके लागू होने से २ महीने के अन्दर भंग हो जाय उस दशा में अगर यह घोषणा राज्य परिषद द्वारा स्वीकृत हो गई है तो लोकसभा के भी अधिवेशन की तिथि से तीस दिन तक लागू रहेगी। अगर नई लोक सभा ने इन तीस दिनों के अन्दर इसे स्वीकार कर लिया तो यह उस तिथि से ६ महीने तक लागू रहेगी। उस दशा में भी जब ऐसी घोषणा को संसद की स्वीकृति मिलने के बाद ६ महीने के अन्दर लोक-सभा भंग हो जाय यही उपबन्ध काम में आयेंगे।

~ संविधान द्वारा इस प्रकार राष्ट्रपति को राज्यों के क्षेत्र में विस्तृत अधिकार दिये गये हैं। १९३५ के ऐक्ट में (९३ धारा के द्वारा) संविधानिक तन्त्र की विफलता पर गवर्नर अपने हाथ में सब अधिकार ले सकता है। परन्तु नये संविधान में कानून बनाने का अधिकार संसद को दिया गया है क्योंकि संसद में सब राज्यों के प्रतिनिधि भी उपस्थित होंगे। परन्तु संसद यह शक्ति राष्ट्रपति को दे सकती है।

(३) वित्तीय संकट —अगर राष्ट्रपति को यह समाधान हो जावे कि [illegible]

राज्यों के सरकारी नौकरों के वेतन में कमी करने का अधिकार होगा। इसी

इसी प्रकार दिसम्बर १९५४ में आन्ध्र प्रदेश की विधायिनी शक्ति राष्ट्रपति को दे दी गई थी।

प्रकार संघ सरकार के नौकरी तथा उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में भी कमी को आ सकेगी। राज्यों को उनके विधान-मंडलों के द्वारा पास किसी भी धन सम्बन्धी बिल या अर्थ बिल को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए पेश करने का आदेश किया जा सकेगा।

वित्तीय संकट की घोषणा दो मास तक लागू रहेगी। अगर संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति इसे प्राप्त हो जाय तो यह दो मास के बाद भी लागू रहेगी अगर ऐसी घोषणा उस समय की जावे जब कि लोक-सभा भंग हो अथवा बिना इसको स्वीकार किए दो मास के अन्दर भंग हो जावे तो ऐसी अवस्था में राज्य परिषद् की स्वीकृति से यह घोषणा लागू रहेगी। परन्तु नई लोक सभा के मिलने के ३० दिन के अन्दर इसे उनकी स्वीकृति प्राप्त हो जानी चाहिए, अन्यथा यह ३० दिन के बाद लागू नहीं रहेगी। राष्ट्रपति संकट की घोषणा दूसरी घोषणा द्वारा रद्द भी कर सकता है।

संकटकालीन अधिकारों की आलोचना:—इन अधिकारों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक तथा विस्तृत है। इनके द्वारा संघात्मक सरकार एकात्मक हो जाती है। संघ की कार्यपालिका के हाथ में अत्यन्त विस्तृत अधिकार आ जाते हैं। इन अधिकारों की कई राजनीतिज्ञों ने तथा विद्वानों ने आलोचना की है।

(१) राष्ट्रपति का मूल अधिकार को निलम्बित करने तथा न्यायालय में उन्हें प्रर्वातत करने से रोकने का अधिकार नागरिकों की स्वतन्त्रता का घातक है। इससे देश में निरंकुश शासन की स्थापना का भय है।

(२) संविधान में यह कहीं पर वर्णित नहीं है कि राष्ट्रपति अपने संकट-कालीन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रिमंडल की राय से करेगा। इस प्रकार एक व्यक्ति के हाथ में इतनी अधिक शक्ति देना सर्वथा अनुचित है। उनके लिये अपने अधिकारों के दुरुपयोग करने का लोभ रोकना बहुत कठिन होगा।

इसके उत्तर में यह कहा गया है कि—

(१) मूल अधिकारों को केवल उसी समय निलम्बित किया जावेगा जब कि देश के लिये महान् संकट उपस्थित होगा। यद्यपि यह सत्य है कि नागरिक के मूल अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं तथापि यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य की सुरक्षा इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। अगर राज्य ही नहीं रहेगा तो नागरिकों के मूल अधिकारों का क्या मूल्य रहेगा ? बिना राज्य के इनकी कौन रक्षा करेगा ?

(२) यद्यपि संविधान में यह नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति इन अधिकारों का प्रयोग मन्त्रियों की राय से करेगा परन्तु यह स्वभावतः आशा की जाती है कि वह ऐसा करेगा क्योंकि मन्त्रिमंडल का लोक-सभा में सर्वदा बहुमत रहेगा और राष्ट्रपति इस कारण मन्त्रिमंडल को अप्रसन्न नहीं करेगा। इस स्थिति का फल यह होगा कि कुछ काल में इंगलैंड की तरह भारत में भी यह अभिसमय स्थापित हो जावेगा कि मन्त्रिमंडल की राय के बिना कार्यपालिका का प्रधान कुछ नहीं करेगा।

(३) संसार के अन्य देशों में भी संकटकाल के लिये अधिकारों को निलम्बित करने के उपबन्ध हैं। उदाहरणार्थ अमरिका तथा इंगलैंड में संसद को बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeaus Corpus) को स्थगित करने का अधिकार है। परन्तु यहाँ पर नहीं भूलना चाहिये कि यह अधिकार संसद को है न कि कार्यपालिका को। अमरिका में राष्ट्रपति केवल मुख्य सेनापति की हैसियत से कुछ दशाओं में इस अधिकार को स्थगित कर सकता है। भारत में यह अधिकार संसद के हाथ में न होकर कार्यपालिका के हाथ में है।

(४) राष्ट्रपति का ऐसा आदेश जिसके द्वारा नागरिक न्यायालयों को अपने अधिकारों को प्रवर्तित करने की प्रार्थना नहीं कर सकते हैं संसद के सम्मुख रखा जायगा। परन्तु इसमें भारी कमी यह है कि संविधान में यह कहीं पर नहीं कहा गया है कि कितने दिन के अन्दर ऐसा आदेश संसद के सम्मुख रखा जायगा तथा संसद की आज्ञा (Authorization) इसके जारी रहने के लिए आवश्यक है।

संविधानिक-तन्त्र की विफलता पर राज्यों के शासन में हस्तक्षेप का अधिकार भी अगर बार-बार प्रयुक्त किया गया तो इससे राज्यों के अधिकारों का बिल्कुल अन्त हो जावेगा। इसके अतिरिक्त यह राज्य के नागरिकों को शासन के प्रति उत्तरदायित्व की भावना से विहीन कर देगा क्योंकि वे सोचेंगे कि कोई गड़बड़ होने पर संघ सरकार सब ठीक कर देगी। संविधान सभा में इस आलोचना के विरुद्ध यह कहा गया था कि राष्ट्रपति इस प्रकार हस्तक्षेप केवल तभी करेगा जब कि वह देखेगा कि अन्य प्रकार से राज्य का शासन ठीक नहीं हो सकता है यह आशा प्रकट की गई है कि पहले राष्ट्रपति उस राज्य को एक चेतावनी देगा इसका कोई फल न होने पर वहाँ नए निर्वाचन करवायेगा। इसके पश्चात भी अगर वहाँ शासन ठीक नहीं हुआ तब संविधानिक संकट की घोषणा करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रपति के संकट-कालीन अधिकार बहुत व्यापक तथा विस्तृत हैं। इनका आधार १९३५ का ऐक्ट है। हम यह सन्तोष कर सकते

हैं कि तब भारत पराधीन था, अब स्वाधीन है इसलिये इन अधिकारों का प्रयोग राष्ट्रपति देश की भलाई को ही दृष्टि में रखते हुये करेगा। गवर्नर जनरल ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था परन्तु राष्ट्रपति भारत की जनता के प्रति उत्तरदायी है। परन्तु आलोचकों के इस तर्क में काफी तथ्य है कि अगर कोई अधिकार लोलुप तथा सिद्धान्तहीन व्यक्ति अगर इस पद पर आरूढ़ हो जावे तो वह इन उपबन्धों के द्वारा तानाशाही स्थापित करने का प्रयास कर सकता है।

भारतीय राष्ट्रपति का कुछ अन्य देशों के प्रधानों से तुलना

(१) भारत का राष्ट्रपति तथा इंगलैण्ड का सम्राट —इन दोनों में समानता यह है कि यह दोनों केवल नाम-मात्र के प्रधान हैं। केवल ऊपर से देखने से ऐसा लगता है कि जैसे इंगलैण्ड के सम्राट् के हाथ में सब अधिकार हैं और वह जिस प्रकार चाहे उनका प्रयोग कर सकता है। परन्तु यथार्थ में इंगलैण्ड में १७वीं शताब्दी से धीरे-धीरे ऐसे अभिसमयों की स्थापना हो गई है कि वहाँ का सम्राट् केवल मन्त्रिमडल के हाथ की कठपुतली है। भारत में भी राष्ट्रपति को वैधानिक प्रधान ही बनाया गया है—कम से कम ऐसी आशा की जाती है।

इंगलैंड में सम्राट् लोकसभा में बहुमत दल के नेता को प्रधान मंत्री के पद के लिए बुलाता है। शेष मन्त्रिगण यथार्थ में प्रधान मन्त्री द्वारा ही छाटे जाते हैं और सम्राट् सदा अपनी स्वीकृति दे देता है। ऐसा ही भारत में भी होगा। साधारणतः राष्ट्रपति मन्त्रिमडल में प्रधान मन्त्री जिनको रखे उनको स्वीकार कर लेगा। संसदीय-पद्धति वाले देशों में प्रधान मन्त्री चुनने में केवल उस समय वैधानिक-प्रधान को कुछ स्वतन्त्रता रहती है जब कि लोकसभा में किसी दल का बहुमत न हो। ऐसे अवसर पर वह निर्णय करता है कि कौन से दल मन्त्रिमंडल बनाने में सफल होगा। परन्तु ऐसा अवसर बहुत कम आता है। साधारणतः कुछ दल मन्त्रिमडल निर्माण हेतु संयुक्त हो जाते हैं।

सम्राट् तथा राष्ट्रपति में अन्तर यह है कि उसका पद पैतृक है परन्तु राष्ट्रपति का प्रत्येक ५ वें वर्ष निर्वाचन होगा।

(२) भारत का राष्ट्रपति तथा अमेरिका राष्ट्रपति:—दोनों में साधारण बातों में कई समानताएँ हैं। दोनों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होता है। दोनों राष्ट्र के प्रधान हैं। दोनों कार्यपालिका के मुखिया हैं। दोनों को संविधान द्वारा अत्यन्त विस्तृत अधिकार दिए गए हैं। परन्तु यह सब समानता उतनी महत्वपूर्ण नहीं जितना कि दोनों में अन्तर महत्वपूर्ण है। इस अन्तर का कारण यह

है कि भारत में संसदीय पद्धति की स्थापना हुई जब कि अमेरिका में अध्यक्षात्मक पद्धति है। भारत का राष्ट्रपति वैधानिक प्रधान है। अमेरिका का राष्ट्रपति यथार्थ में कार्यपालिका का प्रधान है। वह मन्त्रिमण्डल का स्वामी है। उसके मंत्री उसी के द्वारा नियुक्त होते हैं और वह उनको जब चाहे तब निकाल सकता है। वह उनकी राय माने या न माने।[1] उसको अधिकार है कि वह उनकी राय किसी महत्त्वपूर्ण विषय में भी न ले। परन्तु भारत के राष्ट्रपति की स्थिति यह नहीं है।

(३) भारत का राष्ट्रपति तथा आयरलैंड का राष्ट्रपति —संविधान सभा में यह कहा गया था कि भारत का राष्ट्रपति आयरलैंड के राष्ट्रपति की भांति ही होगा। दोनों ही वैधानिक प्रधान हैं। परन्तु दोनों में अन्तर भी है। आयरलैंड का राष्ट्रपति जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। यद्यपि वह वैधानिक प्रधान है परन्तु दो विषयों में उसको विशेष अधिकार है। एक तो, मन्त्रिमण्डल की प्रार्थना पर वह लोक-सभा (Dail) का भंग करना नामंजूर कर सकता है। दूसरा, वह कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद द्वारा स्वीकृत विधेयकों को जनता के मत (Referendum) के लिए रख सकता है। भारत के राष्ट्रपति का यह अधिकार है कि उसको मन्त्रिमण्डल द्वारा किए गए निर्णयों से सूचित किया जाय तथा और जो सूचना शासन-सम्बन्ध में वह मांगे उसे दी जाय परन्तु आयरलैंड के राष्ट्रपति को कोई अधिकार नहीं दिया गया है।

(४) भारत का राष्ट्रपति तथा फ्रांस का राष्ट्रपति —दोनों ही वैधानिक प्रधान हैं क्योंकि दोनों दशा में संसदीय पद्धति की सरकार है। फ्रांस के राष्ट्रपति के विषय में सर हेनरी मेन ने कहा था ' The President of the French Republic neither reigns nor rules'। परन्तु यह सर्वथा प्रभावहीन नहीं है। क्योंकि वह मन्त्रिमण्डल की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता है। उसका निर्वाचन फ्रांस की संसद् द्वारा होता है। उसको

---

१ Laski ने लिखा है "In the range of his powers, in the immensity of his influence, and in his special situation as at once the head of a great state, and his own Prime Minister, his position is unique.

The President is the complete master of his Cabinet. He may consult with it before taking action, he may act against its advice, he may act without consulting it at all."

२ फ्रांस के नवीन संविधान में (पंचम गणतन्त्र में) राष्ट्रपति की शक्तियाँ तथा अधिकार बहुत बढ़ गए हैं।

बिल को अस्वीकार करने का अधिकार नहीं है। उनके कोई संकटकालीन अधिकार नहीं है। उसका लोकसभा भंग करने का अधिकार भी सीमित है।

संविधान में राष्ट्रपति की स्थिति—संविधान सभा में डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "भारत का राष्ट्रपति कार्यपालिका का प्रधान नहीं परन्तु राष्ट्र का प्रधान होगा।" इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय राष्ट्रपति केवल एक संवैधानिक प्रधान है।[1] उसके नाम से सब काम किया जावेगा, परन्तु यथार्थ में उसके अधिकार, मन्त्रिमण्डल के अधिकार हैं। परन्तु संविधान में केवल इतना ही कहा गया है कि राष्ट्रपति को सहायता और मन्त्रणा देने के लिये एक मन्त्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधान-मन्त्री होगा। यह मन्त्रि-परिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा। इन उपबन्धों से यह कैसे कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल की राय मानने को बाध्य है। अगर वह राय को न माने तो वह संविधान के विरुद्ध कोई काम नहीं करेगा। इस कारण विद्वानों के अनुसार राष्ट्रपति सर्वथा अधिकार-शून्य नहीं होगा। सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति श्री पतञ्जली शास्त्री के मतानुसार राष्ट्रपति की शक्ति का व्यवहार केवल उसी मात्रा तक सीमित हो सकता है। जितना कि संविधान में स्पष्ट उल्लेख है। इससे अधिक, दूसरे संविधानों के पूर्व दृष्टान्तों (precedents) के आधार पर, इसे सीमित नहीं किया जा सकता है।

परन्तु इसके साथ-साथ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राष्ट्रपति अमेरिकन राष्ट्रपति भी नहीं है। मन्त्रिमंडल की राय राष्ट्रपति को दैनिक शासन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों में माननी ही पड़ेगी क्योंकि मन्त्रि-मण्डल का लोक सभा में बहुमत होगा। अगर राष्ट्रपति इसकी राय के विरुद्ध जावे और यह इस्तीफा दे दे तो राष्ट्रपति को इसके स्थान में दूसरे मन्त्रि-मण्डल की नियुक्ति करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। अगर वह नया

1. संविधान-सभा में उन कारणों का भी उल्लेख किया गया था जिनके कारण भारत में संसदीय पद्धति स्थापित की गई है। वे निम्नलिखित हैं:—

(अ) अध्यक्षात्मक सरकार का सिद्धान्त स्थायित्व है तथा संसदीय सरकार उत्तरदायित्व सिद्धान्त पर आधारित है। विधान निर्माताओं ने उत्तरदायित्व को अधिक महत्त्व दिया है।

(ब) अधिकार पृथक्करण के कारण अध्यक्षात्मक पद्धति में सरकार के तीन अंगों के बीच पूरा सहयोग नहीं रहता है।

मन्त्रिमण्डल बनाता है तो उसको लोकसभा में बहुमत नहीं होगा अतएव वह कुछ भी काम नहीं कर सकेगा। अगर राष्ट्रपति लोकसभा को भंग कर नये चुनाव करे तो उसमें भी यह सम्भव है कि फिर से उसी दल का बहुमत हो जिसके मन्त्रिमण्डल ने पदत्याग किया था। इसलिये इस कठिनाई से बचने के लिये राष्ट्रपति दैनिक शासन में मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही काम करेगा।

परन्तु असाधारण स्थिति में यह सम्भव है कि राष्ट्रपति उन मन्त्रिमण्डल के अनुसार काम न करे जब कि वह समझता है कि उसके परामर्श के अनुसार काम करने से वह जनता के हित के विरुद्ध जा रहा है। बहुधा यह उदाहरण दिया जाता है कि वह मन्त्रिमण्डल की इच्छा के विरुद्ध लोकसभा को भंग करने को प्रस्तुत न हो। परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार राष्ट्रपति को इस अवसर पर भी मन्त्रिमण्डल की राय माननी पड़ेगी।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि संविधान में यह स्पष्ट नहीं है, तथापि संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि राष्ट्रपति प्रत्येक अवसर पर केवल वैधानिक प्रधान के रूप में काम करेगा तथा कालान्तर में इस प्रकार के अभिसमय भी स्थापित हो जायेंगे। राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने का साहस नहीं करेगा क्योंकि संसद उसके विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही कर सकती है।

इसलिये इंगलैंड के सम्राट की तरह भारत के राष्ट्रपति के केवल तीन अधिकार रह जाते हैं[2] और बुद्धिमान राष्ट्रपति इससे अधिक की माँग भी नहीं करेगा। मन्त्रिमण्डल उससे महत्त्वपूर्ण विषयों में परामर्श करे (right to be consulted), मन्त्रिमण्डल को उत्साहित करने का अधिकार तथा चेतावनी देने का अधिकार (right to encourage and right to warn) इसमें हैं। राष्ट्रपति कार्य रूप से शासन के ऊपर कितना प्रभाव डालेगा

(ग) कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण अध्यक्षात्मक सरकार संसदीय सरकार की अपेक्षा सशक्त होती है।

(द) भारत में स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये यह आवश्यक था कि ऐसी सरकार स्थापित हो जिसमें शासन में सहयोग की कमी न हो।

1 Basu, India p 214

2 अंग्रेज लेखक Bagehot ने वहाँ के सम्राट के यही तीन अधिकार बतलाये हैं।

यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा। अगर वह दृढ़चरित्र, बुद्धिमान, अनुभवी तथा लोक-प्रिय होगा तो मन्त्रिमंडल प्रत्येक विषय में उसके मत को आदरपूर्वक सुनेगा तथा उसके द्वारा स्वाभावतः ही प्रभावित होगा।[1] इंगलैंड में महारानी विक्टोरिया तथा ऐडवर्ड सप्तम ने कई बार अपने देश की नीति में महत्वपूर्ण प्रभाव डाला था। परन्तु अगर राष्ट्रपति कोई साधारण व्यक्ति होगा तो उसका प्रभाव नगण्य होगा।

वैधानिक-प्रधान की आवश्यकता :—यद्यपि राष्ट्रपति केवल वैधानिक-प्रधान है तथापि उसका पद कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसलिये यह नहीं समझना चाहिए कि राष्ट्रपति का संविधान में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। इंगलैंड में वहाँ का सम्राट् केवल वैधानिक-प्रधान है, परन्तु उसके पद का महत्व है इसी कारण उसको हटाया नहीं गया है। इसी प्रकार फ्रांस में एक वैधानिक-प्रधान होता है। वहाँ के राष्ट्रपति के विषय में सर हेनरी मेन ने कहा था "वह न राज्य करता है न शासन"। परन्तु फिर भी संविधान में उसके लिए स्थान है। यह कहा जाता है कि संसदीय-पद्धति की सरकार में एक वैधानिक प्रधान का होना आवश्यक है। उसी के नाम में सब शासन का काम किया जाता है, यद्यपि यथार्थ में उसके हाथ में कोई शक्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि मन्त्रिमंडल तो बनते तथा बिगड़ते रहते हैं। वे शासन में स्थायित्व कैसे रख सकते हैं। फिर एक मन्त्रिमंडल में कई व्यक्ति होते हैं। साधारण मनुष्य यह नहीं समझ सकता कि किस प्रकार एक मन्त्रिमंडल देश का प्रधान हो सकता है। वह तो एक ऐसे व्यक्ति को समस्त शासन-तन्त्र के पीछे खोजता है जिसको वह राष्ट्र का प्रतीक समझे। संसदीय पद्धति में वैधानिक प्रधान ही राष्ट्र

---

1. एक अंग्रेज विद्वान ने उचित ही लिखा है कि, "The power and influence which accrues to the Presidential office will depend in some degree on the personality and character of the President and Ministers in the early years of the Republic." A. Gledhill.

2. "The Prime Minister is not the titular chief executive in any country. It is impossible to conceive of a stable parliamentary government without there being at its head someone whose tenure of office is beyond the fickleness of a Parliament or a Congress. This tenure must be long enough to assure stability—be it four years as in America, seven as in France or for a life as in Great Britain." Munro, Government of Europe. p. 70.

का प्रतीक है। उसी को साधारण व्यक्ति राष्ट्र तथा राज्य का मुखिया मानते हैं। इस कारण वह राष्ट्र का नेता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधि है। उसी के नाम में सब कुछ होता है। उसी के नाम में दूसरे देशों को राजदूत भेजे जाते हैं। उसी के नाम में युद्ध तथा संधि की घोषणा होती है।

यद्यपि गणतन्त्र में राष्ट्र का मुखिया भी किसी न किसी राजनैतिक दल का ही उम्मीदवार होता है तथापि चुनाव के पश्चात् यह सोचा जाता है कि वह राजनैतिक-दलबन्दी से परे है। उसका कर्त्तव्य निष्पक्ष रूप से समस्त देश के हितों को सामने रखते हुये काम करना है। इसलिये वह किसी राजनैतिक दल के लाभ की दृष्टि से काम नहीं करेगा। मान लीजिए कि मन्त्रिमंडल अपनी नीति के कारण देश में अप्रिय हो गया है परन्तु लोक सभा में उसका बहुमत है, उस समय राष्ट्रपति लोक सभा को भंग कर मन्त्रिमंडल को पदत्याग करने के लिये बाध्य कर सकता है। या, अगर मन्त्रिमंडल लोक सभा में हार जाने पर यह इच्छा करे कि लोक सभा भंग करदी जावे तथा नये निर्वाचन हों, तो राष्ट्रपति इस माँग को स्वीकार करने से मना कर सकता है, अगर वह यह देखता है कि लोक सभा का भंग करना देश के हित में नहीं है।

जिस समय एक मन्त्रिमंडल पद त्याग करता है, यह हो सकता है कि दूसरे मन्त्रिमण्डल बनाने में कुछ समय लगे। इस काल में जब कि कोई मन्त्रिमंडल नहीं है राष्ट्रपति ही देश का शासन चलावेगा। इस प्रकार वह देश में अशान्ति या गृह-युद्ध की सम्भावना को नहीं उपजने देगा। लोक-तन्त्रात्मक पद्धति में ऐसे अवसर बहुधा हो सकते हैं जब कि मन्त्रिमंडल पद-त्याग करे तथा उसके स्थान में दूसरे के बनाने में कुछ समय लगे।

उपराष्ट्रपति

राष्ट्रपति के अतिरिक्त भारत का एक उपराष्ट्रपति भी होगा। साधारणत: वह राज्यपरिषद का सभापति होगा। वह कोई अन्य लाभ का पद नहीं धारण करेगा परन्तु जब वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा तब वह उस काल के लिये राज्यपरिषद का सभापति नहीं रहेगा।

जब राष्ट्रपति का स्थान मृत्यु, पदत्याग, अथवा पद से हटाये जाने या किसी अन्य कारणों से खाली होगा तब उपराष्ट्रपति उस स्थान में राष्ट्रपति के रूप में तब तक काम करेगा जब तक कि नया राष्ट्रपति चुनाव के पश्चात अपने पद को ग्रहण न कर ले। संविधान के अनुसार ६ महीने के अन्दर ही नये राष्ट्रपति का चुनाव हो जाना चाहिये।

जब राष्ट्रपति बीमारी या अन्य किसी कारण से अपना काम करने में असमर्थ हो तब भी उपराष्ट्रपति उनके स्थान में उस तारीख तक काम करेगा जब तक राष्ट्रपति अपने काम को न सम्भाल ले।

जिस कालावधि में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद से काम करेगा उसे राष्ट्रपति पद का ही वेतन, भत्ता तथा अन्य सुविधाएं मिलेंगी। परन्तु उस काल में वह राज्यपरिषद् के सभापति पद का वेतन आदि पाने का अधिकारी नहीं होगा।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संसद् के दोनों सदनों के द्वारा किया जायगा। इस अवसर पर भी अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एक परिवर्तनीय मतविधि द्वारा निर्वाचन होगा। मतदान गोपनीय होगा। इस पद के लिए निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहियें :—

(१) भारत का नागरिक हो तथा ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(२) राज्य-परिषद के लिये सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता है।

(३) भारत सरकार या राज्य सरकारों के अधीन, या इनमें से किसी के द्वारा नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद न धारण किये हो। परन्तु राष्ट्रपति, संघ के मन्त्री, राज्यपाल, राजप्रमुख तथा राज्यों के मन्त्री लाभ का पद धारण किये हुये न समझे जायेंगे।

उपराष्ट्रपति न तो संसद् के किसी सदन का और न राज्यों के विधान-मंडलों का सदस्य होगा। अगर वह किसी का सदस्य हो तो निर्वाचित होने की तिथि से उसकी सदस्यता का अन्त हो जावेगा।

उपराष्ट्रपति की पदावधि पाँच वर्ष रखी गई। परन्तु वह इसके पूर्व अपने हस्ताक्षर किए हुए त्याग-पत्र द्वारा जो कि राष्ट्रपति को सम्बोधित होगा पद-त्याग कर सकता है। वह राज्य परिषद के सदस्यों द्वारा बहुमत से स्वीकृत प्रस्ताव से, जिसको लोकसभा ने मान लिया हो, हटाया जा सकता है। परन्तु ऐसे प्रस्ताव की सूचना कम से कम १४ दिन पहिले देनी होगी।

नए उपराष्ट्रपति का चुनाव पहिले उपराष्ट्रपति की पदावधि समाप्त होने के पहले ही कर लिया जावेगा। पदावधि के अन्दर ही उपराष्ट्रपति का पद रिक्त होने पर शीघ्रता से नए उपराष्ट्रपति का चुनाव किया जावेगा तथा वह पद-ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष के लिए पद धारण करेगा। पद-ग्रहण से पूर्व उप-

राष्ट्रपति को एक शपथ राष्ट्रपति या उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सामने लेनी पड़ेगी।

आम चुनाव के पश्चात् नई संसद द्वारा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन किया गया। डा० राधाकृष्णनन् इस पद के लिए निर्वाचित हुए।

भारतवर्ष के उपराष्ट्रपति तथा अमेरिका के उपराष्ट्रपति में यह समानता है कि दोनों ऊपरी सदन के सभापति के पद पर हैं। पर इसके अतिरिक्त अन्तर भी है। वह यह है कि अमरिका में उपराष्ट्रपति का निर्वाचन वहाँ की संसद् ऊपरी सदन (Senate) द्वारा होता है। राष्ट्रपति के कारणवश पदत्याग करने पर वह पद की शेष अवधि तक राष्ट्रपति रहता है। परन्तु भारत में अधिकाधिक ६ महीने राष्ट्रपति के पद पर रह सकता है। वहाँ के उपराष्ट्रपति का कार्यकाल केवल ४ वर्ष है।

राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित विषय —उप-राष्ट्रपति के चुनावों से सम्बन्धित सब झगड़ों का फैसला उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जावेगा। अगर किसी व्यक्ति का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचन शून्य (void) कर दिया जावे तो वह उस निर्णय के विरुद्ध कहीं पर अपील नहीं कर सकता है और उसे तत्काल पद-त्याग करना होगा। परन्तु इस निर्णय के पूर्व उसने अपने पद से जो कार्य किये हैं वे अमान्य नहीं माने जायेंगे।

राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के सम्बन्ध में, इन उपरोक्त वर्णित उपबन्धों के अधीन संसद को नियम बनाने का अधिकार है।

प्रश्न

(१) भारत के राष्ट्रपति को संविधान द्वारा क्या अधिकार दिये गये हैं? (यू० पी० १९५२)

(२) क्या यह कहना उचित है कि भारत का राष्ट्रपति केवल वैधानिक प्रधान है?

(३) वैधानिक प्रधान की क्या आवश्यकता है। भारत का राष्ट्रपति इन आवश्यकताओं की किस मात्रा तक पूर्ति करता है?

(४) संक्षेप में राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रथा का वर्णन कीजिए।

(५) भारत के राष्ट्रपति पर संक्षिप्त नोट लिखिए। (यू० पी० १९५३)

(६) भारत के राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियाँ क्या हैं? उनका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। (यू० पी० १९५५)

(७) भारत के राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों की व्याख्या कीजिये और उनका महत्व बतलाइये। (यू० पी० १९५९)

अध्याय ६

संघीय कार्यपालिका—मन्त्रिपरिषद्

भारतीय संविधान संसदीय होने के कारण भारत में यथार्थ कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद् ही है। इस कारण संविधान में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे सब अधिकार जो कि संविधान द्वारा राष्ट्रपति को दिए गए हैं यथार्थ में मन्त्रिपरिषद् के ही अधिकार हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि मन्त्रिपरिषद् के हाथ में साधारण काल में ही असाधारण अधिकार हैं। फिर संकट-काल का तो कहना ही क्या है।

मन्त्रिपरिषद् का निर्माण—संविधान की ७४ तथा ७५ वीं धाराओं में मन्त्रिपरिषद् सम्बन्धी उपबन्ध दिये गये हैं। इनके अनुसार मन्त्रिपरिषद् का कार्य राष्ट्रपति को उसके कामों के सम्पादन में सहायता तथा मन्त्रणा देने का है। किसी न्यायालय में इस प्रश्न की जाँच न की जा सकेगी कि मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को कोई सलाह दी या नहीं, तथा क्या सलाह दी।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की सलाह से करेगा। मन्त्रीगण अपने पदों पर, राष्ट्रपति की जब तक इच्छा हो, तब तक रहेंगे। मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। (सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ पिछले अध्यायों में स्पष्ट कर दिया गया है।)

इस वर्णन से यह लगता है कि राष्ट्रपति जिसको चाहे प्रधान मन्त्री बना दे, अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति में भी उसका काफी हाथ होगा तथा जब वह चाहे इन मन्त्रियों को अपने पद से हटा दे। परन्तु यथार्थ में स्थिति पूर्णतया इससे भिन्न है क्योंकि मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है, इसलिए मन्त्रिमण्डल केवल वही दल निर्माण कर सकता है जिसका कि लोकसभा में बहुमत होगा। अतएव, प्रधान-मन्त्री निश्चय ही बहुमत दल का होगा। इसलिए, प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति में राष्ट्रपति के हाथ बंधे हैं। वह बहुमत दल के नेता के अतिरिक्त अगर किसी अन्य व्यक्ति को प्रधान-मन्त्री बनावे तो उसका मन्त्रि-मण्डल लोकसभा में एक दिन भी नहीं टिकेगा। इसलिये प्रधान मन्त्री सर्वदा ही बहुमत दल का नेता होता है।

परन्तु अगर देश में कई राजनैतिक दल हों और इनमें से किसी का भी लोक सभा में अजेय बहुमत न हो तो उस स्थिति में राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री छाँटने में कुछ स्वतन्त्रता होगी। वह यह निश्चय करेगा कि किस दल का नेता अन्य दलों की सहायता से एक स्थायी मन्त्रिमण्डल बना सकेगा। परन्तु ऐसे अवसरों की उन देशों में जहाँ कि छोटे-छोटे राजनैतिक दल नहीं होते हैं कोई आशा नहीं।

मन्त्रिपरिषद् में अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति वस्तुतः प्रधान मन्त्री करता है। राष्ट्रपति अगर किसी व्यक्ति को अयोग्य समझता है तो वह ऐसी राय दे सकता है। परन्तु वह प्रधान मन्त्री को बाध्य नहीं कर सकता कि वह किसी विशेष व्यक्ति को मन्त्रिपरिषद् में रखे या न रखे। प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल को बनाते समय कई बातों का ध्यान रखेगा। सर्वप्रथम, वह अपने दल के विशिष्ट नेताओं को अपने मन्त्रिमण्डल में स्थान देगा। यह दल की एकता बनाये रखने के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वह यह देखेगा कि देश के विभिन्न भागों का मन्त्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व है। भारत में विभिन्न सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व भी आवश्यक है। हम ऐसे मन्त्रिमण्डल की कल्पना नहीं कर सकते कि जिसमें केवल एक ही सम्प्रदाय के सदस्य हों। मन्त्रिमण्डल बनाने में प्रधान मन्त्री को स्वाभावतः ही कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि स्थान इसमें निश्चित है, परन्तु उम्मीदवार अधिक हो जाते हैं। प्रत्येक सदस्य की यह इच्छा रहती है कि वह कभी न कभी मन्त्री हो ही जावे। इंगलैण्ड में भी इस प्रकार की कठिनाई होती है। प्रधान मन्त्री अगर चाहे तो वह अपने दल के बाहर के व्यक्तियों को भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है, परन्तु ऐसा कम किया जाता है। इस प्रकार नामों की एक सूची बनाकर प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति को देगा और राष्ट्रपति उसको मान लेगा क्योंकि राष्ट्रपति यह जानता है कि बहुमत दल के नेता के अतिरिक्त अन्य कोई भी मन्त्रिमंडल नहीं बना सकता है।

संविधान में कहा गया है कि मन्त्रियों में भारत-सरकार के कार्य के बँटवारे के लिये राष्ट्रपति नियम बनायेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मन्त्रियों के बीच विभिन्न विभागों का वितरण करेगा। यह कार्य प्रधान मन्त्री ही करता है। इसमें प्रधान मन्त्री को यह ध्यान रखना पड़ता है कि इस प्रकार विभागों का वितरण करे कि उसके साथी सन्तुष्ट रहें। इसके अतिरिक्त उसे उनकी रुचि, अनुभव आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। परन्तु यह

न समझना चाहिये कि जिस मन्त्री को जो विभाग मिलता है उसका उसे पूरा ज्ञान होता है या प्रत्येक मन्त्री अपने विषय में पारंगत होता है। इंगलैंड में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कि मन्त्री को पद ग्रहण करते समय अपने विषय का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था। उदाहरणार्थ एक वित्त मन्त्री को यह नहीं मालूम था कि दशमलव बिन्दु क्या होता है। उसने अपने सेक्रेटरी से, जब राज्य का आय-व्यय पत्र (Budget) उसके सामने आया पूछा कि ये बिन्दु क्या हैं, (What are these bloody dots ?)। एक उपनिवेश मन्त्री ने अपने सेक्रेटरी से पूछा कि वह उसे नक्शे में बतला दे कि इंगलैंड के उपनिवेश (colonies) कहाँ कहाँ हैं।

अगर हम मन्त्रियों की पदावधि का प्रश्न लें तो विधान में कुछ नहीं है। परन्तु क्योंकि लोक सभा का कार्यकाल ५ वर्ष है इसलिये मन्त्रिमण्डल भी साधारणतः ५ वर्ष तक पद में रहेगा। अगर इसके पूर्व किसी कारण से यह लोक-सभा का विश्वास खो दे या इस बीच लोक-सभा भंग होकर नये चुनाव में इसका दल बहुमत में न हो। परन्तु क्या राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल या किसी विशेष मन्त्री को हटा सकता है। क्या राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री को हटा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक होगा। क्योंकि अगर राष्ट्रपति एक मन्त्रिमण्डल को अपदस्थ कर उसके स्थान में दूसरे को नियुक्त कर दे तो यह लोक-सभा में बहुमत न होने के कारण एक दिन भी नहीं टिक सकेगा। केवल वही दल मन्त्रिमण्डल बना सकता है जिसका लोक सभा में बहुमत हो। अगर राष्ट्रपति लोक-सभा को भंग कर दे तो यह सम्भव है कि नये निर्वाचन के फलस्वरूप फिर वही दल बहुमत में आ जाय जिसके मन्त्रिमण्डल को राष्ट्रपति ने अपदस्थ किया था। कोई भी समझदार राष्ट्रपति अपने लिए इस प्रकार की कठिनाई नहीं पैदा करेगा। अतः संसदीय पद्धति वाले देशों में यह अभिसमय है कि मन्त्रिमण्डल तब तक पदस्थ रहता है जब तक इसका लोकसभा में बहुमत रहता है। वैधानिक प्रधान इसको अपदस्थ करने की चेष्टा नहीं करता। परन्तु यह सम्भव है कि मन्त्रिमण्डल देश में तो अप्रिय हो गया है परन्तु लोकसभा में उसका बहुमत बना है तथा राष्ट्रपति का यह पूर्ण विश्वास हो कि नये निर्वाचन के फलस्वरूप वह दल फिर बहुमत में नहीं आवेगा तो वह देश के हित के लिये लोकसभा को भंग कर नये चुनाव कर सकता है।

प्रत्येक मन्त्री के लिये संसद् का सदस्य होना आवश्यक है। अगर कोई मन्त्री ६ माह तक संसद् के किसी सदन का सदस्य न रहे तो उसे उस काल

की समाप्ति पर अपने पद से हटना पड़ेगा। इस प्रकार के उपबन्ध प्रत्येक संसदीय संविधान में पाये जायेंगे। इसका अर्थ यह है कि केवल वही व्यक्ति मन्त्री हो जिसको जनता का समर्थन तथा विश्वास प्राप्त हो। हमारे संविधान में राष्ट्रपति को राज्य परिषद् में १२ सदस्य मनोनीत करने का अधिकार है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति जो कि लोकप्रिय न हो राज्य परिषद् में मनोनीत करवा कर मन्त्रिमण्डल में लिया जावे। परन्तु ऐसी आशा कम है क्योंकि प्रधान मन्त्री साधारणत अपने मन्त्रिमण्डल में ऐसे व्यक्ति को लेकर देश में अपनी लोकप्रियता कम नहीं करायेगा तथा इसके अतिरिक्त वह लोक सभा को भी इस प्रकार के काम कर अप्रसन्न नहीं करना चाहेगा।

मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते के विषय में संसद् को समय-समय पर कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु जब तक संसद् इसको निर्धारित नहीं करती तब तक मन्त्रियों को ३००० रु० मासिक वेतन तथा ५०० रु० भत्ता मिलेगा। प्रत्येक मन्त्री को अपना पद ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति दो शपथें—एक पद की तथा दूसरी गोपनीयता की करवायेगा। पद की शपथ यह है "मैं ...... अमुक.. $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ}}$ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा, संघ के मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अन्तःकरण से निर्वहन करूँगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान के अनुसार न्याय करूँगा।"

गोपनीयता की शपथ यह है : "मैं...अमुक... $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ}}$ कि जो विषय संघमन्त्री के रूप में मेरे विचार के लिये लाया जायगा अथवा मुझे ज्ञात होगा उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड़कर जब कि ऐसे मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्य के उचित निर्वहन के लिये ऐसा करना अपेक्षित हो अन्य अवस्था में, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सूचित या प्रकट नहीं करूँगा।"

वर्तमान मन्त्रिपरिषद् :—आम चुनावों के पूर्व का मन्त्रिमंडल वास्तव में संविधान लागू होने से पूर्व ही बना था (सितम्बर, १९४६)। नए संविधान के लागू होने पर (२६ जनवरी १९५०) इसके सदस्यों ने (जो उस समय मन्त्री थे) राष्ट्रपति के सम्मुख पद की शपथ ली थी। आम चुनावों से पूर्व के मन्त्रि-परिषद् का आधार संविधान की ३८९ धारा थी जिसमें कहा गया है कि

संविधान के लागू होने के पहले के मन्त्री संविधान के लागू होने पर राष्ट्रपति के मन्त्रिमंडल के रूप में काम करेंगे।

आम चुनावों के पश्चात १३ मई १९५२ को मन्त्रिमंडल का पुनर्गठन हुआ। पुराने मन्त्रिमंडल ने अपने पद से त्याग-पत्र दिया। परन्तु नये भवन (लोक सभा) में काँग्रेस का ही बहुमत था। अतएव राष्ट्रपति ने पुन कांग्रेस दल के नेता को मन्त्रिमंडल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। १३ मई, १९५२ को प० नेहरू के नये मन्त्रिमंडल ने अपने पद की शपथ ली।

इस समय मन्त्रिपरिषद में प्रधान मन्त्री सहित १५ मन्त्री हैं। इनके अतिरिक्त कुछ राज्य उपमन्त्री तथा सामदीय सेक्रेटरीज हैं। इन सबों के मिलने से मन्त्रिमंडल बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्रिपरिषद् तथा मन्त्रिमंडल में भेद है। मन्त्रिपरिषद मन्त्रिमंडल से छोटा है परन्तु देश की नीति का निर्धारण मन्त्रिपरिषद करता है न कि मन्त्रिमंडल। मन्त्रिपरिषद से अर्थ Cabinet से है। मन्त्रिमंडल से तात्पर्य Ministry से है। इन दोनों में अंतर है। इस अन्तर को सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये।

मन्त्रिपरिषद् का काम—मन्त्रिपरिषद का काम, संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को मंत्रणा तथा सहायता देना है। संविधान में यह नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति इस मंत्रणा को मानने को बाध्य है। परन्तु यथार्थ में स्थिति पूर्णतया इससे भिन्न है। जैसा हम कह चुके हैं मन्त्रिपरिषद ही यथार्थ कार्य-पालिका है। इसलिए इसको ही काम देश का शासन चलाना है।

अंग्रेज लेखक रामज़े म्यूर ने इंगलैंड के मन्त्रिपरिषद् (Cabinet) के विषय में लिखा है कि यह देश का पूर्णरूपेण स्वामी (Dictator) हो गया है। इसका कारण यह है कि मन्त्रिपरिषद् के हाथ में इतनी शक्ति है कि वह राष्ट्र का वस्तुत स्वामी हो गया है। भारत में मन्त्रिपरिषद् के निम्नलिखित काम हैं —

(१) यह राष्ट्र की नीति का निर्धारण करता है। यह इस बात का निश्चय करता है कि आन्तरिक तथा वैदेशिक क्षेत्र में सरकार किस नीति का अवलम्बन करेगी।

(२) मन्त्रिपरिषद् देश के शासन के लिए उत्तरदायी है। इसके लिए शासन कार्य को कई विभागों में बाँट दिया जाता है तथा प्रत्येक विभाग का एक मंत्री होता है। परन्तु जो कुछ प्रत्येक मन्त्री द्वारा किया जाता है उसके लिए सम्पूर्ण मन्त्रिपरिषद् उत्तरदायी है।

(३) मंत्रिपरिषद् विधायिनी-कार्यों (legisative activities) के लिए भी उत्तरदायी है। संसद में सब महत्वपूर्ण बिल सरकार की ओर से ही पेश होते हैं। किसी गैरसरकारी बिल के पास होने की आशा बहुत कम होती है क्योंकि मंत्रिपरिषद् का लोकसभा में बहुमत होने के कारण ऐसा बिल अवश्य ही अस्वीकृत हो जावेगा।

(४) मंत्रिपरिषद् ही राज्य के वित्त सम्बन्धी मामलों के लिए उत्तरदायी है। वार्षिक आय-व्यय-पत्र (Budget) इसी के द्वारा बनाया जाता है और यही उसको संसद में पेश करता है। इसके अतिरिक्त अन्य सब आर्थिक तथा धन सम्बन्धी बिल भी इसी के द्वारा संसद में प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार राज्य के वित्त के ऊपर मंत्रिपरिषद् का पूरा अधिकार है। यही इस बात का निश्चय करेगा कि क्या क्या कर लगाये जाँय तथा किन किन विषयों पर खर्च किया जावे।

(५) मंत्रिपरिषद् की ही राय से कई महत्वपूर्ण पदों पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति की जावेगी, जैसे राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय, तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, राजदूत आदि।

(६) मंत्रिपरिषद् बहुत अधिक मात्रा तक इस बात का भी निश्चय करता है कि संसद में क्या-क्या मामले पेश किये जावेंगे तथा उनको कितना समय दिया जावेगा।

(७) संकट-काल में मंत्रिपरिषद् राज्यों के क्षेत्र में भी हस्तक्षेप कर सकता है।

इस सूची को देखने से ज्ञात हो गया होगा कि मंत्रिपरिषद् के हाथ में कितनी शक्ति है तथा यह कितना महत्वपूर्ण है।[1]

मंत्रिपरिषद् की बैठकें:—साधारणतः मंत्रिपरिषद् की प्रति सप्ताह एक बैठक होती है। इसमें प्रधान मंत्री सभापति का आसन ग्रहण करता है। मगर कोई विशेष बात हो जावे तो एक से अधिक बैठकें हो सकती हैं। प्रधान मंत्री जब चाहे तब बैठक बुला सकता है। इन बैठकों में दिन-प्रतिदिन के कामों

---

1. Marriot ने जो इंगलैंड के मंत्रिपरिषद के विषय में कहा है, वह हम भारत के बारे में भी कह सकते हैं—"It is the pivot round which the whole political machinery revolves."

की आलोचना नहीं होती है। परन्तु इसमें सरकार की नीति निर्धारित होती है तथा महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लिया जाता है। जो कुछ इस बैठक में तय हो वह प्रत्येक मन्त्री को मानना पड़ेगा। अगर कोई मन्त्री इसके निर्णय से सहमत नहीं है तो उसके लिये केवल एक ही मार्ग है कि वह मन्त्रिपरिषद से त्याग कर दे। परन्तु जब तक वह मन्त्रिपरिषद का सदस्य है उसे उसके निर्णय को मानना पड़ेगा।

साधारणतः मन्त्रिपरिषद में किसी विषय पर मत नहीं लिये जाते हैं तथा जहाँ तक सम्भव हो सब लोगों की राय से ही कोई नीति निश्चय की जाती है। परन्तु अगर ऐसा सम्भव न हो सके तो उस स्थिति में बहुमत से निर्णय होता है। प्रधान मन्त्री अपने साथियों को किसी विषय पर कोई नीति मानने को प्रभावित कर सकता है परन्तु वह उनको बाध्य नहीं कर सकता। अगर मन्त्रिपरिषद में बहुमत उसकी नीति के विरुद्ध हो तो वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता है जैसा कि अमेरिका का राष्ट्रपति अपने मन्त्रिपरिषद की कर सकता है।

मन्त्रिपरिषदों की बैठकों की सब बातें तथा विवाद गुप्त रखे जाते हैं और जन साधारण को केवल अन्तिम निर्णय ही मालूम हो सकता है। प्रत्येक मन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह मन्त्रिपरिषद की वार्ताओं को गुप्त रखे।

मन्त्रिपरिषद में काफी सदस्य होते हैं। भारत में इस समय १४ हैं। इतनी बड़ी सभा के द्वारा सब मामले ठीक से नहीं सुलझाये जा सकते हैं। इसलिए प्रत्येक मन्त्रिपरिषद के अन्दर एक छोटी सभा बन जाती है। कानून की दृष्टि में इसका कोई स्थान नहीं है परन्तु यह सत्य है कि अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय प्रधान मन्त्री तथा उसके एक-दो साथी ही तय कर लेते हैं तथा मन्त्रिपरिषद उसके निर्णय को मान लेता है। इंग्लैंड में इसको Inner Cabinet कहते हैं।

कैबिनेट का एक सेक्रेटेरियट भी होता है। इसमें एक सेक्रेटरी तथा उसके नीचे ज्वाइन्ट सेक्रेटरी डिप्टी सेक्रेटरी आदि होते हैं। इसका काम मन्त्रिपरिषद के निर्णयों की रिपोर्ट रखना, उनको विभिन्न मामलों में सूचना देना आदि है।

1 अमेरिकन-राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने एक समय कहा था, "In a Cabinet meeting there are many arguments and opinions but only one vote—*and that is the vote of the President*"

प्रधान मन्त्री के काम तथा उसका महत्व —भारत में भी संसदीय-पद्धति होने के कारण यहाँ के प्रधान मन्त्री के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसका वही स्थान है जो कि इंगलैंड के प्रधान मन्त्री का। दूसरे शब्दों में, प्रधान मन्त्री अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति है। उसके विषय में हम लिख चुके हैं कि उसको नियुक्त राष्ट्रपति करेगा परन्तु यथार्थ में इस मामले में साधारणतः राष्ट्रपति को कोई स्वतन्त्रता नहीं है। उसे बहुमत दल के नेता को ही इस पद के लिये निमन्त्रित करना होगा।

प्रधान मन्त्री के पद का महत्व समझने के लिये हमें सर्वप्रथम उसके कामों को देखना चाहिये। संविधान के अनुसार तो प्रधान मन्त्री के अधिकार यह है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के शासन सम्बन्धी तथा कानून निर्माण सम्बन्धी सब निर्णयों की सूचना दे। अगर राष्ट्रपति शासन के सम्बन्ध में या कानून बनाने के सम्बन्ध में कोई और सूचना जानना चाहे तो वह भी प्रधान मन्त्री उसको देगा। अगर राष्ट्रपति किसी विषय को, जिस पर किसी मन्त्री ने निर्णय कर दिया हो परन्तु मन्त्रिपरिषद् ने नहीं, पुनः मन्त्रिपरिषद् के सामने विचार के लिये रखने को कहे, तो प्रधान मन्त्री वैसा करेगा। परन्तु यथार्थ में प्रधान मन्त्री के अधिकार इससे कहीं अधिक हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) वह संसद् में बहुमत दल का नेता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि संसद् के बाहर भी उस दल में उसकी स्थिति बहुत ऊंची हो और वही उसका नेता हो। जेनिंग्ज़ ने इंगलैंड के प्रधान मन्त्री के विषय में लिखते हुए कहा है कि एक आम चुनाव यथार्थ में प्रधान मन्त्री का ही चुनाव है। क्योंकि अधिकांश मतदाता किसी दल को नहीं परन्तु किसी नेता के नाम से मत देते हैं। ऐसा ही सर्वत्र होता है।

(२) वह मन्त्रियों को चुनता है तथा उनके बीच कार्य का बँटवारा करता है। इसमें उसके हाथ पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हैं। तथापि उसको काफी स्वतन्त्रता रहती है। इसके साथ-साथ अगर वह अपने किसी सहयोगी से असन्तुष्ट है तो वह उसको पद-त्याग करने को कह सकता है। साधारणतः जिससे कहा जायगा वह पद त्याग कर देगा परन्तु अगर वह ऐसा न करे तो प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद् को ही भंग कर देगा और जब नया परिषद् बनायेगा तब उसमें उस विशेष व्यक्ति को स्थान नहीं देगा।

(३) वह मन्त्रिपरिषद् की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता है।

(४) विभिन्न विभागों में जो मतभेद हो जाता है उसको वही ठीक करता है तथा सुलझाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह मन्त्रिपरिषद् का नेता है।

(५) राष्ट्र की नीति निर्धारित करने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहता है। वह मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को अपनी बात मानने को बहुत अधिक मात्रा तक प्रभावित कर सकता है।

(६) वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों की सूचना देता है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य मन्त्री को यह अधिकार नहीं है कि वह राष्ट्रपति को इस प्रकार की सूचना दे। अगर कोई मन्त्री ऐसा करता है तो उसका कर्तव्य है कि वह प्रधान मन्त्री को इस बात की सूचना दे।

(७) राज्य में बहुत से ऊँचे पदों में नियुक्ति राष्ट्रपति उसी के परामर्श के अनुसार करेगा। उदाहरणार्थ, राज्यपाल, राजदूत, पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य, इत्यादि। इस विषय में अगर प्रधान मन्त्री चाहे तो वह बिना अपने सब सहयोगियों को सूचना दिए राष्ट्रपति को किसी विशेष व्यक्ति का नाम बता सकता है।

(८) वह संसद में सब महत्त्वपूर्ण विषयों पर सरकार की नीति रखता है इस प्रकार वह मन्त्रिपरिषद् का नेता है।

(९) क्योंकि वह मन्त्रिपरिषद् का नेता है, इसलिए सम्पूर्ण देश के शासन के ऊपर उसका व्यापक अधिकार है। वह किसी भी मन्त्री से किसी भी विषय पर सूचना माँग सकता है। वह देश की वैदेशिक-नीति में भी मुख्य भाग लेगा। आजकल तो विदेश-विभाग प्रधान मन्त्री के ही पास है।

प्रधान मन्त्री के अधिकारों की इस सूची को देखने से ज्ञात हो गया होगा कि वह अत्यन्त महत्त्वशाली व्यक्ति है। इंगलैंड के प्रधान मन्त्री के विषय में एक ने कहा है कि "वह सूर्य है जिसकी ग्रह परिक्रमा करते हैं।" वास्तव में प्रधान-मन्त्री की ऐसी ही स्थिति है। अन्य मन्त्री उसकी बराबरी नहीं कर सकते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि प्रधान मन्त्री केवल समानों में पहला है (First among equals), वह इससे अधिक है। परन्तु प्रधान मन्त्री की वास्तविक स्थिति क्या है, देश की आन्तरिक तथा वैदेशिक-नीति बनाने में उसका कितना हाथ है, इन सब प्रश्नों का ठीक उत्तर इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रधान मन्त्री का व्यक्तित्व कैसा है। अगर कोई साधारण

प्रतिभा का व्यक्ति प्रधान-मन्त्री हो जावे तो स्वभावतः ही उसका प्रभाव कम होगा। परन्तु अगर कोई असाधारण प्रतिभा का व्यक्ति इस पद पर हो तो उसका प्रभाव अधिक होगा। सफल प्रधान-मन्त्री के लिए कई गुण आवश्यक हैं—प्रतिभा, नेतृत्व की योग्यता, निष्पक्षता, चारित्रिक-दृढ़ता। वह अपने सहयोगियों से अलग न रहते भी दूर हो अन्यथा उनकी आँखों में वह गिर जावेगा। उसे प्रत्येक विभाग की थोड़ी बहुत जानकारी होनी चाहिए। उसके दल के सदस्यों की भक्ति उसके प्रति होनी चाहिए। इंगलैण्ड के एक प्रधान मन्त्री ने कहा था कि "The office of the Prime Minister is what its holder wants to make it" यही बात भारत के प्रधान मन्त्री के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

मन्त्रिपरिषद् तथा लोकसभा:—संविधान में कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद में रह सकता है जब तक लोकसभा में उसका बहुमत बना हुआ है। दूसरे शब्दों में जब तक उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त है। जिस रोज मन्त्रिपरिषद् यह विश्वास खो देगा उसे पदत्याग करना पड़ेगा।

सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ हम पहले समझा चुके हैं। संक्षेप में इससे तात्पर्य यह है कि अगर लोकसभा किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास-पूर्ण प्रस्ताव पास कर दे तो समस्त मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना पड़ेगा। अर्थात् एक का उत्तरदायित्व सबों का उत्तरदायित्व है। इसलिए समस्त मन्त्रिपरिषद् एक इकाई की तरह काम करता है। इस नियम को कोई भी भंग नहीं कर सकता है। इसको भंग करने के पश्चात् उसके लिये मंत्रिपरिषद् में कोई स्थान नहीं रह जाता है।

यहाँ पर यह देखना चाहिये कि लोकसभा किस प्रकार मन्त्रिमण्डल को पदत्याग करने के लिये बाध्य कर सकती है। यह कई प्रकार से किया जा सकता है.

(१) लोकसभा सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे यदि वह उसकी नीति से सहमत नहीं है।

(२) वह किसी एक विशेष मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे।

(३) वह, जब कि बजट पेश किया जाता है, यह प्रस्ताव पास कर दे कि किसी मन्त्री का वेतन कम कर दिया जावे।

(४) यदि मन्त्रिपरिषद् द्वारा पेश किए हुए किसी महत्वपूर्ण बिल को पास न करे।

(५) लोकसभा किसी गैर सरकारी सदस्य द्वारा पेश किए हुए बिल को मन्त्रिपरिषद् के विरोध करने पर भी पास कर दे। ऐसी अवस्था में मन्त्रिपरिषद् को पद-त्याग करना पड़ेगा अगर वह इसे विश्वास का प्रश्न बना दे।

साधारणतः जब तक मन्त्रिपरिषद् का लोक सभा में बहुमत रहता है ऐसी अवस्था उत्पन्न होने की बहुत कम सम्भावना रहती है। परन्तु अविश्वास के प्रस्ताव का डर सरकार को सदा सतर्क रखता है और वह लोक-सभा का अपमान नहीं करती है।

क्योंकि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है इसलिए लोकसभा स्वामिनी है तथा मन्त्रिपरिषद् उसका सेवक और जब स्वामिनी चाहे तब सेवक को उसके पद से हटा सकती है।

परन्तु वास्तव में स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। यह स्थिति सब देशों में पाई जायगी जहाँ कि संसदीय-पद्धति है तथा जहाँ अनेक छोटे-छोटे दल न होकर बड़े बड़े संगठित दल हैं। इंगलैण्ड की Cabinet के बारे में कहा जाता है कि वह लोकसभा की स्वामिनी है और लोकसभा उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करती है।[1] जब तक मन्त्रिपरिषद् का लोकसभा में बहुमत है वह लोकसभा का स्वामी है। उसे लोकसभा से कोई डर नहीं क्योंकि प्रत्येक विषय में उसके दल के सदस्य उसका समर्थन करेंगे। परन्तु मन्त्रिपरिषद् कोई भी ऐसा काम नहीं करेगा जिससे कि उसके दल के सदस्य ही उसके विरुद्ध हो जावें। प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण है कि मन्त्रिपरिषद् सर्वत्र सेवक के स्थान पर स्वामी हो गया है। इसका उत्तर यह है —

(१) दलबन्दी की प्रथा—इस प्रथा के कारण प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने दल का ही समर्थन करे। उसका सिद्धान्त यह है कि गलत या सही, मैं अपने दल के पक्ष में हूँ। इसके कारण मन्त्रिपरिषद् को अपने दल से साधारणतः कोई डर नहीं है।

---

1 "It is one of the agreeable fictions of *British Government* that the Commons controls the Cabinet, but an assertion that the Cabinet controls the Commons would come closer to actualities"—Munro, Government of Europe, p 224

(२) आजकल वयस्क मताधिकार तथा निर्वाचन-क्षेत्र का विशाल विस्तार होने के कारण किसी भी स्वतन्त्र उम्मीदवार के लिये चुनाव में जीतने की आशा करना व्यर्थ है। उसके पास न उतना धन है और न साधन। इसलिए लोकसभा सदस्य दलों द्वारा निर्वाचित होते हैं।

(३) अगर मन्त्रिपरिषद की किसी प्रस्ताव पर हार हो जावे तो वह लोकसभा को भंग करवा कर नये निर्वाचन करवा सकती है। साधारणतः मंत्रि-परिषद की प्रार्थना कि लोकसभा भंग कर दी जावे मान ही ली जावेगी। प्रत्येक निर्वाचन का अर्थ है, धन का व्यय, परेशानी, समय की हानि आदि। जो लोग एक समय निर्वाचित हो चुके हैं वे फिर से इतनी परेशानी उठाने को साधारणतः प्रस्तुत नहीं होवें।

भारत में लोकसभा साधारणतः मंत्रिपरिषद के इशारों पर चलती है। कुछ ऐसे उदाहरण अवश्य है जहां कि मंत्रिपरिषद को अपनी नीति बदलनी पड़ी। एक लेखक ने लिखा है कि भारत में मंत्रिपरिषद संसद के प्रति अन्य देशों की अपेक्षा अधिक आदर दिखलाता है।[1]

मंत्रिपरिषद् तथा राष्ट्रपति —यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि भारत में संसदीय व्यवस्था है न कि अध्यक्षात्मक। अतएव साधारणतः राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श अनुसार काम करेगा क्योंकि अगर वह ऐसा न करे और किसी मंत्रिपरिषद को जिसका लोकसभा में बहुमत है, पदच्युत कर दे तो उसे अत्यन्त कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा। संविधान में यह कहा गया है कि मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिए होगा तथा इसके सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेंगे। परन्तु साथ साथ यह भी कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगा। इस उपबन्ध से यह स्पष्ट हो जाता है कि मंत्रिपरिषद् का उत्तरदायित्व संसद के प्रति है न कि राष्ट्रपति के। संविधान के निर्माण के समय संविधान निर्मात्री सभा में यह स्पष्ट रूप से

---

1. "The Cabinet has been treating the legislature with greater consideration in India than is usual elsewhere."— Sharma, S. R., Cabinet Government in India, Parliamentary Affairs winter 1950, p. 120.

कहा गया था कि भारत का राष्ट्रपति केवल वैधानिक प्रधान मात्र है।[1] परन्तु कुछ विशेष दशाओं में राष्ट्रपति देश के हित का ध्यान में रखते हुये स्वतन्त्रता पूर्वक काम कर सकता है। जब मन्त्रिपरिषद की लोकसभा में हार हो जावे और प्रधान मन्त्री लोकसभा भंग करने की प्रार्थना करे राष्ट्रपति इसको अस्वीकृत कर सकता है अगर वह यह समझे कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार अगर किसी मन्त्रिपरिषद का लोकसभा में तो बहुमत बना हो परन्तु देश में उसकी नीति के फलस्वरूप असन्तोष बढ़ जावे तो राष्ट्रपति देश के हित को ध्यान में रखते हुये लोक सभा को भंग कर नये निर्वाचन की आज्ञा दे सकता है।

इगलैंड में यह प्रथा है कि सम्राट् का कोई भी कार्य वैध होने के लिये उस विभाग के सम्बन्धित मन्त्री द्वारा उसमें हस्ताक्षर होना चाहिये। परन्तु भारतीय संविधान में ऐसा कोई नियम नहीं है। भारतीय संविधान में ऐसा उपबन्ध नहीं है कि जिस मन्त्रिपरिषद ने इस्तीफा दे दिया हो वह तब तक काम करता रहेगा जब तक कि उसके स्थान में दूसरे का निर्माण न हो जावे। आयर्लैंड के विधान में ऐसा ही है। इस कारण भारत में यह सम्भव है कि जब एक मन्त्रिपरिषद् ने पदत्याग कर दिया हो राष्ट्रपति दूसरे को नियुक्त करने में देर लगा दे और इसी बीच में सब काम उनके द्वारा चलाया जाए। परन्तु यह केवल एक आशंका है।[2]

मन्त्रिपरिषद् में विभिन्न विभाग —शासन-कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए सरकार का काम अलग-अलग भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक विभाग या कभी-कभी दो दो विभाग एक मन्त्री के अधीन होते हैं। इस समय हमारे यहाँ निम्नलिखित मुख्य मुख्य विभाग हैं —

(१) वैदेशिक विभाग, (२) शिक्षा विभाग, (३) यातायात विभाग (४) स्वास्थ्य विभाग (५) वित्त विभाग, (६) योजना विभाग, (७) सिचा॰

१ डा॰ अम्बेदकर ने संविधान सभा में ४ नवम्बर १९४८ को कहा था, "Under the presidential system of America, the President is the chief head of the executive The administration is vested in him Under the *draft constitution (of India)* the President occupies the same position as the King under the English constitution He is the head of the state but not of the executive He represents the nation but does not rule the nation He is the symbol of the nation *His* place in the administration *is* that of a *ceremonial* device on a seal by which the nation's decisions are made known"

२ इस विषय में किये अध्याय ८ देखिये।

तथा शक्ति विभाग, (८) गृह विभाग, (९) रक्षा विभाग, (१०) व्यापार तथा उद्योग विभाग, (११) खाद्य विभाग, (१२) कानून विभाग, (१३) रेलवे विभाग, (१४) परिवहन विभाग, (१५) निर्माण, मकान तथा रसद विभाग, (१६) श्रम विभाग, (१७) उत्पत्ति विभाग, (१८) पुनर्वासन विभाग, (१९) कृषि विभाग, (२०) रियासती विभाग, (२१) संसद् विषय विभाग (२२) रेडियो व सूचना विभाग, (२३) माल तथा व्यय विभाग, (२४) लौह तथा इस्पात विभाग।

उपरोक्त विभाग निम्नलिखित मन्त्रियों के हाथों में हैं :—

(अ) वर्तमान मन्त्रिपरिषद् के सदस्य (Members of Cabinet)।

(१) जवाहर लाल नेहरू—प्रधान मंत्री तथा परराष्ट्र मंत्री एवं अणुशक्ति विभाग के मन्त्री।
(२) श्री गोविन्द वल्लभ पंत—गृह मंत्री।
(३) श्री मथुरा जी रणछोड़ जी देसाई—वित्त मंत्री।
(४) श्री जगजीवनराम—रेल मंत्री।
(५) श्री गुलजारीलाल नंदा—श्रम, रोजगार तथा नियोजन मंत्री।
(६) श्री लाल बहादुर शास्त्री—वाणिज्य तथा उद्योग।
(७) सरदार स्वर्णसिंह—इस्पात, खान तथा जलयान।
(८) श्री के० सी० रेड्डी—गृह निर्माण तथा पूर्ति मंत्री।
(९) श्री अजितप्रसाद जैन—खाद्य तथा कृषि मंत्री।
(१०) श्री वी० के० कृष्ण मेनन—प्रतिरक्षा मंत्री।
(११) श्री एस० के० पाटिल—यातायात तथा संचार।
(१२) श्री हाफिज इब्राहीम—सिंचाई तथा शक्ति।
(१३) श्री अशोक कुमार सेन—विधि मन्त्री।

(ब) राज्य मन्त्री

(१) श्री सत्यनारायण सिंह—संसदीय विषय।
(२) डा० बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर—सूचना तथा प्रसार।
(३) दत्तात्रेय परशुराम करमाकर—स्वास्थ्य।
(४) डा० पंजाबराव एस० देशमुख—खाद्य तथा कृषि।
(५) श्री केशवदेव मालवीय—इस्पात, खान तथा जलयान।
(६) मेहरचन्द खन्ना—पुनर्वास मंत्री।
(७) श्री नित्यानन्द कानूनगो—वाणिज्य तथा उद्योग।
(८) श्री राजबहादुर—यातायात तथा संचार।

(९) श्री बलवन्त नागेश दातार—गृह।
(१०) श्री एम० एम० शाह—वाणिज्य तथा उद्योग।
(११) श्री सुरेन्द्रकुमार दे—सामुदायिक विकास।
(१२) डा० कालूलाल श्रीमाली—शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसंधान।
(१३) श्री हुमायूं कबीर—वैज्ञानिक अनुसंधान तथा संस्कृति।
(१४) श्री बी० गोपाल रेड्डी—आर्थिक विषय।

(ग) उपमन्त्री

(१) सरदार सुरजीतसिंह मजीठिया—प्रतिरक्षा।
(२) श्री आबिदअली—श्रम।
(३) श्री अनिलकुमार चन्दा—गृह निर्माण तथा पूर्ति।
(४) श्री एम० वी० कृष्णप्पा—खाद्य तथा कृषि।
(५) श्री जयसुख लाल हाथी—सिंचाई तथा विद्युत्।
(६) श्री सतीशचन्द्र—वाणिज्य तथा उद्योग।
(७) श्री श्यामनन्दन मिश्र—नियोजन।
(८) श्री बलिराम भगत—वित्त।
(९) श्रीमती तारकेश्वरी सिन्हा—आर्थिक विषय।
(१०) श्री शाहनवाज खाँ—रेल।
(११) श्रीमती लक्ष्मी एन० मेनन—परराष्ट्र।
(१२) श्रीमती वायलेट अल्वा—गृह।
(१३) श्री अहमद मोहिउद्दीन—सिविल एविएशन।
(१४) श्री ए० एम० थामस—खाद्य तथा कृषि।
(१५) श्री एस० वी० कृष्ण स्वामी—रेल।
(१६) श्री पी० एस० नसकर—पुनर्व्यवस्थापन।
(१७) श्री आर० एम० हजरनवीस—विधि।
(१८) श्री के० रघुरमय्या—प्रतिरक्षा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान मन्त्रिपरिषद् में केवल १३ सदस्य हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त १४ राज्य मन्त्री तथा १८ उपमन्त्री हैं। इनके अतिरिक्त आठ संसदीय सचिवों (Parliamentary Secretaries) की भी नियुक्ति की गई है। ये सचिव भी एक प्रकार के मन्त्री हैं क्योंकि इनका पद भी स्थायी नहीं होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात हो जाता है कि मन्त्रिपरिषद् मन्त्रिमण्डल से छोटा होता है। मन्त्रिपरिषद् से तात्पर्य उस समूह (body) से है जो कि

मन्त्रिमण्डल की नीति को निर्धारित करता है। मन्त्रिपरिषद् में केवल १३ मंत्री हो हैं। परन्तु मन्त्रिमण्डल से तात्पर्य उन सब कर्मचारियों से है जो कि लोक-सभा में जब तक उनके दल का बहुमत रहता है सरकार बनाते हैं और यह बहुमत न रहने पर उन्हें पद-त्याग करना होता है। मंत्रिमंडल के मंत्रिपरिषद् के सदस्यों के अतिरिक्त राज्यमंत्री, उपमंत्री तथा संसदीय सचिव सभी सदस्य होते हैं। मन्त्रिपरिषद् (Cabinet) का पदत्याग करना मन्त्रिमण्डल (Ministry) का भी पदत्याग है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में स्थायी कर्मचारी होते हैं। इनमें सबसे मुख्य सेक्रेटरी होता है, उसके नीचे ज्वाइन्ट सेक्रेटरी, डिप्टी सेक्रेटरी, असिस्टेंट सेक्रेटरी आदि होते हैं। इनका पद स्थायी होता है। मन्त्रिपरिषद् बनते बिगड़ते रहते हैं, परन्तु इन पर कोई असर नहीं होता है। इसी स्थायी कर्मचारी वृन्द को Bureaucracy कहा जाता है।

भारत का महान्यायवादी :—इस पदाधिकारी का काम भारत सरकार को कानूनी मामलों में राय देना तथा अन्य ऐसे कानूनी कर्त्तव्य को करना है जो कि राष्ट्रपति उसको समय-समय पर भेजे या सौंपे। इन कर्त्तव्यों के पालन में इस अधिकारी को भारत के सब न्यायालयों में सुनवाई (Audience) का अधिकार दिया गया है।

२६ जनवरी, १९५० को आदेश द्वारा राष्ट्रपति ने महान्यायवादी के पद के सम्बन्ध में निम्नलिखित नियम बनाये :—

उसको ४००० रु० प्रति मास वेतन तथा अन्य भत्ते मिलेंगे। सरकार को कानूनी मामलों में सलाह देने के अतिरिक्त उसका काम भारत-सरकार की तरफ से उच्चतम न्यायालय, तथा उच्च न्यायालयों में उन मुकदमों में लड़ना होगा जिनसे भारत सरकार सम्बन्धित है।

महान्यायवादी अपने पद पर राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त रहेगा। इस पद पर वही व्यक्ति नियुक्ति किया जा सकता है जिसमें उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने की योग्यता हो।

प्रश्न

(१) नवीन संविधान के अनुसार प्रधान मंत्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? प्रधान मंत्री के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों का उल्लेख कीजिये।

(यू० पी० १९५२)

(२) भारतीय संविधान में मन्त्रिपरिषद् का क्या स्थान है?

(३) मन्त्रिपरिषद् तथा राष्ट्रपति के मध्य क्या सम्बन्ध है ?

(४) "प्रधान मन्त्री मन्त्रिपरिषद रूपी वृत्तखंड का मध्य प्रस्तर है।" यह कथन भारत के प्रधान मन्त्री पर कहाँ तक लागू होता है ? (यू० पी० १९५३)

(५) भारतीय मन्त्रिपरिषद् के संगठन तथा उसके अधिकारों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५४)

(६) भारत में मन्त्रिपरिषद् के (१) राष्ट्रपति, तथा (२) लोकसभा के सम्बन्धों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५५)

(७) केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् संगठन एवं उसके कार्यों पर प्रकाश डालिये। (यू० पी० १९५७)

(८) प्रधान मन्त्री की नियुक्ति किसी प्रकार से होती है ? क्या राष्ट्रपति उसे नियुक्ति करने में स्वतन्त्र है। प्रधानमन्त्री के कर्तव्य और अधिकारों की व्याख्या कीजिये। (यू० पी० १९५८)

(९) संघीय मन्त्रिमंडलों में प्रधान मन्त्री का क्या स्थान है ? उसके विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५९)

अध्याय १८

संघीय व्यवस्थापिका

भारत की संघीय-व्यवस्थापिका को संसद (Parliament) कहा जाता है। संविधान द्वारा दो सदनों वाली व्यवस्थापिका की स्थापना की गई है। उसमें कहा गया है कि, "संघ के लिये एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी जिनके नाम क्रमशः राज्य-परिषद् और लोकसभा होंगे।" (धारा ७९)

राज्य-परिषद ऊपरी सदन है। इसमें राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। भारत में अमेरिका की तरह प्रत्येक राज्य को ऊपरी सदन में बराबर प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है। यह जनसंख्या के अनुसार कम या अधिक रखा गया है। तब भी राज्य-परिषद राज्यों की प्रतिनिधि है और इनका काम उनके हितों का संरक्षण है। निचले सदन का नाम लोकसभा है। लोकसभा में भारत की जनता के प्रतिनिधि होंगे।

क्योंकि भारत ने ब्रिटेन की तरह संसद पद्धति को अपनाया गया है इसी कारण राष्ट्रपति को भी व्यवस्थापिका का अंग बना दिया गया है। ब्रिटेन में व्यवस्थापिका को King in Parliament कहा जाता है। अर्थात् राजा व्यवस्थापिका का आवश्यक अंग है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में अध्यक्षात्मक सरकार होने के कारण वहाँ का राष्ट्रपति (अध्यक्ष) व्यवस्थापिका का एक अंग नहीं है। वहाँ के संविधान में केवल कहा गया है कि संघ की व्यवस्थापिका शक्ति कांग्रेस (Congress) में होगी, जो कि सीनेट (Senate) तथा हाउस ऑव रिप्रेजेन्टेटिव्ज (House of Representatives) से बनेगी।

संविधान के अनुसार संसद् का संगठन :—संविधान के अनुसार संसद में दो सदन हैं।—राज्य-परिषद् तथा लोकसभा। संविधान के अनुसार संसद का संगठन सार्वजनिक निर्वाचनों के पश्चात हुआ। २६ जनवरी १९५० को जब नया संविधान लागू हुआ भारत की संविधान सभा ही संसद में परिवर्तित कर दी गई थी तथा उसको वे सब अधिकार दिये गये थे जो कि संविधान द्वारा संसद को दिये गये हैं। इस प्रकार सार्वजनिक निर्वाचनों के बाद संसद के संगठन तक भारत की संसद में केवल एक ही सदन था। द्विसदनात्मक संसद का निर्माण इस निर्वाचन के बाद हुआ।

राज्य परिषद्

यह संसद का ऊपरी भवन है। इसमें राज्यों के प्रतिनिधि आवेंगे। इसमें अधिक से अधिक २५० सदस्य होंगे। इनमें से २३८ सदस्यों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन होगा। ये राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जावेंगे। संविधान में कहा गया है कि ये "ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें निम्न प्रकार के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यवहारिक अनुभव है। अर्थात् साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा।" आयरलैंड के संविधान में भी इस प्रकार का उपबन्ध है।

राज्य परिषद् में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों का विभाजन निम्नोक्त प्रकार से किया गया है

१—आंध्र प्रदेश	१८	१०—पंजाब	११
२—आसाम	७	११—राजस्थान	१०
३—बिहार	२२	१२—उत्तर प्रदेश	३४
४—बम्बई	२७	१३—पश्चिमी बंगाल	१६
५—केरल	९	१४—जम्मू तथा कश्मीर	४
६—मध्य प्रदेश	१६	१५—दिल्ली	३
७—मद्रास	१७	१६—हिमाचल प्रदेश	२
८—मैसूर	१२	१७—मणिपुर	१
९—उड़ीसा	१०	१८—त्रिपुरा	१

इन उपर्युक्त सदस्यों के अतिरिक्त १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हैं।

दिल्ली, हिमाचल प्रदेश तथा मणिपुर-त्रिपुरा के अतिरिक्त अन्य राज्यों के सदस्य वहाँ की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एक परिवर्तनीय मतविधि द्वारा चुने जायेंगे। संघीय क्षेत्रों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन किस प्रकार होगा, इसके निर्णय का अधिकार संविधान द्वारा संसद को प्रदान किया गया है। संसद की विधि द्वारा इसका निश्चय किया जाता है। संसद के द्वितीय सदन के लिये राज्यों के प्रतिनिधियों का अप्रत्यक्ष निर्वाचन दक्षिणी अफरीका के संविधान में भी पाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सीनेट के सदस्यों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है।

सदस्यता के लिए योग्यतायें—राज्यपरिषद् के सदस्य होने के लिये निम्नलिखित योग्यताएं होनी चाहिए —

(१) वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो,
(२) उसकी अवस्था ३० वर्ष की हो चुकी हो,

(३) (अ) कोई व्यक्ति किसी स्वायत्त राज्य से राज्यपरिषद् के लिये सदस्य नहीं चुना जायगा जब तक वह उस राज्य में किसी नागरदीय निर्वाचन-क्षेत्र का निर्वाचक नहीं हो।

(ब) कोई व्यक्ति किसी केन्द्रीय शासित प्रदेश से राज्यपरिषद् की सदस्यता के लिये नहीं चुना जायगा जब तक वह वहाँ के किसी नागरदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक न हो जहाँ कि ऐसे प्रतिनिधि का चुनाव होने वाला हो।

राज्य-परिषद् की सदस्यता के लिये वही योग्यतायें हैं जो लोकसभा के लिए हैं। इनका वर्णन बाद को किया है।

अवधि :—राज्यपरिषद् भंग नहीं होगी। यह स्थायी संस्था है किन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर अपना पद रिक्त कर देंगे।

सभापति तथा उप-सभापति :—भारत का उपराष्ट्रपति राज्यपरिषद् का पदेन (ex-officio) सभापति होता है। हम पहले लिख चुके हैं कि उनका निर्वाचन संसद के सदनों द्वारा किया जायगा। उसकी पदावधि ५ वर्ष है। वह अपना पद से इस्तीफा दे सकता है, या राज्य-परिषद् द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है। इन दशाओं में वह सभापति नहीं रहेगा।

राज्य-परिषद् का एक उपसभापति भी होगा। वह सभापति की अनुपस्थिति में सभापति का आसन ग्रहण करेगा। उसका निर्वाचन राज्यपरिषद् द्वारा ही किया जाता है। उपसभापति को, अगर वह परिषद् का सदस्य न रहे, तो अपना पद छोड़ना पड़ेगा। वह अपने पद से इस्तीफा दे सकता है। राज्यपरिषद् के समस्त तत्कालीन सदस्यों के बहुमत से वह अपने पद से हटाया जा सकता है। परन्तु ऐसे प्रस्ताव को पेश करने के लिये १४ दिन पूर्व सूचना देनी होगी।

राज्य-परिषद् में जब सभापति या उपसभापति के हटाने के लिये प्रस्ताव होगा तब इनमें से जिनके विरुद्ध यह प्रस्ताव हो वह राज्य-परिषद् में उपस्थित रह सकता है परन्तु वह सभापति का आसन ग्रहण नहीं कर सकता और न वह इस अवसर पर मत ही दे सकता है।

राज्य-परिषद् का सभापति (भारत का उपराष्ट्रपति) यथार्थ में राज्य-परिषद् का सदस्य नहीं है। उनको साधारण अवस्था में मत देने का अधिकार नहीं है। वह केवल तभी मत देगा जब कि किसी प्रस्ताव पर पक्ष तथा विपक्ष में बराबर मत हो जायें। इसको निर्णायक-मत (Casting Vote) कहते हैं।

अगर सभापति तथा उप-सभापति दोनों ही अनुपस्थित हों तो राज्य परिषद उस काल के लिये अपने किसी सदस्य को सभापति पद के लिये नियुक्त कर सकती है।

सभापति तथा उपसभापति को वेतन तथा कुछ भत्ते मिलेंगे। इनको स्वयं संसद् कानून बनायेगी परन्तु जब तक संसद् कानून द्वारा इनका निश्चय नहीं करती तब तक इनको वही वेतन तथा भत्ते मिलेंगे जो संविधान लागू होने के पूर्व संविधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को मिलते थे।

• **राज्य परिषद् का सैद्धान्तिक आधार** —राज्य परिषद् जनता की प्रतिनिधि न होकर राज्यों की प्रतिनिधि है, इसी कारण इसका निर्वाचन अप्रत्यक्ष रखा गया है। संघीय व्यवस्था में ऊपरी सदन राज्यों का ही प्रतिनिधित्व करता है। संयुक्त राष्ट्र अमरिका म सीनेट भी इसी प्रकार राज्यों का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु अमरीकी ऊपरी सदन में संघीय राज्यों का प्रतिनिधित्व समान है। भारत में समान प्रतिनिधित्व नहीं रखा गया है।

राज्य परिषद् के द्वारा संविधान निर्माताओं का यह भी उद्देश्य था कि देश के वह विद्वान्, अनुभवी तथा गणमान्य व्यक्ति जो कि राजनीति में भाग लेने से हिचकते हैं, व्यवस्थापन के कार्य में सहयोग दे सकेंगे। इसीलिए राज्य परिषद में यह भी व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति कुछ व्यक्तियों को मनोनीत करता है।

ऊपरी सदन के विषय में यह भी जाना है कि यह निचले सदन की भांति जनता के भावों तथा उत्तेजनाओं से प्रेरित नहीं होता है। यह निर्वाचकों की क्षणिक इच्छाओं तथा आदेशों से अपने को स्वतन्त्र रखकर व्यवस्थापन कार्य करता है। यह विधि निर्माण की गति को धीमा कर देता है। इसके सदस्य जो कि निचले सदन के सदस्यों से अधिक अनुभवी तथा दलगत राजनीति में उतने उलझे नहीं रहते, विधि निर्माण कार्य को अधिक विवेकपूर्ण ढंग से सम्पादित करने में सफल होंगे।

लोक सभा

यह संसद् का निचला तथा मुख्य सदन है। इसमें जनता के प्रतिनिधि होंगे। इस सदन को ऊपरी सदन (राज्य-परिषद्) की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बनाया गया है। संविधान की धारा ८१ में इसके संगठन के विषय में यह उपबन्ध [redacted] कि इसके सदस्यों में से अधिकाधिक ५०० सदस्यों का मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन किया जायगा। इस उद्देश्य से भारत संघ के राज्यों को

प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (territorial constituencies) में बांटा जायगा। यह विभाजन इस प्रकार किया जायगा कि प्रत्येक क्षेत्र की जनसंख्या तथा उसके सदस्यों की जनसंख्या के मध्य जो अनुपात हो वह सदस्य राज्य में यथा सम्भव समान रहे। इसके साथ ही साथ इस बात का ध्यान रखा जायगा कि प्रत्येक राज्य से लोकसभा के लिये सदस्यों की जो संख्या निश्चित की जायगी, उसके तथा उस राज्य की जनसंख्या के मध्य जो अनुपात हो वही यथासम्भव अन्य समस्त राज्यों में भी रहे। देश में अधिकांश निर्वाचन क्षेत्र एक सदस्यीय हैं, अर्थात् उनमें से केवल एक ही सदस्य का निर्वाचन किया जायगा। परन्तु कुछ निर्वाचन क्षेत्र द्वि-सदस्यीय भी हैं, अर्थात् उनमें से दो सदस्यों को चुन कर भेजा जायगा। स्वभावतः ही द्वि-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की जनसंख्या एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की जनसंख्या से अधिक होगी।

इन उपर्युक्त ५०० सदस्यों के अतिरिक्त संघीय क्षेत्रों से (Union territories) अधिकाधिक २० सदस्य लोकसभा में भेजे जायेंगे। इनका निर्वाचन किस प्रकार किया जायगा इसके निश्चय का अधिकार संसद् को दिया गया है। संसद् विधि द्वारा इसका निश्चय करेगी।

लोक सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या निम्नलिखित निश्चित की गई है —

राज्यों के नाम	सदस्य संख्या	राज्यों के नाम	सदस्य संख्या
आन्ध्र प्रदेश	४३	राजस्थान	२२
आसाम	१२	उत्तर प्रदेश	८६
बिहार	५५	पश्चिमी बंगाल	३४
बम्बई	६६	जम्मू काश्मीर	६
केरल	१८	दिल्ली	५
मध्य प्रदेश	३६	हिमाचल प्रदेश	४
मद्रास	४१	मनीपुर	२
मैसूर	२६	त्रिपुरा	२
उड़ीसा	२०	अंडमान	१
पञ्जाब	२२	लंकादीव तथा अमीनदीव	१

इनमें से जम्मू-काश्मीर तथा अंडमान निकोबार के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित न होकर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। जम्मू-काश्मीर की विधान-सभा जिन सदस्यों के नाम की सिफारिश करेगी राष्ट्रपति उन्हीं को नियुक्त करेगा। इनके अतिरिक्त धारा ३३१ के अनुसार राष्ट्रपति द्वारा दो ऐंग्लो इन्डियन सम्प्रदाय के प्रतिनिधि लोक सभा के सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त आसाम के जन-जाति क्षेत्र (पार्ट बी) का प्रतिनिधित्व करने के लिये एक सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है। लकादीप तथा अमीनदीव का एक सदस्य भी राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है।

निर्वाचन की विशेषतायें —ये निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्यक्ष चुनाव —लोकसभा के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव प्रत्यक्ष होगा परन्तु दो राज्यों के प्रतिनिधि जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न चुने जाकर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। जम्मू काश्मीर तथा अन्डमान और निकोबार के प्रतिनिधि मनोनीत होंगे।

(२) वयस्क मताधिकार —संविधान द्वारा भारत के प्रत्येक नागरिक को जो कि २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका है मत देने का अधिकार दिया गया है। इसका फल यह होगा कि करीबन १८॥ करोड़ व्यक्ति चुनाव के अवसर पर मतदान करेंगे। इस संविधान के पूर्व १९३५ के अधिनियम द्वारा केवल १३ प्रतिशत व्यक्तियों को मत देने का अधिकार दिया गया था। उसके पूर्व तो यह और भी कम लोगों को मिला था। १९१९ के अधिनियम द्वारा केवल ३ प्रतिशत व्यक्तियों को यह अधिकार मिला था। इस संविधान के पूर्व निर्वाचक होने के लिए कई योग्यताएं होनी चाहिये थी जैसे सम्पत्ति, आमदनी, साक्षरता, पद, उपाधि आदि। परन्तु नये संविधान में ये कुछ नहीं रखी गई हैं।

कोई व्यक्ति किसी निर्वाचनक्षेत्र (Constituency) में मत दे सके इसके लिए उसमें केवल निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहियें —

(अ) वह २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(ब) वह उस निर्वाचन क्षेत्र में निर्वाचक-सूची में नाम लिखे जाने तक १८० दिन रह चुका हो।

निर्वाचक में निम्नलिखित अयोग्यतायें न होनी चाहिये :

(अ) वह भारत का नागरिक न हो।
(ब) वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो।
(स) वह निर्वाचन के सम्बन्ध में किसी अपराध के लिये अपराधी न हो।

(३) संयुक्त निर्वाचन—संविधान लागू होने के पूर्व भारत में पृथक् निर्वाचन प्रणाली थी। इसका आधार साम्प्रदायिकता थी। परन्तु संविधान द्वारा संयुक्त निर्वाचन प्रणाली की स्थापना की गई है। इसके फलस्वरूप साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त कर दिया गया है।

परन्तु संविधान द्वारा कुछ पिछड़ी हुई जातियों तथा कुछ अल्पसंख्यकों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। परन्तु यह व्यवस्था केवल १० वर्ष के लिये है। अनुसूचित जातियों तथा आदिम जातियों के लिये उनकी जनसंख्या के आधार पर कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। इसी प्रकार एंग्लो-इण्डियन समुदाय के लिये यह उपबन्ध है कि अगर राष्ट्रपति यह समझे कि उनका लोकसभा में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह उस समुदाय के दो सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। यह व्यवस्था भी केवल दस वर्ष के लिये है।

निर्वाचन के लिये प्रबन्ध :—संविधान में एक निर्वाचन-आयोग (Election Commission) की व्यवस्था है। इसकी नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। इसमें एक मुख्य-निर्वाचन आयुक्त तथा उसके मातहत निर्वाचन आयुक्त और सहकारी निर्वाचन आयुक्त होंगे। निर्वाचन आयोग की स्थापना कर दी गई है।

निर्वाचन-आयोग के निम्नलिखित काम हैं :—

(१) संसद के निर्वाचन के लिये निर्वाचकों की सूची तैयार करना;
(२) राज्य के विधानमंडलों के निर्वाचकों की सूची तैयार करना;
(३) देश में होने वाले अन्य निर्वाचनों का निरीक्षण एवं नियन्त्रण;
(४) राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के पदों के निर्वाचन का निरीक्षण एवं नियन्त्रण।

(५) संसद तथा राज्यों के विधान-मंडलों के निर्वाचनों से पैदा हुए सब विवादों तथा सन्देहों के निर्णय के लिये निर्वाचन न्यायाधिकरण (Election Commission) की नियुक्ति करेगा।

इस आयोग की नियुक्ति का उद्देश्य यह है कि निर्वाचन निष्पक्ष हो। निर्वाचन आयुक्तों की सेवा की शर्तों और पदावधि के लिये राष्ट्रपति द्वारा नियम बनाये गये। मुख्य निर्वाचन आयुक्त अपने पद के वैसे कारणों और वैसी रीति के बिना नहीं हटाया जा सकता जैसे कारणों और रीति से उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश हटाया जा सकता है अर्थात् वह अपने पद से केवल तभी हटाया जा सकता है जब कि कदाचार अथवा अयोग्यता के कारण संसद के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा उसके विरुद्ध प्रस्ताव पास होने पर वह राष्ट्रपति के आदेश द्वारा हटा दिया जायगा। किसी अन्य निर्वाचन आयुक्त या प्रादेशिक निर्वाचन आयुक्त को बिना मुख्य निर्वाचन-आयुक्त की सिफारिश के अपने पद से नहीं हटाया जा सकता है।

निर्वाचन के लिये समस्त देश को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित किया गया। संविधान में कहा गया था कि निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण इस प्रकार किया जायगा कि प्रति ७॥ लाख जनसंख्या के लिये एक से कम सदस्य नहीं होगा तथा प्रति ५००,००० जनसंख्या के लिये एक से अधिक सदस्य नहीं होगा। परन्तु संविधान में द्वितीय संशोधन ऐक्ट के द्वारा यह कहा गया कि निर्वाचन क्षेत्रों का निर्माण इस प्रकार होगा कि प्रति ५००,००० जनसंख्या के लिये एक से अधिक सदस्य न हो। इन क्षेत्रों का निर्माण निर्वाचन आयोग का काम है। इसमें एक बात का विशेष ध्यान रखना होगा। वह यह कि जन-संख्या तथा प्रतिनिधियों के बीच जो अनुपात एक क्षेत्र में हो वही करीबन अन्य सब क्षेत्रों में भी हो। प्रत्येक जनगणना के बाद यह निर्वाचन क्षेत्रों का फिर से संगठन करेगा। परन्तु अगर किसी जनगणना का फल उस समय निकले जब कि एक लोक सभा बन चुकी हो तो नये निर्वाचन क्षेत्रों के अनुसार चुनाव तभी होगा जब कि वह लोक सभा भंग हो जावेगी। संसद ने इसी उद्देश्य से एक ऐक्ट भी पास किया है जिसको Delimitation Commission Act of 1952 कहते हैं।

निर्वाचन-आयोग का काम निर्वाचकों की सूची बनाना भी है। प्रत्येक क्षेत्र के निर्वाचकों की एक सूची होगी। इस सूची में केवल धर्म जाति या लिंग के कारण किसी का नाम सम्मिलित होने से नहीं रोका जावेगा। एक व्यक्ति केवल एक ही क्षेत्र से निर्वाचक हो सकता है। अगर उसका नाम गलती से एक से अधिक जगह हो जावे तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उन सब क्षेत्रों से मतदान कर सकता है।

सदस्यता की योग्यता —किसी व्यक्ति में लोकसभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्ताएं होनी चाहिये —

(अ) भारत का नागरिक हो।

(ब) उसकी आयु कम से कम २५ वर्ष की हो।

(स) संसद् ने **The Represention of the People Act, 1951,** द्वारा अन्य योग्ताएँ रखी हैं। इस ऐक्ट के अनुसार जम्मू-काश्मीर राज्य तथा अण्डमान-निकोबार द्वीपों के स्थानों के अतिरिक्त, लोकसभा में अन्य स्थानों के लिए कोई व्यक्ति तब तक योग्य नहीं समझा जावेगा जब तक कि वह—

(१) किसी राज्य में अनुसूचित जातियों **(Scheduled Castes)** के लिये सुरक्षित स्थान से चुने जाने को उस राज्य की या अन्य किसी राज्य की ऐसी जातियों का सदस्य न हो तथा किसी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र के लिए निर्वाचक न हो।

(२) किसी राज्य में (आसाम के स्वायत्त जिलों के अतिरिक्त) अनुसूचित जन जातियों **(Scheduled Tribes)** के लिये सुरक्षित किसी स्थान से चुने जाने को उस राज्य की या आसाम जनजाति क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य किसी राज्य की ऐसी जनजाति का सदस्य न हो तथा किसी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक न हो।

(३) आसाम के स्वायत्त क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के लिये सुरक्षित किसी स्थान के चुने जाने को उनमें से किसी जनजाति का सदस्य न हो तथा किसी ऐसे संसदीय निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक न हो जिसके अन्तर्गत कोई ऐसा जनजाति स्वायत्त क्षेत्र हो।

(४) किसी अन्य स्थान से चुने जाने के लिये किसी संसदीय निर्वाचन क्षेत्र **(Parliamentary Constituency)** का निर्वाचक **(elector)** न हो।

निम्नलिखित प्रकार के व्यक्ति इसके सदस्य नहीं हो सकते हैं :—

(१) अगर वे भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के नीचे कोई लाभ का पद धारण किए हों।

(२) किसी न्यायालय द्वारा पागल करार दे दिये गये हों।

(३) अगर दिवालिये हो।

(४) अगर भारत के नागरिक न हो।

(५) The Representation of the Peoples Act, 1951 नीचे लिखी अयोग्यतायें जोड दी गई है।

(अ) अगर वे निर्वाचन सम्बन्धी किसी अपराध के अपराधी हो,

(ब) अगर किसी अपराध के लिए दो वर्ष से अधिक की सजा पाये हो तथा उनको छूटे हुये अभी ५ वर्ष का समय न हुआ हो;

(स) अगर सरकारी नौकरी मे बेईमानी करने पर निकाले गए हो,

(द) अगर किसी सरकार सम्बन्धित ठेके में हिस्सेदार हो, या किसी सरकार से सम्बन्धित कारखाने में कोई हित हो।

(राज्य-परिषद् की सदस्यता के लिए भी यही अयोग्यताएँ है।)

लोकसभा की अवधि —साधारणतया लोकसभा की अवधि ५ वर्ष है और इसकी समाप्ति पर पुनर्निर्वाचन होगा। परन्तु लोकसभा इसके पूर्व भी भग की जा सकती है। (प्रधानमन्त्री के माँग करने पर राष्ट्रपति इसे भग कर देगा।) परन्तु यदि सकट-काल की घोषणा लागू हो तो उस दशा मे लोकसभा की अवधि ५ वर्ष से अधिक बढाई जा सकती है। इस दशा में ससद विधि के द्वारा इसकी अवधि एक समय मे एक वर्ष से अधिक नही बढा सकती है। परन्तु किसी भी दशा में सकट काल की घोषणा की समाप्ति के पश्चात ६ माह से अधिक नही बढाई जा सकेगी।

लोकसभा के पदाधिकारी —लोकसभा में दो पदाधिकारी होते है—अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष। इनका निर्वाचन लोकसभा अपने सदस्यों में से ही बहुमत द्वारा करती है। उपाध्यक्ष का काम अध्यक्ष की अनुपस्थित में उसके स्थान पर काम करना है। ये अपने पद पर साधारणत तब तक रहेंगे जब तक लोकसभा भग न हो जावे। नयी लोक सभा अपने अध्यक्ष का फिर चुनाव करेगी। परन्तु अध्यक्ष नई लोकसभा के प्रथम अधिवेशन तक अपना स्थान नहीं छोडेगा।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष अगर लोकसभा के सदस्य न रहे तो उन्हें अपना पद छोडना पडेगा। वे अपने पद से इस्तीफा भी दे सकते है। उनके विरुद्ध लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव भी पास कर सकती है। ऐसे प्रस्ताव की कम

से कम १४ दिन पूर्व सूचना देनी होगी। अगर यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो जावे तो उन्हें अपना पद त्यागना पड़ेगा।

अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को वेतन तथा भत्ते मिलेंगे। ये समय समय पर संसद द्वारा निर्धारित किए जावेंगे। परन्तु जब तक संसद इस विषय में कानून नहीं बनाती, उनको वही वेतन तथा भत्ते मिलेंगे जो कि संविधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को मिलते थे।

लोकसभा के अध्यक्ष को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के विरुद्ध लोकसभा में अविश्वास का प्रस्ताव उपस्थित हो तो उसे सभा की कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है। परन्तु वह पीठासीन (preside) नहीं होगा। उसे ऐसे प्रस्ताव पर मत देने का अधिकार है, परन्तु वह इस पर निर्णायक मत नहीं दे सकता है।

इंगलैंड में यह अभिसमय (Convention) है कि अध्यक्ष निर्वाचन होने पर दलबन्दी से अलग हो जाता है। श्री मावलंकर (भूतपूर्व अध्यक्ष) ने एक स्थल पर लिखा है कि भारत में यद्यपि अध्यक्ष निष्पक्षता-पूर्वक अपना काम करता है, परन्तु वह इंगलैंड की कामन्स सभा के अध्यक्ष की तरह दलबन्दी से पूर्णतया अलग नहीं है। ऐसा भारत में शनैः शनैः होगा।[1]

अध्यक्ष का काम लोकसभा की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करना, सभा के अन्दर नियमों का पालन करवाना, मत गिनना तथा उनका फल बतलाना आदि है। वह दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में भी सभापति का आसन ग्रहण करेगा। उसे यह अधिकार है कि वह इस बात का निर्णय करे कि कोई बिल धन-विधेयक (Money Bill) है कि नहीं।

अगर लोकसभा की बैठक में अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष दोनों अनुपस्थित हों तो सभा स्वयं अपने एक सदस्य को अध्यक्ष चुन लेगी। अगर इन दोनों पदाधिकारियों के पद खाली हो जावें तो राष्ट्रपति अस्थायी काल के लिए लोकसभा के किसी सदस्य को अध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर देगा।

गणपूर्ति —लोकसभा तब तक अपना कार्य शुरू नहीं कर सकती है जब तक उसमें एक निश्चित संख्या में सदस्य उपस्थित न हों। यह संख्या, संविधान द्वारा, कुल सदस्य संख्या का दसवाँ हिस्सा रखी गयी है।

1. Parliamentary Life in India—Parliamentay Affairs, Vol. V, No. 1.

संसद् के सदस्यों की उन्मुक्तियां तथा वेतन—संसद् के सदस्य अपना कार्य ठीक प्रकार कर सकें इसलिये उन्हें कई अधिकार तथा उन्मुक्तियां प्रदान की गई हैं। उन्हें भाषण की स्वतन्त्रता है। परन्तु उन्हें संसद् द्वारा निर्मित कार्यवाही व नियमों का पालन करना पड़ेगा। उन पर संसद् अथवा इसकी किसी समिति में दिये हुए किसी भाषण के ऊपर किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। समय-समय पर संसद् उनके अधिकारों के सम्बन्ध में कानून बनावेगी। परन्तु जब तक ऐसे कानून नहीं बनते हैं सदस्यों को वे सब अधिकार दिए गए हैं जो कि इंगलैण्ड में कामन्स-सभा के सदस्यों को प्राप्त हैं। संसद के सदस्य घोर अपराध (felony) तथा देशद्रोह को छोड़कर अन्य किसी अपराध के लिये संसद् के अधिवेशन काल में पकड़े नहीं जा सकते हैं। संसद् विधि द्वारा अपने सदस्यों के वेतन तथा भत्ते निश्चित करती है। संसद् ने यह निश्चय किया है कि इसके सदस्यों को प्रति मास ४००) वेतन तथा अधिवेशन के समय २१) प्रतिदिन की उपस्थिति के अनुसार भत्ता मिला करेगा इसके अतिरिक्त इनको रेल के प्रथम श्रेणी का पास भी मिलेगा जिससे ये भारतवर्ष में कहीं भी आ जा सकते हैं।

संसद् का सचिवालय—संसद् के प्रत्येक सदन का एक-एक सचिवालय (Secretariat) होता है। इनका काम उनके दैनिक कार्य का संचालन है। इसके विषय में संसद् को सब नियम निश्चित करने का अधिकार है।

संसद् की कार्यवाही—किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह एक ही संसद् के दोनों सदनों का सदस्य हो जावे। इसी प्रकार कोई व्यक्ति एक ही समय संसद् का तथा किसी राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य नहीं हो सकता है। वह केवल एक ही स्थान पर रह सकता है। इस विषय में संसद् विधि निर्माण करेगी।

अगर कोई संसद् का सदस्य ६० दिन तक बिना आज्ञा के संसद् के अधिवेशन में अनुपस्थित रहे तो उसकी सदस्यता का अन्त हो जावेगा और दूसरे व्यक्ति का उस स्थान के लिये निर्वाचन होगा।

संसद् के अधिवेशन बुलाने का अधिकार राष्ट्रपति को है। वही उसको स्थगित तथा भंग भी करता है। राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों के अधिवेशन को बुलायेगा। केवल यह शर्त है कि पहले अधिवेशन की आखिरी तारीख तथा दूसरे अधिवेशन की पहिली तारीख के बीच ६ महीने से अधिक समय व्यतीत न हो।

चुनाव के पश्चात् जब संसद् के सदनों का प्रथम अधिवेशन होता है उस

दिन संसद् के प्रत्येक सदस्य को एक शपथ लेनी पड़ती है कि वह संविधान के प्रति श्रद्धा रखेगा तथा अपने पद के कर्त्तव्यों को ठीक प्रकार निबाहेगा। वह शपथ इस प्रकार है।

मैं...अमुक...जो राज्य-परिषद् (अथवा लोकसभा) का सदस्य निर्वाचित (या नामजद) हुआ हूँ, ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा तथा जिस पद को मैं ग्रहण करने वाला हूँ उसके कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करूँगा। इसके बाद दूसरा काम लोकसभा के अध्यक्ष का निर्वाचन है। राज्य-परिषद् का सभापति भारत का उप-राष्ट्रपति होता है।

चुनाव के पश्चात् प्रथम अधिवेशन तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम अधिवेशन में राष्ट्रपति दोनों सदनों को संयुक्त रूप से संबोधित करेगा। राष्ट्रपति के भाषण में देश की परिस्थिति का अवलोकन होता है तथा सरकार की नीति पर प्रकाश डाला जाता है।

संसद का अधिवेशन साधारणतः १०-३० बजे सुबह से ५ बजे शाम तक रहता है। पहले घंटे में प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं और फिर अन्य कार्य किया जाता है। संसद का अधिक समय सरकारी बिलों को दिया जाता है परन्तु कुछ दिन गैर-सरकारी बिलों को भी दिये जाते हैं। संसद् अपने समय का केवल दशमांश गैर-सरकारी बिलों को देती है।

संसद के सदनों में प्रत्येक बात बहुमत से निश्चित होती है। साधारणतः किसी बिल के कानून बनने में दोनों सदनों की स्वीकृति आवश्यक है। परन्तु धन-विधेयक बिना राज्य परिषद की स्वीकृति के भी पास हो सकता है। जब संसद के दोनों सदनों में किसी बिल के ऊपर मतभेद होता है तो उनकी संयुक्त बैठक होती है। उसमें भी बहुमत से ही निर्णय होते हैं।

संसद् के किसी सदन की कार्यवाही तब तक आरम्भ नहीं हो सकती जब तक उसमें गण-पूर्ति (Quorum) न हो। यह सदस्य संख्या का दसवाँ हिस्सा है।

संविधान लागू होने से १५ वर्ष तक संसद में हिन्दी तथा अँग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग हो सकता है। परन्तु सभापति या अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह किसी सदस्य को अपनी भाषा में ही बोलने का अधिकार दे दे अगर वह उपरोक्त दोनों भाषाओं में से किसी में भी नहीं बोल सकता है।

१५ वर्ष समाप्त होने पर सब कार्यवाही हिन्दी में ही हुआ करेगी। संसद की कार्यवाही में मन्त्री गण भाग लेते हैं तथा जिस सदन के सदस्य हों वहाँ मतदान भी करते हैं। महा-अधिवक्ता को कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार है परन्तु मत देने का नहीं।

संसद के अधिकार—इन अधिकारों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है।

(१) कानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार (Legislative)
(२) शासन सम्बन्धी अधिकार (Administrative),
(३) राजस्व सम्बन्धी अधिकार (Financial)।
(४) संविधान में संशोधन का अधिकार (Power of Amendment)।

इनमें से प्रत्येक का क्रमशः वर्णन किया जायेगा।

(१) कानून निर्माण सम्बन्धी अधिकार—प्रत्येक लोकतन्त्रात्मक सरकार में जनता के प्रतिनिधि ही कानून बनाते हैं। अतएव संसद का प्रथम काम कानून बनाना है। संसद उन सब विषयों पर कानून बना सकती है जो कि संघीय सूची में वर्णित हैं। समवर्ती सूची में वर्णित विषयों पर भी संसद को राज्यों की अपेक्षा प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है। अवशिष्ट विषयों पर भी संसद कानून बना सकती है।

केन्द्रीय शासित प्रदेशों में विधि निर्माण का अधिकार संसद को ही है। स्वायत्त राज्यों के विषय में भी यदि राज्य परिषद के दो तिहाई मत से प्रस्ताव पास करने पर संसद इन राज्यों के लिए भी कानून बना सकती है। इस प्रस्ताव का प्रभाव एक समय में केवल एक वर्ष रहेगा। इस काल के अन्दर पास कानूनों का प्रभाव इस एक वर्ष के समाप्त होने पर ६ मास और रहेगा।

जब देश में राष्ट्रपति संकट की घोषणा कर दे उस अवसर पर संसद राज्यों के सूची में वर्णित किसी विषय पर कानून बना सकती है। ऐसे कानूनों का प्रभाव संकट काल समाप्त होने के पश्चात् ६ महीने तक रहेगा। यदि किसी समय दो या अधिक स्वायत्त राज्यों के विधान मंडल ऐसा प्रस्ताव पारित करें कि उनके सम्बन्ध में, राज्य सूची में वर्णित किसी विषय पर संसद ही कानून बनायें तो संसद ऐसा करेगी। यदि किसी अन्य स्वायत्त राज्य का विधान मंडल बाद को उस कानून को स्वीकार कर ले तो वह कानून उस राज्य में भी लागू हो जायगा।

संसद को यह भी अधिकार है कि किसी बाहरी देश से की हुई सन्धि अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में किये हुये किसी निश्चय के पालनार्थ भारत के किसी भी क्षेत्र के लिये विधि निर्माण कर सकती है।

(२) शासन सम्बन्धी अधिकार —जनता के प्रतिनिधियों का काम सरकार की नीति निर्धारित करना है इसके साथ-साथ यह देखना भी है कि इस नीति का कार्यपालिका अनुसरण कर रही है। इसलिए व्यवस्थापिका कार्यपालिका को नियंत्रित भी करती है। अगर ऐसा न हो तो कार्यपालिका मनमानी करने लगे। इसलिए जनता के प्रतिनिधियों का यह काम है कि कार्यपालिका को ऐसा काम करने से रोके जो कि जनता के हितों के विरुद्ध है। मानवीय पद्धति की सरकार में यथार्थ कार्यपालिका अपने पद पर तभी तक रह सकती है जब तक उस पर संसद का विश्वास है। अगर यह विश्वास उठ जावे तो मन्त्रिपरिषद को इस्तीफा देना होगा। संसद शासन सम्बन्धी नीति पर नियन्त्रण, प्रश्न पूछ कर, प्रस्ताव पास कर तथा वादविवाद (*debates*) के द्वारा रखती है।

प्रश्न :—हर एक बैठक के शुरू में कुछ समय प्रश्नों को दिया जाता है। इन प्रश्नों का उद्देश्य सरकार से विविध विषयों के ऊपर जानकारी प्राप्त करना है। सरकार का ध्यान जनता के कष्टों की ओर अथवा किसी सरकारी कर्मचारी द्वारा अधिकारों के दुरुपयोग की ओर आकर्षित करना भी हो सकता है। प्रश्नों की सूचना कुछ दिनों पूर्व देनी होती है। सरकार कभी-कभी प्रश्नों का उत्तर नहीं भी देती है। यह कहा जाता है कि उत्तर सार्वजनिक हित के विरुद्ध होगा। सदस्यों को अधिकार है कि प्रश्नों के उत्तर शासन अधिक स्पष्ट करने के हेतु वे पूरक-प्रश्न भी पूछ सकते हैं। पूरक-प्रश्नों की पहिले से सूचना नहीं देनी होती है।

इन प्रश्नों का बहुत महत्व है। इसके कारण सरकार को सर्वदा चौकन्ना रहना पड़ता है। सरकारी अधिकारी मनमानी करने से डरते हैं तथा भ्रष्ट नहीं होते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इन प्रश्नों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

प्रस्ताव :—प्रस्तावों तथा प्रश्नों में भेद है। प्रस्तावों का उद्देश्य सरकार से किसी विषय पर जानकारी प्राप्त करना नहीं परन्तु सरकार से कोई काम करने की सिफारिश करना है। प्रस्तावों के लिए भी पूर्व-सूचना आवश्यक होती है। पेश होने पर उनके ऊपर बहस होती है। अगर कोई प्रस्ताव पास भी हो जावे तो सरकार पर निर्भर है कि उसको माने या न माने। साधारणतः सरकार उसको कुछ न कुछ महत्व अवश्य देगी।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रस्ताव भी होते हैं। कभी-कभी संसद में काम स्थगित करने के लिए (Adjournment motion) प्रस्ताव रखा जाता है। ऐसा किसी महत्वपूर्ण प्रश्न, या किसी विशेष घटना पर बहस करने के लिए किया जाता है। कभी-कभी जब सरकार का किसी प्रश्न का उत्तर संतोषजनक नहीं होता तब भी ऐसा प्रस्ताव पेश किया जाता है। ऐसे प्रस्ताव प्रश्न के घंटे (Question hour) के पश्चात् रखे जाते हैं। सभापति या अध्यक्ष को अधिकार है कि वह अगर उस बात को महत्वपूर्ण नहीं समझता है तो प्रस्ताव को अस्वीकार कर दे। इस दशा में प्रस्ताव पेश नहीं होगा। अगर अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त हो गयी तो बैठक के आखिरी समय में इस पर बहस होती है। अगर यह पास हो जाय तो सरकार के विरुद्ध निन्दा के प्रस्ताव (Vote of Censure) के समान है इसलिये सरकार की ओर से कोशिश रहती है कि इस प्रस्ताव पर बहस ही होती रहे और निश्चित समय के अन्दर इस पर मत लेने का अवसर न आये। इस प्रकार प्रस्ताव talked out हो जाता है। साधारणतः सरकार की ओर से यह कहा जाता है कि वह कष्ट को दूर करने की चेष्टा करेगी और इस प्रकार प्रस्ताव पर मत लेने का अवसर नहीं उठता है।

तीसरे प्रकार का प्रस्ताव अविश्वास का प्रस्ताव (Vote of no-confidence) कहलाता है। अगर यह पास हो जावे तो मन्त्रिपरिषद् को इस्तीफा देना होगा। ऐसा प्रस्ताव तभी पेश हो सकता है कि जब कि सदस्यों की एक निश्चित संख्या उसके पक्ष में खड़ी हो। इसके लिए एक विशेष दिन निश्चित किया जाता है। परन्तु ऐसे प्रस्ताव का अवसर साधारणतः कभी नहीं आता है। मन्त्रिपरिषद् संसद के अविश्वास के कारण नहीं परन्तु जनता के अविश्वास के कारण त्यागपत्र देती है। इसलिये चुनाव के फलस्वरूप ही मन्त्रिपरिषद् बदलते हैं।

वादविवाद --इससे तात्पर्य यह है कि सरकारी नीति सम्बन्धी किसी विशेष बात पर संसद् में बहस होती है। ऐसी बहस का निश्चय या तो सरकार ही स्वयं करती है या विरोधी दल इसकी माँग रखता है। इस अवसर पर सरकार की नीति की विरोधी दल विस्तृत आलोचना करते हैं और सरकारी पक्ष भी अपनी नीति की विस्तृत व्याख्या करते हैं। इन बहसों से यह लाभ है कि सरकार को यह मालूम हो जाता है कि जनता में उसकी नीति के लिये क्या भावना है।

(३) महाभियोग का अधिकार :—संसद को, जैसा हम लिख चुके हैं, राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का अधिकार भी संविधान द्वारा दिया गया है। इस अधिकार का आशय यह है कि यदि कोई राष्ट्रपति संविधान का अतिक्रमण करे तो संसद, जो कि देश की पूर्ण जनता की प्रतिनिधि है, उसे अपदस्थ कर संविधान की रक्षा करे। राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग का प्रस्ताव संसद के किसी भी सदन में प्रारम्भ हो सकता है।

(४) राजस्व सम्बन्धी अधिकार :—सत्रहवीं शताब्दी में जब यूरोप में प्रजातन्त्रवादी विचार फैल रहे थे तब यह मांग उठी कि no taxation without representation। तब से यह बात सब मानते हैं कि राजस्व तथा वित्त के ऊपर जनता के प्रतिनिधियों का अधिकार है। इसी कारण सर्वत्र लोकतन्त्रात्मक पद्धति में इस विषय पर व्यवस्थापिका का ही अधिकार है। भारत में भी संसद को यह अधिकार दिया गया है। इस प्रकार देश का आय-व्यय संसद ही निश्चित करती है। बिना संसद की स्वीकृति के कोई नया कर नहीं लगाया जा सकता है, किसी प्रकार का खर्च (सिवाय अनिवार्य व्यय के) नहीं किया जा सकता है, न सरकार कोई ऋण ले सकती है। परन्तु एक बात नहीं भूलनी चाहिये कि मन्त्रिपरिषद् संसद में बहुमत दल का नेता होने के कारण जो कुछ चाहता है करवा लेता है। इसलिये यथार्थ में वित्त के ऊपर संसद का अधिकार नाममात्र का होता है। धन सम्बन्धी कोई भी बिल केवल मन्त्रिपरिषद् की ओर से ही पेश हो सकता है और इसके लिये राष्ट्रपति की सिफारिश आवश्यक है। अन्य कोई सदस्य इस प्रकार का बिल पेश नहीं कर सकता।

(५) संशोधन का अधिकार :—जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है संशोधन का प्रस्ताव केवल संसद में ही प्रस्तुत हो सकता है। संसद के किसी भी सदन में ऐसा प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। केवल उन विषयों को छोड़कर जो कि राज्यों के अधिकारों से सम्बन्धित है, अन्य सब बातों में संविधान में परिवर्तन संसद के दोनों सदनों की कुल सदस्य संख्या का बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत होने पर और राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने पर हो जाता है। राज्यों के अधिकारों से सम्बन्धित विषयों पर संशोधन के लिये आधे से अधिक स्वायत्त राज्यों के विधानमंडलों की स्वीकृति भी आवश्यक होती है। राज्यों को अपने विधान में भी परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है।

विधान प्रक्रिया (Legislative Procedure) (१) साधारण बिल की प्रक्रिया —जब किसी विषय में कोई कानून बनाना होता है, तो सर्वप्रथम उस विषय से सम्बन्धित मन्त्रिपरिषद् का विभाग (गैर-सरकारी होने पर सदस्य स्वयं ही) एक प्रारूप (draft) बनाता है। इसको बिल कहते हैं।

कोई भी बिल, सिवाय धन सम्बन्धी तथा आर्थिक तथा बिलों के, संसद के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकता है। धन-सम्बन्धी तथा आर्थिक बिल केवल लोकसभा में ही आरम्भ हो सकते हैं। जब बिल एक सदन में पास हो जाता है, तब वह दूसरे सदन में जाता है। अगर वहाँ भी पास हो गया तो राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने पर कानून बन जाता है।

दोनों सदनों में आपस में किसी बिल के ऊपर मतभेद हो सकता है। अगर कोई बिल एक सदन में तो पास हो गया है, परन्तु दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जावे, या दूसरा सदन उसमें कुछ संशोधन कर दे जो कि पहले सदन को मंजूर न हो या दूसरा सदन उस बिल को छः महीने तक रोके रखे, तो इस मतभेद के होने पर राष्ट्रपति दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक बुलावेगा। इस बैठक में उपस्थित सदनों का बहुमत प्राप्त करने पर यह बिल दोनों सदनों द्वारा स्वीकृति समझा जायगा। परन्तु धन-विधेयकों पर यह बात लागू नहीं होगी।

परन्तु संयुक्त बैठक में—(१) यदि बिल दूसरे सदन द्वारा बिना किसी संशोधन के उस सदन को लौटा दिया गया है, जिसमें कि वह पास हो चुका है, तो सिवाय उन संशोधनों के जो कि बिल के पास होने में देरी के कारण आवश्यक हो गये हैं, और कोई संशोधन नहीं किया जा सकेगा,

(२) यदि बिल दूसरे सदन द्वारा कुछ संशोधनों सहित वापिस किया जाता है, जो कि पहिले सदन को मान्य नहीं है, तो इन संशोधनों के तथा ऐसे संशोधनों के जो कि पास होने में देरी के कारण आवश्यक हो गये हों, अन्य किसी संशोधन पर विचार नहीं किया जा सकेगा।

जब कोई बिल सिवाय धन-विधेयक के दोनों सदनों द्वारा पास होने के बाद राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के लिये भेजा जाता है, तो राष्ट्रपति का यह अधिकार है कि वह अपनी अनुमति दे अथवा न दे। बिना उसकी अनुमति के बिल कानून नहीं बन सकता है। वह बिल को अपनी सिफारिशों के सहित संसद् के पुनर्विचारार्थ यथाशीघ्र वापिस भी कर सकता है। अगर बिल फिर से संसद् द्वारा राष्ट्रपति की सिफारिशों सहित या उनके बिना पास किया जाता है तो

राष्ट्रपति अपनी अनुमति नही रोकेगा। संविधान में यह स्पष्ट नही है कि राष्ट्रपति कितने समय के अन्दर बिल को संसद् के पुनर्विचारार्थ लौटा दे। इसलिये एक तीसरी सम्भावना भी है। राष्ट्रपति विधेयक को अनिश्चित समय के लिये अपने पास पड़ा रहने दे। इस प्रकार हम देखते है कि भारत के राष्ट्रपति की वीटो शक्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

परन्तु राष्ट्रपति की यह वीटो शक्ति (veto power) संसद-पद्धति के सिद्धान्तों से साम्य नही रखता है। इगलैंड में राजा को विशेषाधिकार है कि वह किसी बिल पर अपनी अनुमति न दे परन्तु सन् १७०७ से लेकर आज तक एसा एक भी दृष्टान्त नही मिलता है जब कि उसने अपनी अनुमति न दी हो। यहाँ तक कि अब विद्वानो के अनुसार उसका अनुमति न देना अवैधानिक होगा।

(२) धन-विधेयक विषयक प्रक्रिया :—धन-विधेयकों से तात्पर्य निम्नलिखित विषयों से सम्बन्ध रखने वाले बिलो से है :

(क) किसी कर का लगाना, हटाना, बदलना या उसमें कमी करना।

(ख) भारत सरकार के ऋण लेने या किसी आर्थिक आभार (Financial Obligation) से सम्बन्ध रखने वाले किसी कानून में बदलाव करने सम्बन्धी कोई नियम।

(ग) भारत की संचित-निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा (custody) या ऐसी किसी निधि में धन डालना या उसमें से निकालना।

(घ) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग (appropriation)।

(ङ) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित घोषित करना, अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना।

(च) भारत की संचित निधि के या भारत के लोक लेखे (public accounts) के मध्य धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ-राज्य के लेखाओं (accounts) का लेखा परीक्षण (audit) करना।

(छ) ऊपर उल्लिखित विषयों में से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

अगर कभी यह सन्देह हो कि कोई बिल धन विधेयक है कि नहीं तो लोकसभा के अध्यक्ष का निश्चय अन्तिम होगा।

धन विधेयक केवल लोकसभा में ही आरम्भ हो सकते हैं। बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के ऐसा बिल पेश नहीं किया जा सकता है। ऐसा बिल लोकसभा से पास होकर राज्य-परिषद् में जाता है। अगर राज्य परिषद उसे १४ दिन के अन्दर अपनी सिफारिशों सहित लोकसभा को वापिस कर देती है तो लोकसभा उन सिफारिशों पर विचार करेगी। इसको यह स्वतन्त्रता है कि यह उन सिफारिशों को माने या न माने। अगर नहीं मानती तो बिल बिना इन सिफारिशों के पास समझा जावेगा। अगर राज्य-परिषद् १४ दिन के अन्दर बिल को वापिस नहीं कर देती है तो बिल स्वयमेव पास समझा जायगा। इस प्रकार दोनों में धन विधेयक पर मतभेद होने की स्थिति में संयुक्त बैठक की व्यवस्था नहीं है। राष्ट्रपति धन विधेयक पर अपनी अनुमति नहीं रोकेगा।

राज्य परिषद् को धन-सम्बन्धी बिलों के सम्बन्ध में कोई भी अधिकार नहीं है। इंगलैण्ड में लार्ड सभा को भी १९११ से धन सम्बन्धी बिलों में कोई अधिकार नहीं रह गया है। वह ऐसे बिलों को केवल ३० दिन तक रोक सकती है। भारत में केवल १४ दिन समय दिया गया है। इंगलैंड में भी धन विधेयक कामन्स सभा में ही आरम्भ होते हैं। अमेरिका में धन-विधेयक निचले भवन में ही आरम्भ होते हैं परन्तु ऊपर भवन को उसमें संशोधन का अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग वह खूब खुलकर करता है। ऐसे उदाहरण हैं जहाँ कि सिवाय बिल के नाम (title) के अन्य सब बातें ऊपरी भवन द्वारा बदल दी गई थी।

(३) वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure) —हर साल वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों के समक्ष भारत सरकार का वार्षिक वित्त विवरण रखवायेगा। इसमें भारत सरकार के उस वर्ष के आय व्यय का अनुमान होगा। इस विवरण में दो तरह के व्यय का अनुमान होता है —

(१) वह व्यय जो कि अनिवार्य है।
(२) वह व्यय जिसके लिए संसद् की आज्ञा मांगी जाती है।

अनिवार्य व्यय के ऊपर संसद् में बहस हो सकती है, पर इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। दूसरे प्रकार के व्यय को संसद् चाहे तो पास करे या

कम कर दे, या अस्वीकार कर दे। अनिवार्य व्यय से तात्पर्य उस व्यय से है जो कि संविधान में भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) पर दिखलाया गया है। इसमें नीचे लिखे व्यय आते हैं।

(क) राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ, भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय।

(ख) राज्य-परिषद के सभापति तथा उप-सभापति और लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के वेतन तथा भत्ते।

(ग) भारत सरकार के ऋण पर दिया जाने वाला ब्याज तथा अन्य व्यय।

(घ) उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों का वेतन, भत्ते तथा पेंशन फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों की पेंशन, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की पेंशन तथा संविधान लागू होने के पूर्व ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की पेंशन।

(ङ) भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक का वेतन, भत्ते तथा पेंशन।

(च) किसी न्यायालय के निर्णय के कारण भुगतान के लिए अपेक्षित राशि।

(छ) संघीय लोक-सेवा-आयोग से सम्बन्धित खर्च।

(ज) राजाओं का प्रिवी-पर्स।

(झ) संसद से विधि द्वारा इस प्रकार अनिवार्य घोषित किया हुआ कोई और व्यय।

उपरोक्त व्ययों के अतिरिक्त अन्य व्ययों के लिए राष्ट्रपति की सिफारिश से लोकसभा में माँगें रखी जावेंगी। लोकसभा के इन माँगों को स्वीकार कर लेने पर भारत सरकार के सब प्रकार के व्यय के लिए लोकसभा में एक विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) रखा जाता है। बिना इसके पास हुए संचित निधि में से खर्च नही किया जा सकता है।

अगर वर्ष के बीच में कोई खर्च का नया मद आ जावे जिसका कि बजट में उल्लेख नही है, या किसी विषय पर बजट में स्वीकृत राशि से अधिक खर्च हो जावे तो राष्ट्रपति अनुपूरक तथा अधिकाई माँग (Supplementary and additional grants) कर सकता है। इन माँगों की प्रक्रिया भी साधारण माँगों की तरह है।

लोक सभा को यह भी अधिकार है कि वह वित्तीय प्रक्रिया के पूरे होने के पहले ही सरकार का कुछ पेशगी धन अलग उसका काम चलाने के लिए स्वीकार कर ले। वित्त प्रक्रिया के सम्बन्ध में तीन बातें ध्यान में रखनी चाहिए —

(१) कोई भी धन-विधेयक बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के पेश नहीं हो सकता है।

(२) ऐसा विधेयक केवल लोकसभा में प्रारम्भ हो सकता है तथा राज्य परिषद का इसके ऊपर कुछ भी अधिकार नहीं है।

(३) लोकसभा का यह अधिकार है कि वह बजट को स्वीकार करे अस्वीकार करे या किसी व्यय-राशि को कम कर दे। परन्तु वह न कोई नए कर का सुझाव रख सकती है और न कोई व्यय राशि का बढ़ा सकती है। ऐसे प्रस्ताव केवल किसी मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति की सिफारिश से पेश किए जा सकते हैं।

जब बजट पास हो जाता है तब आय के लिए लगाये जाने वाले करों के प्रस्ताव वित्तीय विधेयक (Financial Bill) के रूप में पेश किए जाते हैं। ये केवल लोक सभा में ही प्रारम्भ हो सकते हैं।

संसद पर एक आलोचनात्मक दृष्टि —भारत की संसद् एक स्वतन्त्र राज्य की संसद् है। इसलिये यह किसी प्रकार के बाहरी नियन्त्रण से बंधी नहीं है। परन्तु भारत में संघात्मक सरकार है इस कारण संघीय संसद् के अधिकार राज्यों के अधिकारों से सीमित है। परन्तु समवर्ती सूची में संसद् की प्रधानता है तथा संकटकाल की घोषणा होने पर यह राज्य-सूची पर भी कानून बना सकती है। अवशिष्ट अधिकार भी इसी को प्राप्त है। संसद् द्वारा बनाया हुआ कोई भी कानून अगर न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिया जाय तो वह फिर लागू नहीं होगा। हम लिख चुके है कि संघ सरकार में न्यायपालिका संविधान की संरक्षक होती है। एकात्मक सरकार में न्यायपालिका को इस प्रकार का अधिकार नहीं होता है उदाहरणार्थ इंगलैंड।

संसद में लोकसभा के लिए वयस्क मताधिकार दिया गया है। इस प्रकार करीबन साढ़े अठारह करोड़ व्यक्ति निर्वाचक है। कुछ लोगों के विचार में भारत की जनता अपढ़ तथा मूर्ख है। इसलिए यह अधिकार सबको ठीक नहीं है। परन्तु लोकतन्त्रात्मक सरकार का आधार ही यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपने भले-बुरे की पहचान है। राज्य-परिषद का निर्वाचन

अप्रत्यक्ष रखा गया है। संघात्मक देशों में साधारणतः ऊपरी सदन में प्रत्येक राज्य के बराबर प्रतिनिधि होते हैं परन्तु भारत में ऐसा नहीं है।

लोकसभा के लिये आनुपातिक-प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) को नहीं अपनाया गया है। इसके लिए यह कहा गया है कि इस प्रणाली का दोष यह है कि इससे देश में अनेक दल बन जाते हैं क्योंकि प्रत्येक को विश्वास तो रहता ही है कि उसके कुछ न कुछ प्रतिनिधि चुने जायेंगे। ऐसी अवस्था में स्थायी मन्त्रिपरिषद् निर्मित नहीं हो सकता है। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि बिना इस प्रणाली को अपनाये हुए जनता का वास्तविक-प्रतिनिधित्व असम्भव है। कुछ लेखकों ने इंगलैंड के लिए भी आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अपनाने को लिखा है, उदाहरणार्थ रामजे म्यूर।

निर्वाचन में साम्प्रदायिक-प्रतिनिधित्व तथा पृथक् निर्वाचन प्रणाली के लिये भी स्थान नहीं रखा गया है।

लोकसभा जनता की प्रतिनिधि है तथा राज्य-परिषद राज्य की। संविधान द्वारा राज्यपरिषद को पूर्णतया शक्तिहीन बनाया गया है। साधारण बिलों के ऊपर अगर राज्यपरिषद कोई संशोधन करे जिसे लोकसभा न माने तो संयुक्त बैठक की व्यवस्था है। परन्तु लोकसभा के सदस्यों की संख्या राज्यपरिषद से दूनी है, इसलिए साधारणतः संयुक्त बैठक में भी लोकसभा की ही बात रहेगी। धन-विधेयकों पर तो राज्यपरिषद का इतना भी अधिकार नहीं है। अधिक से अधिक उन्हें १४ दिन तक रोक सकती है।[1]

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी बिल पर अपनी अनुमति दे, या इसे संसद के विचारार्थ एक संदेश सहित फिर लौटा दे। इसको veto कहते हैं। परन्तु अगर संसद लौटाये हुए बिल को फिर से साधारण बहुमत से पास कर दे तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति नहीं रोक सकता है। ऐसी शक्ति अन्य देशों में भी कार्यपालिका के मुखिया के पास है। इंगलैंड में सम्राट को absolute veto का अधिकार है। परन्तु यह कभी प्रयुक्त नहीं होता है। कुछ लेखकों के मत में अब यह अधिकार रह नहीं गया है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति को भी veto का अधिकार है। परन्तु अगर वहाँ की काँग्रेस फिर से उस बिल को दो तिहाई बहुमत द्वारा पास

1. इस विषय पर आगे पूरी प्रकार से विचार किया गया है।

कर दे तो राष्ट्रपति अपनी अनुमति नहीं रोक सकता है। क्योंकि भारत में संसदीय-सरकार है इसलिए राष्ट्रपति अपने veto का मंत्रिपरिषद की राय से प्रयोग करेगा।

संसद के दो सदनों के मध्य सम्बन्ध —प्रधान मंत्री ने ६ मई १९५३ को संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में कहा था कि संविधान दोनों सदनों को समान मानता है केवल वित्तीय विषय लोकसभा के ही अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। वित्तीय विषयों के निश्चय करने में लोकसभा का अध्यक्ष ही अंतिम निर्णायक है। परन्तु यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय संविधान में ऊपरी सदन न केवल द्वितीय सदन है अपितु गौणसदन है तथा संविधान निर्माताओं का उद्देश्य ही इसे गौण सदन बनाने का था।

राज्य परिषद् यद्यपि राज्यों की प्रतिनिधि सभा है तथापि इसकी यह स्थिति भी सुदृढ़ नहीं है। क्योंकि यह नहीं भूलना चाहिए कि राज्य परिषद में संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व नहीं है जैसा कि हम अमरिकी द्वितीय सदन (सीनेट) में पाते हैं। राज्य परिषद में विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के आधार पर रक्खा गया है। भारत की राज्य परिषद में यह भावना दृष्टिगोचर नहीं होती कि यह संघीय इकाइयों की संरक्षक है जैसा कि अमरिकी सीनेट में होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि मंत्रिपरिषद के सदस्य राज्य-परिषद् के भी हो सकते हैं और प्रधान मंत्री भी राज्य-परिषद् का ही सदस्य हो सकता है परन्तु मंत्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है न कि राज्य परिषद के प्रति। इस कारण यह स्वाभाविक है कि लोकसभा का महत्व अधिक हो जायगा। इसके साथ ही साथ लोकसभा का निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप

---

1 कुछ लेखकों ने लिखा है कि भारत के राष्ट्रपति का veto किसी विल को केवल स्थगित कर सकता है। परन्तु राष्ट्रपति की यह शक्ति इससे कहीं अधिक है

The veto power of our President is a combination of the absolule suspensive and pocket vetoes Basu Ibid p 340

2 The Constitution treats the two Houses equally except in certain financial matters which are to be the sole purview of the House of the People In regard to what these are the speaker is the final authounty Pt Nehru in May 6th 1953

से होता है और लोकसभा जनता की प्रतिनिधि है, इस कारण भी लोकसभा का महत्व बढ़ जाता है।

राज्य-परिषद् को, जैसा बतलाया जा चुका है, राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में तथा राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग प्रस्तावित करने में भाग लेने के अधिकार दिये गये हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त राज्य-परिषद् के कोई कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार नहीं हैं।

व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी संसद् के दोनों सदनों के समान अधिकार नहीं हैं। वित्तीय व्यवस्थापन के सम्बन्ध में लोकसभा की स्थिति प्रधान है तथा राज्य सभा के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। वित्तीय तथा धन सम्बन्धी विधेयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। इस सदन में पारित होने पर यह द्वितीय सदन को भेजा जाता है। द्वितीय सदन इस विधेयक को चौदह दिन के अन्दर अपनी सिफारिशों सहित लोकसभा को वापिस करदे। लोकसभा इन सिफारिशों को माने या न माने। यदि राज्यपरिषद् १४ दिन के भीतर इसे वापिस नहीं करती तो यह उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा जिस रूप में यह लोकसभा में पास हुआ था।

साधारण विधेयकों के सम्बन्ध में यद्यपि दोनों सदनों के अधिकार समान रख गये हैं तथा मतभेद होने पर संयुक्त बैठक में लोकसभा की सदस्य संख्या, राज्यपरिषद् से लगभग दुगुनी होने के कारण यह स्वाभाविक है कि लोकसभा का ही दृष्टिकोण माना जायगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि लोकसभा ही संसद का प्रभावी तथा प्रमुख सदन है। इस स्थिति में परिवर्तन सम्भव नहीं है। अमेरिका के संविधान निर्माताओं का भी यही विचार था कि वहाँ का निचला सदन जो प्रतिनिधि सभा कहलाता है प्रमुख सदन होगा। किन्तु वहाँ कालान्तर में इसके विपरीत, अनेक कारणों से ऊपरी सदन प्रमुख सदन हो गया। परन्तु भारत में ऐसा होना असम्भव है। इसका कारण यह है कि यहाँ संसदीय व्यवस्था है। फलस्वरूप कार्यपालिका का मुख्य उत्तरदायित्व लोकसभा के प्रति ही रहेगा।

भारत का नियन्त्रक महालेखा परीक्षक:—इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा होती है। उसका वेतन तथा सेवा की शर्तें संसद विधि द्वारा निश्चित करेगी। प्रत्येक व्यक्ति जो इस पद में नियुक्त किया जायगा राष्ट्रपति के सम्मुख अपने पद की शपथ लेगा। अपने पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार

व अधीन और कोई पद नही ग्रहण कर सकता है। वह अपने पद से केवल उसी प्रकार हटाया जा सकता है जैसे उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश अर्थात जब ससद के दोनो सदन एक ही अधिवेशन में सब सदस्यो के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति से उसका हटाने की प्रार्थना कर।

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक का काम बहुत महत्वपूर्ण है। वह यह देखता है कि प्रत्यक विभाग उतना ही खर्च करे तथा उन्ही विषयो पर खर्च कर जितना कि ससद ने निश्चित किया है। सविधान में यह कहा है कि वह सघ राज्यो तथा अन्य अधिकारियो के लेखाओ के सम्बन्ध म ऐसे कर्तव्यो का पालन करेगा जैसा कि ससद निश्चय करे। परन्तु जब इस विषय में ससद कानून नही बनाती है तब तक उसके काम वही होंगे जो कि सविधान लागू होने के पहले भारत के महालेखा परीक्षक के काम थे। सघ तथा राज्यो के लेखाओ को किस प्रकार रखा जावे इसका निश्चय वह राष्ट्रपति के अनुमोदन से करेगा। उसके सघ लेखा सम्बन्धी रिपोर्टों को ससद में रखवावेगा। राज्य लेखा सबधी रिपोर्टों को राज्यपाल उस राज्य के विधानमण्डल के सामने रखवायेंगे।

नियन्त्रक महालेखा परीक्षक को ससद म भाग लेने का अधिकार है परन्तु मतदान का नही।

मई १९५३ के प्रारम्भ में ससद द्वारा एक विधयक [The Comptroller and Auditor General (Condition of Service Bill) 1953] स्वीकृत किया गया है जिसके अनुसार इस पदाधिकारी का कार्यकाल ५ वर्ष के स्थान पर ६ वर्ष कर दिया गया है। यह भी इस विधेयक द्वारा निश्चित किया गया है कि अवकाश ग्रहण करने पर उसे १२००० प्रति वर्ष पेंशन मिलेगी।

परिशिष्ट

(अ) भारत ससार म सबसे बडा लोकतन्त्रात्मक देश है। यहाँ निर्वाचको की सख्या, गत निर्वाचन (१९५७) में १९ २१ २९ ९२४ थी। पिछले निर्वाचन के समय इनकी सख्या केवल १७ करोड ३२ लाख थी। विभिन्न राज्यो में निर्वाचको की सख्या इस प्रकार थी।

आंध्र	१,७६,६०,६६५	पंजाब	९१,१२,५४३
आसाम	४३,७५,०८९	राजस्थान	८६,९३,०३१
बिहार	१,९५,६३,७४७	उत्तर-प्रदेश	३,४७,७०,४३४
बम्बई	२,४३,८६,५२५	पश्चिमी बंगाल	१,५१,८१,०६१
केरल	७५,५९,०४७	दिल्ली	९,७६,३९१
मध्य प्रदेश	१,३८,८०,२०९	हिमाचल प्रदेश	६,८४,६२८
मद्रास	१,७५,९९,०५६	मनीपुर	३,३०,१११
मैसूर	१,०१,२३,६१८	त्रिपुरा	३,४५,८४९
उड़ीसा	७९,५१,८०५		

(ब) १९५७ के निर्वाचन में लगभग ४९·२ प्रतिशत मतदाताओं ने मत दिया। गत निर्वाचन में केवल ४४·२ प्रतिशत ने भाग लिया था।

लोक सभा के लिये समस्त देश में ३८५ एक सदस्यीय तथा ८ द्विसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र स्थापित किये गये थे। ७४ स्थान परिगणित जातियों तथा ३१ स्थान परिगणित जन-जातियों के लिये सुरक्षित रखे गये थे। इस चुनाव में कोई भी निर्वाचन क्षेत्र त्रिसदस्यीय क्षेत्र नहीं था।[1]

भारत की विशाल जनसंख्या के कारण निर्वाचन अत्यन्त ही बड़ा काम है। निर्वाचन आयोग को इस बार लगभग २९,६०,००० लोहे की मतपेटियाँ बनवानी पड़ीं और दस लाख से भी अधिक कर्मचारी को चुनाव कार्यों में लगाना पड़ा।

इस बार निर्वाचन के लिये २ लाख से कुछ अधिक निर्वाचन घरों (polling stations) की आवश्यकता हुई। गत चुनाव में केवल १,९९,८४४ निर्वाचन-घर थे।

(स) निर्देशन पत्र—निर्वाचन के लिये खड़े होने वाले प्रत्याशी (candidate) के लिये यह आवश्यक था कि वह निर्वाचन अधिकारी द्वारा घोषित नियत तिथि से पूर्व अपना निर्देशन पत्र दो मतदाताओं के हस्ताक्षर सहित, एक नाम प्रस्तुत करने वाला (proposer) तथा दूसरा अनुमोदन करने वाला (seconder) तथा उस पर अपनी लिखित सहमति के निर्वाचन अधिकारी को स्वयं अथवा इन उपर्युक्त दो व्यक्तियों में से किसी एक द्वारा जमा करदे। यदि वह संसद के लिये प्रत्याशी था तो उसे ५००) अपने निवेदन पत्र के साथ जमा करना होता था।

1 ये आंकड़े Hindustan Year Book 1957, p. 630-631 से लिये गये हैं।

इन निवेदन पत्रों की निर्वाचन अधिकारी द्वारा जांच होती है और जो ठीक समझे जाते हैं केवल वही प्रत्याशी निर्वाचन में खड़े हो सकते हैं। इसके पश्चात् इनको कुछ समय इसके लिये भी दिया जाता है कि यदि वे चाहें तो अपना नाम वापिस ले सकते हैं।

(द) मतदान पूर्णतः गुप्त होता है। प्रजातन्त्र की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि मतदाता स्वतन्त्रतापूर्वक तथा निर्भीकता से मतदान करें। इस लिये गुप्त मतदान आवश्यक है।

निर्वाचन के पश्चात् मतगणना होने पर जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं वह निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

यदि कोई प्रत्याशी निर्वाचन से असन्तुष्ट है कि निर्वाचन ठीक प्रकार नहीं हुआ तो उसके लिये यह व्यवस्था की गई है कि वह निर्वाचन-पत्रिका (election petition) देकर निर्वाचन-न्यायालय के सम्मुख अपना मामला रख सकता है। इस निर्वाचन-न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता है।

प्रश्न

(१) संघ संसद् के विशेषाधिकारों की शक्तियों का वर्णन कीजिये। क्या संसद् संविधान में संशोधन कर सकती है? यदि कर सकती है तो किस प्रकार? (यू० पी० १९५१)

(२) लोकसभा के निर्माण का वर्णन कीजिये। इस सभा के अधिकारों की तुलना राज्यपरिषद के अधिकारों से कीजिये। (यू० पी० १९५२)

(३) संसद में विधान-प्रक्रिया क्या है, इसको समझाइये।

(४) लोक सभा और राज्यपरिषद के पारस्परिक सम्बन्ध बतलाइये। (यू० पी० १९५४)

(५) भारतीय संसद के अधिनियम बनाने के अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५५)

(६) भारतीय लोकसभा की रचना और उसके अधिकारों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५६)

(७) भारतीय संसद के दोनों सदनों, लोक सभा और राज्य-सभा के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५८)

अध्याय ११

राज्यों का शासन

प्रत्येक संघ में एक संघ सरकार तथा कुछ राज्यों की सरकार होती है। भारत में ऐसा ही है। संघ सरकार का हम वर्णन कर चुके हैं। अब राज्यों के शासन-प्रबन्ध को देखना चाहिये। जैसा पहले बतलाया जा चुका है राज्य पुनर्गठन विधेयक के कारण, संविधान में जो संशोधन हुआ, उसके फलस्वरूप भारत संघ के अन्तर्गत राज्यों को दो कोटियों में रखा गया है। इनमें से प्रथम कोटि राज्य स्वायत्त राज्य हैं। इनके साथ ही साथ वहाँ उत्तरदायित्वपूर्ण शासन है। कार्यपालिका विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। संघ की ही प्रकार यहाँ भी संसदीय पद्धति की सरकारें स्थापित की गई हैं। एवम् साधारण रूप से संघ सरकार तथा इन राज्यों की सरकारों में काफी साम्य है। कानून बनाने की पद्धति तथा विधान-सभाओं की कार्य-प्रणाली संघ की ही तरह है।

इन राज्यों के अन्तर्गत जम्मू-काश्मीर की विशेष स्थिति है। इस राज्य का शासन इसके द्वारा स्थापित संविधान निर्मात्री सभा के द्वारा निर्मित हुआ है। इसलिये हम इसका पृथक वर्णन करेंगे।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त ७ केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र हैं। ये स्वायत्त राज्य नहीं हैं और इनका शासन केन्द्र द्वारा नियुक्त प्रशासक के द्वारा होता है।

स्वायत्त राज्यों का शासन - (१) कार्यपालिका

राज्यपाल :—इन राज्यों का प्रधान राज्यपाल कहलाता है। संविधान में कहा गया है कि राज्य की कार्यपालिका शक्ति, राज्यपाल में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा। इससे यह न समझना चाहिये कि राज्यपाल यथार्थ शक्ति है। यथार्थ में शक्ति तो मन्त्रिपरिषद के हाथ में है। राज्यपाल तो केवल वैधानिक प्रधान है। सब काम उसके नाम में किया जायगा, परन्तु सब मन्त्रिपरिषद द्वारा किया जायगा। इसलिये हमने आरम्भ में कहा था कि संघ के राष्ट्रपति तथा राज्यपाल की स्थिति में कोई अन्तर

नहीं हैं। परन्तु राज्यपाल को राष्ट्रपति की तरह परराष्ट्रनीति सम्बन्धी सैनिक तथा सङ्कटकालीन अधिकार नहीं हैं। इसके अतिरिक्त राज्यपाल कुछ विषयों में राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी भी है।

नियुक्ति —राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति का है। यहां पर एक प्रश्न उठता है कि जब सघ के प्रधान का चुनाव होता है तो राज्य के प्रधान का चनाव क्यों न हो? अमेरिका में राज्यों के गवर्नर का जनता द्वारा सीधा चुनाव होता है। भारत ने यह पद्धति स्वीकार न कर ब्रिटिश उपनिवेशों मे प्रचलित पद्धति का स्वीकार किया है। कनाडा तथा अन्य उपनिवेशो में गवर्नर की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती है। संविधान सभा में कुछ सदस्यों का यह मत था कि राज्यपाल का जनता द्वारा निर्वाचन होना चाहिए। परन्तु इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए गए और अन्त में यही निश्चित हुआ कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जावेगा।

(१) राज्यपाल केवल वैधानिक प्रधान है इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि वह राज्य के समस्त मतदाताओं द्वारा निर्वाचित हो।

(२) अगर राज्यपाल का जनता द्वारा निर्वाचन हुआ तो उसमें तथा मन्त्रि-परिषद में सघर्ष की बहुत अधिक सम्भावना रहेगी। क्योंकि वह इस बात को नहीं भूल सकता कि मन्त्रियों की ही तरह वह भी जनता का प्रतिनिधि है।

(३) समस्त जनता द्वारा निर्वाचित होने मे व्यर्थ ही समय तथा धन की हानि होती है।

(४) निर्वाचन से यह भी सम्भव था कि राज्य की सरकार की एकता तथा स्थायित्व सङ्कट में हो जाते। राज्यपाल भी दलबन्दी म पड जाता।

(५) राष्ट्रपति द्वारा अगर राज्यपाल मनोनीत होगा तो राज्यों के ऊपर सघ सरकार की शक्ति और मजबूत हो जायेगी।

इन कारणो से यही उचित समझा गया कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत हो तथा दूसरे राज्य का निवासी हो। इससे वह राज्य के अन्दर की दल बन्दी से ऊपर रहेगा।

राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेगा। परन्तु साधारणत उसका कार्यकाल ५ वर्ष होगा। इससे पूर्व अगर वह अपना पद छोड़ना चाहे तो वह राष्ट्रपति को त्यागपत्र दे सकता है। अपना कार्यकाल समाप्त हो जाने पर भी राज्यपाल तब तक अपने पद पर काम करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले।

पद के लिए योग्यताएँ तथा शर्तें :—राज्यपाल नियुक्त होने के लिए दो योग्यतायें आवश्यक हैं वह व्यक्ति भारत का नागरिक होना चाहिये तथा उसकी आयु कम से कम पैंतीस वर्ष की पूरी होनी चाहिए।

राज्यपाल न तो संसद् के किसी सदन का, और न के किसी राज्य के विधान-मण्डल के किसी सदन का सदस्य होना चाहिये। अगर वह इन दोनों में से किसी का सदस्य हुआ तो राज्यपाल के पद ग्रहण की तारीख से उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी। राज्यपाल अन्य कोई लाभ का पद नहीं धारण कर सकता है।

वेतन :—राज्यपाल का वेतन, भत्ते आदि संसद् कानून द्वारा निर्धारित करेगी। परन्तु जब तक संसद् इसके विषय में कानून नहीं बनाती तब तक राज्यपाल को ५,५०० रुपया मासिक वेतन तथा अन्य भत्ते आदि दिये जायेंगे। उसको बिना किराया दिये एक निवास-स्थान दिया जायेगा। उसके कार्यकाल में उसके वेतन, भत्ते आदि में कोई कमी नहीं की जावेगी।

यदि दो या अधिक राज्यों के लिये एक ही राज्यपाल की नियुक्ति हो तो इन राज्यों के बीच उसके वेतन आदि का खर्च किस अनुपात में बाँटा जाय, इसका निश्चय राष्ट्रपति द्वारा किया जायगा।

शपथ :—प्रत्येक राज्यपाल को अपने पद ग्रहण करने से पहले उस राज्य के उच्चन्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के सम्मुख निम्नलिखित प्रतिज्ञा करनी होगी तथा उस पर अपने हस्ताक्षर करने होंगे।

मैं...अमुक, ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक...(राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन (अथवा राज्य के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं...(राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।

अधिकार :—राज्यपाल के अधिकारों को चार भागों में बाँट सकते हैं। इनमें से प्रत्येक का क्रमशः वर्णन किया जावेगा।

(१) **कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार** :—संविधान में यह कहा गया है कि राज्यपाल में राज्य की कार्यपालिका शक्ति निहित है। इस शक्ति का प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा करेगा। राज्य की कार्यपालिका

शक्ति का विस्तार उन विषयों तक होगा जिनके बारे में उस राज्य का विधान मण्डल कानून बना सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सब विषय जो कि राज्य सूची में वर्णित हैं इसके क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। समवर्ती सूची में वर्णित विषयों पर क्योंकि संघ संसद को प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है इसलिए उन विषयों पर संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्य की कार्यपालिका शक्ति के ऊपर है। राज्य के सरकार की सारी कार्यपालिका कार्यवाही राज्यपाल के ही नाम से की हुई कही जायेगी।

राज्यपाल मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करेगा तथा उसकी राय के अनुसार अन्य मन्त्रियों की। वह राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिये तथा मन्त्रियों में उसका विभाजन करने के लिए नियम बना देगा। राज्य के मुख्य मंत्री का कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को मन्त्रि परिषद के निर्णय की सूची देता रहे।

राज्यपाल को कुछ उच्च सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार है उदाहरणार्थ राज्य का महाधिवक्ता (Advocate General) पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य आदि।

(२) कानूनी सम्बन्धी अधिकार --राज्यपाल राज्य के विधान-मण्डल का एक भाग है। उसको राज्य के विधान मण्डल के एक सदन या दोनों सदनों के अधिवेशन को समय समय पर आमन्त्रित करने का अधिकार है। परन्तु पहले अधिवेशन की आखिरी तारीख तथा दूसरे अधिवेशन की पहली तारीख के बीच ६ महीने से अधिक समय नहीं होना चाहिये। उसे विधान मण्डल को स्थगित करने तथा भंग करने का भी अधिकार है। उस विधानमण्डल के एक सदन अथवा दोनों सदनों को संयुक्त रूप से सम्बोधित (Address) करने तथा उन्हें लिखित सन्देश भेजने का अधिकार है। जिन राज्यों में विधान मण्डल में ऊपरी-सदन (राज्यपरिषद) हैं वहाँ राज्यपाल उसमें कुछ सदस्यों को मनोनीत करेगा जिनको साहित्य विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन तथा सामाजिक सेवा के बारे में विशेष ज्ञान या अनुभव है। वह अगर यह सोचे कि विधान सभा में ऐंग्लो इंडियन समुदाय का प्रतिनिधित्व समुचित रूप से नहीं हुआ है तो वह उस समुदाय के कुछ सदस्य विधान सभा में मनोनीत कर सकता है।

प्रत्येक बिल जो कि राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास हो गया हो राज्य-पाल के सामने उसकी अनुमति के लिए उपस्थित किया जायगा। बिना इस

अनुमति के वह कानून नहीं हो सकता है। राज्यपाल किसी ऐसे बिल को अनुमति दे या न दे। राज्यपाल किसी ऐसे बिल को जो कि धन विधेयक (Money Bill) नहीं है, अपनी सिफारिश के साथ फिर से विधान-मण्डल को लौटा सकता है। परन्तु अगर विधानमंडल ने इस बार इस बिल को फिर से पास कर दिया तो राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी ही पड़ेगी।

राज्यपाल किसी बिल को जो कि विधानमण्डल द्वारा पास हो गया हो, राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित कर सकता है। अगर कोई बिल ऐसा है जो कि राज्य के उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करता है तो राज्यपाल ऐसे बिल को अवश्य राष्ट्रपति के विचारार्थ रोकेगा। राष्ट्रपति राज्य द्वारा उसके विचारार्थ रक्षित किसी बिल को अपनी स्वीकृति दे या न दे। धन-विधेयक के अतिरिक्त, किसी अन्य विधेयक को राष्ट्रपति राज्य के विधान-मंडल को अपने सन्देश सहित लौटा सकता है। राज्य के विधान-मण्डल को ऐसा सन्देश मिलने के ६ महीने के अन्दर उस पर फिर से विचार करना पड़ेगा। अगर वह बिल फिर से पास हो गया तो वह फिर से राष्ट्रपति के सम्मुख उसकी सम्मति के लिये भेजा जायगा। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अपनी सम्मति दे या न दे। अगर उसकी सम्मति प्राप्त न हुई तो वह बिल रद्द हो जायगी।

अगर राज्य का विधान-मंडल अधिवेशन में न हो तो राज्यपाल आवश्यकता होने पर उन सब विषयों पर अध्यादेश बना सकता है, जिन पर कि राज्य के विधान मंडल को कानून बनाने का अधिकार है। ऐसे किसी अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो राज्य के विधान-मण्डल द्वारा बनाए हुए किसी कानून का, किन्तु प्रत्येक ऐसा अध्यादेश राज्य के विधान-मंडल के सम्मुख रखा जायगा। विधान-मण्डल के अधिवेशन आरम्भ होने के ६ सप्ताह बाद अध्यादेश रद्द हो जायगा। इसके पूर्व ही यह रद्द हो सकता है अगर, विधान-मण्डल इसको रद्द कर दे तो राज्यपाल भी इसको किसी समय लौटा सकता है।

कुछ विषयों पर राज्यपाल बिना राष्ट्रपति के अनुदेशों के अध्यादेश नहीं बना सकता है। ये निम्नलिखित है :—

(१) उस राज्य के साथ या भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर लोकहित की दृष्टि से कोई युक्तियुक्त रोक लगाना चाहता हो। इस विषय का कोई बिल भी बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के राज्य विधान मण्डल में पेश नहीं किया जा सकता है।

(२) अगर अध्यादेश में ऐसे उपबन्ध हो जैसे कि किसी बिल में होने पर वह उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करना आवश्यक समझता है। जैसे राज्य के उच्चन्यायालय की शक्ति कम करने वाले।

(३) अगर अध्यादेश में ऐसे उपबन्ध हो जैसे किसी बिल में होने पर उसके लिये संविधान के अधीन राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती। उदाहरणार्थ, राज्य के अन्तर्गत किसी सम्पत्ति पर कब्जा करने के लिए, उन वस्तुओं पर कर लगाने के लिये जो कि संसद ने समुदाय के जीवन के लिये आवश्यक घोषित कर दी हों जो समवर्ती सूची में वर्णित विषय पर हो पर जो संसद् द्वारा बनाए हुए किसी कानून के विरुद्ध पड़ते हों या कुछ विशेष अवस्थाओं में पानी तथा बिजली पर कर लगाने के लिये [धारा २८८ (२)]।

(३) न्याय सम्बन्धी अधिकार —राज्यपाल का यह अधिकार है कि राज्य के किसी कानून के विरुद्ध किसी अपराध के लिए दण्डित व्यक्ति के दंड को वह क्षमा कर सकता है, कम कर सकता है तथा कुछ समय के लिये रोक सकता है। परन्तु अगर कोई व्यक्ति संघ-सरकार के कानून का उल्लंघन करने के अपराध में दण्डित हुआ है तो राज्यपाल उस अवस्था में कुछ नहीं कर सकता है। उसे प्राणदण्ड क्षमा करने या कम करने का भी अधिकार नहीं है। आखिरी दोनों मामलों में जैसा पहले बतलाया जा चुका है राष्ट्रपति का ही अधिकार है।

(४) राजस्व सम्बन्धी अधिकार —विधान सभा में कोई भी धन विधेयक उसकी सिफारिश के बिना पेश नहीं किया जा सकता है राज्य की आकस्मिकता निधि में से किसी आकस्मिक व्यय के लिये विधान मण्डल कि आज्ञा के पहले ही रुपया दे सकता है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष (financial year) के प्रारम्भ में वह विधान मण्डल के सम्मुख उस वर्ष के अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण प्रस्तुत करेगा। इसको वार्षिक वित्तीय विवरण (Annual financial statement) कहते हैं।

मन्त्रिपरिषद् —राज्य के मन्त्रिपरिषद् का संक्षेप में ही वर्णन किया जायगा क्योंकि इसमें तथा संघीय मन्त्रिपरिषद में सैद्धान्तिक दृष्टि से करीबन पूरी समानता है। संघ में तथा राज्यों में दोनों स्थलों में संसदीय पद्धति स्थापित की गई है। अतएव दोनों जगह मन्त्रिपरिषद् के ही हाथ में वास्तविक शक्ति है।

संविधान में कहा गया है कि राज्यपाल को अपना काम करने में (सिवाय कुछ विशेष कृत्यों के) सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य-मन्त्री होगा। संघ के मन्त्रिपरिषद् का प्रधान प्रधान-मंत्री कहलता है। मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति वह मुख्य-मन्त्री की राय से करेगा। मन्त्री अपने पदों पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त रहेंगे।

मन्त्रिपरिषद् विधान-सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। अतएव यह स्वाभाविक है कि मुख्य मन्त्री विधान-सभा में बहुसंख्यक दल का नेता होगा। अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति उसके द्वारा की जावेगी न कि राज्यपाल द्वारा जो उसके द्वारा दिए गए नामों को मान लेगा। मन्त्रिगण क्योंकि विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी हैं इसलिए जब तक विधान-सभा का उनमें विश्वास है वे अपने पदों पर रहेंगे। अगर राज्यपाल किसी ऐसे मन्त्रिपरिषद् को भंग कर दे जिसका विधान में बहुमत है तो उसको नए मन्त्रिपरिषद का निर्माण करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

संविधान में यह नहीं कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद में कितने सदस्य होंगे इसलिए उनकी संख्या का निश्चय मुख्य-मन्त्री सरकार के काम की उचित व्यवस्था तथा राज्य की आर्थिक अवस्था ध्यान में रखते हुए करेगा। परन्तु संविधान में यह कहा गया है कि बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश में मुख्यमन्त्री द्वारा एक मन्त्री की नियुक्ति पिछड़ी हुई जातियों तथा आदिम जातियों के हितों की रक्षा करने तथा उनकी उन्नति के लिए काम करने के लिए की जावेगी। इससे यह नहीं सोचना चाहिये कि अन्य राज्यों में सरकार का यह कर्तव्य नहीं है।

मन्त्रिपरिषद की सदस्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति विधान-मंडल का सदस्य हो। कोई मन्त्री जो ६ महीने तक विधान-मंडल का सदस्य न रहे, उस काल की समाप्ति पर मन्त्री नहीं रहेगा।

मन्त्रियों का वेतन तथा भत्ते समय-समय पर राज्य का विधान-मंडल कानून द्वारा निर्धारित करेगा। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता उनको वही वेतन मिलेगा जो कि संविधान आरम्भ होने के पहले मिलता था।

प्रत्येक मन्त्री को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल द्वारा पद की तथा गोपनीयता की शपथ ग्रहण करवाई जायगी।

संविधान में कहा गया है कि सरकार के काम को संविधानपूर्वक चलाने के लिए राज्यपाल उसका मन्त्रियों के बीच विभाजन करने के लिए नियम बनायेगा। यथार्थ में मन्त्रियों के बीच काम का विभाजन मुख्य मन्त्री करता है। प्रत्येक मन्त्री के अधीन एक-दो विभाग होते हैं। मन्त्रियों के नीचे उपमन्त्री, पार्लियामेंटरी सेक्रेटरीज भी हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विभाग में सेक्रेटरी डिप्टी सेक्रेटरी असिस्टेंट सेक्रेटरी आदि होते हैं। ये सरकारी नौकर होते हैं (Permanent Civil Servants) तथा इनकी नौकरी पर मन्त्रिमंडल के बनने बिगड़ने का असर नहीं होता है।

मन्त्रिपरिषद् का काम—इसका काम संविधान के अनुसार राज्यपाल को मन्त्रणा देना तथा सहायता देना है। किसी न्यायालय में यह नहीं पूछा जा सकेगा कि किस मन्त्री ने राज्यपाल को क्या सलाह दी।

मुख्य मन्त्री का काम राज्यपाल को उन सब निश्चयों की सूचना देना है जो कि मन्त्रिपरिषद् ने शासन सम्बन्धी अथवा कानूनी सम्बन्धी मामलों में लिए हैं। अगर राज्यपाल चाहे तो वह इन मामलों पर किसी और सूचना को माँग सकता है। वह किसी विषय को जिस पर एक मन्त्री ने निश्चय कर लिया हो परन्तु मन्त्रिपरिषद् ने नहीं, फिर से मन्त्रिपरिषद् के सामने विचारार्थ रख सकता है।

मन्त्रिपरिषद् का काम मन्त्रणा देना ही नहीं अपितु यथार्थ में राज्यपाल के नाम में सब काम करना है। इसकी वही स्थिति है जो कि संघीय मन्त्रिपरिषद् की। परन्तु इसमें एक अन्तर है। संविधान द्वारा राज्यपाल को कुछ कार्यों को स्वविवेक से करने का अधिकार दिया गया है। इन सब मामलों में राज्यपाल बिना मन्त्रिमंडल के परामर्श के काम करेगा। किन विषयों में वह स्वविवेक से काम करेगा यह उसी के निर्णय में छोड़ दिया गया है। उसका निर्णय इस विषय में अन्तिम होगा। संविधान में यह स्पष्ट नहीं है कि किन विषयों में राज्यपाल को स्वविवेक से काम करने का अधिकार है। तथापि ऐसा लगता है कि आसाम के गवर्नर के अतिरिक्त अन्य किसी राज्यपाल को स्वविवेक से काम करने का अधिकार प्रयोग करने का अवसर नहीं मिलता। आसाम में राज्यपाल कुछ आदिम जाति-क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की स्थिति से करता है। उसके लिए वह मन्त्रिपरिषद् की सलाह तथा मन्त्रणा नहीं लेगा।

मन्त्रियों का काम अपने अपने विभाग के दिन प्रतिदिन के कामों को देखना है। उसके करने में वे स्वतन्त्र हैं। परन्तु नीति सम्बन्धी विषयों का

निश्चय मन्त्रिपरिषद द्वारा ही किया जावेगा। प्रत्येक मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह मन्त्रिपरिषद् के निर्णय को माने। अगर वह ऐसा करने में असमर्थ है तो उसे मन्त्रिपरिषद् से त्यागपत्र देना होगा। मन्त्रियों को विधान-मण्डल में अपने विभाग के कामों से सम्बन्ध रखने वाले बिलों को पेश करना, प्रश्नों का उत्तर देना तथा अपने विभाग के कामों को समझाना आदि काम करने पड़ते हैं।

राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद् में सम्बन्ध—हम पहले कह चुके हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होगी। राज्यपाल को मनोनीत करने के पक्ष में एक तर्क यह भी था कि वह सब शक्ति से हीन, केवल वैधानिक प्रधान है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल अपने मन्त्रिपरिषद् की राय से ही काम करेगा। दूसरे शब्दों में सब शक्ति मन्त्रिपरिषद् के ही हाथों में है तथा राज्यपाल जैसा मन्त्रिपरिषद् कहेगा वैसा करेगा। अर्थात्, राज्यपाल केवल वैधानिक प्रधान-मात्र है।

यद्यपि राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह मुख्य-मंत्री की नियुक्ति तथा उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करे और यह भी कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् उसके प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर रहेगा तथापि यथार्थ में राज्यपाल को मंत्रियों की नियुक्ति तथा उनको अपदस्थ करने में केवल नाममात्र की स्वतन्त्रता है। मंत्रिपरिषद् के विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होने के कारण राज्यपाल बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री का पद ग्रहण करने को आमन्त्रित करेगा। मुख्य-मंत्री अपने मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को चुनेगा। मन्त्रिमण्डल तब तक अपने स्थान में बना रहेगा जब तक इसका विधान सभा में बहुमत का विश्वास प्राप्त है। अगर राज्यपाल किसी ऐसे मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ कर दे तो उसके लिए दूसरा मन्त्रिपरिषद् निर्माण करना असम्भव हो जायगा।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि राज्यपाल केवल वैधानिक प्रधान है। परन्तु इससे यह निर्णय नहीं निकलना चाहिये कि वह केवल शोभार्थ है और उसका कोई काम नहीं।[1] अगर राज्यपाल योग्य तथा अनुभवी व्यक्ति हुआ

---

1. संविधान सभा में एक सदस्य ने कहा था "The function of the Governor shall be to lubricate the machinery of Government, to see that all the wheels are going well by reason not of his interference, but of his friendly intervention."

तो वह राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने में बहुत अधिक सहायता पहुँचा सकता है। दलबन्दी के झगड़ों को दूर कर मन्त्रि-परिषद को काफी सहायता दे सकता है। वह मन्त्रि-परिषद को ऐसे काम करने से रोक सकता है जो कि अन्य दलों को रुचिकर नहीं है।

राज्यपाल का सबसे मुख्य काम यह देखना है कि मन्त्रि-परिषद् इतना अधिक दलबन्दी की भावना से ओत-प्रोत न हो कि जनता के हितों का ध्यान ही न रक्खे। अगर मुख्य-मन्त्री कभी विधान-सभा भंग करने की प्रार्थना करे तथा राज्यपाल यह अनुभव करे कि यह जनता के हित में नहीं होगा तो वह इस प्रार्थना को अस्वीकार कर सकता है। अथवा, अगर कभी मन्त्रि-परिषद् को विधान सभा में तो बहुमत हो परन्तु जनता में उसकी नीति से असन्तोष उत्पन्न हो गया हो तो राज्यपाल विधान-सभा को भंग कर नये निर्वाचन करवा सकता है।[1]

महाधिवक्ता (Advocate General) —जिस प्रकार संघीय सरकार में राष्ट्रपति विधि-सम्बन्धी मामलों में सलाह के लिए महान्यायवादी की नियुक्ति करता है उसी प्रकार वैसे परामर्श के लिए राज्यपाल महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है। इस पद के लिए वही व्यक्ति नियुक्त हो सकता है जो कि उच्च न्यायाधीश होने की योग्यता रखता है। उसको जो वेतन तथा भत्ते मिलेंगे इनका निश्चय राज्यपाल करेगा। वह अपने पद पर राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त रह सकता है।

(२) व्यवस्थापिका

प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान-मंडल होगा जो राज्यपाल तथा कुछ राज्यों में दो सदनों से तथा कुछ अन्य राज्यों में एक सदन से मिलकर बनेगा। पंजाब, बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश में दो सदन हैं। निचला सदन विधान-सभा तथा ऊपरी सदन विधान-परिषद् कहलाता है। अन्य राज्यों में केवल एक ही सदन है। यह सदन विधान-सभा कहलाता है। परन्तु जिन राज्यों में दो सदन हैं वहाँ की विधान-सभा

---

१ परन्तु बंगाल के उच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में राज्यपाल के विषय में कहा—"Under the present Constitution the power to act in his discretion or in his individual capacity has been taken away and the Governor, therefore must act on the advice of his minister"

सब सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह पास करे कि विधान-परिषद् हटा दी जावे तो संसद कानून द्वारा उस राज्य से विधान-परिषद् को हटा सकेगी। इसी प्रकार जिन राज्यों में एक ही सदन है वहाँ संसद कानून द्वारा दूसरे सदन का सृजन कर सकेगी।

कुछ राज्यों में द्वि सदनीय विधान-मंडल की व्यवस्था है। इसका कारण यह है कि दूसरा सदन अनेक दृष्टियों से उपयोगी माना गया है। जैसे, यह निचले सदन से भेजे गये विधेयकों पर पुर्नविचार करता है, विशेष हितों की रक्षा करता है तथा उन्हें प्रतिनिधित्व प्रदान करता है इसमें अधिक अनुभवी व्यक्तियों को आकर काम करने का अवसर मिलता है, आदि।[1]

विधान-परिषद् :—यह विधान-मंडल का ऊपरी भवन होगा। किसी राज्य के विधान-परिषद में साधारणतः उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की संख्या के चौथाई भाग से अधिक सदस्य नहीं होंगे। परन्तु यह संख्या किसी भी तरह ४० से कम नहीं होगी। किसी राज्य के विधान परिषद की रचना, जब तक संसद कानून द्वारा कोई और प्रबन्ध न करे, निम्नलिखित प्रकार से होगी।

(क) कुल सदस्य संख्या का तीसरा भाग, उस राज्य की नगर-पालिकाओं जिला-मंडलियों तथा अन्य ऐसी स्थानीय संस्थाओं के, जैसा कि संसद विधि द्वारा निश्चित करे, सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचन-मंडलों द्वारा चुना जायगा।

(ख) कुल सदस्य संख्या का बारहवाँ भाग उस राज्य में रहने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचन-मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो भारत के किसी विश्वविद्यालय के कम से कम तीन वर्ष से स्नातक (graduate) हैं या इसके बराबर की संसद द्वारा निश्चित कोई अन्य योग्यता धारण किये हों।

(ग) कुल सदस्य संख्या का बारहवाँ भाग ऐसे निर्वाचन-मंडलों द्वारा चुना जायगा जो कि उस राज्य के भीतर रहने वाले ऐसे व्यक्तियों से बने होंगे जो कि उस राज्य में माध्यमिक शिक्षालयों या इससे उच्च शिक्षालयों में तीन साल से अधिक से अध्यापन कार्य कर रहे हों।

(घ) कुल सदस्य संख्या का तीसरा भाग राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो कि सभा के सदस्य नहीं हैं।

1. इस विषय के विस्तार-पूर्वक वर्णन के लिये लेखक की पुस्तक 'नागरिक शास्त्र के आधार' देखिये।

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। ये ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य विज्ञान कला, सहकारी आन्दोलन या सामाजिक सेवा के विषयों में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो।

/ उपरोक्त उपखण्ड (क), (ख) तथा (ग) के अधीन निर्वाचित होने वाले सदस्य ऐसे प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जायेंगे जैसे कि संसद कानून बना कर तय करे। परिषद के सब सदस्यों का चुनाव अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एक परिवर्तनीय विधि द्वारा होगा।

विभिन्न राज्यों में विधान परिषदों की संख्या निम्नोक्त होगी।

बिहार	७२	मैसूर	५२
बम्बई	८२	पंजाब	४०
मध्य प्रदेश	७२	उत्तर प्रदेश	७२
मद्रास	४८	पश्चिमी बंगाल	५१

राज्य पुनर्गठन के पूर्व मैसूर तथा मध्य प्रदेश में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका नहीं थी।

कार्य काल :—विधान परिषद स्थायी संस्था है। इसका कभी भी विघटन नहीं होगा। हर दूसरे साल बाद एक तिहाई सदस्य नये चुने जायेंगे। पहले चुनाव पर एक-तिहाई २ वर्ष के लिये, एक तिहाई ४ वर्ष के लिये तथा एक तिहाई ६ वर्ष के लिये चुने जायेंगे। इसके बाद प्रत्येक का कार्यकाल ६ वर्ष होगा।

सदस्यों के लिए योग्यता —निम्नलिखित योग्यताएँ आवश्यक हैं —

(१) वह भारत का नागरिक हो।

(२) वह ३० वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(३) Peoples' Representation Act, 1951 द्वारा यह निश्चित हुआ है कि विधान-परिषद के निर्वाचित सदस्य होने के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति उस राज्य की विधान-सभा के किसी निर्वाचन क्षेत्र का निर्वाचक हो। मनोनीत-सदस्य होने के लिये उसे साधारणतः उस राज्य का निवासी होना चाहिये।

सदस्य होने के लिये निम्नलिखित अयोग्यताएँ नहीं होनी चाहिये —

(१) वह संघ-सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुये हो। मन्त्रियों का पद ऐसा नहीं समझा जाता है।

(१) वह पागल न हो।

(२) वह उनमुक्त दिवालिया हो।

(३) वह भारत का नागरिक न हो।

(४) वे अयोग्यताएँ जो कि संसद की सदस्यता के सम्बन्ध में Peoples Representation Act, 1951 में दी हुई हैं।

अगर कभी यह प्रश्न उठे कि कोई व्यक्ति सदस्यता के लिये अयोग्य हो गया है तो राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया कि वह निर्वाचन-आयोग की राय से इस बात का निर्णय करे और उसका निर्णय अन्तिम होगा।

सदस्यों के स्थानों की रिक्तता :—कोई भी मनुष्य एक ही समय में किसी राज्य के विधान-मण्डल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता है और न एक समय में एक ही व्यक्ति दो राज्यों के विधान-मण्डलों का सदस्य हो सकता है। उसे एक से इस्तीफा देना होगा।

अगर कोई सदस्य अपने सदन के अधिवेशन से बिना उसकी आज्ञा के ६० दिन तक लगातार अनुपस्थित रहता है तो उसका पद रिक्त हो जायगा। सदस्य अपने पद से त्यागपत्र भी दे सकते हैं।

गणपूर्ति :—कुल सदस्य संख्या का दसवां हिस्सा या १० सदस्य जो अधिक हों वही विधान-परिषद का कोरम होगा।

पदाधिकारी :—एक सभापति तथा एक उपसभापति होगा। इनका निर्वाचन परिषद् द्वारा अपने सदस्यों में से ही किया जावेगा। सभापति को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। इनको वेतन तथा भत्ते मिलेंगे। इनका काम वैसा ही है जैसा कि राज्य-परिषद् के सभापति तथा उपसभापति का। विधान-परिषद इनको अपने पद से बहुमत-प्रस्ताव द्वारा हटा सकती है। परन्तु ऐसे प्रस्ताव के लिये १४ दिन पूर्व सूचना देनी पड़ेगी।

विधान सभा :—यह राज्यों में व्यवस्थापिका का निचला सदन है। संविधान में धारा १७० में कहा गया है कि इसमें अधिक से अधिक ५०० तथा कम से कम ६० सदस्य होंगे। इनका राज्य के निर्वाचन-क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त जैसा नीचे बतलाया जायगा विधान-

सभा में मनोनीत सदस्य भी हो सकते हैं। यह उपबन्ध ऐंग्लो इण्डियन समुदाय के हित में रखा गया है।

निर्वाचन क्षेत्रों का बनाते समय इस बात का ध्यान रखा जायगा कि समस्त राज्य में प्रतिनिधियों तथा जनता में एक ही अनुपात हो। साधारण भाषा में जहाँ तक सम्भव होगा प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में बराबर जनसंख्या रखी जायेगी। प्रत्येक मतगणना के पश्चात प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में जो कुछ आवश्यक परिवर्तन करने होंगे उनको राज्य का विधान मण्डल कानून द्वारा तय करेगा।

प्रत्येक राज्य के विधान-सभा में अनुसूचित जातियों तथा जन जातियों के लिये उनकी जनसंख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। आसाम की विधान सभा में कुछ स्थान वहाँ के स्वायत्त जिलों (Autonomous districts) के लिये उनकी जनसंख्या के आधार पर सुरक्षित रखे गए हैं। शिलांग के नगरपालिका क्षेत्र तथा कैन्टोनमेण्ट के अतिरिक्त इन स्वायत्त जिलों से कोई भी ऐसा प्रतिनिधि नहीं चुना जायगा जो कि अनुसूचित जनजाति का न हो।

ऐंग्लो इण्डियन समुदाय के लिये भी विशेष उपबन्ध है। अगर राज्यपाल समझे कि इस समुदाय का विधानसभा में समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह इस समुदाय के जितने ठीक समझे उतने सदस्य मनोनीत कर सकता है।

अल्पमता के सम्बन्ध में ये सब विशेष उपबन्ध संविधान लागू होने से दस वर्ष पश्चात समाप्त हो जायेंगे। परन्तु आसाम के स्वायत्त जिलों सम्बन्धी उपबन्ध स्थायी रूप से रहेंगे।

विधानसभा के लिये प्रत्यक्ष चुनाव होगा। प्रत्येक वयस्क को (जो २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो) मत देने का अधिकार होगा पर उसमें निम्नलिखित बातें होनी चाहिए —वह भारत का नागरिक हो, पागल न हो, राज्य में निश्चित अवधि से निवास कर रहा हो, किसी अपराध आदि के कारण मताधिकार से वंचित न कर दिया गया हो।

विधानसभा की सदस्यता के लिये योग्यताएँ —इसके लिए निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए —

(१) भारत का नागरिक हो, तथा, २५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(२) संसद ने Peoples' Representation Act, 1951 द्वारा यह निश्चित किया है कि :—

(अ) राज्य के अन्दर अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के लिए सुरक्षित किसी स्थान से चुने जाने को वह इन जातियों या जन-जातियों का सदस्य होना चाहिए तथा उस राज्य की विधान-सभा के किसी निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचक होना चाहिए।

(ब) आसाम के स्वायत्त जिलों के लिए सुरक्षित किसी स्थान के लिए (शिलाँग की म्युनिसिपेलिटी तथा कैन्टोनमेन्ट के अतिरिक्त) चुने जाने को उसे उस जिले की किसी जनजाति का सदस्य होना चाहिए तथा ऐसे निर्वाचन क्षेत्र से निर्वाचक होना चाहिये जिसमें कि उस जिले के लिये एक स्थान सुरक्षित हो।

(स) किसी अन्य स्थान के लिए चुने जाने को उसे राज्य में किसी विधान-सभा के निर्वाचन-क्षेत्र (Assembly Constituency) से निर्वाचक (elector) होना चाहिए।

विधान-सभा के सदस्य पद के लिए वही अयोग्यताएँ हैं जो कि विधान परिषद् की सदस्यता के लिये। अगर अयोग्यता का प्रश्न उठा तो राज्यपाल निर्वाचन-आयोग की राय से उसको तय करेगा।

कार्यकाल :—विधान-सभा का कार्यकाल साधारणतः ५ वर्ष होगा। परन्तु इसके पूर्व भी यह राज्यपाल द्वारा भंग की जा सकती है। असाधारण काल में इसका कार्यकाल बढ़ सकता है। संकट की घोषणा होने पर संसद विधि द्वारा इसका कार्यकाल बढ़ा सकती है। परन्तु एक समय में केवल एक वर्ष के लिए ही बढ़ेगा। संकटकाल के समाप्त होने के ६ महीने के अन्तर्गत ही इसका विघटन हो जायगा।

पदाधिकारी :—इसके दो पदाधिकारी होंगे—अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष। इनको विधानसभा अपने ही सदस्यों में से चुनेगी। इनको पद से हटाया भी जा सकता है। इसके लिए वही प्रक्रिया है जो कि विधान-परिषद् के सभापति अथवा उपसभापति को हटाने के लिए है। इसके वैसे ही अधिकार तथा कर्त्तव्य



है जैसे कि लोकसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के। अध्यक्ष को केवल निर्णायक मत देने का अधिकार है। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को वेतन तथा भत्ते मिलेंगे। विधान-मण्डल की संयुक्त बैठक में अध्यक्ष ही सभापति का आसन ग्रहण करेगा।

गणपूर्ति —विधानसभा का कोरम कम से कम १० तथा अधिक से अधिक कुल सदस्य संख्या का दसवाँ हिस्सा, या इन दोनों में से जो अधिक हो वह रखा गया है।

राज्यों में विधान सभाओं की सदस्य संख्या —संसद ने विधि द्वारा विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं की सदस्य संख्या निश्चित कर दी है।

आंध्र	३०१	मद्रास	२०५
आसाम	१०८	मैसूर	२०८
बिहार	३३०	उड़ीसा	१४०
बम्बई	३०६	पंजाब	१५४
केरल	१२६	राजस्थान	१७६
मध्य प्रदेश	२८८	उत्तर प्रदेश	४३०
पश्चिमी बंगाल	२३८		

विधान मंडलों के सदस्यों की उन्मुक्तियाँ तथा वेतन आदि —विधान मंडल के सदस्यों को संविधान के उपबन्धों तथा विधान-मंडल की प्रक्रिया के नियमों के अधीन रहते हुए वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार दिया गया है। विधान-मंडल या उसकी समिति में कही हुई किसी बात या दिए हुए किसी मत के विषय में किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं चल सकेगी। विधान मंडल इन सब विषयों पर विधि बनायेगा। परन्तु जब तक इस विषय पर विधान-मंडल कानून बनाते हैं उनके तथा उनके सदस्यों को वही शक्तियाँ तथा उन्मुक्तियाँ रहेंगी जो कि इंगलैंड में कामन्स सभा की हैं।

विधान-मंडल के सदस्यों को वेतन तथा भत्ते मिलेंगे। इनका निश्चय राज्य का विधान मंडल समय समय पर विधि द्वारा करेगा। जब तक इस विषय में विधि निर्माण नहीं होता है सदस्यों को वही वेतन तथा भत्ते मिलेंगे जैसा कि संविधान लागू होने के पूर्व प्रान्तीय सभाओं के सदस्यों को मिलते थे।

विधान-मण्डल के प्रत्येक सदस्य को पद ग्रहण करने से पहले राज्यपाल के सम्मुख एक शपथ लेनी होगी। बिना इस शपथ के लिए अगर वह सदन में बैठे तो वह दण्ड का भागी होगा।

विधान-मंडल का अधिवेशन —राज्यपाल समय-समय पर विधान-मंडल के सदनों या किसी भी सदन को, ऐसे स्थान और समय पर जैसा कि वह ठीक समझे बुलायेगा। परन्तु पहले अधिवेशन की आखिरी बैठक तथा नये अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच में ६ महीने से अधिक समय नहीं बीतना चाहिये। उनको यह भी अधिकार है कि वह किसी भी सदन या सदनों को स्थगित कर सकता है तथा विधानसभा को भंग कर सकता है। राज्यपाल प्रत्येक नये चुनाव के पश्चात् प्रथम अधिवेशन में तथा प्रति वर्ष के प्रथम अधिवेशन में विधान-मण्डल के सदन अथवा जहाँ दो सदन हैं, दोनों को युक्त रूप से सम्बोधित करेगा और उनको बुलाने का कारण बतलायेगा। वह विधान-मण्डल को किसी बिल के सम्बन्ध में या किसी अन्य कारण से संदेश भेज सकता है। विधान-मण्डल इस संदेश पर यथाशीघ्र विचार करेगा।

विधान-मण्डल में प्रत्येक बात का निश्चय बहुमत द्वारा होगा। अगर किसी अवसर पर मत-साम्य हो जावे तो अध्यक्ष या सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार है। किसी भी सदन की कार्यवाही तब तक नहीं हो सकती है, जब तक गणपूर्ति न हो।

मन्त्रियों तथा महाधिवक्ता को सदनों की बैठक में भाग लेने का अधिकार है। परन्तु मन्त्री मतदान केवल उसी सदन में कर सकेंगे जिसके वे सदस्य हैं। महाधिवक्ता को मत देने का अधिकार नहीं है।

विधान-मण्डलों में हिन्दी, अँग्रेजी तथा उस राज्य की भाषा का प्रयोग हो सकता है। १५ वर्ष पश्चात् अँग्रेजी का प्रयोग बन्द हो जावेगा। अगर कोई सदस्य इन तीनों में से कोई भी भाषा न जानता हो तो वह अध्यक्ष या सभापति की आज्ञा से अपनी भाषा का प्रयोग कर सकता है।

विधान-मण्डल का प्रत्येक सदन, संविधान के उपबन्धों के अधीन, अपनी अपनी कार्यवाही के लिए नियम की रचना कर सकता है। जब तक ऐसे नियम नहीं बनाये जाते हैं वे ही नियम लागू होंगे जो कि संविधान के पूर्व थे।

प्रत्येक सदन का अपना सचिवालय होगा। इसके कर्मचारियों की नियुक्ति तथा सेवा सम्बन्धी नियमों की रचना राज्य का विधान-मण्डल करेगा। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता है, राज्यपाल अध्यक्ष तथा सभापति से राय लेकर इनके लिये नियम बनावेगा।

विधान-मण्डल के अधिकार —इस विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि इसका मुख्य काम राज्य सूची में तथा समवर्ती सूची में वर्णित विषयों के ऊपर कानून बनाना होगा। परन्तु समवर्ती सूची में वर्णित विषयों पर संसद् के बनाए हुए किसी कानून के विरुद्ध विधान-मण्डल कानून नहीं बना सकते हैं। विधि-निर्माण के अतिरिक्त दूसरे शासन-सम्बन्धी अधिकार हैं। यह कार्यपालिका पर नियंत्रण रखता है। मन्त्रिपरिषद् विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इसके वित्त सम्बन्धी अधिकार है। राज्यों के क्षेत्र में विधान-मण्डल के वही अधिकार हैं जो कि संघ-क्षेत्र में संसद् के हैं।

वैधानिक प्रक्रिया —इसका भी संक्षेप में वर्णन किया जायगा। क्योंकि संसद् तथा विधान-मण्डलों की प्रक्रिया में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

(१) साधारण विधेयक सम्बन्धी प्रक्रिया —साधारण बिल जहाँ विधान-मण्डलों में दो सदन हैं किसी भी सदन में आरम्भ हो सकेगा। साधारणतः यह कानून तभी बनेगा जब कि यह दोनों सदनों द्वारा पास हो जावे तथा इसको राज्यपाल की अनुमति मिल जावे। यदि कोई बिल विधान-सभा द्वारा तो पास हो गया हो परन्तु विधान-परिषद् उसको अस्वीकार कर दे या परिषद् में रखे तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है या परिषद् उसमें ऐसे संशोधन कर दे जो कि विधान सभा को स्वीकार नहीं है, तो वह बिल, विधान-सभा द्वारा दुबारा पास होकर फिर से परिषद् में भेजा जावेगा। अगर इस बार परिषद् उसको अस्वीकार कर दे, या एक माह तक न लौटावे या ऐसे संशोधन कर दे जो कि स्वीकार न हों तो बिल उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पास समझा जावेगा जिसमें वह विधान द्वारा पास किया गया था।

(२) धन विधेयक की प्रक्रिया —धन विधेयक केवल विधान-सभा में ही प्रारम्भ हो सकता है धन-विधेयक का अर्थ यहाँ पर भी वही है, जैसा कि संसद् के सम्बन्ध में बतलाया गया था। अगर केवल यही है कि वहाँ पर वे सब बातें संघ सरकार से सम्बन्ध रखती थी, यहाँ पर राज्य सरकार से सम्बन्ध रखेंगे।[1] इसलिए पुनः उन बातों को दुहराने से कोई लाभ नहीं। कोई

1 कृपया संसद् वाला अध्याय देखिये।

विधेयक धन-विधेयक है या नहीं इसका निर्णय विधान-सभा का अध्यक्ष करेगा।

जब विधान सभा किसी धन-विधेयक को पास कर देती है तब वह विधान-परिषद् में भेजा जाता है। परिषद् उस विधेयक को चौदह दिन के भीतर अपनी सिफारिशों सहित विधान सभा को लौटा देगी। सभा को यह अधिकार है कि वह उन सिफारिशों को माने या न माने। अगर विधान-परिषद् उस विधेयक को १४ दिन के अन्दर वापिस नहीं करती है तो वह काल की समाप्ति पर दोनों सदनों द्वारा पास समझा जावेगा।

राज्यपाल की अनुमति :—प्रत्येक विधेयक विधान-मण्डल में पास होने के बाद राज्यपाल की अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जावेगा। राज्यपाल इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें कर सकता है :—

(१) वह अपनी अनुमति दे दे।

(२) वह अपनी अनुमति न दे।

(३) धन-विधेयक के अतिरिक्त किसी अन्य बिल को वह अपनी सिफारिशों सहित विधान-मण्डल को वापिस भेज दे। अगर विधान-मण्डल इस बिल को उसकी सिफारिशों सहित या बिना इनके फिर पास कर दे तो राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी पड़ेगी।

(४) राज्यपाल किसी बिल को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक ले। सब विधेयक जो की संविधान द्वारा अर्पित राज्य के उच्चन्यायालय की शक्तियों को कम करते हैं, राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचार के लिए अवश्य रक्षित किये जावेंगे।

(५) इस प्रकार रक्षित किसी धन-विधेयक को राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे या न दे। परन्तु अन्य विधेयकों को वह अपनी सिफारिशों सहित विधान-मण्डल के पुनर्विचारार्थ वापिस भेज देगा। विधान-मण्डल ६ महीने के अन्दर इस पर फिर विचार कर सकता है। अगर यह फिर से पास हो जावे तो उस दशा में राष्ट्रपति अपनी अनुमति देने को बाध्य नहीं है।

वित्तीय प्रक्रिया :—विधान-मण्डलों की वित्तीय प्रक्रिया बिल्कुल संसद की ही तरह है। अतएव उसका वर्णन नहीं किया जावेगा। जो काम वहाँ राष्ट्रपति करता है वह यहाँ राज्यपाल करेगा। जो कुछ वहाँ संघ सरकार के सम्बन्ध में कहा गया है यहाँ राज्य-सरकार से सम्बन्ध रखेगा।

विधान-मण्डलों की विशेषताएँ

(१) जिन राज्यों में दो सदन होंगे वहाँ उपरी सदन अत्यन्त शक्तिहीन होगा। विधान सभा को महत्ता दी गई है। दोनों सदनों में मतभेद होने पर संयुक्त बैठक की व्यवस्था नहीं है। धन विधेयक पर उपरी सदन केवल १४ दिन की देर कर सकता है तथा अन्य विधेयकों पर अधिक से अधिक ६ महीने की।

(२) विधान-मण्डल में उच्चतम न्यायालय तथा उच्चन्यायालय के न्यायधीशों द्वारा अपने कर्त्तव्य पालनार्थ किये हुए कार्यों के विषय में कोई भी बहस नहीं हो सकती है।

(३) विधान-मंडल राज्य सूची के अन्तर्गत सब विषयों पर कानून बना सकते हैं। संसद साधारणकाल में इन विषयों पर कानून नहीं बना सकती है। परन्तु इनमें से किसी विषय पर भी अगर राज्य परिषद् दो तिहाई बहुमत से पास कर दे तो संसद कानून बना सकती है। संकट-काल में तो संसद राज्य सूची में वर्णित सभी विषयों पर कानून बना सकती है।

(५) विधान-मंडल द्वारा पास कुछ विधेयकों पर राष्ट्रपति की अनुमति उनके कानून बनाने के लिए आवश्यक है। इनका वर्णन राष्ट्रपति के अधिकारों के सम्बन्ध में कर चुके हैं। कुछ विषयों पर विधान मंडलों में कोई विधेयक तब तक पेश नहीं किया जा सकता है, जब तक कि राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति न हो। इनका उल्लेख भी पहले कर दिया गया है।

जम्मू काश्मीर की शासन व्यवस्था

अभी तक हम भारत संघ के स्वायत्त राज्यों के शासन प्रबन्ध का वर्णन कर रहे थे। संविधान में कहा गया है कि ये उपबन्ध जम्मू तथा काश्मीर राज्य पर लागू नहीं होंगे। जम्मू तथा काश्मीर की भारत-संघ में अनेक कारणों से विशेष स्थिति रखी गई है। वहाँ का संविधान एक संविधान निर्माण सभा द्वारा बनाया गया है। इस सभा की स्थापना काश्मीर सरकार द्वारा की गई थी। जनवरी २६, सन १९५७ से यह संविधान काश्मीर में लागू हो गया है।

राज्य पुनर्गठन के पूर्व काश्मीर 'ख' वर्ग का राज्य था। हम बतला चुके हैं कि ये 'ख' वर्ग के राज्य भूतपूर्व देशी राज्यों से बने थे। इन्हें भी स्वायत्त-शासन का अधिकार प्राप्त था। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि इनके

शासन-प्रबन्ध तथा 'क' वर्ग के राज्यों के शासन-प्रबन्ध में बहुत साधारण अन्तर था। 'ख' वर्ग के राज्यों में कार्यपालिका का मुखिया राज्यपाल न कहलाकर राजप्रमुख कहलाता था। इसकी स्थिति वैधानिक प्रधान की स्थिति थी। इसको सलाह देने के लिये मन्त्रिमण्डल होता था। इसका निर्माण उसी प्रकार होता था तथा इसके कर्तव्य व अधिकार वही थे जो कि 'क' वर्ग के राज्यों में मन्त्रिमण्डल के होते थे। इन राज्यों में विधान-मण्डल भी होते थे। मैसूर के अतिरिक्त अन्य 'ख' वर्ग के राज्यों में एक सदनात्मक विधान-मण्डल था। मैसूर के अतिरिक्त अन्य 'ख' वर्ग के राज्यों में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रथम आम चुनावों (१९५२) के पश्चात् कुछ कौंसिलरों की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। इन कौंसिलरों का काम इन राज्य-सरकारों को नीति सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देना था। इनके अतिरिक्त यदि राज्य-सरकारें चाहें तो अन्य किसी विषय पर भी इनकी राय उपलब्ध हो सकती थी।

उपर्युक्त 'ख' वर्ग के राज्यों में जम्मू तथा काश्मीर का विशेष स्थान था। राज्य पुनर्गठन के पश्चात् भी जम्मू तथा काश्मीर का संघ के अन्तर्गत एक विशेष स्थान है। इस राज्य ने अक्टूबर, १९४७ को भारत संघ में प्रवेश किया। प्रवेशपत्र द्वारा संघ को इस राज्य द्वारा केवल तीन विषय—सुरक्षा, यातायात तथा वैदेशिक सम्बन्ध दिये गये थे। केवल इन्हीं विषयों पर संघ को विधि बनाने का अधिकार था। परन्तु प्रवेश पत्र में यह भी उल्लिखित था कि अन्य विषयों पर भी संघ सरकार विधि बना सकती थी जिनको राष्ट्रपति राज्य-सरकार से परामर्श करके अपने आदेश में वर्णन कर दे। सन् १९५१ में एक संविधान सभा की काश्मीर में स्थापना हुई। इसने वंशागत राजतन्त्र का अन्त कर दिया परन्तु महाराज करणसिंह को ही राज्य का प्रधान चुना गया। इनको सदर-इ-रियासत कहा गया। भारत तथा जम्मू काश्मीर के मध्य एक समझौता हुआ और सन् १९५४ में काश्मीर की संविधान सभा द्वारा इसको मान लिया गया। मई १९५४ में राष्ट्रपति के आदेश द्वारा यह प्रभावी हुआ। संविधान सभा ने काश्मीर के लिये संविधान का निर्माण किया जो, जैसा बतलाया जा चुका है, २६ जनवरी १९५७ से लागू हो गया है। इसके अनुसार वहाँ के शासन की निम्नांकित मुख्य विशेषताएँ हैं

इस संविधान द्वारा यह घोषणा की गई है कि जम्मू-काश्मीर भारत का अविच्छिन्न (**integral**) अंग है तथा सदा रहेगा। संविधान द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इस स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा

सकता है। संविधान का उद्देश्य एक समाजवादी समाज की स्थापना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर तथा भारत का एक ही उद्देश्य है।

यहाँ के संविधान की संशोधन व्यवस्था के विषय में यह उपबन्ध है कि राज्य की विधान सभा में ही ऐसा प्रस्ताव पेश किया जायगा। जब विधान सभा के दोनों सदनों में दो तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित हो जाय तो उसके पश्चात् यह सदर-ए-रियासत की स्वीकृति के लिये भेजा जायगा और स्वीकृति मिलने पर यह विधि का रूप ग्रहण कर लेगा। परन्तु कुछ बातों पर जम्मू-काश्मीर की विधान सभा को संशोधन करने का अधिकार नहीं है। उदाहरणार्थ, काश्मीर भारत का अविच्छिन्न अंग है तथा भारतीय संविधान के उन उपबन्धों को जो कि इस राज्य में भी लागू होते हैं।

जम्मू-काश्मीर में संसदीय शासन व्यवस्था की स्थापना की गई है। इसलिये यहाँ का शासन उत्तरदायित्वपूर्ण शासन है। कार्यपालिका का मुखिया सदर-ए-रियासत कहलाता है। यह पद निर्वाचित पद है। इसका निर्वाचन काश्मीर की विधानसभा द्वारा किया जाता है। संविधान में कहा गया है कि राज्य का मुखिया वह व्यक्ति होगा जिसे राष्ट्रपति राज्य विधान सभा की सिफारिश पर मान्यता प्रदान करेगा। सदर-ए-रियासत का कार्य काल ५ वर्ष रखा गया है। इस समय यहाँ युवराज कर्णसिंह सदर-ए-रियासत हैं। इनकी नियुक्ति नवम्बर १९५२ में हुई थी।

क्योंकि शासन का स्वरूप संसदीय है इसलिये वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिमण्डल है जो कि विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। इस समय काश्मीर में बख्शी गुलाम मोहम्मद प्रधान मन्त्री हैं।

काश्मीर की व्यवस्थापिका द्वि-सदनात्मक है। निचला सदन वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित होता है। इसकी सदस्य संख्या १०० रखी गई है। परन्तु इनमें से २५ स्थान उन सदस्यों के लिये रिक्त रखे गये हैं जो कि काश्मीर के उस भाग का प्रतिनिधित्व करेंगे जिस पर अभी पाकिस्तान का सैनिक अधिकार है। मन्त्रिमण्डल का निर्माण इस निचले सदन—विधानसभा—में जिस दल का बहुमत होगा उसका नेता करेगा। ऊपरी सदन में ३६ स्थान हैं। इसका निर्वाचन प्रत्यक्ष नहीं होता।

राज्य का अपना एक उच्च न्यायालय है। परन्तु इस न्यायालय से अपीलें भारत के सर्वोच्च न्यायालय में आयेंगी।

काश्मीर के नागरिक भारत के नागरिक हैं तथा उन समस्त मूल अधिकारों का प्रयोग करते हैं जो कि भारत के संविधान द्वारा प्रदान किए गये हैं।

संघीय क्षेत्रों का शासन-प्रबन्ध

उपर्युक्त वर्णित स्वायत्त राज्यों के अतिरिक्त भारत संघ में कुछ संघीय क्षेत्र भी हैं। दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अन्डमान तथा लक्कादीव द्वीप-समूह इस वर्ग में आते हैं। ये संघीय क्षेत्र, जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है, स्वायत्त राज्य नहीं हैं और इनका शासन केन्द्र के अधीन है। इनकी वही स्थिति है जो कि राज्य पुनर्गठन के पूर्व 'ग' वर्ग के राज्यों की थी।

संविधान में कहा गया है कि प्रत्येक संघीय क्षेत्र (Union territory) का प्रशासन राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त एक प्रशासक के द्वारा करेगा। (धारा २३९) राष्ट्रपति इस उद्देश्य से यदि चाहें तो किसी राज्य के राज्यपाल को किसी सन्निकट संघीय-क्षेत्र का प्रशासक नियुक्त कर सकता है। परन्तु राज्यपाल इस प्रशासन के लिए अपने मन्त्रिमंडल से स्वतन्त्र रूप से काम करेगा।

इन संघीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में संसद् को व्यवस्थापन का पूर्ण अधिकार दिया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त संविधान में यह भी कहा गया है कि अन्डमान-निकोबार तथा लक्कादीव द्वीप-समूह में शान्ति, उन्नति तथा अच्छे शासन के हित में राष्ट्रपति नियम (regulations) निर्माण कर सकता है। इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियम उस समय लागू हुए किसी विधि को अप्रभावी कर देगा।

इन संघीय क्षेत्रों के लिए उच्च-न्यायालय स्थापित करने का अधिकार संविधान द्वारा संसद को प्रदान किया गया है।

राज्य पुनर्गठन के पूर्व दिल्ली, हिमाचल प्रदेश तथा त्रिपुरा में एक विधान सभा थी तथा चीफ कमिश्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर को मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रिमंडल होता था। परन्तु अब यह व्यवस्था हटा दी गई है। इनमें न विधान सभा है और न मन्त्रिमंडल ही।

क्षेत्रीय परिषद् :—दिसम्बर १९५६ में संसद द्वारा एक एक्ट पास किया गया जिसे The Territorial Council Act, 1956 कहते हैं। इस ऐक्ट के द्वारा हिमाचल प्रदेश, मनीपुर, तथा त्रिपुरा में क्षेत्रीय परिषदों की स्थापना की गई है। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में एक क्षेत्रीय परिषद् (Territorial Council) होगी। इन क्षेत्रीय परिषदों में सदस्यों का वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होगा। हिमाचल प्रदेश में ४१, तथा त्रिपुरा और मनीपुर प्रत्येक में ३० निर्वाचित सदस्य होंगे। मनीपुर

में १२ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित रख गये हैं। इन निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार प्रत्येक परिषद में दो सदस्य मनोनीत कर सकती है। निर्वाचन के लिए इन क्षेत्रों का निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त किया जायगा। यह कार्य केन्द्रीय सरकार के आज्ञानुसार किया जायगा।

प्रत्येक व्यक्ति जो कि वयस्क हो तथा Peoples Representation Act, 1950 के अनुसार मत प्रदान की योग्यता रखता है इन क्षेत्रीय परिषदों के सदस्यता के योग्य है यदि वह किसी क्षेत्रीय परिषद के लिए निर्वाचित है।

प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद में एक अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष होगा जिसका इस परिषद द्वारा निर्वाचन किया जायगा। इन अधिकारियों को क्षेत्रीय परिषद एक निश्चित मत संख्या द्वारा अपने पदों से हटा भी सकती है।

इस एक्ट द्वारा क्षेत्रीय-परिषदों के निम्नलिखित मुख्य कृत्य हैं

(१) ऐसी चल तथा अचल सम्पत्ति और संस्थाओं का प्रबन्ध तथा रक्षा जो कि इस परिषद् को हस्तान्तरित कर दिये जाँय,

(२) उन सड़कों, पुलों, भवनों तथा तालाबों का निर्माण, रक्षा तथा जीर्णोद्धार जो इसे हस्तान्तरित कर दिए जायँ

(३) वनों का रोपण तथा रक्षा

(४) प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षालयों का प्रबन्ध, इनके भवनों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार तथा शिक्षालयों की देखभाल आदि।

(५) औषधालयों तथा अस्पतालों की स्थापना तथा प्रबन्ध,
(६) बाजारों तथा मेलों की स्थापना और इसका प्रबन्ध,
(७) सरायों तथा सराय मालिकों पर नियन्त्रण,
(८) जल का प्रबन्ध
(९) भूमि संरक्षण,
(१०) जानवरों की रक्षा तथा उनके इलाज का प्रबन्ध
(११) पशुओं को अत्याचार से रक्षा,
(१२) जन-स्वास्थ्य तथा सफाई
(१३) पंचायत की दस रेस तथा उन पर नियन्त्रण
(१४) तथा कोई अन्य ऐसे विषय जो कि केन्द्रीय सरकार इस परिषद को हस्तान्तरित कर दे।

उपर्युक्त सूची को देखने से यह स्पष्ट है कि इन क्षेत्रीय परिषदों के अधिकार उस प्रकार के हैं जैसा कि सामान्यतः स्थानीय संस्थाओं (म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट बोर्डस) को दिए जाते हैं। इन विषयों में भी ये परिषदें प्रशासक के नियन्त्रण में काम करेंगी। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार है कि वह यदि चाहे तो इन क्षेत्रीय परिषदों से समस्त अधिकार ले सकती है।

दिल्ली में एक निगम (Corporation) की स्थापना की गई है जो कि यहाँ के स्थानीय विषयों का प्रबन्ध करेगा। अन्डमान तथा लक्कादीव द्वीप समूह का शासन प्रशासक के द्वारा ही किया जायगा।

प्रश्न

(१) नये संविधान के अनुसार राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५१)

(२) नये संविधान के अनुसार राज्य की विधान सभा का निर्माण कैसे होता है ? उसकी शक्तियों तथा विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५२)

(३) उत्तर प्रदेश की विधान सभा और विधान परिषद् के संगठन और पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५४)

(४) उत्तर प्रदेश की सरकार में राज्यपाल का क्या स्थान है ?

(५) उत्तर प्रदेश की विधान सभा के निर्वाचन प्रणाली का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५५)

(६) उत्तर प्रदेश की व्यवस्थापिका सभा में कानून बनाने की क्या विधि है। समझाकर उदाहरण द्वारा बतलाइये। (यू० पी० १९५६)

(७) उत्तर प्रदेश में द्वि-भवन विधान मण्डल की व्यवस्था क्यों की गई है ? इनके पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। यदि प्रदेश दूसरे भवन को तोड़ना चाहे तो यह किस प्रकार सम्भव है। (यू० पी० १९५७)

(८) उत्तर प्रदेश के राज्य शासन में राज्यपाल का क्या स्थान है। उसकी शक्तियों का उल्लेख कीजिए। (यू० पी० १९५८)

(९) उत्तर प्रदेश के विधान मण्डल के अधिकारों और कर्तव्यों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५९)

अध्याय १२

न्यायपालिका

प्रत्येक संविधान में एक स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना आवश्यक है। इसका काम व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना है। अगर इन अधिकारों की रक्षा नहीं की जावेगी तो व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है क्योंकि अधिकारों से तात्पर्य ही व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक दशाओं से है। लार्ड ब्राइस ने एक स्थान पर कहा कि किसी सरकार की उत्तमता का सर्वोत्कृष्ट चिन्ह अच्छा न्याय विभाग है। क्योंकि साधारण नागरिक के हित तथा सुरक्षा के लिए यह भावना आवश्यक है कि उसके साथ उचित न्याय शीघ्र किया जावेगा।

संघ सरकार में तो न्यायपालिका और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसका काम संविधान की रक्षा करना हो जाता है। इसलिए इसको 'संविधान का संरक्षक' कहा जाता है। इसका काम यह देखना है कि व्यवस्थापिका कोई ऐसा कानून न बनाये जो कि संविधान के विरुद्ध हो इसलिए यह संविधान की व्याख्या करती है। अगर कोई कानून इसके अनुसार संविधान के विरुद्ध हो तो वह अवैध घोषित कर दिया जाता है। इसके साथ ही साथ यह इस बात की भी देखती है कि संघ सरकार तथा राज्यों की सरकारें अपने अपने क्षेत्र के बाहर नहीं जाती है। अगर संघ सरकार तथा राज्यों की सरकारों में अथवा राज्यों में आपस में कोई झगड़ा होता है तो उसका निर्णय न्यायपालिका ही करती है।

साधारणतः संघात्मक संविधान में दो न्यायपालिकाएँ होती है—संघ की तथा राज्यों की। अमेरिका में ऐसा ही है और वहाँ वे एक दूसरे से पृथक है। परन्तु भारत में ऐसा नहीं किया गया है। अंग्रेजी शासन काल में समस्त देश के लिए एक ही सुगठित न्यायपालिका का प्रबन्ध था। नये संविधान में भी ऐसा ही रखा गया है इसका कारण यह बतलाया गया है कि कानून तथा इसके शासन में समस्त देश में कोई विभिन्नता न रहे। भारत का सर्वोच्च न्यायालय उच्चतम न्यायालय कहलाता है। राज्यों में उच्च न्यायालय है। परन्तु ये सब संघ सरकार के अधीन है।

उच्चतम न्यायालय —स्वतन्त्रता के पूर्व भारत के फैसलों की अन्तिम अपील इंगलैंड के प्रिवी कौन्सिल में होती थी। परन्तु अब उच्चतम न्यायालय ही भारत का सर्वोच्च न्यायालय है। संविधान में कहा गया है कि उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा जब तक संसद विधि द्वारा इस संख्या को नहीं बढ़ाती अधिक से अधिक सात अन्य न्यायाधीश होंगे। परन्तु अब संसद द्वारा यह संख्या १० कर दी गई है। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है। मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति में राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय तथा राज्यों के उच्चन्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों की सलाह लेगा, जिनसे राय लेना वह आवश्यक समझे। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति में, इनके अतिरिक्त मुख्य न्यायाधिपति से सलाह लेना आवश्यक है।

इनके अलावा इस बात का प्रबन्ध किया गया है कि आवश्यकता पड़ने पर मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से, तदर्थ न्यायाधीशों (ad hoc judges) को कुछ समय के लिये नियुक्त कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय तथा संविधान लागू होने के पूर्व के संघीय-न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीशों की भी नियुक्ति की जा सकती है।

योग्यताएँ —सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारत का नागरिक हो, किसी राज्य के उच्च न्यायालय में कम से कम लगातार ५ वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो, या किसी उच्च न्यायालय में कम से कम लगातार दस वर्ष तक अधिवक्ता (advocate) रह चुका हो, या राष्ट्रपति की राय में पारंगत विधिवेत्ता (jurist) हो। प्रत्येक न्यायाधीश को ६५ वर्ष की आयु पूरी करने पर पद से अवकाश ग्रहण करना पड़ेगा।

वेतन :—मुख्य न्यायाधिपति को ५००० रुपया मासिक तथा अन्य न्यायधीशों को ४००० रुपया मासिक वेतन मिलेगा। इसके अतिरिक्त उन्हें रहने के लिए बिना किराये का मकान तथा अन्य भत्ते मिलेंगे।

शपथ :—प्रत्येक न्यायाधीश पद-ग्रहण से पूर्व राष्ट्रपति के सम्मुख पद की शपथ लेगा कि वह संविधान के प्रति निष्ठा रखेगा तथा निष्पक्ष रूप से बिना भय या द्वेष के न्याय करेगा।

स्वतन्त्रता :—न्यायपालिका के लिये यह आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र रहे नहीं तो सच्चा न्याय असम्भव है। इस उद्देश्य से संविधान में कई उपबन्ध रखे गए हैं।

(अ) संसद या किसी राज्य के विधान-मण्डल में उच्चतम न्यायालय या किसी राज्य के उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश द्वारा अपने कर्त्तव्य-पालनार्थ किये गये किसी कार्य पर विचार नहीं हो सकता।

(ब) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन तथा भत्ते आदि उनके कार्यकाल में घटाए नहीं जा सकते हैं। यह व्यय भारत की संचित निधि में से दिया जावेगा। अतएव संसद् इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

(स) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपनी पदावधि के पूर्व केवल दो रीतियों से हट सकते हैं। या तो त्यागपत्र दे दें या संसद् के दोनों सदन पृथक्-पृथक् या एक ही अधिवेशन में, अपने समस्त सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा राष्ट्रपति से यह प्रार्थना करें कि कोई न्यायाधीश अयोग्यता अथवा कदाचार (misbehaviour) के कारण अपने पद से हटा दिया जाय।

(द) अपने कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा कार्य सम्बन्धी नियमों को बनाने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को दिया गया है। मुख्य न्यायाधिपति या उसकी आज्ञा से कोई अन्य पदाधिकारी उस न्यायालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करेगा। परन्तु राष्ट्रपति यह नियम बना सकता है कि कोई व्यक्ति जो कि पहले उच्चतम न्यायालय से लगा न हो बिना संघीय सेवा आयोग की राय के नियुक्त न किया जावे। कर्मचारियों की सेवा की शर्तें भी न्यायालय स्वयं निश्चय करेगा। परन्तु वेतन छुट्टी भत्ते तथा पेन्शन के नियमों के लिए राष्ट्रपति का अनुमोदन चाहिये। उच्चतम न्यायालय को संसद् द्वारा बनाये हुए कानूनों के अधीन तथा राष्ट्रपति के अनुमोदन से अपना कार्यप्रणाली तथा प्रक्रिया सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार है। जैसे अपने कर्मचारियों के बारे में, या अपीलें सुनने के लिए प्रक्रिया के बारे में, या किसी मूल अधिकार की पूर्ति कराने के लिये उस न्यायालय में कार्यवाही के बारे में या उस न्यायालय में कार्यवाहियों से सम्बन्धित खर्चे तथा फीस के बारे में तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों पर नियम बनाने का अधिकार है।

(य) अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् भी न्यायाधीशों को किसी भी न्यायालय में वकालत करने का अधिकार नहीं दिया गया है।

स्थान —उच्चतम न्यायालय दिल्ली में अथवा ऐसे अन्य स्थान या स्थानों में, जिन्हें भारत का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति के अनुमोदन से समय-समय पर निश्चित करे, बैठेगा।

अभिलेख न्यायालय —उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय होगा। इसलिए इसे अपने अपमान (contempt) के लिए दण्ड देने की सब शक्तियाँ होगी। अभिलेख न्यायालय (Court of Record) से यह तात्पर्य है कि उनकी सब कार्यवाही तथा कृत्य प्रामाणिक माने जाते हैं और उसे अपमान के लिए दण्ड देने का अधिकार होता है।

अधिकार —संविधान द्वारा इसको निम्नलिखित अधिकार दिए गए हैं।

(१) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original Jurisdiction) :— प्रत्येक संघीय-संविधान में संघ तथा इसके राज्यों के बीच अधिकार विभाजन होता है। इनमें से प्रत्येक का क्षेत्र निश्चित है। परन्तु इन दोनों में आपस में अपने-अपने क्षेत्र विस्तार के सम्बन्ध में विवाद उठ सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आवश्यक हो जाता है कि कोई ऐसी सत्ता हो जो कि ऐसे-विवादों का निर्णय करे। संघ सरकार में यह सत्ता न्यायपालिका होती है।

भारतीय संविधान में संघीय-न्यायालय का निम्नलिखित विवादों पर उस सीमा तक प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार होगा जहाँ तक उनका सम्बन्ध किसी वैध अधिकार से है :—

(२) भारत सरकार तथा किसी राज्य या राज्यों के बीच।

(३) एक ओर भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्य और दूसरी ओर किसी राज्य या राज्यों के बीच।

परन्तु उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार को संविधान की धारा १३१ के द्वारा कुछ सीमित किया गया है। उदाहरणार्थ इस क्षेत्राधिकार के अन्दर कोई ऐसा विवाद सम्मिलित नहीं होगा जो संविधान लागू होने के पूर्व की गई किसी संधि या समझौते के कारण उत्पन्न हुआ हो तथा वह संधि या समझौता संविधान लागू होने के बाद भी मान्य हो। इसी प्रकार यदि किसी राज्य के साथ यदि इस प्रकार की संधि हुई हो जिसके अनुसार किसी प्रकार का विवाद-विषय उच्चतम न्यायालय के सम्मुख नहीं प्रस्तुत किया जायगा, तो वह भी इसके क्षेत्राधिकार के बाहर ही रहेगा। इसके अतिरिक्त वित्त आयोग में संशोधित बातें (धारा २८०), राज्यों के मध्य जलपूर्ति सम्बन्धी मामले (inter state wate supply), नागरिकों के बीच विवाद, राजदूत सम्बन्धी मामले आदि भी इस क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

(२) मूल अधिकारों का संरक्षक —उच्चतम न्यायालय नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षक है। संविधान द्वारा प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह इन अधिकारों के रक्षार्थ उच्चतम न्यायालय के समक्ष जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस न्यायालय को विभिन्न प्रकार के लेख निकालने का अधिकार है जिनका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इस प्रकार अन्य न्यायालयों के निर्णयों का दुहरा सकता है।

(३) अपीलीय क्षेत्राधिकार —स्वाधीनता के पूर्व भारत के सब न्यायालयों से अपील इंग्लैंड की प्रिवी कौंसिल में होती थी। अतएव यह कौंसिल ही सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय थी। परन्तु सितम्बर १९४९ से भारत का सर्वोच्च अपीलीय-न्यायालय यह कौंसिल नहीं रहा। अब उच्चतम न्यायालय ही सर्वोच्च न्यायालय है। इसके निर्णय के विरुद्ध किसी अन्य न्यायालय में अपील नहीं हो सकती है। परन्तु यह स्वयं अपने आदेशों तथा निर्णयों का पुनर्विलोकन कर सकता है। उच्चतम न्यायालय में साधारणतः उच्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील होती है परन्तु इसको यह अधिकार है कि यह सैनिक न्यायालयों के अतिरिक्त भारत में अन्य किसी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील की आज्ञा दे दे।

(४) उच्चतम न्यायालय में संविधानिक, व्यवहार-सम्बन्धी तथा दण्ड सम्बन्धी (Constitutional Civil and Criminal) विवादों की अपील हो सकती है। संविधानिक विवादों की अपील इस न्यायालय में तभी सुनी जायगी जब कि किसी राज्य का उच्च न्यायालय यह प्रमाण दे कि इस विवाद में संविधान-सम्बन्धी कोई प्रश्न निहित है। अगर उच्च न्यायालय इस प्रकार का प्रमाणपत्र न दे तो उच्चतम न्यायालय स्वयं ही ऐसा प्रमाणपत्र दे सकता है।

व्यवहार-सम्बन्धी विवादों में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील तभी हो सकती है जब कि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करे कि वाद विषय की राशि या मूल्य बीस हजार रुपये से कम नहीं है या कि यह मामला उच्चतम न्यायालय में अपील के लायक है।

दण्ड सम्बन्धी मामलों में उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध तब अपील हो सकती है यदि उच्च न्यायालय ने अपील में निचले न्यायालय द्वारा मुक्त किए हुए किसी अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया हो या निचले न्यायालय से किसी मामले को अपने परीक्षण के लिए मंगाकर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया हो, या उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि मामला उच्चतम-न्यायालय में अपील किए जाने लायक है।

(४) राष्ट्रपति को परामर्श देना —राष्ट्रपति किसी विधि या तथ्य सम्बन्धी सार्वजनिक महत्व के प्रश्न को उच्च न्यायालय के विचार के लिए सौंप सकता है। उच्चतम न्यायालय ऐसे अवसरों पर उचित सुनवाई के बाद अपनी राय देगा। अभी राष्ट्रपति द्वारा केरल सरकार द्वारा पारित शिक्षा-विधेयक उच्चतम न्यायालय को परामर्श के लिए भेजा गया था और न्यायालय ने उसपर अपनी राय दी। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति को अवश्य ही मानना पड़ेगा ऐसा संविधान में नहीं कहा गया है और न यही कहा गया है कि राष्ट्रपति इस विषय में स्वतंत्र है।

(५) पुनरावृत्ति का अधिकार :—उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार भी है कि अपने द्वारा दिए गए किसी निर्णय का पुनः अवलोकन कर सके तथा उसकी त्रुटियाँ हटा दे।

उच्चतम न्यायालय के अधिकारों में संसद् विधि द्वारा वृद्धि कर सकती है। इस न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत के अन्दर सब न्यायालयों पर बंधनकारी होगी।

संविधान में उच्चतम न्यायालय का स्थान :—भारतीय उच्चतम न्यायालय देश की न्यायपालिका का उत्तमाग है। संविधान के द्वारा इसको विशेष अधिकार सम्पन्न इसलिये किया गया है कि जिससे यह देश के संविधानिक व्यवस्था में अपनी भूमिका ठीक प्रकार से निभा सके।

न्यायपालिका के मुखिया के रूप में इसका कार्य यह देखना है कि कानून ठीक प्रकार लागू किए जाते हैं तथा कोई भी नागरिक न्याय से वंचित नहीं किया जाता है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये न्याय सुलभ हो तथा सभी के लिए न्याय समान हो। इसलिये यदि किसी को यह विचार हो कि उसके साथ न्याय नहीं किया गया है वह उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है। तथा यह उसे किसी भी न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील करने की अनुमति दे सकता है। उच्चतम न्यायालय नागरिक के मूल अधिकारों का संरक्षक है।

इसके विषय में एक विद्वान ने कहा था कि यह संसार के सब उच्चतम न्यायालयों में अधिक शक्तिशाली है।[1] इसी प्रकार भारत के महान्यायवादी श्री सीतल-

1. The Indian Supreme Court was described as having "more power than any other supreme court in any part of the world" —A. K. Aiyer.

बाद ने एक अवसर पर कहा था कि इसके अधिकार राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश के उच्चतम न्यायालय अथवा अमेरिका के उच्चतम न्यायालय से अधिक हैं।[1] अमेरिका के उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार भारतीय उच्चतम न्यायालय से अधिक विस्तृत है। परन्तु अपीलीय क्षेत्राधिकार भारतीय उच्चतम न्यायालय का अधिक विस्तृत है।

अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह वहाँ की व्यवस्थापिका का तीसरा सदन हो गया है। इसने अपने न्यायिक पुनर्विलोकन के अधिकार का इस प्रकार प्रयोग किया है कि इसकी ऐसी स्थिति हो गई है। भारतीय उच्चतम न्यायालय को भी न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है। यदि देश में कोई व्यवस्थापिका ऐसी विधि का निर्माण कर जो संविधान का उल्लंघन करती हो या कोई कार्यपालिका का ऐसा आदेश दे जो संविधान का अतिक्रमण करती हो, इन दोनों दशाओं में उच्चतम न्यायालय इस विधि अथवा आदेश को अवैध घोषित कर देगा। परन्तु भारतीय उच्चतम न्यायालय का यह अधिकार प्रत्यक्ष रूप से संविधान द्वारा नहीं दिया गया है।

भारत का उच्चतम न्यायालय किसी कानून को इसलिये अवैध घोषित कर सकता है कि वह संविधान की धाराओं का उल्लंघन करता है परन्तु वह इस कारण उसको अवैध नहीं घोषित कर सकता है कि वह खराब (bad) कानून है। भारतीय उच्चतम न्यायालय के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह आर्थिक तथा सामाजिक नीति के निर्धारण में व्यवस्थापिका के मार्ग में रोड़ा अटका सके। भारत में न्यायपालिका की स्थिति इंगलैंड तथा अमेरिका के बीच का है। इसे न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार है परन्तु यह अधिकार उतना व्यापक नहीं है जितना अमेरिका में। उच्चतम न्यायालय ने स्वयं अपने एक निर्णय में कहा है कि भारत में न्यायपालिका की वह भूमिका (role) नहीं हो सकती जो कि अमेरिका में है। भारत में अन्ततोगत्वा व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता है न कि न्यायपालिका की। संसद् संविधान में संशोधन के द्वारा न्यायपालिका की शक्ति को अप्रभावी कर सकता है।

" 1 It can firmly be said that the jurisdiction and powers of this court in their nature and extent are wider than those exercised by the highest court of any country in the Commonwealth or by the Supreme Court of the U S A"

राज्यों की न्यायपालिका

उच्च न्यायालय —साधारणतः संघ राज्यों में दोहरी न्यायपालिका होती है—संघीय तथा राज्यों की। परन्तु जैसा हम पहले लिख चुके हैं भारतीय संविधान द्वारा दोहरी न्यायपालिका की स्थापना नहीं की गई है। इसका कारण यह कहा गया है कि समस्त देश में एक न्याय व्यवस्था होनी चाहिये।

संविधान द्वारा प्रशासित राज्यों के लिये एक उच्च न्यायालय का उपबन्ध किया गया है। केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्यों के लिये उच्च न्यायालय स्थापित करने का अधिकार संसद् को दिया गया है। जिन राज्यों में नवीन संविधान लागू होने के पूर्व उच्च न्यायालय थे, इस संविधान के लागू होने पर वहाँ के उच्च न्यायालय मान लिये गए हैं। प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय है और इसको ऐसे न्यायालय के सब अधिकार दिए गए हैं। अधीन न्यायालय इसके फैसलों को प्रामाणिक मानेंगे।

प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होंगे। प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायाधीशों की अधिक से अधिक कितनी संख्या हो, इसको राष्ट्रपति आदेश द्वारा समय-समय पर नियत करेगा। इसलिए विभिन्न राज्यों में संख्या अलग-अलग होगी।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिये निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए।

(१) भारत का नागरिक होना,

(२) भारत राज्य क्षेत्र के अन्दर कम से कम दस वर्ष तक कोई न्यायिक पद (Judicial Office) धारण किया होना,

(३) भारत के किसी उच्च न्यायालय में कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति तथा राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख के परामर्श से करता है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति तथा राज्य के मुख्य न्यायाधिपति की राय से करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति उनकी कानूनी योग्यता तथा चरित्र आदि पर ध्यान रखता है। प्रत्येक न्यायाधीश ६० वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकता है।

न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को ४००० रुपया मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को ३५०० रुपया मासिक वेतन मिलता है। अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् इनको पेन्शन भी मिलती है। राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श कर किसी न्यायाधीश को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकता है। प्रत्येक न्यायाधीश पद ग्रहण से पूर्व राज्यपाल के सामने पद की शपथ लेता है।

न्यायाधीश अगर चाहे तो अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। अगर संसद् के दोनों सदन अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से तथा उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से किसी न्यायाधीश के विरुद्ध अयोग्यता अथवा कदाचार का आरोप करके राष्ट्रपति से उसे हटाने की प्रार्थना करते हैं तो राष्ट्रपति उसे अपने पद से हटा सकता है।

इस बात का प्रबन्ध किया गया है कि न्यायपालिका स्वतन्त्र रहे। इसी कारण न्यायाधीशों को पद से हटाने के लिए एक विशेष व्यवस्था की गई है। उनके वेतन तथा भत्ते में विधान मण्डल कोई कमी नहीं कर सकता है न उनके सम्बन्ध में कोई वाद-विवाद ही विधान मण्डल में हो सकता है। राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पास कोई भी ऐसा विधेयक जिसका उच्च न्यायालय के अधिकारों पर प्रभाव पड़ता है बिना राष्ट्रपति की स्वीकृति के कानून नहीं हो सकता है। पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते हैं।

क्षेत्राधिकार—उच्च न्यायालयों के अधिकार कुछ साधारण परिवर्तनों से अब तक वही हैं जो नवीन संविधान लागू होने के पूर्व थे। उच्च न्यायालयों के अधिकार काफी विस्तृत हैं। वे राज्य के अन्दर दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों में अपील की सबसे ऊँची अदालत हैं। संविधान लागू होने के पूर्व कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के उच्च न्यायालयों के पास प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के अधिकार थे। वे दीवानी मुकदमे जिनका मूल्य दो हजार रुपये से अधिक होता था उनमें आरम्भ कर सकते थे। वे फौजदारी के केस में भी जो प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेटों द्वारा भेजे जाते थे उनमें आरम्भ हो सकते थे। अन्य उच्च न्यायालयों को प्रारम्भिक अधिकार नहीं थे। वे केवल अपीलीय न्यायालय थे। नए संविधान द्वारा इस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। परन्तु इसके द्वारा उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में कुछ वृद्धि हुई है एक तो यह कि अब राजस्व तथा उसकी वसूली से सम्बन्धित मामले उच्च न्यायालयों के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आ गए हैं। दूसरे स्थान पर मू

होने के पूर्व यह अधिकार नहीं था। दूसरे यह कि अब नवीन संविधान द्वारा प्रत्येक उच्च न्यायालय को लेख निकालने का अधिकार दे दिया गया है। इससे पूर्व केवल कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के उच्च न्यायालयों का यह अधिकार था। अन्य उच्च न्यायालय केवल बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख ही निकाल सकते थे। परन्तु अब सब उच्च न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया गया है। यह अधिकार इसलिए प्रदान किया गया है ताकि व्यक्तियों के मूल अधिकारों का उचित प्रकार से संरक्षण हो सके। उच्च न्यायालय किसी कानून को अगर संविधान के उपबन्धों के विरुद्ध हो अवैध घोषित कर सकता है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने राज्य क्षेत्र के अन्दर सब अन्य न्यायालयों तथा न्यायाधिकरणों (Tribunals) पर निरीक्षण का अधिकार है। परन्तु सैनिक न्यायालय इसके निरीक्षण में नहीं रहेंगे। अपने अधीन न्यायालयों के ऊपर उच्च न्यायालय के नीचे लिखे अधिकार हैं:—(क) अधीन न्यायालयों से विवरणी (Call for returns) मंगा सकता है। (ख) अधीन न्यायालयों की कार्यप्रणाली तथा कार्यवाहियों को निश्चित करने के लिये नियम बना सकता है। (ग) अधीन न्यायालय के अधिकारियों द्वारा रखी जानेवाली पुस्तकों, प्रविष्टियों तथा लेखाओं के रखने का ढंग निश्चित कर सकता है। (घ) अधीन न्यायालयों के शेरिफ, क्लर्क, अन्य कर्मचारी तथा वकील आदि की फीस निश्चित कर सकता है, (ङ) किसी मुकदमे को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में भेज सकता है।

हस्तान्तरण का अधिकार—यदि उच्च न्यायालय यह समझे कि किसी अधीन न्यायालय में कोई ऐसा मामला है जिसमें कि संविधान के निर्वाचन (Interpretation) सम्बन्धी कोई प्रश्न अन्तर्गत है तथा जिसका निर्धारित होना मामलों के निपटाने को आवश्यक है तो वह उस मुकदमे को अपने पास मंगा लेगा। या तो वह उस मामले को स्वयं निपटा देगा या उस विशेष प्रश्न को निर्धारित कर मामले को फिर से निचले न्यायालय में भेज देगा। दूसरी दशा में निचला न्यायालय उच्च न्यायालय के निर्णय को ध्यान में रखते हुए आगे कार्यवाही करेगा।

उच्च न्यायालय के पदाधिकारी आदि—उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों तथा सेवकों की नियुक्तियां मुख्य न्यायाधिपति या उसकी आज्ञा से उस न्यायालय का कोई अन्य न्यायाधीश करता है। परन्तु राज्यपाल किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति के लिये जो कि पहले से न्यायालय में नहीं लगा है यह नियम बना

सकता है कि वह लोक सेवा के आयोग के परामर्श बिना नियुक्त न हो। इन पदाधिकारियों की सेवा की शर्तें राज्य के विधान मण्डल द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये हुए कानूनों के अधीन रहते हुए मुख्य न्यायाधिपति द्वारा निश्चित की जाती हैं। वेतन भत्ता तथा छुट्टी आदि से सम्बन्धित नियमों के लिये राज्यपाल का अनुमोदन चाहिये। वेतन आदि का व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित है।

संसद् को यह अधिकार है कि वह उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकती है या उनके अधिकार को कम कर सकती है।

राज्यों में अधीन न्यायालय —उच्च न्यायालय के अधीन जिले में कई न्यायालय होते हैं। फौजदारी तथा दीवानी के अलग अलग न्यायालय होते हैं। इनके अतिरिक्त माल की अदालतें (राजस्व न्यायालय) भी होती हैं।

दण्ड न्यायालय —जिले में सबसे बड़ा दण्ड न्यायालय **सेशन कोर्ट** कहलाता है। इसके न्यायाधीश को सेशन जज कहते हैं। सेशन जज की सहायतार्थ सहकारी सेशन जज भी होते हैं। इन न्यायालयों में जज मुकदमों का निर्णय जूरी या असेसरों की सहायता से करते हैं। इन न्यायालयों के अधिकार फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालय के समान ही हैं। परन्तु इसके द्वारा दिए हुए मृत्युदण्ड के लिए उच्च न्यायालय का अनुमोदन आवश्यक है। इसके अधिकार प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के हैं।

सेशन जज के अधीन तीन श्रेणी के मजिस्ट्रेट होते हैं। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट को २ वर्ष की सजा तथा १००० रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार है। द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट को ६ माह की सजा तथा ३०० रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार है। तृतीय श्रेणी का मजिस्ट्रेट १ माह की कैद तथा ५० रुपया जुर्माना कर सकता है। मजिस्ट्रेट वैतनिक तथा अवैतनिक दोनों प्रकार के होते हैं। अवैतनिक मजिस्ट्रेट की नियुक्ति राज्य की सरकार करती है। इनके पास साधारण मुकदमे ही आते हैं।

वैतनिक मजिस्ट्रेटों में जिलाधीश (District Magistrate) को प्रथम श्रेणी के मैजिस्ट्रेट के अधिकार होते हैं। इसके नीचे डिप्टी कलेक्टर तथा तहसीलदार और नायब तहसीलदार की कचहरियाँ होती हैं। प्रेसीडेन्सी शहरों में प्रेसीडेन्सी मैजिस्ट्रेट होते हैं। बड़े शहरों में सिटी मैजिस्ट्रेट भी होते हैं। डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की कचहरी में उसके मातहत कचहरियों के निर्णयों की

अपील हो सकती है। प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के निर्णय के विरुद्ध सेशन जज की अदालत में तथा इसके निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील हो सकती है।

अभी तक जिला अधिकारियों के पास कार्यकारिणी और न्यायपालिका दोनों प्रकार के अधिकार संयुक्त रूप से हैं। परन्तु नागरिकों की स्वतंत्रता के हित में यह कहा जाता है कि इनका पृथक्करण होना चाहिये। इस उद्देश्य से कुछ राज्यों ने पहला कदम उठाया है।

व्यवहार न्यायालय :—जिले में दीवानी की सबसे बड़ी अदालत जिला न्यायाधीश की अदालत होती है। साधारणतः एक ही व्यक्ति सेशन जज तथा जिला न्यायाधीश दोनों पद धारण किए रहता है। जिला न्यायाधीश को दीवानी मामलों में प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के अधिकार हैं। इसमें केवल उन मुकदमों की अपील हो सकती है जिनका मूल्य ५०००) से कम होता है। इससे अधिक मूल्य के मुकदमे सीधे उच्च न्यायालय में अपील के लिये जाते हैं।

जिला न्यायाधीश के मातहत अन्य अदालतें होती हैं जिनके ऊपर उसको निरीक्षण का अधिकार है। सिविल जज जिला न्यायाधीश के मातहत हैं। उनको लगभग वही अधिकार प्राप्त हैं जो कि जिला न्यायाधीश को। इनके नीचे मुन्सिफ की अदालत होती है। मुन्सिफों को साधारणतः २०००) मूल्य तक के मुकदमे और विशेष अधिकार दिए जाने पर ५०००) मूल्य तक मुकदमे का अधिकार रहता है। परन्तु इनको अपीलीय अधिकार नहीं है बड़े जिलों में इनके अतिरिक्त स्मॉल-कॉज-कोर्ट (खफीफा अदालत) भी हैं। इनमें साधारणतः ५००) और विशेष अवसरों पर १०००) मूल्य तक के मुकदमे सुने जाते हैं। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में ये अदालतें २०००) मूल्य तक के मुकदमे सुन सकती हैं। इनके निर्णय की अपील नहीं होती है।

जिला न्यायाधीश आदि की नियुक्ति :—संविधान में यह कहा गया है कि जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पद-स्थापना तथा पदोन्नति उस राज्य के उच्च न्यायालय से परामर्श करके राज्यपाल या राजप्रमुख करेगा। कोई व्यक्ति जो संघ की या राज्य की सेवा में पहिले से नहीं रहा है, तभी जिला-न्यायाधीश हो सकता है जब कि वह कम से कम सात वर्षों तक अधिवक्ता या वकील रह चुका है तथा उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की है। जिला न्यायाधीश के अतिरिक्त अन्य पदों पर नियुक्ति के लिये राज्य-

पाल उस राज्य के लोकसेवा आयोग तथा उच्च न्यायालय से परामर्श करेगा। राज्य के अन्तर्गत सब अधीन न्यायालयों तथा उनके कर्मचारियों पर उच्च न्यायालय का नियन्त्रण तथा निरीक्षण का अधिकार है।

माल की अदालत—राज्य में माल की सबसे बड़ी अदालत बोर्ड ऑव रेवेन्यू है। इसके नीचे कमिश्नर की अदालत होती है। जिले में माल की सबसे बड़ी अदालत जिला मजिस्ट्रेट की होती है। इसके नीचे डिप्टी कलेक्टर तथा तहसीलदार की अदालतें हैं। इन अदालतों में मालगुजारी सम्बन्धी मामले सुने जाते हैं।

न्याय-पंचायत—जिन सूबों में पंचायत राज्य स्थापित की गई है वहाँ पंचायती अदालतें भी हैं। इन अदालतों के सदस्यों का चुनाव गाँव की पंचायत के सदस्यों द्वारा किया जाता है। गाँव के मामूली मुकदमे—दीवानी तथा फौजदारी—की सुनवाई इन अदालतों में होती है।

प्रश्न

(१) उच्चतम न्यायालय के कृत्यों तथा शक्तियों का वर्णन कीजिये। इस न्यायालय का भारतीय संविधान में क्या विशेष महत्त्व है? (यू० पी० १९५३)

(२) संघीय राज्य में न्यायपालिका का क्या महत्त्व है? भारत में न्यायपालिका कहाँ तक इन कर्त्तव्यों को पूरा करती है?

(३) उच्च न्यायालयों के संगठन तथा अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(४) जिले में न्याय का प्रबन्ध किस प्रकार होता है? समझा कर लिखिये।

(५) भारत के उच्चतम न्यायालय के संगठन तथा अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख कीजिए। (यू० पी० १९५६)

(६) हमारे संविधान में उच्चतम न्यायालय का क्या स्थान है? इसके अधिकारों का वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५७)

अध्याय १३

जिले का शासन-प्रबन्ध

जिलाधीश.—प्रत्येक राज्य कई जिलों में बाँटा गया है; हमारे उत्तर प्रदेश में ५१ जिले हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सब जिलों में आबादी बराबर हो या उनका क्षेत्रफल बराबर हो। कुछ जिले छोटे तथा कुछ बड़े हैं। इसी प्रकार आबादी की दृष्टि से भी उनमें काफी अन्तर है। आर्थिक दृष्टि से भी उनमें असमानता है। परन्तु प्रत्येक जिले में शासन-यन्त्र एक सा ही होता है। हर जिले में सरकार के कई विभाग होते हैं, जैसे, शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलिस, पब्लिक वर्क्स आदि। इनमें से प्रत्येक का जिले में एक प्रधान होता है। जिले में सबसे मुख्य अधिकारी जिलाधीश कहलाता है। वह जिले में सरकार की शक्ति का प्रतीक है। वह प्रत्येक दृष्टि से जिले का मुख्य अधिकारी है। साधारण बोल-चाल में वह जिले का मालिक है। उसका मुख्य काम लगान वसूल करना तथा जिले में शान्ति व्यवस्था को बनाये रखना है। साधारण जनता की आँखो में वही सरकार है। उसके कई प्रकार के काम होते हैं। जिले का प्रत्येक विभाग कुछ मात्रा तक उसके निरीक्षण में रहता है। एक लेखक के अनुसार वह जिले में सरकार का आँख, कान, मुह तथा हाथ है।

स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व साधारणत. इण्डियन सिविल सर्विस के सदस्य जिलाधीश बनाये जाते थे। कुछ अवसरों पर प्रान्तीय सिविल सर्विस के बहुत पुराने सदस्य भी कभी-कभी किसी जिले के जिलाधीश बना दिये जाते थे। परन्तु मुख्य जिलो के जिलाधीश सदैव इण्डियन सिविल सर्विस के ही सदस्य होते थे। ब्रिटिश सत्ता के ये जिलाधीश प्रतीक थे। अब जिलाधीश भारतीय एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस के सदस्य होंगे। इस समय कई प्रान्तीय सर्विस के सदस्य भी जिलाधीश पद पर नियुक्त हैं।

जिलाधीश के अधिकार.—उसके अधिकार अनेक हैं। सुविधार्थ उनको हम नीचे लिखे वर्गों में बाँट सकते हैं।

(१) जिले में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाये रखना —सामाजिक जीवन के लिए शान्ति आवश्यक है। सरकार के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक यह है कि

प्रत्येक नागरिक को इस बात का विश्वास हो कि वह अपना काम बिना विघ्न बाधाओं के कर सकता है। इसके लिये शान्ति तथा व्यवस्था बनी रहनी चाहिये। जिले के अन्दर यह काम जिलाधीश का है। इस हेतु जिले की पुलिस को उसके साथ सहयोग करना पड़ता है। तथा उसके आज्ञानुसार काम करना होता है। पुलिस जिलाधीश का एक हाथ है। जिले का प्रत्येक पुलिस-अफसर इस दृष्टि से मातहत है। शान्ति तथा सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिये कलेक्टर को बहुत अधिकार दिये गए हैं। वह सभा या जुलूसों पर रोक लगा सकता है। करफ्यू आर्डर तथा धारा १४४ लगा सकता है। वह समाचार पत्रों की भी देखभाल करता है। वह बन्दूक आदि के लाइसेन्स पर भी रोक रखता है। जिले में शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये वह जिले का दौरा करता है जनता के प्रतिनिधियों से मिलता है उनकी तकलीफों को सुनता है उन्हें दूर करने की चेष्टा करता है। आजकल गल्ले कपड़े तथा मकानों की कमी के कारण इन बातों का प्रबन्ध करने के लिए जो राशनिंग तथा सप्लाई विभाग खोले गए हैं वे भी जिलाधीश के अधीन हैं।

(२) मालगुजारी वसूल करने का अधिकार —कलेक्टर शब्द का अर्थ ही वसूल करने वाला होता है। वह जिले की मालगुजारी वसूल करता है। यह भी उसके मुख्य कामों में से एक है। उसको यह अधिकार नहीं कि वह घटा या बढ़ा सके। परन्तु अकाल बाढ़ आदि के समय वह सरकार से यह सिफारिश कर सकता है कि इसमें कमी या छूट कर दी जावे। इसलिए जिले के अन्दर इस कार्य से सम्बन्धित सब अधिकारी उसके मातहत हैं। उसके नीचे काम को करने के लिये डिप्टी कलेक्टर, तहसीलदार नायब तहसीलदार, कानूनगो तथा पटवारी होते हैं। इस प्रकार जिलाधीश इस संगठन का मुखिया है। लगान वसूल करने के साथ साथ जिलाधीश किसानों के हितों तथा समस्याओं का भी ध्यान रखता है। अतिवृष्टि या अनावृष्टि या किसी और कारण से उत्पन्न कठिनाइयों को हल करने में वह किसानों की सहायता करता है। जिले का आबकारी महकमा उसके अधीन होता है। मादक-वस्तुओं के बिक्री का लाइसेन्स वही मंजूर करता है। इसके साथ-साथ रजिस्ट्रेशन विभाग भी उसी के अधीन होता है। जिले का खजाना भी उसी की मातहती में होता है।

(३) न्याय सम्बन्धी अधिकार —हम पहले ही कह चुके हैं कि जिलाधीश प्रथम श्रेणी का मैजिस्ट्रेट होता है। उसे २ वर्ष तक की कैद तथा १००० रुपया तक जुर्माना करने का अधिकार है। द्वितीय श्रेणी के मैजिस्ट्रेटों के निर्णयों के विरुद्ध वह अपील सुनता है। मैजिस्ट्रेटों की अदालतें उसके अधीन हैं।

जिलाधीश जिले में माल के मुकदमों की सबसे बड़ी अदालत है। नीचे की माल की अदालतों में उनके पास अपीलें आती हैं। इनके निर्णय के विरुद्ध कमिश्नर की अदालत में अपील हो सकती है।

कई लोगों का कहना है कि जिला अधिकारियों के हाथ में इस प्रकार से शासन तथा न्याय दोनों अधिकार की नियुक्त रूप से नहीं होना चाहिये। इनका काम केवल शासन करना होना चाहिये, न कि न्याय करना भी। क्यों कि अगर शासन तथा न्याय सम्बन्धी अधिकार एक ही व्यक्ति के हाथ में होंगे तो सच्चा न्याय सम्भव नहीं है। इसी कारण बहुत समय से सुधारकों ने इस बात की माँग की है कि कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका का पृथक्करण किया जावे। इसके अतिरिक्त अगर न्याय का काम पृथक कर दिया जावे तो ये अधिकारी शासन कार्य की ओर ध्यान दे सकते हैं। संविधान के नीति-निर्देशक तत्व वाले भाग में यह कहा गया है कि न्याय तथा शासन संबंधी कार्यों को शीघ्रता से अलग-अलग किया जावेगा। कुछ राज्यों में इस दिशा में कदम उठाया गया है।

(४) **निरीक्षण का अधिकार**:—जिले में कई विभाग होते हैं, जैसे शिक्षा स्वास्थ्य, जेल, पुलिस, जंगलात, पब्लिक वर्क्स आदि। इनमें से प्रत्येक का जिले में एक एक प्रधान होता है। ये प्रधान प्रदेश सरकार के अधीन हैं तथा जिलाधीश इनका प्रधान नहीं है और न ये विभाग उनकी अधीनता में हैं। तथापि ये सब विभाग जिलाधीश को अपने-अपने कार्यों की सूचना देते रहते हैं और इन विभागों के ऊपर उनका अपरोक्ष रूप से, कुछ न कुछ नियंत्रण रहता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि जिलाधीश जिले में सरकार के प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित है। अतएव यह स्वाभाविक है कि उसका पद सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो।

इन सरकारी विभागों के अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं, जैसे जिला-बोर्ड, नगरपालिका आदि के कार्यों पर भी जिलाधीश नियंत्रण रखता है। १९३१ तक तो जिलाधीश ही जिला-बोर्ड का सभापति होता था। परन्तु अब ऐसा नहीं होता है। अगर जिलाधीश इन संस्थाओं के कार्य से सन्तुष्ट नहीं है तो वह इसकी सूचना सरकार को दे सकता है। अब जिलाधीश तथा प्रादेशिक सरकार के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है। कमिश्नर के बहुत से अधिकार जिलाधीश को मिल गए हैं।

जिलाधीश के अधिकारों की सीमा —जिलाधीश अपने अधिकारों के सम्बन्ध में अपने ऊपर के अधिकारियों की अधीनता में काम करता है। वह राज्य सरकार के अधीन है और उसे अपने कामों की सूचना समय-समय पर भेजता है। दण्ड के मामलों में उसके निर्णय के विरुद्ध सेशन जज के यहाँ अपील होती है। माल के मुकदमों की अपील उसके यहाँ से कमिश्नर की अदालत में होती है।

जिले के भाग —प्रत्येक जिला कई छोटे-छोटे भागों में बटा रहता है। इनको 'सब डिवीजन' कहते हैं। प्रत्येक सब डिवीजन एक सब-डिविजनल-अफसर के अधीन होता है। यह अफसर साधारणतः प्रान्तीय सिविल सर्विस का सदस्य होता है। कुछ अवसरों पर भारतीय सर्विस का नया भर्ती हुआ सदस्य भी इस पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। इन सब-डिविजनल अफसरों को प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के अधिकार होते हैं। इनमें से कुछ अफसर तो जिले के हेड-क्वार्टर में रहते हैं तथा कुछ अपने सब डिवीजनों में रहते हैं। ये अधिकारी जिलाधीश के अधीन होते हैं। इनका काम अपने सब-डिवीजनों में वही है जो कि जिलाधीश का जिले में होता है, अर्थात् मालगुजारी वसूल करना, शान्ति व्यवस्था बनाये रखना तथा कचहरी करना। जिलाधीश समस्त जिले का प्रशासन इन अधिकारियों की सहायता से करता है।

सब-डिविजनल अफसर की अधीनता में तहसीलदार तथा नायब-तहसीलदार होते हैं। प्रत्येक जिला कुछ तहसीलों में बटा होता है। तहसील के अफसर को तहसीलदार कहते हैं। तहसील में तहसीलदार के वही काम हैं जो सब-डिवीजनल अफसर के सब-डिवीजन में होते हैं। वह तहसील की शान्ति तथा व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है तथा उसको न्याय सम्बन्धी अधिकार और मालगुजारी वसूल करने के अधिकार होते हैं। तहसीलदारों को साधारणतः द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट के अधिकार होते हैं। तहसीलदार की सहायता के लिये उसके नीचे नायब-तहसीलदार होता है। इसका काम मालगुजारी वसूल करने के काम में उसकी सहायता करना होता है।

प्रत्येक तहसील में कुछ परगने होते हैं। प्रत्येक परगना कुछ गांवों के मिलने से बनता है। परगने में मालगुजारी वसूल करने के लिये कानूनगो होता है। प्रत्येक गाँव में एक पटवारी तथा एक मुखिया होता है। मुखिया गाँव के प्रबन्ध के लिये उत्तरदायी है। पटवारी का काम मालगुजारी आदि का हिसाब रखना है। इसके अतिरिक्त गाँव में एक चौकीदार भी होता है। इसका काम गाँव के अपराध आदि की सूचना पुलिस थाने में देना है।

डिवीज़न —कई जिलों के मिलने से डिवीज़न बनता है। यह प्रशासकीय क्षेत्र एक कमिश्नर के अधीन होता है। इसीलिये इसे कमिश्नरी भी कहा जाता है। प्रायः सभी राज्यों में डिवीज़न हैं। परन्तु बम्बई राज्य में सन् १९५० से कमिश्नरियों को हटा दिया गया है। मद्रास से भी कमिश्नर के पद को हटा दिया गया है। कुछ लोगों के मतानुसार कमिश्नर तथा कमिश्नरियों को हटाने से प्रशासन में कोई असुविधा नहीं होगी। उत्तर प्रदेश सरकार ने भी इसीलिये कमिश्नरियों की संख्या कम कर दी थी तथा कमिश्नर के जिले के प्रशासन के ऊपर निगरानी सम्बन्धी अधिकारों में कमी कर दी थी। क्योंकि यह तर्क उपस्थित किया गया था कि राज्य सरकार तथा जिलाधीशों के मध्य इस कड़ी की कोई आवश्यकता नहीं है और उनके मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये। परन्तु अब पुनः उत्तर प्रदेश सरकार ने कमिश्नरियों की संख्या कम कर दी है तथा कमिश्नरों को उनके पुराने अधिकारों से विभूषित कर दिया है।

कमिश्नर प्रशासकीय सेवा का पुराना तथा अनुभवी कर्मचारी होता है। कमिश्नर का कार्य जिलाधीशों के कार्यों का निरीक्षण करना है। वह इस बात को देखता है कि जिलाधीश राज्य सरकार की आज्ञाओं के अनुसार काम रहे हैं। जिले तथा राज्य सरकार के बीच वह सम्पर्क बनाता है। इसलिए राज्य सरकार की आज्ञाएँ उसी के द्वारा जिला अधिकारियों को पहुँचाई जाती हैं तथा जिले से राज्य सरकार के पास उसी की द्वारा पत्र आदि भेजे जाते हैं। वह जिलाधीश तथा पुलिस कप्तान के कार्यों के मध्य सयोजन में सहायक होता है। कमिश्नर को सरकार द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत आयोजना सम्बन्धी सभी विषयों की निगरानी का अधिकार प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त कमिश्नर का प्रधान कार्य मालगुजारी सम्बन्धी है। वह इसकी वसूली का निरीक्षण करता है। उसे यह अधिकार है कि विशेष अवसरों पर मालगुजारी की वसूली रोक दे या उसमें कमी कर दे। माल के मुकदमें उसकी अदालत में होते हैं। इस विषय में जिलाधीशों के निर्णय के विरुद्ध उसके यहाँ अपील होती है।

इन अधिकारों के अतिरिक्त कमिश्नर को स्थानीय संस्थाओं के ऊपर देखभाल करने के अधिकार भी प्राप्त हैं। वह इनके बजट का निरीक्षण भी करता है। प्रतिवर्ष वह इनके काम के ऊपर एक रिपोर्ट देता है जिसमें उनके वार्षिक कार्य का संक्षिप्त विवरण तथा आलोचना रहती है।

पुलिस का प्रबन्ध :—राज्य का मुख्य कार्य प्राचीन-काल से ही आन्तरिक शान्ति को बनाये रखना तथा देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करना

गया है। आन्तरिक शान्ति के लिये प्रत्येक देश में पुलिस विभाग होता है। हमारे देश में पुलिस संघीय विषय नहीं है परन्तु राज्य सरकारों के अधीन है। ज़िले में पुलिस विभाग का प्रधान कर्मचारी पुलिस-सुपरिन्टेन्डेन्ट कहलाता है। इसको साधारण लोग पुलिस कप्तान कह कर सम्बोधित करते हैं। यह ज़िले में साधारण पुलिस तथा खुफ़िया-पुलिस दोनों का प्रधान है। साधारणतः यह इण्डियन पुलिस सर्विस का सदस्य होता है। परन्तु कभी कभी प्रान्तीय पुलिस सर्विस के अनुभवी सदस्य भी इस पद पर नियुक्त हो जाते हैं। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की मातहती में उसको कार्य में सहायता देने के लिये डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट होते हैं। ये प्रान्तीय पुलिस सर्विस के सदस्य होते हैं।

ये ज़िले के पुलिस अधिकारी जिलाधीश की सहायता के लिए हैं ताकि वह ज़िले की शान्ति व्यवस्था बनाए रक्खे तथा जहाँ आवश्यकता प्रतीत हो इनकी सहायता ले। अतएव ज़िले में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिये पुलिस को जिलाधीश की आज्ञा से कार्य करना पड़ता है। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट का यह कर्त्तव्य है कि वह जिलाधीश को ज़िले की शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी बातों की खबर देता रहे। परन्तु जहाँ तक आन्तरिक-अनुशासन, प्रबन्ध आदि का सम्बन्ध है पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस विभाग के अपने से ऊँचे कर्मचारियों के अधीन है। इनके आन्तरिक मामलों में जिलाधीश का कोई अधिकार नहीं है।

प्रत्येक राज्य में एक पुलिस विभाग होता है। इसका प्रधान एक मंत्री होता है। पुलिस तथा अन्य विभाग एक ही मंत्री के अधीन होते हैं। यह आवश्यक विभागों में से एक है। मंत्री के नीचे पुलिस विभाग का मुख्य अफसर इन्सपेक्टर जनरल कहलाता है। यह भारतीय पुलिस सर्विस का पुराना तथा अनुभवी सदस्य होता है। वह राज्य के अन्दर पूरे पुलिस विभाग का मालिक है। साधारण पुलिस तथा खुफिया पुलिस दोनों उसके अधीन हैं। मन्त्री तो अपने कार्यों के लिए राज्य विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी है ? इन्सपेक्टर-जनरल मन्त्री के प्रति उत्तरदायी है।

इन्सपेक्टर जनरल के अधीन कुछ डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल होते हैं। प्रत्येक डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल के अधीन एक-एक रेन्ज होती है। एक रेन्ज में कई ज़िले होते हैं। साधारणतः एक रेन्ज में ८-१० जिले होते हैं। एक डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल हेड-क्वार्टर में होता है। एक खुफिया-पुलिस के लिए नियुक्त होता है।

प्रत्येक जिला पुलिस के काम के लिये छोटे टुकड़ों में बाटा जाता है। इन क्षेत्रों को सर्किल कहा जाता है। एक जिले में करीबन ५ से ८ सर्किल तक होते हैं। प्रत्येक सर्किल एक पुलिस इन्सपेक्टर के अधीन होता है। हर सर्किल में कई थाने होते हैं जो कि सब इन्सपेक्टर की मातहती में होते हैं। इसके अतिरिक्त हर थाने में कुछ सिपाही तथा रिपोर्ट लिखने के लिये मुन्शी होते हैं। कई गाँवों के बीच एक थाना होता है। गाँव के चौकीदार का कर्तव्य है कि वह अपराध आदि की सूचना इन थानों में देता रहे। हर थाने के मातहत कुछ पुलिस चौकियाँ होती हैं। ये हेड-कान्सटेबल के अधीन होती हैं।

नगरों में पुलिस सुपरिन्टेन्डेण्ट की अधीनता में एक कोतवाल होता है। यह प्रान्तीय पुलिस सर्विस का सदस्य होता है। छोटे नगरों में यह केवल इन्सपेक्टर भी हो सकता है। प्रेसीडेन्सी नगरों के पुलिस प्रधान को पुलिस कमिश्नर कहते हैं। इस अधिकारी का सम्बन्ध सीधे राज्य सरकार से है। यह इन्सपेक्टर जनरल के अधीन नहीं है। प्रत्येक नगर में सिटी-कोतवाल की अधीनता में कई थाने होते हैं। मुख्य थानों में इन्सपेक्टर और बाकी में सब-इन्सपेक्टर होते हैं।

रिजर्व पुलिस :—जिले के हेड-क्वार्टर में कुछ पुलिस सदा रखी जाती है। इसको रिजर्व पुलिस कहते हैं। जिले में किसी भी स्थान पर यदि वहाँ का पुलिस दल स्थिति पर काबू करने के लिये पर्याप्त न समझा जावे, तो रिजर्व पुलिस में से वहाँ आदमी भेजे जाते हैं।

रेलवे-पुलिस —रेलवे-विभाग अपने कार्यों के लिए अलग पुलिस रखता है। इसका काम गाड़ियों में, स्टेशनों में जान-माल की रक्षा करना है। इसका संगठन जिले के पुलिस संगठन से भिन्न होता है। इसके पास अपने अलग अधिकारी होते हैं।

खुफिया-पुलिस —भारत में इसकी व्यवस्था २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में की गई। इसका काम गुप्त अपराधों, षड्यंत्र, आदि का पता लगाना है। इसके संगठन के लिए एक डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल होता है। प्रत्येक जिले में खुफिया पुलिस-सुपरिन्टेन्डेण्ट की अधीनता में होती है। उसके नीचे डिप्टी सुपरिन्टेन्डेण्ट तथा इन्सपेक्टर और सब-इन्सपेक्टर होते हैं।

भारत में पुलिस विभाग पर जनता की श्रद्धा कम है इसका मुख्य कारण यह है कि विदेशी शासन काल में पुलिस ने जनता का विश्वास प्राप्त करने की

चेष्टा नहीं की है। इसका मुख्य काम जनता में आतंक जमाना था। अब भी पुलिस की सब बुराइयाँ दूर नहीं हो गई परन्तु कांग्रेस मन्त्रिमण्डल इन बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

६. **जेल विभाग**—यह विभाग भी राज्य सरकार के अधीन है। इसका प्रधान एक मंत्री होता है। पुलिस तथा जेल विभाग एक ही मंत्री के अधीन होते हैं। इसके नीचे एक इन्सपेक्टर-जनरल होता है। यह अधिकारी मेडिकल सर्विस का पुराना सदस्य होता है। जेल विभाग के अन्य सब कर्मचारी इसकी अधीनता में काम करते हैं।

जेल निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

(१) **केन्द्रीय जेल**—इन जेलों में वे अपराधी रखे जाते हैं जो कि लम्बे काल के लिये दंडित होते हैं। ये प्रत्येक जिले में नहीं होते हैं, परन्तु कुछ मुख्य-मुख्य स्थानों में स्थापित किए गए हैं। प्रत्येक केन्द्रीय जेल में एक सुपरिन्टेन्डेन्ट, जेलर, वार्डर आदि होते हैं।

(२) **जिला जेल**—हर जिले में अपराधियों को रखने के लिये जिला जेल होती है। सिविल-सर्जन इन जेलों का निरीक्षण करता है। इसके अतिरिक्त जेलर, मेडिकल अफसर तथा वार्डर आदि होते हैं।

(३) **हवालात**—इनमें वे कैदी रखे जाते हैं जिनका मुकद्दमा चल रहा हो तथा जिनका फैसला नहीं हुआ हो।

(४) **कैम्प जेल**—इनकी स्थापना तब की जाती जब कि कैदियों की संख्या बहुत बढ़ जाती है।

जेल में स्त्री तथा पुरुषों को अलग-अलग रखा जाता है। स्त्रियों के भाग में वार्डर आदि कर्मचारी सब स्त्रियाँ ही होती हैं। बच्चों के लिए भी अलग प्रबन्ध है। उन्हें बड़े कैदियों के साथ नहीं रखा जाता है। बालक अपराधियों के सुधार के लिए भी अलग जेलों की व्यवस्था है, जिनको रिफॉर्मेटरी स्कूल कहा जाता है परन्तु इनकी संख्या नगण्य है।

हमारे देश में जेलों में बहुत अधिक सुधार की आवश्यकता है। विदेशी शासकों ने इस ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने इस दिशा

में कुछ कदम उठाया था परन्तु अधिक नहीं। यह आवश्यक है कि जेल के अन्दर कैदियों के साथ शिष्ट तथा सभ्य व्यवहार होना चाहिये ; उनके शारीरिक तथा मानसिक आमोद का प्रबन्ध होना चाहिये। खाना स्वास्थ्य-कर होना चाहिए। इन सब सुधारों के बिना हमारे जेलों की दशा अच्छी नहीं हो सकती।

प्रश्न

(१) जिले के प्रशासन के लिए किस प्रकार संगठन किया जाता है ?

(२) जिलाधीश के क्या-क्या अधिकार हैं ?

अध्याय १४

स्थानीय संस्थाएँ

महत्त्व—स्थानीय-संस्थाओं से तात्पर्य उन संस्थाओं से है जिनके द्वारा जनता के प्रतिनिधि अपने स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करते हैं। इस प्रकार जनता को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। इस प्रथा को स्थानीय स्वराज्य या स्थानीय स्वशासन कहते हैं। स्थानीय स्वराज्य का बहुत महत्व है।

केन्द्रीय सरकार से यह आशा रखना कि वह समस्त देश का शासन ठीक प्रकार से कर सकेगी व्यर्थ है। क्योंकि सरकार के राष्ट्रीय महत्व के काम ही इतने अधिक बढ गए हैं तथा जटिल हो गए हैं कि वह छोटी छोटी स्थानीय समस्याओं पर ध्यान नहीं दे सकती है। स्थानीय संस्थाएँ ही मनुष्य के दैनिक जीवन के लिये आवश्यक सुविधाओं का प्रबन्ध कर सकती हैं।

केन्द्रीय सरकार के सदस्य स्थानीय मामलों में बहुत दिलचस्पी नहीं लेंगे क्योंकि उनका ध्यान राष्ट्रीय मामलों में ही उलझा रहता है। वे अपने को राष्ट्र के लिये चुना हुआ समझते हैं, इसलिए स्थानीय मामलों के प्रति उनमें न काम में की इच्छा रहती है और न उत्तरदायित्व की भावना।

अगर सब काम केन्द्रीय सरकार के ही हाथों में रहें तो पूरी सरकार एक नौकरशाही में परिणत हो जावेगी। ये सरकारी कर्मचारी अधिकतर मन माना काम करते हैं। नौकरशाही का सबसे बड़ा दोष लाल फीता (red tape) कहलाता है। सरकारी अफसरों के अन्दर सहानुभूति कम रहती है। व सब काम करने में देर लगाते हैं क्योंकि प्रत्येक काम कायदे के अनुसार होना चाहिए।

स्थानीय कामों को वे ही ठीक प्रकार समझ सकते हैं जो कि वहाँ के रहने वाले हों। बाहरी आदमी इन कामों को ठीक प्रकार नहीं कर सकता है।

स्थानीय संस्थाओं के द्वारा नागरिकों को राजनैतिक शिक्षा मिलती है। उनमें कई गुणों की वृद्धि होती है। वे यह समझते हैं कि उत्तरदायित्वपूर्वक काम करना चाहिए। प्रजातन्त्र में इन संस्थाओं का महान महत्व है। ये नागरिकों को शासन प्रबन्ध का ज्ञान देकर उन्हें देश के शासन में भाग लेने योग्य बनाती हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—साधारणतः यह समझा जाता है कि स्थानीय संस्थाओं का प्रारंभ अंग्रेजी काल में ही हुआ तथा प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ऐसी संस्थाओं का कोई भी चिह्न नहीं था। यद्यपि यह सत्य है कि उस समय इनका स्वरूप आज से भिन्न था परन्तु यह कहना कि वे अंग्रेजी काल के पूर्व नहीं थी, असत्य है।

प्राचीन भारत में नगर तथा गाँवों दोनों के प्रबन्ध के लिए संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं को इन क्षेत्रों का उचित प्रकार से प्रबन्ध करने के लिये आवश्यक अधिकार मिले थे। इनका प्रबन्ध सराहनीय था।

नगर के प्रबन्ध के लिये कई कमेटियाँ होती थी। इनमें से एक कमेटी प्रधान होती थी। प्रत्येक कमेटी को किसी न किसी बात का प्रबन्ध करना पड़ता था, जैसे, रोशनी, सफाई, शिक्षा, दूकानों का प्रबन्ध इत्यादि। विदेशी यात्रियों ने इस प्रबन्ध की प्रशंसा की। उदाहरणार्थ, मेगस्थनीज जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में आया था, पाटलिपुत्र नगर के प्रबन्ध की प्रशंसा करता है।

गाँव में भी उनके प्रबन्ध के लिए संस्थाएँ थी। इनको पंचायत कहते थे। प्रत्येक गाँव की पंचायत के नीचे कई कमेटियाँ होती थी। ये गाँव की विभिन्न बातों का प्रबन्ध करती थी। इन पंचायतों का अधिकार क्षेत्र वास्तव में बहुत व्यापक था। गाँव के सब प्रकार के मामले पंचायत ही निपटा देती थी। इसका कारण यह था कि गाँवों का जीवन उस समय सामूहिक था तथा गाँव स्वावलम्बी (self-sufficient) थे। अपनी आवश्यकता की चीजें स्वयं ही पैदा कर लेते थे। गाँव की यह अवस्था उन्नीसवीं शताब्दी में आकर बदलने लगी। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् गाँव की स्थिति में परिवर्तन होना आरम्भ हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था में गाँव स्वावलम्बी रह ही नहीं सकते थे। इसी कारण ब्रिटिश काल में ग्राम पंचायतें मृत हो गई। मुसलमानी काल में भारत की ग्रामीण संस्थाएँ बनी रहीं।

अंग्रेजी काल:—अंग्रेजी काल में स्थानीय स्वराज्य का प्रारम्भ सन् १६८७ ई० से प्रारम्भ होता है। इस वर्ष मद्रास में एक कारपोरेशन (निगम) की स्थापना की गई। कुछ काल पश्चात् इसी प्रकार के निगम कलकत्ता तथा बम्बई में भी स्थापित किए गए। सन् १८४२ में स्थानीय स्वराज्य कुछ अन्य नगरों में स्थापित किया गया। परन्तु यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि स्थानीय स्वराज्य का वास्तविक आरम्भ सन् १८७० से होता है। उस वर्ष भारत सरकार ने अपने एक प्रस्ताव में यह कहा था कि सफाई, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि

कामों से सम्बन्धित निधि के ऊपर स्थानीय संस्थाओं का अधिकार होना चाहिए। सन १८८२ में भारत सरकार ने स्थानीय स्वराज्य के ऊपर एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया। उस समय लार्ड रिपन भारत के वाइसराय थे। इस प्रस्ताव में निम्नलिखित बात थी —

(१) इस समय तक स्थानीय स्वराज्य केवल नगरों तक ही सीमित था। इस प्रस्ताव द्वारा गांवों में भी इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना करने को कहा गया। नगरों में भी स्थानीय संस्थाओं की स्वाधीनता में वृद्धि की गई है।

(२) इन संस्थाओं में सरकारी सदस्यों का बहुमत न हो। अधिक से अधिक उनकी संख्या समस्त सदस्य संख्या की तिहाई होनी चाहिए।

(३) इन स्थानीय संस्थाओं पर प्रान्तीय सरकार का नियंत्रण अन्दर से न होकर बाहर से हो। इनका अध्यक्ष भी गैर-सरकारी ही हो।

इस एक्ट के द्वारा कुछ उन्नति तो अवश्य हुई परन्तु विशेष नहीं क्योंकि इन संस्थाओं में सरकार बहुत अधिक हस्तक्षेप करती थी। इनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी। इनके जो सदस्य निर्वाचित होते थे वे बहुधा अधिकारियों के पिट्ठू साबित हुए। इन संस्थाओं का सभापति अक्सर गैर-सरकारी न होकर जिलाधीश ही बना रहा। इस प्रकार ये संस्थाएं स्वतंत्रतापूर्वक काम नहीं कर सकी।

सन १९१८ में सरकार ने एक नए प्रस्ताव द्वारा स्थानीय संस्थाओं के विषय में कई सुधार किए। इनमें से मुख्य मुख्य निम्नलिखित थे।

(१) इन संस्थाओं में गैर-सरकारी संख्या का बहुमत हो तथा सरकारी संख्या को मताधिकार न हो।

(२) इन संस्थाओं का सभापति गैर-सरकारी हो तथा उसका निर्वाचन हो।

(३) इन संस्थाओं के निर्वाचकों की योग्यता में कमी कर दी जावे ताकि अधिक लोग चुनाव में भाग ले सकें।

(४) इन संस्थाओं को कर घटाने-बढ़ाने तथा प्रान्तीय सरकार की अनुमति से नए कर लगाने का अधिकार हो।

सन १९१९ में शासन-सुधार एक्ट पास होने पर स्थानीय स्वराज्य विभाग प्रान्तीय सरकार के एक मंत्री को सौंपा गया। स्थानीय स्वराज्य के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण कदम था। इससे इन संस्थाओं के अधिकार बढ़े तथा इनमें जनता के प्रतिनिधि आने लगे। सरकारी हस्तक्षेप भी कम हो गया।

संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में सन् १९१६ में एक म्युनिसिपैलिटीज ऐक्ट पास हुआ था। इस ऐक्ट में उत्तर प्रदेश सरकार ने स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् स्थिति परिवर्तन को ध्यान रखते हुए कई संशोधन कर दिये हैं। जैसे साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व हटा दिया गया है। वयस्क मताधिकार की स्थापना की गई है। अध्यक्ष का जनता द्वारा सीधे चुनाव प्रथा की स्थापना की गई है। सन् १९२२ में हमारे प्रान्त में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट पास हुआ था। सन् १९५० ई० में इसमें भी महत्वपूर्ण संशोधन हुए।

स्थानीय संस्थाओं के रूप—नगरों के प्रबन्ध से सम्बन्धित संस्थाएँ निम्नांकित प्रकार की होती हैं —

कारपोरेशन, म्युनिसिपैलिटी, टाउन एरिया कमेटी, नोटिफाइड एरिया कमेटी, इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट, कंटोनमेंट बोर्ड तथा पोर्ट ट्रस्ट।

गाँवों के प्रबन्ध से निम्नलिखित संस्थाएँ सम्बन्धित हैं :—

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, सब-डिविजनल बोर्ड तथा ग्राम पंचायत। इनका क्रमश वर्णन किया जायगा।

नगर-निगम (Corporations)

अंग्रेजी काल में केवल तीन प्रेजीडेन्सी नगरों—कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में ही नगर निगम स्थापित किए गए थे। परन्तु अब कुछ अन्य नगरों में भी इनकी स्थापना हो गई है। पटना, जबलपुर, नागपुर में नगर निगमों की स्थापना हो चुकी है। उत्तरप्रदेश में इलाहाबाद, लखनऊ, बनारस, कानपुर तथा आगरा में भी नगर निगमों की स्थापना होने वाली है। इसके लिये एक अधिनियम बन गया है, जिसे उत्तरप्रदेश नगर महापालिका अधिनियम १९५९ कहा गया है। अक्टूबर, १९५९ में इन नगरों में इस हेतु निर्वाचन होंगे।

नगर निगम या नगर महापालिकाओं को एक उच्च कोटि का नगरपालिका कहा जा सकता है। इनके आय-व्यय के साधन तथा इनकी शक्तियाँ साधारण नगरपालिकाओं से अधिक होती हैं अन्यथा दोनों के बीच कोई विशेष भेद नहीं है। नगरपालिकाएँ जो कार्य अपने क्षेत्र में करती हैं वही कार्य महापालिकाएँ बड़े बड़े नगरों में करती हैं। हम संक्षेप में महापालिका अधिनियम (१९५९) के अनुसार उत्तरप्रदेश में जो महापालिका का संगठन होगा उसका संक्षिप्त

वर्णन करेंगे। अन्य स्थानों पर भी थोड़े बहुत हेर फेर के अनन्तर कारपोरेशन का वैसा ही संगठन है।

उत्तरप्रदेश में महापालिका अधिनियम द्वारा इन पाँच नगरों में अक्टूबर के निर्वाचनों के पश्चात् महापालिकाओं की स्थापना हो जायगी। महापालिका एक निर्वाचित समिति होगी। प्रत्येक महापालिका में एक नगर प्रमुख, कुछ सभासद (इनकी संख्या राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जायगी), तथा कुछ विशिष्ट सदस्य होंगे। विशिष्ट सदस्यों की संख्या लगभग सभासदों की संख्या का दसवाँ भाग होगा। सभासदों में से कुछ स्थान परिगणित जातियों (scheduled Caste) के लिये कुछ स्थान रक्षित रहेंगे। महापालिका का कार्यकाल ५वर्ष निश्चित किया गया है। परन्तु राज्य सरकार यदि चाहे तो इसे अधिक से अधिक १ वर्ष और बढ़ा सकती है तथा किसी गम्भीर संकट के कारण यह एक वर्ष और बढ़ाया जा सकता है।

महापालिका के सदस्यों का कार्यकाल भी ५ वर्ष रखा गया है। सभासदों का प्रत्यक्ष निर्वाचन होगा। इसके लिये नगर को कई निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जायगा। परन्तु विशिष्ट सदस्यों का निर्वाचन समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली से एकल-संक्रमणीय मत द्वारा सभासदों द्वारा किया जायगा। इन सभासदों द्वारा तथा विशिष्ट सदस्यों की योग्यताएँ अधिनियम द्वारा निश्चित कर दी गई है। विशिष्ट सदस्य होने के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति नगर में निर्वाचक हो तथा ३० वर्ष की आयु से कम न हो। सभासद होने के लिये यह योग्यता आवश्यक है कि वह नगर में निर्वाचक हो तथा परिगणित जातियों के लिये रक्षित स्थान से नियुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि वह परिगणित जाति का सदस्य हो। वे व्यक्ति जो दिवालिया हों, ६ माह से अधिक के लिये सजा पाये हों और तब से ५ वर्ष का समय न बीता हो, महापालिका में कोई लाभ का पद धारण किए हों, या सरकारी नौकरी आदि में हों, सरकारी नौकरी से भ्रष्टाचार आदि के लिये निकाले गये हों, या कोढ़ी हों, आदि अयोग्यताओं के होने पर महापालिका की सदस्यता के लिये निर्वाचित नहीं हो सकते हैं।

प्रत्येक महापालिका में एक नगर प्रमुख तथा एक उपनगर प्रमुख होगा। नगर प्रमुख की अनुपस्थिति में उप नगर प्रमुख उस पद के कर्तव्यों का निर्वहन करेगा। नगर प्रमुख तथा उप नगर प्रमुख के लिये निम्नलिखित योग्यताएँआवश्यक है —

(१) वह नगर में निर्वाचक हो,
(२) तीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
(३) उसमें सभासद तथा विशिष्ट सदस्य पद के लिये उल्लिखित अयोग्यताएं न हों,
तथा (४) यदि वह सभासद या विशिष्ट सदस्य होने के लिये निर्वाचन में हारा हो, तो तब से ६ माह का समय बीत चुका हो।

नगरप्रमुख का कार्यकाल १ वर्ष रखा गया है, परन्तु वह यदि चाहे तो पुनः निर्वाचन के लिये खड़ा हो सकता है। इसका निर्वाचन समानुपाती पद्धति से एकल संक्रमणीय प्रणाली द्वारा गुप्त मतदान द्वारा होगा। उप नगरप्रमुख का कार्यकाल महापालिका के बराबर ही रखा गया है।

नगरप्रमुख महापालिका की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करेगा। साधारण दशा में उसे मतदान का अधिकार नहीं है परन्तु किसी समय समान मत होने पर उसे निर्णायक मत (casting vote) का अधिकार दिया गया है। वह यदि महापालिका का अन्य प्रकार सदस्य न हो तो पदेन (ex officio) सदस्य होगा। उसे ऐसे भत्ते (allowances) दिये जायेंगे, जैसा कि महापालिका राज्य सरकार की पूर्व सहमति से निश्चित करे। नगरप्रमुख तथा उप नगरप्रमुख को नागरिक जीवन में विशिष्ट स्थान होगा परन्तु इन्हें प्रशासनीय अधिकार नहीं दिये गए हैं।

महापालिका की प्रतिवर्ष कम से कम ६ बैठकें होंगी तथा किन्हीं दो बैठकों के बीच २ माह से अधिक समय नहीं होना चाहिए।

कार्यकारिणी समिति —प्रत्येक महापालिका एक की कार्यकारिणी समिति (executive committee) होगी। इसके निम्नोक्त सदस्य होंगे।

उप नगर प्रमुख जो कि इस समिति का पदेन सभापति होगा तथा १२ सदस्य जिनका निर्वाचन महापालिका अपने सभासदों तथा विशिष्ट सदस्यों में से करेगी।

इन १२ सदस्यों का निर्वाचन महापालिका अपने निर्वाचन के पश्चात् प्रथम बैठक में करेगी। प्रतिवर्ष इनमें से आधे सदस्य अपने स्थान रिक्त कर देंगे। इनके स्थान पर नए सदस्यों का निर्वाचन किया जायगा। जिन सदस्यों का कार्यकाल समाप्त हो गया हो वे पुनर्निर्वाचन के लिये खड़े हो सकते हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन समानुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति से एकल संक्रमणीय प्रणाली द्वारा किया जायगा।

कार्यकारिणी समिति का महापालिका के संगठन में मुख्य स्थान होगा। यह इसकी सबसे प्रमुख समिति होगी।

इसके अतिरिक्त महापालिका में एक विकास समिति (development committee) होगी। यदि महापालिका बिजली, नगर ट्रामपोर्ट तथा अन्य जन हितकारी सेवाओं का संचालन करे तो उनके सम्बन्ध में अन्य समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं। विकास समिति का सभापति उप नगर प्रमुख होगा तथा उसके अतिरिक्त महापालिका के सभासदों तथा विशिष्ट सदस्यों में से निर्वाचित १० सदस्य तथा दो सहप्राप्त (co-opted) सदस्य होंगे। यदि महापालिका अन्य समितियों की स्थापना करना चाहे तो उसे राज्य सरकार से आज्ञा प्राप्त करनी होगी। इन समितियों में अधिक से अधिक १८ सदस्य होंगे तथा इनमें से ही एक सभापति तथा एक उप सभापति चुना जायगा। उपर्युक्त सभी समितियों की कम से कम प्रतिमास एक बैठक अवश्य होगी।

मुख्य नगर अधिकारी —वास्तव में यह महापालिका का मुख्य प्रशासकीय अधिकारी होगा। इसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जायगी। परन्तु यदि राज्य सरकार किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त करे जो कि सरकारी सेवा का सदस्य नहीं है तो उस दशा में इसकी नियुक्ति राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए। मुख्य नगर अधिकारी की नियुक्ति पहले समय राज्य सरकार तीन वर्ष से अधिक के लिये नहीं करेगी। परन्तु इसके पश्चात् इसकी नियुक्ति का पुनः नवीकरण किया जा सकता है। परन्तु किसी भी समय एक समय में नियुक्ति तीन वर्ष से अधिक के लिये नहीं की जायगी। मुख्य नगर अधिकारी के विरुद्ध यदि महापालिका की कुल सदस्य संख्या का ५।८वां भाग यह प्रस्ताव पास करे कि सरकार उसे वापिस बुला ले तो उसे हटा दिया जायगा। उसको महापालिका कोष से धन दिया जायगा जो कि राज्य सरकार द्वारा निश्चित किया जाय। महापालिका की कार्यपालिका शक्ति मुख्य नगर अधिकारी को ही दी गई है। महापालिका के अन्य सब कर्मचारी (मुख्य लेखा परीक्षक के अतिरिक्त) उसके नियन्त्रण में रहेंगे। किसी संकट के समय जनता की सेवा अथवा सुरक्षा या महापालिका की सम्पत्ति की रक्षा के लिये वह कोई ऐसा काम कर सकता है जो उसे आवश्यक प्रतीत हो। परन्तु वह इस कार्य की सूचना कार्यसमिति तथा महापालिका को तुरन्त देगा। महापालिका या उसकी समितियाँ यदि चाहें तो मुख्य नगर अधिकारी को अपने कुछ कृत्य हस्तान्तरित भी कर सकती हैं। उसको महापालिका के उन सब कर्मचारियों की जिनका वेतन दो सौ रुपए प्रति माह से अधिक नहीं है। (केवल उनके अतिरिक्त जो कि मुख्य लेखा परीक्षक के प्रत्यक्षतः आधीन हैं) नियुक्ति का भी अधिकार है।

कलकत्ता नगर निगम में कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति कारपोरेशन द्वारा ही की जाती है। परन्तु अन्य सब कारपोरेशनों में यह नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है।

मुख्य नगर अधिकारी के अतिरिक्त महापालिका में कई अन्य कर्मचारी होंगे। महापालिका निम्नांकित पदों पर नियुक्ति कर सकती है —उप नगर अधिकारी सहायक नगर अधिकारी, नगर अभियन्ता (engineer) नगर स्वास्थ्य अधिकारी, मुख्य नगर लेखा परीक्षक तथा अन्य ऐसे कर्मचारी जिनकी आवश्यकता प्रतीत हो। इन पदों पर नियुक्ति नगर प्रमुख लोक सेवा आयोग की राय से करेगा। इन विभिन्न अधिकारियों का कार्यक्षेत्र इस अधिनियम द्वारा निश्चित कर दिया गया है।

महापालिका के कर्तव्य तथा अधिकार—साधारणतः यह कहा जा सकता है कि महापालिका के वे ही कर्तव्य हैं जो कि अन्य नगरों में नगर पालिकाओं द्वारा सम्पादित किए जाते हैं। परन्तु इनके अधिकार मुख्य क्षेत्रों में नगर-पालिकाओं से अधिक विस्तृत हैं। उत्तरप्रदेश में महापालिका अधिनियम के द्वारा इनमें कुछ कर्तव्यों को अनिवार्य कोटि म रखा गया है। इनके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य ऐच्छिक भी है।

सीमा-चिह्नों का निर्माण, मार्गों (streets) तथा सार्वजनिक स्थानों का नामकरण, गन्दगी को हटवाना, रास्तों की सफाई, नालियों तथा सार्वजनिक शौचालयों तथा मूत्रालयों का निर्माण, जल का प्रबन्ध तथा वितरण, जल की सफाई का प्रबन्ध, रास्तों में रोशनी का प्रबन्ध, अस्पतालों का निर्माण, छूत की बीमारियों की रोक थाम, टीके लगानेका प्रबन्ध, जन्म-मरण का हिसाब, भोजन, पानी आदि की शुद्धता की जाँच के लिये रसायनशालाओं की स्थापना, वेश्यावृत्ति आदि पर प्रतिबन्ध, श्मशान, मर्दाघाट, कब्रगाहों का प्रबन्ध, बाजार तथा बूचड़खानों slaughter houses) का निर्माण, आग बुझाने के लिये पानी का प्रबन्ध, टूटी फूटी इमारतों को तोड़ना, प्राथमिक शिक्षा तथा नर्सरी शिक्षा के लिये स्कूलों की स्थापना, स्वास्थ्य संस्थाओं को अनुदान, पशुओं के लिये चिकित्सालयों की स्थापना, काँजी हाउस बनाना, रास्तों, गलियों, पुलों आदि का निर्माण, रास्तों में वृक्षारोपण, नगर नियोजन तथा नगर सुधार महापालिका कार्यालय तथा सार्वजनिक इमारतों की देखभाल आदि।

उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त महापालिका यदि चाहे तो निम्नलिखित कर्तव्यों में से भी सभी या कुछ कर्तव्यों को कर सकती है। इनमें से मुख्य ये

हैं पागलखाने, कोढी खाने, अनाथालया, आदि की स्थापना तथा प्रबन्ध, गर्भवती स्त्रियों, बच्चा तथा स्कूल के विद्यार्थियों के लिये दूध का प्रबन्ध, तैरन के तालाब तथा स्नान के लिये घाटो का निर्माण, डेयरी का प्रबन्ध, मनुष्यो तथा पशुओ के लिये सार्वजनिक स्थान पर पीने के पानी का प्रबन्ध, शिक्षालयों तथा सास्कृतिक सस्थाओ का अनुदान, नुमाइश, दगल आदि का प्रबन्ध, थियेटर भवन आदि का निर्माण, महापालिका के कर्मचारियो के लिये भवन निर्माण तथा गैस आदि देने का प्रबन्ध, ट्रामवे या मोटर ट्रान्सपोर्ट का प्रबन्ध करना, पुस्तकालय, म्यूजियम की स्थापना आदि, पशुओं के लिये अस्पताल, जानवरो तथा पक्षियो का विनाश, मान पत्र देना, चरागाह के मैदानो को रखना, भूमि तथा भवनो का सर्वे, यात्री ब्यूरो का प्रबन्ध, महापालिका के काम के लिये छापाखाना तथा वर्कशाप खोलना, कम्पोस्ट खाद बनाने का प्रबन्ध, व्यापार तथा उद्योग की उन्नति करना, महापालिका बैंक की स्थापना, श्रमिक कल्याण केन्द्रों की स्थापना, भीख मांगने के विरुद्ध अभियान, परिगणित तथा पिछडी जातियो की सामाजिक असुविधाओ को दूर करने में सहायता देना, इत्यादि, इत्यादि। यदि राज्य सरकार चाहे तो इनमें से किसी भी ऐच्छिक कृत्य को अनिवार्य कृत्य की कोटि में रख सकती है।

उपर्युक्त कृत्यों की सूची देखने से स्पष्ट हो जाता है कि महापालिकाओ को कितने विस्तृत अधिकार दिये गए है।

महापालिकाओं की आय के साधन-महापालिकाओ की आय के लिए इन्हे अनेक प्रकार के कर लगाने का अधिकार दिया गया है। प्रत्येक महापालिका निम्नोक्त कर लगायेगी —सम्पत्ति पर कर, मशीन से चलने वाली गाडियो के अतिरिक्त अन्य गाडिया पर कर, सवारी गाडियो पर कर, नावो पर कर, सवारी आदि के लिये पशुओ पर कर। इनके अतिरिक्त महापालिकाएँ निम्नलिखित कर भी लगा सकती हैं —व्यापार, पेशे आदि पर कर, शहर में आने वाले तथा बाहर जाने वाले माल पर चुगी, गाडियों तथा सवारियो पर चुगी, कुत्तो पर कर, अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, समाचार पत्रो में छपे विज्ञापनो के अतिरिक्त अन्य विज्ञापनो पर कर, थियेटर कर, तथा कोई अन्य प्रकार का कर जो कि राज्य के विधान मण्डल के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत हैं।

इन उपर्युक्त करो के अतिरिक्त महापालिकाओं को इस अधिनियम के द्वारा यह भी अधिकार दिया गया है कि वे आवश्यकता होने पर ऋण भी ले सकती हैं। परन्तु इसके लिए उन्हे राज्य सरकार से अनुमति लेनी होगी।

परन्तु ऋण केवल स्थायी निर्माण कार्य (a permanent work) के लिये ही लिया जा सकता है। ऋण कितना हो, ब्याज की क्या दर हो आदि बातें राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जायेंगी। कोई भी ऋण महापालिका ३० वर्ष से अधिक काल के लिये नहीं लेगी।

महापालिकाओं की कुछ आय इनके द्वारा निर्मित भवनों, दुकानों, आदि से किराये के रूप में, बूचडखानों, सार्वजनिक ट्रान्सपोर्ट, प्रदर्शनी, थियेटर, आदि से भी होगी। समय समय पर इनको राज्य सरकार की ओर से भी आर्थिक सहायता मिलती रहेगी।

राज्य सरकार का नियन्त्रण:—महापालिकाओं की कर्मचारियों की नियुक्ति में तथा ऋण लेने में हम देख चुके हैं कि सरकार नियंत्रण रखती है। इनके अतिरिक्त सरकार अन्य कई प्रकार से महापालिकाओं पर नियंत्रण रखती है। अधिनियम के अनुसार निम्नलिखित बातों पर राज्य सरकार का नियंत्रण रहेगा:—

(१) राज्य सरकार महापालिका अथवा इसकी किसी भी समिति की किसी कार्यवाही के विषय में सूचना माँग सकती है।

(२) यह मुख्य नगर अधिकारी से महापालिका प्रशासन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की सूचना माँग सकती है;

(३) यह महापालिका के किसी भी विभाग अथवा कार्य के निरीक्षणार्थ कर्मचारी की नियुक्ति कर सकती है जो अपनी रिपोर्ट राज्य सरकार को देगा;

(४) यह महापालिका को किसी कार्य के करने का आदेश दे सकती है;

(५) यदि महापालिका राज्य सरकार की आज्ञानुसार किसी कार्य को करने में असमर्थ सिद्ध हो तो राज्य सरकार किसी व्यक्ति को नियुक्त कर वह काम करवा सकती है।

(६) राज्य सरकार इसी प्रकार किसी संकट (emergency) की स्थिति में अपने द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी द्वारा काम करवा सकती है;

(७) महापालिका तथा इसकी समितियों के प्रस्ताव मुख्य अधिकारी द्वारा राज्य सरकार को प्रेषित किये जायेंगे।

(८) यदि राज्य सरकार यह सोचे कि महापालिका का कोई प्रस्ताव या आदेश जनहित में नहीं है तो वह उसका लागू करना रोक सकती है;

(९) यदि किसी समय राज्य सरकार को यह विश्वास हो जाय कि महापालिका अपने कृत्यों को निबाहने में असमर्थ है अथवा वह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर रही है तो राज्य सरकार उसे भंग कर सकती है तथा अधिकाधिक ६ मास के अन्तर्गत नए निर्वाचन करायेगी।

(१०) यदि नव निर्वाचित महापालिका ठीक प्रकार से काम न करे तो राज्य सरकार महापालिका को भंग करके उसके अधिकार अपने हाथ में ले सकती है। परन्तु किसी भी दशा में [illegible] वर्ष से अधिक समय तक महापालिका भंग नहीं रहेगी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज्य सरकारों का महापालिकाओं पर नियन्त्रण काफी विस्तृत तथा व्यापक है। यद्यपि यह सत्य है कि स्थानीय संस्थाओं को अपने कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत अधिकाधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये जिससे उनमें उत्तरदायित्व की भावना बढ़ सके तथापि भारत की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि सरकारी नियन्त्रण स्थानीय संस्थाओं पर अनावश्यक हस्तक्षेप है।

सामान्य रूप से भारत में सभी महापालिकाओं का संगठन थोड़े बहुत अन्तर के साथ इसी प्रकार का है। अतएव उनका पृथक वर्णन आवश्यक नहीं है।

[illegible] संगठन [illegible] पालिका [illegible] की नगर [illegible] म्युनिसिपैलिटी की स्थापना करना राज्य सरकार के हाथ में है। यही [illegible] इसी प्रकार [illegible] उनके [illegible] का काम करने के लिए एक अफसर नियुक्त कर सकती है जिसको एडमिनिस्ट्रेटर कहते हैं उदाहरणार्थ लखनऊ में ऐसा किया गया है।

उत्तर प्रदेश में म्युनिसिपैलिटियों का संगठन तथा उनके अधिकार सन् १९१३ के ऐक्ट पर आधारित हैं। इस ऐक्ट में सन् १९४९ तथा सन् १९५१ में संशोधन किए गए थे। सन् १९४० के ऐक्ट के संशोधन मुख्यतः निर्वाचन सम्बन्धी थे उदाहरणार्थ संयुक्त निर्वाचन, वयस्क मताधिकार तथा सभापति का प्रत्यक्ष निर्वाचन आदि। परन्तु नए संविधान के लागू होने पर यह आवश्यक

प्रतीत हुआ कि म्यूनिसिपैलिटीज ऐक्ट में और संशोधन किये जाय। इस उद्देश्य से अक्टूबर सन् १९५२ में प्रादेशिक विधान मंडल में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जो कि फरवरी सन् १९५२ में कानून हो गया। इसको The U. P. Municipalities (Amendment) Act, 1952 कहते हैं। एक आर्डर भी प्रादेशिक सरकार ने निर्वाचन नामावली का तैयार करने तथा उसमें संशोधन करने को निकाला। इसको *U. P. Municipalities Preparation* and Revision of Electoral Rolls Order (1953) कहते हैं।

संगठन —म्यूनिसिपैल्टी में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य होते हैं। अलग-अलग म्यूनिसिपैल्टियों में इनकी संख्या अलग अलग है। पहले इन सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार सब वयस्कों को नहीं था। शिक्षा तथा सम्पत्ति की योग्यता रखी गई थी। परन्तु अब प्रत्येक व्यक्ति जिसका उस क्षेत्र में प्रादेशिक विधान-सभा के लिये निर्वाचक नामावली में नाम है, निर्वाचक है। निर्वाचक होने के लिये वही योग्यता चाहिये जो विधान-सभा के निर्वाचक होने के लिये है।

निर्वाचक को भारत का नागरिक होना चाहिये। उसे पागल या दिवालिया न होना चाहिये। ऐसा व्यक्ति जिसको १ वर्ष से अधिक जेल हो गई हो, निर्वाचक नहीं हो सकता है। जेल जाने की अयोग्यता जेल से छूटने के ४ वर्ष बाद हट जायेगी। मगर सरकार चाहे तो इसमें पहले भी इसको दूर कर सकती है।

म्यूनिसिपैल्टीज का चुनाव साधारणतः ५ वर्ष के लिए होता है। परन्तु सरकार को यह अधिकार है कि वह चुनाव को स्थगित कर दे या अगर लोक हित में आवश्यक जान पड़े तो नियत समय से पहले ही चुनावों को करवा दे।

म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता के लिए प्रत्येक वह व्यक्ति खड़ा हो सकता है जिसका नाम निर्वाचक सूची में हो। परन्तु नीचे लिखे व्यक्ति सदस्यता के लिए खड़े नहीं हो सकते हैं: कोढ़ी, दीवालिये, वे लोग जिन्होंने म्यूनिसिपैलटी का कर या ऋण नहीं चुकाया है, सरकारी नौकरी, अवैतनिक मजिस्ट्रेट, मुंसिफ या असिस्टेंट कलेक्टर।

जब म्यूनिसिपैलिटी के चुनाव की घोषणा होती है तब एक निर्वाचक नामावली तैयार की जाती है। इसमें सब वोटरों के नाम दर्ज किए जाते हैं। अगर किसी का नाम छूट गया हो तो वह एक निश्चित तारीख तक इस भूल को २०) देकर सुधरवा सकता है। सारा नगर कुछ क्षेत्रों (wards) में बांटा

जाता है। प्रत्येक भाग से सदस्य चुने जाते हैं। यह प्रादेशिक सरकार निश्चित करेगी कि इन भागों की क्या संख्या हो तथा प्रत्येक में कितने सदस्य हों।

एक निश्चित तारीख तक उम्मीदवारों को अपना निर्देशपत्र (Nomination Paper) प्रस्ताव तथा अनुमोदक के हस्ताक्षर सहित जमा कर देना होता है। इसके साथ ५०) भी जमा करना पड़ता है। इन पत्रों की एक निश्चित दिन जाँच की जाती है। अगर कोई गलती हुई तो निर्देशपत्र रद्द कर दिया जाता है।

मतदान गुप्त रूप (बैलट) से होता है। वोट रिटर्निंग अफसर के सामने गिने जाते हैं। जो अधिक मत पाता है वह निर्वाचित होता है। अगर चुनाव में कोई गड़बड़ी हो तो इसकी शिकायत जिलाधीश के यहाँ होती है। इसके साथ एक निश्चित रकम भी जमा करनी होती है। अगर अपराध सिद्ध हो जावे तो अपराधी ५ वर्ष तक के लिये सदस्यता के वास्ते फिर खड़ा नहीं हो सकता है। अगर अपराध सिद्ध न हुआ तो जमा की हुई रकम दूसरे दल को दी जाती है। अगर सिद्ध हो गया तो शिकायत करने वाले को लौटा दी जाती है। अगर पूरा चुनाव ही ठीक प्रकार नहीं हुआ तो दुबारा चुनाव होता है। म्यूनिसिपैलटीज में अल्पसंख्यकों के सदस्यों के लिये स्थान सुरक्षित नहीं होंगे। परन्तु दलित वर्गों के सदस्यों के लिए स्थान सुरक्षित होंगे। इनकी म्यूनिसिपैलिटी की कुल सदस्य संख्या से वही अनुपात होगा जो उस नगर में दलित वर्गों की जनसंख्या का वहाँ की कुल जनसंख्या से होगा।

पदाधिकारी—म्यूनिसिपैल्टीज का मुख्य अधिकारी प्रधान (Chairman) कहलाता है। उसका चुनाव सदस्यों द्वारा होता है। वह चार वर्ष के लिये चुना जाता है। वह चाहे तो अपने पद से इस्तीफा दे सकता है। बोर्ड उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकता है जिसको अगर राज्य-सरकार मान ले तो प्रधान को पदत्याग करना पड़ेगा। प्रधान सरकार से ऐसे अवसर पर बोर्ड को भंग करने की प्रार्थना कर सकता है। अगर सरकार यह मान ले तो फिर नए चुनाव होंगे। सरकार भी प्रधान को उसका काम ठीक न होने पर हटा सकती है। प्रधान के अलावा एक या दो उप प्रधान भी होते हैं।

प्रधान बोर्ड की बैठकों में सभापति का पद ग्रहण करता है। उसका काम बोर्ड का शासन प्रबन्ध ठीक रखना है। उसे म्यूनिसिपैलिटी के अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार है। कुछ अधिकारी बोर्ड की अनुमति से वह

नियुक्त करता है। वह उनको हटा भी सकता है। प्रति वर्ष वह कमिश्नर के पास बोर्ड की काम की रिपोर्ट भेजता है।

प्रधान के अतिरिक्त नगरपालिकाओं में उप-प्रधान भी होते हैं। इनका निर्वाचन सदस्यों द्वारा आपस में ही किया जाता है। साधारणतः दो उप-प्रधान होते हैं। एक को **Senior Vice Chairman** तथा दूसरे को **Junior Vice Chairman** कहते हैं।

जिन म्यूनिसिपैलिटियों की आमदनी ५०,००० से अधिक है उनमें एक इक्जीक्यूटिव अफसर तथा एक मेडिकल अफसर होता है। मेडिकल अफसर प्रान्तीय सर्विस का होता है। कम आमदनी वाली म्यूनिसिपैलिटी में एक या दो अवैतनिक मंत्री रखे जाते हैं? इनके अतिरिक्त म्यूनिसिपैलिटी अन्य कर्मचारी जैसे इंजीनियर, वाटर वर्क्स सुपरिन्टेन्डेन्ट, इलेक्ट्रिकल सुपरिन्टेन्डेन्ट, ओवरसियर आदि भी नियुक्त कर सकती है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कर्मचारी भी होते हैं जैसे सैनिटरी इन्स्पेक्टर, टोल इन्सपेक्टर आदि।

समितियाँ:—म्यूनिसिपैलिटी अपना काम सुविधा-हेतु समितियों के द्वारा करती है। प्रत्येक समिति को कोई विभाग सौंप दिया जाता है। इनकी नियुक्ति बोर्ड करता है। इनमें कुछ को-ऑप्टेड (Co-opted) सदस्य भी हो सकते हैं। एक समिति में १० सदस्य तक होते हैं। प्रत्येक का एक सभापति भी होता है। मुख्य समितियाँ ये हैं। शिक्षा-समिति, स्वास्थ्य समिति, अर्थ-समिति, वाटर वर्क्स समिति, चुंगी-समिति, वर्क्स-समिति आदि। प्रत्येक समिति अपना काम बोर्ड के नियंत्रण तथा अनुमोदन से करती है।

कार्य.—म्यूनिसिपैलिटीज के कामों को अनिवार्य तथा ऐच्छिक दो भागों में बाँट सकते हैं। मुख्य अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं: (१) शहर के भीतर सड़कों का प्रबन्ध करना, उनकी मरम्मत तथा सफाई करवाना, उनमें रोशनी का प्रबन्ध करना। शहरों में जो गलियाँ होती हैं उनकी भी इसी तरह परवाह करनी होती है। (२) शहर में सफाई का प्रबन्ध करना, गन्दगी को हटवाने का इन्तजाम करना, नालियों की सफाई। औषधालय स्थापित करना तथा टीके लगवाना। (४) साफ पानी का प्रबन्ध तथा बाजार में सड़ी-गली चीजों को बिकने से रोकना। (५) शिक्षा का प्रबन्ध करना। (६) जन्म-मरण का हिसाब रखना। (७) आग बुझाने का प्रबन्ध।

ऐच्छिक काम निम्नलिखित हैं: (१) जन साधारण के मनोरंजनार्थ पार्क, तालाब, आदि बनवाना: (२) पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर की स्थापना।

हैं। इन सब बुराइयों को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा का अधिक प्रचार हो। चरित्रवान मनुष्य इन संस्थाओं में आवें। सदस्य गण सेवा के लिये आवें न कि स्वार्थ-साधन के लिये। दलबन्दी की भावना भी दूर होनी चाहिये। इन संस्थाओं की आर्थिक स्थिति में सुधार की आवश्यकता है। उन्हें आमदनी बढ़ाने के नए साधन उपलब्ध होने चाहिये। उनके काम में अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप भी नहीं होना चाहिये।

टाउन एरिया कमेटी—उन नगरों में जिनकी आबादी २०,००० से कम तथा १०,००० से अधिक हो सरकार टाउन एरिया कमेटी स्थापित कर सकती है। इनके साधारणतः वही काम हैं जो कि बड़े नगरों में म्युनिसिपैलिटियाँ करती हैं। टाउन एरिया कमेटी में ५ से ७ सदस्य होते हैं। ये ४ वर्ष के लिये होते हैं। एक सभापति होता है जो या तो सदस्यों द्वारा चुना जाता है या सरकार द्वारा मनोनीत होता है। इन कमेटियों के अधिकार म्युनिसिपैलिटियों से कम हैं, इनके आय के साधन भी कम हैं तथा इनमें सरकारी हस्तक्षेप है। इनका मुख्य काम सड़कों का निर्माण, मरम्मत, पानी रोशनी तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध है। इनको सरकार की ओर से तथा जिला बोर्डों से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। अन्य आय के साधन कर, नजूल भूमि से आमदनी तथा जुर्मानों से प्राप्त रकमें हैं।

जिन नगरों की आबादी १०,००० से कम तथा ५,००० से अधिक हो वहाँ सरकार **नोटीफाइड एरिया कमेटी** स्थापित कर सकती है। इस कमेटी में ३ या ४ सदस्य होते हैं जो या तो निर्वाचित या कमिश्नर द्वारा मनोनीत या दोनों होते हैं। एक सभापति होता है। इसके काम भी टाउन एरिया कमेटी की तरह होते हैं।

इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट:—नगरों को एक योजना के अनुसार पुनर्निर्मित करने के लिए बड़े-बड़े नगरों में इसकी स्थापना की गई है। इसका काम सड़कों को चौड़ी करना, हवादार मकानों को बनवाने में सहायता देना, अत्यन्त घनी बसी हुई बस्तियों का पुनर्निर्माण करना जिससे वहाँ हवा तथा सूर्य की रोशनी ठीक ढंग से आ सके इत्यादि बातों का प्रबन्ध करना है। इसके अतिरिक्त इसका काम गरीब जनता के रहने के लिये छोटे परन्तु खुले हुए मकानों का प्रबन्ध करना भी है। इन सब कामों के लिये यह राज्य सरकार के सम्मुख निर्माण सम्बन्धी योजनाएँ रखता है।

इन ट्रस्टों का काम एक कमेटी द्वारा होता है। इसका एक प्रधान होता

है। कमेटी के सदस्य मनोनीत होते है कुछ तो सरकार द्वारा तथा कुछ नगर की म्यूनिसिपैलिटी द्वारा। इनकी आय के मुख्य साधन ये है।—भूमि बेचने से आमदनी, सहकारी सहायता तथा ऋण।

इन ट्रस्टो के काम से जनता में अधिक सतोष नहीं है क्योकि इनकी योजनाओ को कार्यान्वित करने मे बहुधा गरीबो की हानि हो जाती है। जो मकान तोड जाते है उनके लिये बहुत कम पैसा मिलता है। मकान निर्माण के लिये भूमि बहुधा महगी बेची जाती है। इस प्रकार अमीर आदमी ही उस भूमि को खरीद सकते है। इसका फल यह होता है कि किरायेदारो की सख्या बढती जाती है तथा मकान मालिको की कम होती जाती है। परन्तु यह सब दोष होते हुए भी इन ट्रस्टो ने नगरपुर्ननिर्माण म काफी लाभदायक काम स्वास्थ्य तथा सफाई की दृष्टि से किया है।

कैंटूनमेंट बोर्ड—कुछ एसे नगर है जहा कि फौज की छावनियाँ है। ऐसे नगरो में छावनी का क्षेत्र म्यूनिसिपैलिटी के अधिकार स बाहर रहता है। इन क्षेत्रो का प्रबन्ध कैण्टूनमण्ट बोर्ड करता है। यह बोर्ड रोशनी, पानी स्वास्थ्य तथा सफाई का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार उसके काम करीबन म्युनिसिपैलिटियो की ही तरह है। कैन्टूनमेंट बोर्ड के कुछ सदस्य मनोनीत होते है तथा कुछ निर्वाचित। अधिकतर मनोनीत सदस्यो की ही सख्या अधिक होती है। इसका अध्यक्ष एक ऊँचा फौजी अफसर होता है। ये बोर्ड राज्य-सरकार के नियत्रण म न होकर भारत के सेना विभाग के नियत्रण में काम करते है।

पोर्ट ट्रस्ट—य उन नगरो मे स्थापित है जो बड-बड़ बन्दरगाह है जैसे कलकत्ता बम्बई मद्रास। पोर्टट्रस्ट का काम उन समस्याओ को हल करना है जो कि बन्दरगाहो की विशेषताये है। इसलिए इन नगरो मे कारपोरेशन तथा इम्प्रूवमण्ट ट्रस्ट के अतिरिक्त पोर्टट्रस्ट भी है।

पोर्टट्रस्ट म कुछ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते है तथा कुछ कारपोरेशन द्वारा भजे जाते है। कुछ सदस्य व्यापारिक सस्थाओ द्वारा चुने जाते है। साधारणत मनोनीत सदस्यो की सख्या निर्वाचित सदस्यो से अधिक है। परन्तु कलकत्ते के पोर्टट्रस्ट म निर्वाचित सदस्यो की ही सख्या अधिक है। इनके सदस्यो को कमिश्नर या ट्रस्टी कहा जाता है। पोर्टट्रस्ट के निम्नलिखित मुख्य काम है माल को लादना तथा उतरवाना माल गोदामो को बनवाना तथा देखभाल रखना, घाट बनवाना, यात्रियो के आने-जाने तथा ठहरने की सुविधाओ का ध्यान रखना स्वास्थ्य तथा सफाई का प्रबन्ध करना तथा व्यापार के लिये

नाव तथा जहाजों का प्रबन्ध करना आदि। पोर्टट्रस्ट के आय के मुख्य तीन स्रोत हैं—माल की लदाई तथा उतरवाई पर कर, जहाजों पर कर लगाये गये कर तथा गोदामों के किराये।

पोर्टट्रस्ट अपना काम ठीक ढंग से कर सकें तथा माल की हिफाजत रख सकें इसलिए उनको अपनी पुलिस रखने का अधिकार है। इन संस्थाओं में सरकारी हस्तक्षेप अन्य स्थानीय संस्थाओं से अधिक है।

जिला बोर्ड[1]—जो काम नगरों में म्यूनिसिपैलिटीज या टाउन एरिया कमीटीज आदि करती हैं वही काम ग्रामीण क्षेत्रों में जिला बोर्ड करते हैं। इन बोर्डों की स्थापना भारत में १८७० ई० के पश्चात् हुई। जिला-बोर्डों का कार्यक्षेत्र म्यूनिसिपैलिटीज आदि के क्षेत्र से अलग है। उत्तर प्रदेश में केवल जिला बोर्ड ही थे परन्तु कुछ अन्य राज्यों में जिला बोर्डों के नीचे सब-डिविजनल बोर्ड या तालुका बोर्ड भी पाये जाते हैं। कहीं-कहीं इन सब-डिवीजनल बोर्डों के नीचे लोकल बोर्ड भी हैं। जिला बोर्ड सारे जिले के ग्रामीण क्षेत्र की देखभाल के लिये हैं। सब-डिविजनल बोर्ड १००-५० गाँवों की देखभाल करता है। लोकल बोर्ड केवल २–४ गाँवों की देखभाल करता है।

जिला बोर्डों का संगठन—जिला बोर्डों के प्रतिनिधि चुनने का अधिकार १९४८ ई० के पूर्व केवल थोड़े ही व्यक्तियों को था क्योंकि निर्वाचक होने के लिये धन तथा शिक्षा की योग्यतायें रखी गई थी। परन्तु अब वे सब व्यक्ति निर्वाचक हो सकते हैं जो कि प्रान्तीय विधान सभा के लिए निर्वाचक होने की योग्यता रखते हैं। अर्थात् वयस्क मताधिकार हो गया है। इसलिए कोई भी २१ वर्ष की आयु से अधिक आयु वाला भारतीय नागरिक जो उस जिला बोर्ड की सीमा के अन्दर रहता हो निर्वाचक हो सकता है। परन्तु वह पागल, दिवालिया न हो। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति ६ महीने से अधिक काल की सजा काटे हो और इसे काटे ५ वर्ष पूरे न हो चुके हों, या किसी निर्वाचक सम्बन्धी अपराध के कारण अयोग्य घोषित किया गया हो, वह भी निर्वाचक नहीं हो सकता है। निर्वाचकों के लिये यह जरूरी है कि जिला बोर्ड की निर्वाचक नामावली में उनका नाम दर्ज हो। अगर उसका नाम गलती से छूट गया हो तो उसे चाहिये कि वह निश्चित तिथि के भीतर अपना नाम दर्ज करवा ले अन्यथा वह मतदान नहीं कर सकेगा।

---

१. यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि १ मई १९५९ से उत्तर प्रदेश में जिला बोर्डों का काम समाप्त हो गया है और इनके स्थान पर जिला परिषदें (अन्तरिम) की स्थापना कर दी गई हैं।

प्रत्येक निर्वाचक को अधिकार है कि वह जिला-बोर्ड की सदस्यता के लिये उम्मीदवार हो सकता है। केवल नीचे लिखी अयोग्यताएँ न होनी चाहिये —

(१) सरकारी नौकर हो। (२) जिला बोर्ड की नौकरी में हो। (३) बोर्ड के किसी ठेके आदि म उसका हिस्सा हो। (४) वह अंग्रेजी या कोई अन्य भारतीय भाषा न जानता हो। (५) सरकारी नौकरी पाने क अयोग्य हो। (६) वकालत करने से रोक दिया गया। (७) पिछले वर्ष का कर न दिया हो।

जिला बोर्ड का कार्यकाल ३ वर्ष रखा गया है। परन्तु सरकार इस कार्य-काल को बढा सकती है। वह साधारण चुनावो को भी स्थगित कर सकती है। कोई व्यक्ति एक बार में ही बोर्ड का सदस्य हो सकता है।

जिला बोर्ड मे कई पदाधिकारी होते है। इनमें से कुछ तो वैतनिक होते है तथा कुछ अवैतनिक। कर्मचारियो में क्लर्क आदि के अतिरिक्त निम्नलिखित मुख्य हैं। मत्री, स्वास्थ्य अफसर, इजीनियर तथा सब-ओवरसियर, टैक्स अफसर कई शिक्षक, कुछ डाक्टर आदि।

बोर्ड का मुख्य कर्मचारी अध्यक्ष कहलाता है। सन् १९२२ के कानून क अनुसार उसका निर्वाचन बोर्ड के सदस्य करते थे। परन्तु यह प्रथा संशोधित कर दी गई है। अब उसका चुनाव सीधे जनता द्वारा किया जावेगा। इस पद की अवधि ३ वर्ष रखी गई है। कोई भी जिला-बोर्ड का निर्वाचक जिसकी आयु कम से कम ३० वर्ष हो इस पद के लिये खडा हो सकता है। इस प्रकार सीधा चुनाव रखने से बोर्ड के अन्दर दलबन्दी कुछ मात्रा तक दूर हो जावेगी। अध्यक्ष अपने पद से इस्तीफा दे सकता है। उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी पास किया जा सकता है। अगर राज्य सरकार इस प्रस्ताव को मान ले तो अध्यक्ष का पद रिक्त करना पड़ेगा। ऐसा होने पर अध्यक्ष सरकार से बोर्ड भंग करा कर नए चुनाव की प्रार्थना भी कर सकता है। अध्यक्ष के अतिरिक्त सदस्यों में एक या दो अध्यक्ष चुन लिये जाते हैं। उनका कार्यकाल १ वर्ष होता है। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में ये इसका कार्य करते हैं। अध्यक्ष का पद बहुत महत्वपूर्ण है। बोर्ड की सफलता बहुत कुछ मात्रा तक उसके ऊपर भी निर्भर है। उसके कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं —

(क) वह बोर्ड की बैठक बुलाता है तथा इसमें सभापति का आसन ग्रहण करता है। यह बोर्ड की कार्य-कारिणी समिति का भी सभापतित्व करता है।

बोर्ड की बैठकों में सिविल-सर्जन, इंजीनियर, इन्सपेक्टर आफ स्कूल्स आदि को परामर्श देने के लिये निमंत्रित कर सकता है।

(ख) वह समस्त बोर्ड के शासन-प्रबन्ध को देख रेख करता है।

(ग) बोर्ड के कर्मचारियों के वेतन, उपलब्धियाँ, भत्ते, सेवा की शर्तें आदि प्रश्नों का निर्णय करता है।

(घ) वह बोर्ड के काम की रिपोर्ट तैयार करता है, हिसाब-किताब सम्बन्धी लेख तैयार करता है तथा कमिश्नर और जिलाधीश के पास इनको भेजता है।

(ङ) अन्य वे काम जो बोर्ड द्वारा उनको सौंपे जाँय।

जिला बोर्ड के कार्य:—इनको ऐक्ट द्वारा अनिवार्य तथा ऐच्छिक दो भागों में बाँटा गया है। मुख्य अनिवार्य कार्य नीचे लिखे हैं:—

(१) सड़कों, पुलों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करना। इस प्रकार यातायात के साधनों की उन्नत करना (२) सड़कों के किनारे पेड़ लगाना तथा उनकी रक्षा करना। (३) औषधालय स्थापित करना तथा उनकी सहायता करना। (४) चेचक, हैजा, प्लेग आदि के टीके लगाना; (५) शिक्षा के लिये स्कूल आदि स्थापित करना। (६) अकाल से बचाव का प्रबन्ध तथा अकाल के समय सहायता करना। (७) कुएँ, तालाब, नहरें आदि का निर्माण तथा मरम्मत (८) कांजी हौजों का प्रबन्ध करना। (९) मेलों, प्रदर्शिनी आदि का लगवाना तथा प्रबन्ध। (१०) पड़ाव, सराय आदि का प्रबन्ध। (११) नदियों में नावों का प्रबन्ध। (१२) बाजार, पार्क, अनाथालय की स्थापना तथा प्रबन्ध (१३) कृषि तथा पशुपालन के सम्बन्ध में शिक्षा प्रचार। (१४) हानिकारक व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना। (१५) पीने के पानी का प्रबन्ध करना।

इन अनिवार्य कार्यों के अतिरिक्त आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर बोर्ड कुछ अन्य कार्य भी कर सकती है। जैसे, जनसंख्या की गणना, जन्म-मृत्यु का हिसाब रखना, ट्राम वे आदि चलाना, नहरें बनवाना, नई सड़कों का निर्माण, प्रौढ़-शिक्षालयों का प्रबन्ध आदि। परन्तु साधारणतः जिला बोर्ड की आर्थिक स्थिति इतनी खराब होती है कि वे अपने अनिवार्य कर्तव्य ही ठीक प्रकार नहीं कर सकते हैं।

कार्य-पद्धति:—सुविधार्थ जिला बोर्ड का काम कई कमेटियों द्वारा किया जाता है। इन कमेटियों को बोर्ड ही नियुक्त करता है तथा इनमें बोर्ड के

हो सदस्य होते हैं। इस कमेटी में ३ या ४ सदस्य होते हैं। इन्हीं में से एक सभापति चुना जाता है। परन्तु कार्यकारिणी समिति का सभापति बोर्ड का अध्यक्ष ही होता है।

जिला बोर्ड की समितियों में सबसे प्रधान कार्यकारिणी-समिति कहलाती है। १९४१ ई० से पूर्व बोर्ड की एक अर्थ-समिति होती थी। अब इसके स्थान पर ही कार्यकारिणी समिति होती है। इस समिति के सदस्य-बोर्ड का उपाध्यक्ष, अध्यक्ष, बोर्ड की अन्य समितियों के सभापति तथा बोर्ड के सदस्यों द्वारा चुने हुए अन्य सदस्य होते हैं। इस कार्यकारिणी समिति का सभापति बोर्ड का अध्यक्ष होता है। बोर्ड का मंत्री ही इसका पदेन (ex officio) मंत्री होता है। यह समिति वह सब काम करती है जो कि बोर्ड इसको सौंपे। वे सब काम जो पहिले अर्थ-समिति करती थी अब यही करती है। इसके मुख्य काम नीचे दिये हैं।

(१) सदस्यों के भत्ते निश्चित करना।

(२) किसी सदस्य के विरुद्ध दावा करना।

(३) बोर्ड की किसी अन्य समिति से रिपोर्ट मांगना।

(४) तहसील समितियों की व्यय राशि को निश्चित करना तथा उन्हें अधिकार देना।

(५) बोर्ड के किसी कर्मचारी को छुट्टी देने का अधिकार देना।

(६) नए कर लगाने की योजना तैयार करना।

(७) अन्य स्थानीय संस्थाओं से सहयोग करना।

(८) आवश्यक कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों का वेतन तथा संख्या निश्चित करना।

(९) सड़कों का निर्माण तथा मरम्मत करना।

(१०) बोर्ड के आय व्यय का चिट्ठा तैयार करना।

कार्यकारिणी समिति के अतिरिक्त दूसरी मुख्य समिति शिक्षा-समिति है। इसका काम बोर्ड के शिक्षालयों का प्रबन्ध करना, अध्यापकों का नियुक्त करना आदि है। इसमें १२ सदस्य होते हैं। इनमें से आठ बोर्ड के सदस्य अपने में से चुनते हैं। ४ बाहर से लिये जाते हैं। इन बाहर वाले सदस्यों में से ऐसे दो सदस्य हो सकते हैं जो कि इन्स्पेक्टरों के अतिरिक्त शिक्षा विभाग के कर्मचारी हों।

बोर्ड के सदस्यों में से एक जिला बोर्ड के अध्यापकों का प्रतिनिधि होगा। इस समिति का मंत्री डिप्टी-इन्सपेक्टर ऑव स्कूल्स होता है। यह समिति अपने सदस्यों में से एक सभापति चुन लेती है। यह अपने काम की रिपोर्ट बोर्ड के सामने रखती है। अगर यह समिति ठीक प्रकार कार्य न कर रही हो तो बोर्ड सरकार से इसको भंग करने की प्रार्थना कर सकता है। इस समिति का कार्य अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण है। इसलिए इसके सदस्यों को अपना काम ईमानदारी के साथ करना चाहिये।

बोर्ड जिले की विभिन्न तहसीलों में अपना कार्य ठीक प्रकार से करने के लिए तहसील कमेटियाँ नियुक्त करता है। किसी तहसील समिति में उस तहसील से निर्वाचित बोर्ड के सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त बोर्ड अगर चाहे तो उसमें अन्य सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इन समितियों को वही अधिकार होंगे जो बोर्ड उनको देगा।

बोर्ड की आय तथा व्यय—जिला बोर्डों की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) **अबवाब**—यह कर राज्य सरकार द्वारा मालगुजारी के साथ किसानों तथा जमींदारों से वसूल कर लिया जाता है तथा बाद को जिला बोर्ड को दे दिया जाता है। यह कर भूमि-कर पर उपकर है। १९४८ के संशोधन के पूर्व इसकी दर १ आना रुपया थी परन्तु अब यह पहले से बढ़ा दी गई है।

(२) जिला बोर्ड अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले किसी व्यक्ति या व्यापारी पर कर लगा सकती है। परन्तु उस व्यक्ति की आमदनी कम से कम २००) वार्षिक होनी चाहिये। इस कर की दर ४ पाई प्रति रुपये से अधिक नहीं हो सकती है।

(३) बाजारों, मेलों तथा नुमायश आदि पर कर।
(४) सवारियों पर टैक्स।
(५) पशुओं की बिक्री पर कर।
(६) स्कूलों से फीस के रूप में आय।
(७) फैक्टरियों पर टैक्स।
(८) पुलों तथा नावों से आय।
(९) पेड़ बेचने से आय।
(१०) भूमि बेचने से आय।
(११) दलालों, आढ़तियों आदि पर टैक्स।

(१२) काँजी हाउस से आय ।
(१३) राज सरकार के द्वारा आर्थिक सहायता ।
(१४) ऋण ।

इन विविध स्रोतों से हुई आमदनी को बोर्ड निम्नलिखित बातों पर व्यय करता है —

(१) सड़कों का बनाना, मरम्मत करना तथा उनके किनारे वृक्ष लगाना ।
(२) पानी के लिये तालाब, कुओं का प्रबन्ध करना ।
(३) नदियों पर पुल बनाना तथा उनकी मरम्मत करना ।
(४) शिक्षालयों पर व्यय, जैसे शिक्षक का वेतन आदि ।
(५) औषधालय तथा चिकित्सकों पर व्यय ।
(६) कृषि, उद्योग आदि की उन्नति के लिये व्यय ।
(७) मेले, पैठ, नुमायश आदि पर व्यय ।
(८) बोर्ड के कर्मचारियों का वेतन ।

जिला बोर्ड की आय उनके कामों के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए कम है । यह उनके ठीक प्रकार से अपने उत्तरदायित्व को पूरा न करने का एक मुख्य कारण है । बोर्ड को अपनी आय बढ़ाने के लिये कुछ उपाय करने चाहिये उदाहरणार्थ बोर्ड को अपने क्षेत्र के अन्दर उद्योग-धंधों की स्थापना के लिये लोगों को उत्साहित करना चाहिये तथा उनको सहायता देनी चाहिये । इससे कर रूप में आमदनी होगी । बोर्ड अपनी आय बढ़ाने के लिये डेरी, पोल्ट्री फार्म आदि खोल सकते हैं । मेले, पैठ प्रदर्शनियों से भी आमदनी बढ़ सकती है; बस रेल तथा अन्य सवारी के साधनों से भी आय बढ़ेगी । इनके अतिरिक्त राज्य-सरकार को अपनी आर्थिक सहायता में कुछ और वृद्धि कर देनी चाहिये ।

सरकारी नियन्त्रण—स्थानीय संस्थाएँ यद्यपि अपने क्षेत्र के अन्दर स्वायत्त अधिकार का प्रयोग करती हैं तथापि इसके साथ साथ वे सरकारी नियन्त्रण से स्वतन्त्र भी नहीं हैं । नगर-पालिकाओं तथा जिला बोर्ड दोनों ही सरकारी नियन्त्रण में हैं । कमिश्नर तथा कलेक्टर को नगर पालिकाओं के कार्यों में हस्तक्षेप का अधिकार है । अधिकार इन कर्मचारियों को इसलिये दिये गये हैं ताकि स्थानीय संस्थाएँ अपने कामों को ठीक ढंग से करें । नगरपालिकाएँ समय समय पर जिलाधीश को अपने कामों की रिपोर्ट भेजती हैं । विवादग्रस्त मामलों पर जिलाधीश अपनी राय दे सकता है । उसको इनके आय व्यय पत्र पर भी परामर्श देने का अधिकार है । वह इनके कार्य के सम्बन्ध में एक वार्षिक रिपोर्ट भी देता है ।

जिला बोर्ड पर भी सरकारी नियन्त्रण है। कुछ सरकारी अधिकारियों को बोर्ड की बैठकों में शामिल होने का अधिकार है, जैसे कलेक्टर, डिस्ट्रिक्ट इन्स्पेक्टर ऑव स्कूल, जिले के स्वास्थ्य विभाग का अफसर आदि। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकारी को बोर्ड के विभिन्न विभागों के निरीक्षण का अधिकार है। उदाहरणार्थ, शिक्षा विभाग का सार्वजनिक निर्माण विभाग का स्वास्थ्य विभाग का प्रादेशिक अधिकारी निरीक्षण कर सकते हैं। इनके अलावा कमिश्नर तथा मुख्यतः जिलाधीश को बोर्ड के कामों पर नियन्त्रण का अधिकार है।

उत्तर-प्रदेश की सरकार जिला बोर्डों की समस्याओं तथा उन साधनों और उपायों पर विचार कर रही हैं जिन्हें अपनाकर वह आय के अतिरिक्त साधनों की व्यवस्था कर सके। इस सरकार द्वारा नियुक्त दोनों समितियों अर्थात् स्थानीय विकास सहायतार्थ अनुदान समिति (Local Bodies Grants-in-Aid Committee) तथा स्थानीय वित्त-समिति (Local Finance Enquiry Committee) ने इस विषय का अध्ययन किया और उनकी सिफारशें उत्तर प्रदेशीय सरकार के विचाराधीन हैं। जिला बोर्डों के पुर्नसंगठन तथा उनकी आय के साधनों में वृद्धि में सुझाव रखने के लिये एक उच्च स्थानीय समिति को नियुक्ति की गई है। इसकी रिपोर्ट इस वर्ष के अन्त तक आ जावेगी।

जिला परिषद्—उत्तर प्रदेश में १ मई, १९५८ से जिला बोर्डों का विघटन कर दिया गया है। इनके स्थान पर एक अन्तरिम व्यवस्था की गई है और इसी हेतु एक अध्यादेश जारी किया गया है। यह "उत्तर प्रदेश अन्तरिम जिला परिषद अध्यादेश १९५८" कहलाता है। इसके अनुसार १ मई, १९५८ से उत्तर प्रदेश के समस्त जिला बोर्डों, (जिसके अन्तर्गत, भदोही का उप-जिला बोर्ड भी है) तथा इन बोर्डों की समस्त कमेटियों ने एक मई, १९५८ से अपने काम समाप्त कर दिया है। इन बोर्डों का काम, इनके स्थान पर अन्तरिम जिला परिषदों की स्थापना तक, जिले के कलेक्टर द्वारा किया जायगा परन्तु अब जिलों में अन्तरिम जिला परिषदों का निर्माण हो गया है। इन परिषदों का संघठन निम्नलिखित है।

इस परिषद में निम्नलिखित सदस्य हैं :—

(१) जिले की जिला नियोजन समिति के सब सदस्य;

(२) पाँच सदस्य जो कि उन व्यक्तियों के निर्वाचक-गण द्वारा निर्वाचित हैं, जो ३० अप्रैल, सन् १९५८ को भूतपूर्व जिला बोर्ड के सदस्य तथा प्रेसीडेंट थे अथवा जो राज्य सरकार द्वारा नाम निर्दिष्ट हों;

(३) वाराणसी के जिला परिषद म दो सदस्य भदोही के उप जिला बोर्ड के सदस्य द्वारा भी निर्वाचित होकर भेजेंगे।

सरकार द्वारा कलेक्टर को आन्तरिक जिला परिषद का अध्यक्ष बनाया गया है और वही इसकी बैठकों का सभापतित्व करेगा। जिला बोर्ड का प्रेसीडेन्ट जिला परिषद का उप-सभापति होगा।

ये जिला परिषदें जिला नियोजन समिति के कार्यों को सम्पादित करेंगी। आंतरिक जिला परिषदों का कार्य अधिकारी जिले का जिला नियोजन अधिकारी होगा।

जिला बोर्डों का विघटन सरकार ने एक कमेटी की राय से किया जो कि इसी उद्देश्य से बिठायी गई थी। सरकार ने नियोजन के कार्य को बढ़ाने के उद्देश्य से यह पग उठाया है। इन जिला परिषदों का अन्तिम रूप क्या होगा यह अभी तक पूर्ण रूपेण ज्ञात नहीं है क्योंकि इस विषय में अभी कोई अधिनियम नहीं बना है। परन्तु यह समाचार है कि जिला कौंसिल में दो सदनों की व्यवस्था करने का विचार है। जिसके सदन को जिला परिषद तथा उपरि सदन को जिला संसद का नाम दिया जायगा। किन्तु चुनाव प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस वर्ष इनके संगठन के सम्बन्ध में राज्य सरकार विधेयक प्रस्तुत करने वाली है।[1]

गाँव पंचायत —भारत में पंचायत व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन काल में तथा मध्यकाल में गाँवों में पंचायत ही दैनिक जीवन के सभी प्रश्नों को हल करती थी। परन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात केन्द्रीयकरण की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके फलस्वरूप गाँवों की स्वतन्त्रता जाती रही। गांधी जी ने अपने कार्य-क्रम में गाँवों को पुन आत्मनिर्भर बनाने की ओर ध्यान आकर्षित किया। उनके प्रभाव के कारण ही कांग्रेस सरकार ने पंचायतों की स्थापना की ओर कदम उठाया है।

अंग्रेजी काल में भी प्रान्तों में पंचायत ऐक्ट बने थे। उदाहरणस्वरूप, यू०पी० (अब उत्तर प्रदेश) में १९२० में ऐसा ऐक्ट बना था। पंजाब में इससे पहले ही पंचायत ऐक्ट बन चुका था। अन्य प्रान्तों में भी ऐसे ऐक्ट बने। परन्तु उस समय जो पंचायतें स्थापित की गई थी उसकी स्वाधीनता केवल नाममात्र की थी। सरकारी कर्मचारियों का हस्तक्षेप बहुत अधिक था। इनके सदस्यों को तहसीलदार मनोनीत करता था। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि ये पंचायतें कुछ

1 भारत—८ मई १९५९।

काम न कर सकी। जब सन् १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल की स्थापना हुई तब सर्वप्रथम इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये योजना बनाने का प्रस्ताव हुआ कि ग्रामों के स्वशासन के हेतु पंचायतों की स्थापना की जावे। परन्तु इसके पूर्व कि यह योजना बने कांग्रेस सरकार ने पद त्याग कर दिया। जब कांग्रेस फिर पदारूढ़ हुई तब पंचायत स्थापना की योजना कार्यरूप में परिणित की गई। भारत के संविधान की ४०वीं धारा में यह कहा गया है कि राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिये अग्रसर होगा, तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो इन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिये आवश्यक हों। इसी को ध्यान में रखते हुये विभिन्न प्रादेशिक सरकारों ने इस दिशा में कार्य किया। इन पंचायतों का संगठन राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आता है। पश्चिमी बंगाल के अतिरिक्त सभी राज्यों में तथा अधिकतर केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों में पंचायत ऐक्ट बन चुके हैं। उत्तर-प्रदेश में २७ दिसम्बर सन् १९४७ में ही पंचायत ऐक्ट पास हो गया था। पश्चिमी बंगाल तथा दिल्ली राज्य की सरकार इस प्रकार का अधिनियम बनाने जा रही हैं। समस्त देश के ५८१८९८ गाँवों में से २९४४६० अब तक पंचायत कानून के अन्दर आ गये हैं। उत्तर प्रदेश के तो सभी गाँव (१२४३२३ गाँव) ३६१३९ गाँव पंचायतों के अन्तर्गत आ गये हैं।

गाँव सभा :—सन् १९४७ के अधिनियम द्वारा प्रत्येक गाँव में जिसकी जनसंख्या १००० या इससे अधिक थी एक गाँव सभा की स्थापना की गई थी और यदि किसी गाँव की आबादी उससे कम थी तो उसे किसी पास के गाँव के साथ मिला दिया गया था। परन्तु यदि तीन मील की दूरी तक कोई अन्य गाँव न था तो उस दशा में गाँव के लिये १००० से कम जनसंख्या होने पर भी एक गाँव सभा स्थापित की गई थी। परन्तु दिसम्बर १९५४ में एक संशोधन पास किया है तथा गाँव सभाओं के संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये हैं। इस संशोधन के अनुसार प्रत्येक नम्बरी गाँव में अर्थात जिसकी जनसंख्या २५० है, एक गाँव सभा होगी। जिन गाँवों की जनसंख्या २५० से कम है उन्हें निकटवर्ती गाँवों में मिला दिया जावेगा। उत्तर-प्रदेश में नम्बरी गाँवों की संख्या ५५००० से ६०,००० के बीच होगी।

प्रत्येक गाँव का निवासी—स्त्री तथा पुरुष—बिना किसी-भेद भाव के इस सभा का सदस्य हो सकता है, मगर वह २१ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। परन्तु निम्नलिखित व्यक्ति इसकी सदस्यता के अयोग्य हैं :

जो भारत के नागरिक [illegible] हो, जिनका मस्तिष्क विकृत हो तथा जो गाँव सभा क्षेत्र के साधारणतः निवासी न हो।

प्रत्येक गांव-सभा का एक प्रधान तथा उप प्रधान होता है। गांव सभा के पदाधिकारी तथा पचायत और न्याय पचायत के निम्नलिखित व्यक्ति सदस्य नहीं हो सकते हैं—कोढ़ी, सरकारी नौकर, भीषण अपराध के लिये दंडित अनन्यमूल्क दिवालिये नैतिक अपराध तथा निर्वाचन सम्बन्धी अपराध के लिये दण्डित। प्रधान का निर्वाचन के सभा के सदस्य अपने में से ही करेंगे। प्रधान की आयु कम से कम ३० वर्ष होनी चाहिये। इसका कार्यकाल ३ वर्ष होगा परन्तु यह १ वर्ष और बढ़ाया जा सकता है। गांव सभा का उप प्रधान गांव-पचायत के द्वारा अपने सदस्यों में से निर्वाचित होगा। उप प्रधान के पद की अवधि उसके चुनाव की तारीख से एक वर्ष होगी। प्रधान तथा उप प्रधान को अपने कार्यकाल से पूर्व पद से हटाया जा सकता है यदि विशेष रूप से बुलाई गई किसी बैठक में जिसकी कम से कम १५ दिन पूर्व से नोटिस दी गई हो, उसके विरुद्ध उपस्थित तथा मत देते हुए सदस्यों के दो तिहाई बहुमत द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जावे। प्रत्येक गांव सभा की एक कार्य-कारिणी होती है। इसको गांव पंचायत कहते हैं। इसके सदस्यों का चुनाव गांव सभा अपने सदस्यों में से करती है।

गांव सभा की बैठक के लिये कम से कम सदस्य संख्या का पांचवां भाग उपस्थित होना चाहिये। वर्ष में इसकी दो बैठकें होती हैं—एक तो रबी की फसल के बाद तथा दूसरी खरीफ की फसल के बाद। इनको क्रमशः रबी की बैठक तथा खरीफ की बैठक कहते हैं। इनके अतिरिक्त सभा की असाधारण बैठक भी बुलाई जा सकती है। यदि कुल सदस्य संख्या का पांचवां भाग ऐसी बैठक की मांग करे तो ३० दिन के अन्दर ऐसी बैठक सभापति द्वारा बुलाई जावेगी।

गांव सभा के निम्नलिखित मुख्य कर्तव्य हैं —

(१) ग्राम विकास की योजना बनाना उसको स्वीकार करना तथा इस काम की देख रेख करना।

(२) खरीफ की बैठक में आगामी वर्ष के आय-व्यय के अनुमानों तथा निर्माण कार्य के प्रस्तावों पर विचार करना तथा उसे स्वीकार करना। रबी की बैठक में गत वर्ष के आय व्यय के ऊपर विचार होता है।

(३) अपने प्रधान, उप प्रधान, गांव पचायत तथा न्याय-पचायत के सदस्यों का चुनाव तथा उन्हें पद से हटाना।

(४) गांव कोष की स्थापना करना तथा उसकी देख-रेख और वार्षिक लेखा-परिक्षण (आडिट) करना।

(५) पंचायत की आय के लिये अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कर, शुल्क आदि लगाना।

गाँव-पंचायत—यह गाँव सभा की कार्यकारिणी समिति है। इसका चुनाव गाँव सभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इसका काम गाँव-जीवन से सम्बन्धित दैनिक कार्यों को करना है। गाँव-सभा तो साल भर में केवल दो ही बार मिलती है। इसलिए गाँव-पंचायत को ही सब काम करने होते हैं। इसके सदस्यों की संख्या गाँव की जनसंख्या पर निर्भर है। इसलिए अलग-अलग गाँवों में यह अलग-अलग होगी। गाँव पंचायत में प्रधान तथा उप-प्रधान के अतिरिक्त कम से कम १५ तथा अधिक से अधिक ३० सदस्य हो सकते हैं। गाँव-सभा के सभापति ही इसके भी प्रधान तथा उप-प्रधान होते हैं। १००० जन-संख्या तक १५ सदस्य, २००० जन-संख्या तक २० सदस्य, ३००० जन-संख्या तक २५ सदस्य तथा ३००० जनसंख्या से ऊपर ३० सदस्य होंगे। गाँव सभा के प्रधान तथा उप-प्रधान ही गाँव पंचायत के पदेन प्रधान तथा उप-प्रधान होंगे। गाँव पंचायत के प्रधान व उसके सदस्यों के कार्य की अवधि साधारणतः ५ वर्ष होगी। परन्तु राज्य-सरकार विशेष परिस्थितियों में इसे ६ वर्ष कर सकती है। उप-प्रधान के कार्यकाल की अवधि केवल एक वर्ष ही है।

पंचायतों के लिए चुनाव संयुक्त-निर्वाचन प्रथा द्वारा होंगे। परन्तु परिगणित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। निर्वाचन के हेतु सारा गाँव निर्वाचन क्षेत्रों में बाँटा जायगा। जिलाधीश एक निर्वाचन-अफसर तथा कुछ उप निर्वाचन अफसरों को नियुक्त करता है। इनके अतिरिक्त पोलिंग-अफसर भी होते हैं। मतदान गुप्त नहीं है परन्तु हाथ उठाकर किया जाता है। इनको पोलिंग-अफसर गिन लेता है तथा निर्वाचन अफसर को इसकी सूचना देता है। बराबर मत मिलने पर इसका निर्णय लाटरी द्वारा किया जाता है।

गाँव-पंचायत की प्रत्येक महीने कम से कम एक बैठक होनी चाहिये। प्रत्येक पंचायत अपने सदस्यों की विविध कार्यों को करने के लिये छोटी-छोटी समितियाँ बना लेती है। इससे कार्य-सम्पादन में सुविधा रहती है। ये समितियाँ निम्नलिखित हैं:—

शिक्षा समिति, स्वास्थ्य समिति, सफाई समिति, ग्राम रक्षा समिति, विकास समिति तथा अर्थ समिति।

पंचायत के कार्य:—इन कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अनिवार्य तथा ऐच्छिक।

प्रत्येक गाँव पंचायत को अपने क्षेत्र में निम्नलिखित विषयों पर अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार प्रबन्ध करना होगा। ये गाँव-पंचायत के अनिवार्य कार्य हैं —

(१) ग्राम गलियों को बनवाना, मरम्मत करना, ठीक दशा में रखना तथा उनकी सफाई और रोशनी का प्रबन्ध करना,

(२) डाक्टरी सहायता;

(३) सफाई का प्रबन्ध तथा छूत की बीमारियों को फैलने से रोकने का प्रबन्ध,

(४) गाँव-सभा की इमारतों या अन्य सम्पत्ति की देखभाल करना;

(५) जन्म, मृत्यु तथा विवाह का रजिस्टर रखना;

(६) ग्राम गलियों, सार्वजनिक-स्थानों तथा सार्वजनिक सम्पत्ति पर से हस्तक्षेप (encroachments) को दूर करना;

(७) मनुष्य तथा पशुओं की लाशों को फेंकने के लिये स्थान निश्चित करना;

(८) अपने क्षेत्र के अन्दर मेला, हाट तथा बाजार का प्रबन्ध करना;

(९) बालक तथा बालिकाओं के लिये प्रारम्भिक स्कूलों का प्रबन्ध करना;

(१०) सार्वजनिक-चरागाहों तथा भूमि का अपने क्षेत्र के निवासियों के हितार्थ प्रबन्ध करना।

(११) सार्वजनिक कुओं, तालाबों आदि को पीने, कपड़ा धोने तथा नहाने के पानी के लिये बनाना, मरम्मत करना तथा उन्हें ठीक दशा में रखना,

(१२) नई इमारतों के बनाने के लिये तथा पुरानी इमारतों के मरम्मत के लिये नियम निर्माण करना;

(१३) खेती, व्यापार तथा उद्योगों की सहायता करना।

(१४) आग बुझाने का प्रबन्ध करना;

(१५) दीवानी तथा फौजदारी न्याय का प्रबन्ध और पंचायती अदालत के लिये पंचों को चुनना;

(१६) मनुष्यों तथा पशुओं की गणना का प्रबन्ध;

(१७) शिशु-केन्द्रों का प्रबन्ध;

(१८) खाद इकट्ठा करने लिये स्थान नियत करना;

(१९) कानून द्वारा सौंपा कोई अन्य कार्य करना;

(२०) कुमायूँ की पहाड़ी पट्टियों में वर्ग एक तथा केसर-ए-हिन्द जंगल तथा वेनाप भूमि, पानी के नालों और पनघटों का प्रबन्ध करना;

इन उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित कार्य भी गाँव पंचायत कर सकती है। ये इसके ऐच्छिक कार्य हैं।

(१) ग्राम रास्तों के दोनों ओर तथा सार्वजनिक स्थानों पर पेड़ लगाना और उनकी रक्षा करना;

(२) पशुओं की नस्ल सुधारने का तथा उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध;

(३) गढ़ों को भरवाने का प्रबन्ध;

(४) स्वयं सेवक दल की स्थापना जो कि गाँव की देखभाल करेगा तथा पंचायती अदालत को उसके कार्यों में सहायता देगा।

(५) खेतिहरों को सरकारी ऋण लेने में सहायता करना तथा उसको उतारने में उसको राय देना;

(६) अच्छे बीज तथा खेत के औजार रखने के लिये भंडार बनाना तथा सहकारिता की उन्नति;

(७) अकाल तथा अन्य विपत्तियों के विरुद्ध सहायता का प्रबन्ध करना;

(८) जिला बोर्ड से उन कार्यों को रोकने के लिये कहना जो कि गाँव सभा के अधिकार के बराबर हैं;

(९) आबादी क्षेत्र को बढ़ाना;

(१०) पुस्तकालय तथा वाचनालय को बनाना तथा उनका प्रबन्ध करना;

(११) अखाड़ा, क्लब आदि मनोरंजनार्थ स्थापित करना;

(१२) खाद तथा कूड़े के इकट्ठा करवाने तथा फेंकवाने का प्रबन्ध;

(१३) आबादी के २२० गज के अन्दर चमड़े की रगाई आदि बन्द करना या उसको नियंत्रित करना;

(१४) विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सद्भावना बढ़ाने के लिए संस्थाएँ स्थापित करना;

(१५) सार्वजनिक रेडियो तथा ग्रामोफोन का प्रबन्ध करना;

(१६) गाँव वालों के नैतिक या भौतिक उन्नति के अन्य कोई कार्य;

(१७) जिलाबोर्डों के अनुसार गाँव के हित में ऐसे काम करना जो जिला-बोर्ड के अधिकार क्षेत्र में हैं;

(१८) कोई ऐसे अन्य कार्य करना जिन पर खर्च करने की प्रादेशिक सरकार गाँव सभाओं को आज्ञा दे दे।

(१९) आवारा मवेशियों, आवारा कुत्ता जंगली पशुओं और बन्दरों को पकड़ने और उनका नियंत्रण का प्रबन्ध करना।

बिहार सरकार ने ग्राम स्तर पर प्रशासन की आधार भूत इकाई के रूप में ग्राम पंचायतों को मान्यता दे दी है और उसने जिलाधीशों को आदेश दिया है कि स्थानीय विकास के सारे कार्य पंचायतों के द्वारा कार्यान्वित होने चाहिये। इसके अतिरिक्त बिहार राज्य सरकार ने राजस्व वसूली का कार्य भी पंचायतों के हाथ में सौंपने का निश्चय किया है। ७२९ पंचायतों को कमीशन के आधार पर यह कार्य दिया भी जा चुका है।[1]

अधिकार—इन अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यों को करने के लिए गाँव पंचायतों को कुछ अधिकार दिये गये हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) गाँव पंचायत को अपने क्षेत्र के अन्दर समस्त सार्वजनिक जल तथा थल मार्गों पर अधिकार है अगर वे प्रादेशिक सरकार या जिलाबोर्ड के अधीन न हों। जल तथा थल मार्गों की रक्षा करना, मरम्मत करना या नये मार्ग बनवाना आदि पंचायत के अधिकार में है। यह किसी रास्ते को चौड़ा करवा सकती है, यह अगर उचित समझे तो बन्द भी करवा सकती है। रास्तों पर आई हुई झाड़ियों तथा पेड़ों की डालियों को कटवा सकती है। इसको यह भी अधिकार है कि किसी सोते के पानी को कपड़ा धोने नहाने आदि के लिये इस्तेमाल करने से रोक लगा दे ताकि पानी पीने के लिए गन्दा न होने पाये।

(२) गाँव पंचायत सफाई के लिये किसी भूमि या इमारत के स्वामी को यह आज्ञा दे कि वह अपनी भूमि या इमारत से गन्दगी को हटाये, मरम्मत करे, नालियाँ बनाये, गड्ढा को भरवाये, कुआँ को साफ करवाये या उसको भरवाये, घास झाड़ियों को कटवाये तथा कूड़ा करकट आदि को साफ करे। परन्तु ऐसी आज्ञा देते समय पंचायत उस मनुष्य की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखेगी तथा उसे काफी समय देगी। जिस मनुष्य को ऐसी नोटिस मिलेगी वह ३० दिन के अन्दर जिला मेडिकल अफसर से इसके विरुद्ध अपील कर सकता है जिसका निर्णय इस मामले में अंतिम होगा।

---

1 भारत—दिनांक २४ मार्च १९५८।

(३) बालक तथा बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा-हेतु स्कूल स्थापित करने तथा उसकी रक्षा करने का अधिकार है। गाँव वालों के स्वास्थ्य के लिये यूनानी या आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित कर सकती है।

(४) अगर गाँव-पंचायत अपने क्षेत्र में रहने वाले किसी आदमी से किसी सरकारी कर्मचारी, जैसे अमीन, सिपाही, पटवारी, टीका लगाने वाले, सिंचाई विभाग के पतरौल या अन्य किसी विभाग के चपरासी, के विरुद्ध कोई दुराचार की रिपोर्ट पावे तथा उसके विरुद्ध पंचायत के पास प्रमाण हो, तो वह उस कर्मचारी की शिकायत उचित अधिकारी के पास आवश्यक कार्यवाही के लिये कर सकती है।

(५) अपने क्षेत्र के अंदर, प्रादेशिक सरकार की आज्ञा होने पर, गाँव-पंचायत को अपने कर्त्तव्यों के पालन करने में सरकारी कर्मचारियों की सहायता का अधिकार है।

गाँव कोष :—प्रत्येक गाँव-सभा का एक कोष होता है। इसी में से पंचायत अपने कर्तव्यों का पूरा करने के लिये द्रव्य लेती है। इस कोष में नीचे लिखी रकमें जमा होती हैं।

(१) पंचायत राज ऐक्ट द्वारा लगाये गये करों से प्राप्त रकमें;
(२) प्रादेशिक सरकार द्वारा गाँव सभा को सौंपी गयी रकमें;
(३) इस ऐक्ट के लागू होने के पूर्व की पंचायतों की बची हुई रकम;
(४) किसी न्यायालय की आज्ञा से इस कोष में जमा की हुई रकम;
(५) कूड़ा, पशुओं की लाशों, गोबर आदि की बिक्री से प्राप्त रकम;
(६) नजूल की सम्पत्ति या भूमि की आमदनी का वह भाग जो प्रादेशिक सरकार पंचायत को दे दे;
(७) जिला बोर्ड या अन्य अधिकारियों द्वारा दी हुई रकमें;
(८) ऋण या दान से प्राप्त रकम;
(९) प्रादेशिक सरकार द्वारा मंजूर कोई अन्य रकम;

पंचायत राज्य अधिनियम के अनुसार गाँव सभा को अपने क्षेत्र में तीन प्रकार के कर लगाने के अधिकार दिये गये हैं : (१) मालगुजारी तथा लगान पर कर जो काश्तकार के लगान पर अधिक के अधिक एक आना प्रति रुपया है, (२) व्यापार और पेशे पर कर, जिसके अनुसार ५०० रुपये से अधिक की आमदनी वालों पर एक आना रुपया लिया जा सकता है; (३) मकान कर जो उपर्युक्त दोनों कर न देने वालों व्यक्तियों से ही लिया जा सकता है। इसके

अतिरिक्त गाँव सभा को अपने क्षेत्र में मजदूरों तथा कपड़ा, गल्ला और चीनी के व्यापारियों और सवारियों की गाड़ियाँ रखने वालों, आदि से भी साधारण अनुमति शुल्क (लाइसेंस फी) लेने का अधिकार है।

गाँव सभाओं की आय बढ़ाने के उद्देश्य से फीस में कुछ नई मदें बढ़ा दी गई। गाँव सभा के नियन्त्रण में चलाए जाने वाले बाजार हाट या मेले में माल बेचने वालों पर बिक्री फीस लगायी जा सकेगी यदि वे व्यापार या पेशा सबंधी कर न देते हों। जानवरों की बिक्री पर रजिस्ट्री फीस और कसाई खाना या मेले लगाने के स्थानों के प्रयोग की फीस भी ली जा सकती है। जिन गाँव सभाओं की ओर से पानी देने या व्यक्तिगत शौचालय या नालियों की सफाई करने का प्रबन्ध होगा वहाँ पर पानी तथा सफाई टैक्स भी लगाया जा सकेगा। गाँवों में चलते फिरते सिनेमा प्रदर्शन पर भी फीस लगेगी।

गाँव-पंचायतों की आमदनी के स्रोत बहुत साधारण हैं। उनके कर्तव्यों के अनुपात से उनकी आय बहुत कम है। इससे यह होगा कि पंचायतें अपने कर्तव्यों का उचित प्रकार पालन नहीं कर सकेगा। अगर वे कुछ लाभदायक काम कर सकती हैं तो यह आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रादेशिक सरकार को उनकी आमदनी बढ़ाने के साधन प्रस्तुत करने चाहिये। यह सत्य है कि नवीनतम संशोधन द्वारा इस दिशा में कुछ सुधार हुये हैं।

न्याय पंचायत —पन्चायत राज अधिनियम द्वारा न्याय पन्चायतों की भी स्थापना की गई है। इनका उद्देश्य यह है कि गाँव निवासी अपने छोटे-मोटे झगड़ों का निर्णय स्वयं ही कर लें। उनका व्यय तथा परेशानी बच जाय।

पन्चायत राज अधिनियम में हुए नवीनतम संशोधनों के द्वारा जैसा हम देख चुके हैं गाँव सभा क्षेत्रों में परिवर्तन कर दिया गया है। इसी कारण न्याय पन्चायतों के क्षेत्रों में परिवर्तन कर दिया गया। संशोधन पूर्व साधारणत तीन से पाँच गाँव सभाओं को मिलाकर एक न्याय पन्चायत की स्थापना की जाती थी। अब साधारणत ९ गाँव सभाओं पर एक पन्चायत होगी परन्तु विशेष परिस्थितियों में ५ से १२ गाँव सभाओं पर एक न्याय पन्चायत हो सकती है।

प्रादेशिक सरकार या निर्धारित अधिकारी प्रत्येक जिले को कई मण्डलों (Circle) में बाँटेगा तथा इनमें से प्रत्येक में एक न्याय पन्चायत होगी। न्याय पन्चायतों के लिये प्रत्येक गाँव सभा अपने यहाँ से गाँव पन्चायत के लिए निर्धारित सदस्यों के अतिरिक्त ५ या इससे कम जितने अधिनियम के अनुसार निश्चित किए जायें, व्यक्तियों को और निर्वाचित करेगी। इसके पश्चात निर्धारित

अधिकारी उन निर्वाचित व्यक्तियों में से उतने पढ़े-लिखे व्यक्तियों को जितने वह गांव सभा न्याय पञ्चायत के लिये भेजने को अधिकारी है, वह पञ्च मनोनीत कर देगा।

प्रत्येक न्याय पञ्चायत में पञ्चों की संख्या ऐसी रखी जायगी जो ५ से बँट जाय अर्थात् १५, २० या २५। एक से लेकर ६ गाँव सभाओं तक की न्याय पञ्चायत के पञ्चों की संख्या १५, ७ से लेकर ९ तक की संख्या २० तथा ९ से अधिक गाँव सभाओं वाली न्याय पञ्चायत के पंचों की संख्या २५ होगी। इस संख्या का गाँव सभाओं के मध्य विभाजन इस प्रकार होगा, यदि पाँच सभाओं की न्याय पचायत है तो उसमें १५ सदस्य होंगे अतएव प्रत्येक में ३-३ पंच चुने जायेंगे। यदि इन सभाओं की संख्या ६ है तो प्रत्येक सभा से २-२ पंच चुने जाएँगे और शेष जो ३ बचता है उसके लिये ऐसे गाँव सभाओं में से एक-एक पंच चुना जायगा जिनकी जनसंख्या अपेक्षाकृत अधिक है।

प्रत्येक न्याय पंचायत में एक सरपंच तथा एक सहायक सरपंच होगा। इनका चुनाव पंचगण अपने में से ही करेंगे। इन अधिकारियों के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें कार्यवाहियों को लिखने की योग्यता हो। प्रत्येक पंच के पद की अवधि उसके चुनाव की तारीख से ५ वर्ष है परन्तु राज्य सरकार इसे १ वर्ष बढ़ा सकती है। पंच को अधिकार है कि वह इस अवधि के पूर्व पद त्याग सकता है। वह विशेष दशा में अपने पद से राज्य सरकार या निर्धारित अधिकारी द्वारा हटाया भी जा सकता है।

सरपंच न्याय पचायत के सामने अपने आने वाले समस्त वादों और जाँच के निपटारे के लिए पाँच-पाँच पंचों की बेंच बनाएगा। इन बेंचों का निर्माण स्थाई होगा। कोई पंच, सरपंच या सहायक किसी ऐसे वाद (मामले) की सुनवाई में या जाँच में भाग नहीं लेगा जिसमें वह या उसका निकट सम्बन्धी, मालिक, नौकर, ऋणी, ऋणदाता या साक्षी एक पक्ष में हो या जिसमें उनमें से किसी का कोई व्यक्तिगत स्वार्थ हो।

न्याय-पंचायतों के अधिकार —पंचायत राज्य ऐक्ट (१९४७) के ग्राम पचायत ऐक्ट के नीचे पचायतों के अधिकार अत्यन्त साधारण थे। परन्तु इस नये ऐक्ट द्वारा इन अधिकारों में काफी वृद्धि की गई है। न्याय पचायतों के निम्नलिखित अधिकार हैं :

(१) इस ऐक्ट के अधीन पेश किया हुआ फौजदारी मुकदमा, जाब्ते फौजदारी (Criminal Procedure Code) के किसी बात के होते

हुए भी उस सर्किल के सरपंच के सामने पेश होगा जिसमें कि अपराध किया गया हो।

निम्नलिखित फौजदारी मामले पंचायती अदालत में पेश हो सकते हैं —

फौज में न होते हुए भी फौजी पोशाक पहनने का अपराध, लड़ाई झगड़ा करना, सम्मन की तामील करने से छिप जाना, सरकारी कर्मचारी के प्रश्नों का उत्तर न देना, रास्ते में तेज रफ्तार से गाड़ी चलाना पानी की टंकी या सोते को गन्दा करना आग, जानवर आदि के मामलों में असावधानी, गन्दी क्रियाएँ या गाने, भूमि तथा मकान में अनाधिकार प्रवेश करना, १० रुपये तक की चोरी इत्यादि।

पञ्चायती अदालतों को कैद की सजा देने का अधिकार नहीं है। ये केवल जुर्माना कर सकती हैं। इनको १००) तक जुर्माने का अधिकार है। पञ्चायती अदालत अगर यह समझे कि किसी व्यक्ति से शान्ति भंग होने का भय है तो वह उससे १००) मुचलका १५ दिन तक के लिए ले सकती है। परन्तु न्याय पंचायतें पुराने अपराधियों के मुकदमों की सुनवाई नहीं कर सकती हैं।

(२) *न्याय पंचायत निम्नलिखित प्रकार के किसी दीवानी मुकदमे की सुनवाई कर सकती है यदि उसका मूल्य एक सौ रुपया से अधिक न हो;*

(क) *कोई दीवानी मुकदमा जो अचल सम्पत्ति के सम्बन्ध में किसी संविदा के अतिरिक्त किसी अन्य संविदा पर दय धन के लिये हो;*

(ख) किसी चल सम्पत्ति या उसकी कीमत वापसी के लिए कोई दीवानी मुकदमा,

(ग) किसी चल सम्पत्ति को दोषपूर्ण ढंग से लेने या क्षतिग्रस्त करने के लिए कोई दीवानी मुकदमा;

(घ) अनाधिकार पशु प्रवेश के द्वारा उत्पन्न क्षतियों के लिये कोई दीवानी मुकदमा;

राज्य सरकार यदि चाहे तो न्याय पंचायत को ५०० रुपये मूल्य तक के दीवानी मुकदमों की सुनवाई का अधिकार दे सकती है।

(३) माल के मुकदमों में न्याय पंचायतों को निर्णय देने का अधिकार नवीनतम संशोधन द्वारा नहीं रह गया है। उन माल के मुकदमों में जो इस अधिनियम द्वारा इनके क्षेत्र के अन्तर्गत है, यदि उनमें कोई विरोध नहीं है

(uncontested) है, तो न्याय पचायतों को परीक्षण (enquiry) का अधिकार है। परन्तु उन मुकदमों में जिसमें विरोध (contested) है यह अधिकार भी नहीं है।

इन अदालतों के निर्णय की अपील नहीं होती है। उनमें निर्णय बहुमत से होता है। इनके फैसलों को, कुछ विशेष दशाओं में मुन्सिफ या सब-डिवीजनल अफसर, निगरानी कर सकते हैं।

सरकारी नियन्त्रण :—अन्य स्थानीय संस्थाओं की तरह गांव पंचायतें भी सरकारी नियन्त्रण में हैं। पचायत ऐक्ट में यह बतलाया गया है कि प्रादेशिक सरकार का क्या नियन्त्रण है। इस नियन्त्रण का उद्देश्य यह है कि पंचायत अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करें।

प्रादेशिक सरकार गांव सभा को अचल सम्पत्ति, भूमि, आदि का निरीक्षण कर सकती है। गांव-पंचायत के किसी कागज को मांग सकती है। गांव सभा, गांव-पंचायत या पंचायती-अदालत से सम्बन्धी किसी भी मामले की जाँच पड़-ताल भी करवा सकती है। प्रादेशिक सरकार को यह भी अधिकार है कि वह किसी गाव पंचायत या पचायती अदालत को अधिकारों के दुरुपयोग करने पर भंग कर सकती है। इसी प्रकार इनके किसी सदस्य को भी प्रादेशिक सरकार सदस्यता से हटा सकती है। सरकार द्वारा नियुक्त उचित अधिकारियों को यह शक्ति भी है कि गांव पंचायत या पंचायती अदालत द्वारा पास किसी प्रस्ताव या आज्ञा को अगर उससे जनता की हानि होती है तो रुकवा दें।

सरकार ने इन संस्थाओं के निरीक्षण के लिए पंचायती इंसपेक्टर, पंचायत अफसर तथा एक डायरेक्टर की नियुक्ति की है।

भारतीय स्थानीय संस्थाओं पर एक दृष्टि —भारत में स्थानीय संस्थाओं का कार्य अभी तक सराहनीय नहीं रहा है। सार्वजनिक सेवा की ओर कम ध्यान तथा अपने स्वार्थों की ओर अधिक ध्यान, साधारणतः इनका काम रहा है। अंग्रेजी काल में ये स्थानीय संस्थाएं बहुत ही सीमित क्षेत्र के अन्दर काम कर सकती थीं। परन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी इन्होंने कोई विशेष काम नहीं किया। इन संस्थाओं में आये दिन भ्रष्टाचार, घूस खोरी आदि के उदाहरण मिल सकते हैं। दलबन्दी, चारित्रिक-हीनता, स्वार्थपरता आदि के कारण ये संस्थाएं महत्वपूर्ण काम नहीं कर सकी हैं। परन्तु हमारा यह कर्तव्य है कि इन दोनों को दूर किया जावे, जिससे कि ये संस्थाएं हमारे राष्ट्रीय जीवन में अपना पूरा भाग ले सकें। इसके लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

सबसे पहिले आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का देश में अधिक प्रचार हो। जनता अगर शिक्षित होगी तो शीघ्र बहकावे में नहीं आवेगी। उसमें अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना जागृत होगी तथा वह सार्वजनिक कामों में उदासीन नहीं रहेगी अपितु उसमें भाग लेगी। इसका फल यह होगा कि देश में जागरूक जनमत बनेगा। इसके फलस्वरूप इन संस्थाओं में वे व्यक्ति होंगे जो सार्वजनिक सेवा की ओर अधिक ध्यान देंगे तथा स्वार्थ-साधन की ओर कम।

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने स्वार्थों को सब से ऊपर नहीं रखें। अगर हम केवल अपने स्वार्थों का ही ध्यान रखेंगे तो समाज तथा देश की भलाई नहीं कर सकते हैं। सामाजिक जीवन के बहुत से दोष इस कारण उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने को समाज का केन्द्र समझता है। इस प्रकार की भावना सहयोग के स्थान में संघर्ष को जन्म देती है, तथा त्याग के स्थान में स्वार्थ को।

तीसरी आवश्यकता इस बात की है कि जो लोग स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचन के लिए उम्मीदवार होते हैं वे सच्चरित्र हों तथा उनमें नैतिक भावना का अभाव न हो। क्योंकि नैतिक भावना का अगर अभाव होगा तो त्याग की प्रवृत्ति जाती रहेगी।

चौथी आवश्यकता यह है कि सरकार को स्थानीय-संस्थाओं के क्षेत्र में, अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। अगर स्थानीय-संस्थाओं की यह भावना हो जावे कि उनकी स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र की है तो वे उत्तरदायित्वहीन हो जावेंगे।

अन्तिम आवश्यकता यह है कि इन संस्थाओं के आय के साधनों में वृद्धि होनी चाहिए। क्योंकि बहुत सी बातें तो ये संस्थाएँ इसी कारण नहीं कर पाती हैं क्योंकि इनके पास आवश्यक साधन नहीं हैं।

प्रश्न

(१) म्युनिसिपैलिटीज के क्या अधिकार तथा कर्त्तव्य हैं? उनकी क्या समस्याएँ हैं?

(२) उत्तर प्रदेश में ग्राम पंचायतों के संगठन तथा अधिकारों पर एक निबन्ध लिखिये। (यू० पी० १९५१)

(३) पंचायत राज पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (यू० पी० १९२४)

(४) उत्तर प्रदेश में जिला बोर्डों के क्या कर्त्तव्य हैं?

(यू० पी० १९५५)

(५) स्थानीय स्वशासन से आप क्या समझते हैं ? अपने प्रान्त में नगर-पालिकाओं के अधिकार तथा कर्त्तव्यों का वर्णन कीजिये।

(यू० पी० १९४९).

(६) स्थानीय स्वायत्त शासन का क्या महत्व है? उदाहरण सहित बताइये। (यू० पी० १९५६)

(७) उत्तर प्रदेश में ग्राम-स्वराज्य की क्या व्यवस्था की गई है? ग्राम पंचायत के संगठन और अधिकारों का उल्लेख कीजिये।

(यू० पी० १९५७)

अध्याय १५

सरकारी नौकरियाँ

हमारे दैनिक जीवन में सरकार से तात्पर्य विभिन्न कार्यों के लिये नियुक्त सरकारी कर्मचारियों से है। प्राचीन काल तथा मध्यकालीन राज्यों में इन कर्मचारियों की संख्या उतनी अधिक नहीं थी जितनी कि हम आजकल देखते है। इसका कारण यह था कि उस समय सामाजिक व्यवस्था तथा जीवन दोनों इतने अधिक जटिल नहीं हुए थे जितने कि आज हैं विशेषतः औद्योगिक क्रांति के पश्चात राज्य के नये कर्त्तव्यों की सृष्टि हुई तथा इनको उचित प्रकार से करने के लिए अधिकाधिक कर्मचारी नियुक्त किये गये।

इन कर्मचारियों का दैनिक शासन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि इन्हीं के द्वारा सरकार की नीति कार्यान्वित होती है। जनता का इन्हीं के द्वारा सरकार से सम्पर्क होता है, अतएव यह स्वाभाविक है कि साधारण जनता को दैनिक जीवन में सरकारी कर्मचारी तथा सरकार में कोई भेद भी न दीखे। इन सरकारी कर्मचारियों की योग्यता, कार्यकुशलता, सदाचार तथा तत्परता पर बहुत अधिक मात्रा तक सरकारी नीति की सफलता निर्भर रहती है। इसलिये प्रत्येक आधुनिक राज्य इस बात की चेष्टा करता है कि योग्य तथा चरित्रवान व्यक्ति ही सरकारी नौकरियों में छाँटे जायें।

सरकारी कर्मचारियों की विभिन्न श्रेणियाँ हैं। छोटे-छोटे चपरासियों से लेकर बड़े बड़े विभागों के सेक्रेटरी आदि सब सरकारी कर्मचारी हैं। इनके कार्य तथा वेतन में इनके पद के अनुसार विभेद स्वाभाविक है। सरकारी नौकरियों से तात्पर्य उन कर्मचारियों से है जिनकी नौकरी की दशाएँ निश्चित है तथा जिनकी नौकरी पर मन्त्रिमंडल के बनने बिगड़ने का प्रभाव नहीं होता है। चाहे कोई भी दल चुनाव में जीते सरकारी कर्मचारी अपने पद में बने रहते हैं। इनका काम मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति का अनुसरण मात्र है।

भारतीय नौकरियों का अँग्रेज़ी काल मे विकास—जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सन १६०१ में भारत से व्यापार आरम्भ किया, तब कई व्यापारी इस उद्देश्य से भारत आये। इनका काम भारत में जहाँ सम्भव हो, वहाँ व्यापारिक-केन्द्र (trading posts) स्थापित करना था। इनको 'factors'

कहते थे, इसीलिए व्यापारिक-केन्द्र factories कहलाने लगे। Factor शब्द का अर्थ व्यापारिक एजेन्ट (commercial agent) है।

कम्पनी भारत में केवल व्यापार के उद्देश्य से आई थी और कई वर्षों तक इसने सर टॉमस रो की राय के अनुसार अपनी नीति निर्धारित की। सर टॉमस रो ने १६१६ सन् में कम्पनी को लिखा था कि इसका उद्देश्य भारत में व्यापार होना चाहिये न कि विजय।[1] इस समय कम्पनी के कर्मचारी व्यापारी हुआ करते थे। परन्तु कालान्तर में कम्पनी व्यापार के अतिरिक्त शासन भी करने लगी। इसको दीवानी अधिकार मिल गये। कम्पनी के स्वभाव में इस परिवर्तन के कारण शनैः शनैः कम्पनी के कर्मचारी व्यापारी से बदल कर शासन कर्ता (administrators) हो गये। इस प्रकार भारत में अंग्रेजों के अधीन सरकारी नौकरियों का जन्म हुआ।[2]

भारत में आधुनिक-अर्थ में असैनिक-सेवाओं (Civil Service) का जन्म वारेन हेस्टिंग्ज तथा लार्ड कार्नवालिस के सुधारों द्वारा हुआ। वारेन हेस्टिंग्ज ने लगान वसूली प्रथा में कुछ सुधार किये। इसी प्रकार न्याय प्रथा में भी उसने सुधार किये। जब कार्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल हुआ उसने भी सुधार किये। उसके अनुसार भारतीयों को उच्च नौकरियों में नहीं रखना चाहिये था क्योंकि "Every native of Hindostan, I really believe is corrupt." कार्नवालिस की नीति के अनुसार भारतीय उच्च नौकरियों के अयोग्य ठहराये गये। यद्यपि यह नीति उचित नहीं थी, और कई अंग्रेजों ने, जैसे मैल्कम, एलफिन्स्टन आदि ने भी इसको ठीक नहीं बतलाया तथापि यह सन् १८३३ तक चालू रही। उस वर्ष नया चार्टर ऐक्ट द्वारा भारतीयों को भी बड़ी नौकरियों के योग्य मान लिया गया। परन्तु भारतीय कभी भी ५०० प्रति मास से अधिक ऊँचे पद पर नहीं पहुँच पाए। सन् १८५४ से बड़ी नौकरियों में नियुक्ति योग्यता परीक्षा के द्वारा होने लगी। इसका उद्देश्य यह था कि योग्य व्यक्ति ही इन नौकरियों में चुने जाँय। यह परीक्षा इंगलैंड में होती थी। सन् १८५८ में महरानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में कहा कि नौकरियों में रंग, जाति या धर्म के कारण कोई भेद-भाव नहीं किया जावेगा। परन्तु इससे भी भारतीयों को अधिक लाभ नहीं हुआ। क्योंकि बहुत ही कम भारतीय नवयुवक विलायत जाने का

1. "Let this be received as a rule, that if you will profit, seek it at sea and in quiet trade, for without controversy, it is an error to affect garrisons and land wars in India."

2. *Blunt, The I. C. S*, p. 1.

व्यय उठा सकते थे। फिर धर्म की भी रुकावट थी। बहुत थोड़े से भारतीय इस मार्ग से उच्च नौकरियों में आये।

सन् १८७० में गवर्नमेंट आव इण्डिया एक्ट द्वारा यह तय हुआ कि कुछ भारतीय इन नौकरियों में बिना परीक्षा में उत्तीर्ण हुए ही गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त कर दिये जायें। यह उपबन्ध ९ वर्ष बाद सन् १८७९ से कार्यान्वित हुआ और इस प्रकार स्टैचुटरी सिविल सर्विस का आरम्भ हुआ। गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिला कि वह जितने व्यक्ति इंगलैंड में सेक्रेटरी आव स्टेट फार इंडिया द्वारा चुने जाते थे उनका छठवाँ हिस्सा बिना परीक्षा के भारत में नियुक्त करे। परन्तु इस प्रकार जो नियुक्त हुए वे अयोग्य सिद्ध। अंग्रेजों के अनुसार यह इस बात का प्रमाण था कि भारतीय उच्च नौकरियों के अयोग्य हैं, परन्तु यथार्थ में कारण था कि जो व्यक्ति इस प्रकार प्रकार नियुक्त हुए थे वे योग्यता के कारण नहीं परन्तु वंशसम्बन्ध आदि के कारण नियुक्त किए गए थे।

इन नियमों के विरुद्ध बहुत असन्तोष था। इस कारण कमीशन सन १८८६ में नियुक्त किया गया। इसके प्रधान सर चार्लस एचीसन (Sir [illegible]) में इस बात [illegible] न सिविल [illegible] लिए सुरक्षित किया जाय जो कि प्रान्तीय सिविल सर्विस से इसमें भेजे जायेंगे। सन १८९२ में इस रिपोर्ट की सिफारिशों के आधार पर नौकरियों में भर्ती के नियम बनाये गए। इनके अनुसार १०८ पद ऐसे रखे गये थे कि भारतीय नियुक्त होते, परन्तु ये घटा कर ९३ कर दिये गये और बाद को केवल ६१ कर दिये गये। एचीसन कमीशन ने नौकरियों को तीन वर्गों में बाँट दिया—इण्डियन सिविल सर्विस, प्राविन्शियल सिविल सर्विस तथा सबॉर्डिनेट सर्विस। इनमें से प्रान्तीय तथा सबॉर्डिनेट सर्विस में भारतीय नियुक्त होते थे।

इण्डियन सिविल सर्विस की प्रवेश परीक्षा इंगलैंड में होती थी। सन १८९३ में हाउस ऑव कामस में यह प्रस्ताव पास हुआ कि यह परीक्षा भारत में भी हो। परन्तु भारत सेक्रेटरी के विरोध के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। सन १९१२ में एक कमीशन नियुक्त किया गया। लार्ड इसलिंगटन जो कि न्यूज़ीलैंड के गवर्नर थे, इसके सभापति थे। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में अधिक भारतीयों को उच्च नौकरियों में स्थान देने का सुझाव रखा। यह रिपोर्ट सन् १९१७ में छपी। भारतीयों ने इसको असन्तोषजनक बतलाया।

अगस्त १९१७ में ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि भारतीयों का शासन में अधिक से अधिक सम्पर्क, इसकी नीति है। दूसरे वर्ष माण्टेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने अपनी संयुक्त रिपोर्ट में यह कहा गया कि इंडियन सिविल सर्विस में भारतीयों का अनुपात ३३% होना चाहिये तथा १½% प्रति वर्ष बढ़ाना चाहिये। इसके अनुसार सन १९२० में यह अनुपात निश्चय किया गया। सन १९२५ से भारत में भी इस नौकरी में प्रवेश के लिए परीक्षा होने लगी तथा यहाँ से छाटे हुए उम्मीदवार को दो वर्ष विलायत में ट्रेनिंग के लिए जाना होता था। ताकि सब प्रान्तों तथा सम्प्रदायों का इन नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व हो, इसलिए भारतीयों के लिए सुरक्षित स्थानों में से एक तिहाई के लिये मनोनीत करने का उपबन्ध किया गया।

उच्च नौकरियों के भारतीयकरण के प्रश्न तथा अन्य कठिनाइयों—जैसे भारतीय सिविल सर्विस के लिए अंग्रेज उम्मीदवारों की उदासीनता, मंत्रियों तथा इन उच्च कर्मचारियों में विरोध, आदि पर जाँच करने के लिए कमीशन—Royal Commission on the Superior Civil Services in India—सन १९२३ में नियुक्त हुआ। इसके सभापति लार्ड ली (Lee) थे, अतएव यह ली कमीशन कहलाता है। इसने निम्नलिखित मुख्य सिफारिश की :—

(१) इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन पुलिस सर्विस, इण्डियन फारेस्ट सर्विस, तथा इंडियन इंजीनियरिंग सर्विस (नहर विभाग) के लिये भारत सेक्रेटरी ही नियुक्ति करें। परन्तु अन्य अखिल-भारतीय नौकरियों जैसे, इंडियन ऐड्यूकेशनल सर्विस, इंडियन इंजीनियरिंग सर्विस, इंडियन मेडिकल सर्विस (असैनिक) आदि प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिये जायें। यह इसलिये *किया गया क्योंकि ये विभाग हस्तान्तरित कर दिये गये थे।*

(२) ली कमीशन के अनुसार भारतीयकरण की गति बढ़ा देनी चाहिये थी। इसने कहा, "In the days of the Islington Commission the question was 'how many Indians should be admitted into the Public services? It has now become what is the minimum number of Englishmen which must be recruited ?"[1] ली-कमीशन ने सिफारिश की कि इंडियन सिविल सर्विस में सन् १९३९ तक तथा इंडियन पुलिस में सन् १९४९ तक ५० प्रतिशत भारतीय हो जायें। इंडियन फारेस्ट सर्विस तथा इण्डियन

1. Quoted in O' Malley, Indian Civil Service, p. 224.

इंजीनीयरिंग सर्विस में भी भारतीय अधिक लिये जायें। इन सिफारिशों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया गया।

(३) अँग्रेज कर्मचारियों के विषय में यह सिफारिश थी कि उनके भत्ते में दिये जायें। उन्हें overseas भत्ता मिले। कार्यकाल में ४ बार इंगलैंड जाने का खर्च मिले। अगर किसी अँग्रेज कर्मचारी का नौकरी करते हुये देहान्त हो जावे तो उसके परिवार को इंगलैंड जाने के लिये भारत-सरकार खर्च दे। इन कर्मचारियों की पेन्शन बढ़ा दी जावे।

(४) एक पब्लिक सर्विस कमीशन की नियुक्ति की जावे। इसमें ५ सदस्य हों। सन् १९२५ में इसकी स्थापना की गई। इसका काम नौकरियों में भर्ती करना तथा उनके बारे में कुछ अन्य बातों पर निश्चय करना था।

देश में राजनैतिक चेतना बढ़ती गई। स्वराज्य की माँग दिन पर दिन जोर पकड़ती गई। अंग्रेजी सरकार ने साइमन कमीशन की नियुक्ति की। इसका मुख्य काम भारत में संघ शासन स्थापित करने के विषयों में रिपोर्ट देना था। इसने नौकरियों के भारतीयकरण पर भी विचार प्रकट किये। १९३५ ऐक्ट के द्वारा नौकरियों को असैनिक तथा रक्षा सम्बन्धी इन दो भागों में बाँटा गया।

असैनिक नौकरियों (civil service) के तीन वर्ग किए गए।

(१) अखिल भारतीय सर्विस,
(२) केन्द्रीय सर्विस,
(३) प्रान्तीय सर्विस तथा सबोर्डिनेट सर्विस।

अखिल भारतीय सर्विस के सदस्य भारत-सेक्रेटरी के द्वारा नियुक्त होते थे। इसमें सब से मुख्य इंडियन सिविल सर्विस तथा इंडियन पुलिस सर्विस थे। इनको security services कहा जाता था। इनमें अँग्रेजों की संख्या अधिक थी। ये ही दो नौकरियाँ अँग्रेजी काल में सबसे मुख्य थी। इन्हीं के ऊपर भारत में अँग्रेजी सरकार की नींव थी। इन दोनों में भी इंडियन सिविल सर्विस अधिक मुख्य थी। सब बड़े-बड़े पदों पर उसी सर्विस के लोग थे, जैसे जिलाधीश, कमिश्नर, जिला जज, प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के कौंसिलर। इस सर्विस के उच्च अधिकारी ही बंगाल, बम्बई तथा मद्रास के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के गवर्नर होते थे। इनको बहुत अधिक वेतन तथा कई अन्य सुविधाएँ प्राप्त थीं? इस सर्विस का इतना अधिक आकर्षण था कि अगर कोई भारतीय इसमें छाँटा जाता था तो अपने को कृतकृत्य समझता था। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसमें योग्य व्यक्ति थे। परन्तु उनका दृष्टिकोण अभारतीय था।

केन्द्रीय सर्विस में भर्ती भारत सरकार संघ पब्लिक सर्विस के द्वारा करती थी। केन्द्रीय सेक्रेटेरिएट, रेलवे, भारतीय तार तथा डाक, कस्टम्स सर्विस इस वर्ग में थे। इनका वेतन भी अच्छा था। इनमें भी काफी अँग्रेज थे।

प्रान्तीय-सर्विस में अधिकतर भारतीय थे। यह प्रान्तीय-सरकार के अधीन थी। इसका सम्बन्ध उन मामलों में था जो कि प्रान्तीय सरकारों के हाथ में था।

सबोर्डिनेट सर्विस सबसे निम्न श्रेणी की थी। इसमें वेतन कम था। इसमें सब भारतीय थे।

स्वाधीनता के पश्चात् नौकरियों की अवस्था :—स्वाधीनता प्राप्त के बाद सरकारी नौकरियों में कुछ परिवर्तन हुए हैं। सर्वप्रथम तो यह कि इंडियन सिविल सर्विस के स्थान में इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस की स्थापना की गई। सब नौकरियों के सम्बन्ध में वे सब नियम लागू हैं जो नए संविधान के विरुद्ध नहीं हैं। वे सब सरकारी कर्मचारी जो कि अँग्रेजी काल में अखिल-भारतीय सर्विस में थे तथा स्वाधीनता के पश्चात् भी भारत सरकार की नौकरी में हैं, वेतन, भत्ते तथा पेन्शन आदि के सम्बन्ध में पुराने नियमों के अधीन रहेंगे। (धारा ३१४)। एक विशेष बात यह दृष्टिगोचर होती है कि भारत में सब नौकरियों से अँग्रेज चले गये हैं, यद्यपि भारत सरकार उनको उनके कार्यकाल समाप्ति तक रखने को प्रस्तुत थी।

नए संविधान के लागू होने पर भी सरकारी नौकरियाँ तीन वर्गों में विभाजित हैं—अखिल भारतीय, संघीय तथा राज्यों की नौकरियाँ। (१) अखिल भारतीय सर्विस में एडमिनिस्ट्रेटिव तथा पुलिस हैं। इनका संविधान में वर्णन है। इनके अतिरिक्त इंडियन फौरेन सर्विस भी है। इसके कर्मचारी विदेशों में भारतीय दूतावासों में विभिन्न पदों पर नियुक्त होते हैं। इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव तथा इंडियन पुलिस सर्विस के सदस्य राज्यों में विभिन्न पदों पर काम करते हैं, जैसे जिलाधीश, पुलिस, सुपरिन्टेन्डेन्ट आदि। इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव के सदस्य ही राज्यों में तथा संघ में सेक्रेटरी, आदि होंगे। संसद् अन्य भारतीय सर्विस की स्थापना कर सकती है अगर राज्य परिषद् दो-तिहाई बहुमत से इस बात की सिफारिश करे। (२) संघीय सर्विस में रेलवे, कस्टम्स, ऑडिट, भारतीय डाक तथा तार, उच्चतम न्यायालय तथा भारतीय लोकसेवा आयोग के कर्मचारी आते हैं। कस्टम्स इन्कमटैक्स तथा सेन्ट्रल एक्साइज सर्विस सब रेवेन्यू सर्विस कहलाती हैं। (३) राज्यों की नौकरियों में राज्यों के अधीन विषयों के सम्बन्धी विभाग हैं। जैसे, पुलिस, शिक्षा, जंगलात, नहर, आबकारी आदि।

भारतीय सर्विस तथा सहायक सर्विस के कर्मचारियों की नियुक्ति भारतीय लोक सेवा आयोग परीक्षा द्वारा करता है। राज्यों की सर्विस में नियुक्ति राज्यों के लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है। भारतीय नौकरी के सम्बन्ध में संसद तथा राज्यों की नौकरियों के सम्बन्ध में राज्यों के विधान मण्डल को नियम बनाने का अधिकार है परन्तु जब तक संसद या विधान मण्डल नियमों का निर्माण नहीं करते तब तक राष्ट्रपति या राज्यपाल को नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। सरकारी कर्मचारी राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदों पर रहेंगे अर्थात् उनका कार्यकाल निश्चित है और उनके पूर्व के दुराचार अथवा असमर्थता के कारण ही हटाए जा सकते हैं। संविधान की ३११ वीं धारा में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति जो कि भारतीय सेवा या राज्य की सेवा का सदस्य है अपनी नियुक्ति करने वाले अधिकारी (authority) से निचले किसी अधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जावेगा और न पद से हटाया जावेगा। उसके विरुद्ध कोई भी निर्णय तब तक नहीं किया जब तक कि उसके विरुद्ध की जाने वाली कार्यवाही के खिलाफ उसे कारण दिखाने का पूरा अवसर न दे दिया गया हो। परन्तु कुछ दशाओं में यह अवसर नहीं दिया जायगा —जब कि वह ऐसे आचार के कारण पदच्युत हुआ हो या निकाला गया हो जिसके लिए दण्ड-दोषारोप पर वह दोष सिद्ध हुआ हो। जबकि उसे दण्डित करने वाले अधिकारी को यह समाधान है कि यह ठीक नहीं कि उसे कारण दिखाने का अवसर दिया जावे जब राष्ट्रपति या राज्यपाल का समाधान है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह अवसर नहीं देना चाहिए।

सबोर्डिनेट सर्विस में कुछ पदों पर नियुक्ति लोक सेवा आयोग के सिफारिश पर होती है। कुछ पदों पर विभिन्न विभागों के प्रधान कर्मचारी नियुक्त करने का अधिकार है।

लोक सेवा आयोग

सरकारी कर्मचारी (Services) अपना कार्य ठीक प्रकार से कर सकें तथा योग्य व्यक्ति ही छाँटे जायँ इस कारण इनकी नियुक्ति के लिए विशेष व्यवस्था की जाती है। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उनकी नौकरी की शर्तें कार्यकाल उन्नति के नियम आदि निश्चित हों। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उनकी नियुक्ति का अधिकार किसी निष्पक्ष अधिकारी को हो। इन्हीं सब कारणों से संघ के लिए तथा प्रत्येक राज्य के लिए संविधान द्वारा एक एक लोक सेवा आयोग की स्थापना की गई है। परन्तु यदि दो या अधिक

राज्य चाहे कि उनका एक ही संयुक्त लोक सेवा आयोग हो तथा यह प्रस्ताव उन दोनों राज्यों के विधान-मण्डलों द्वारा मान लिया जावे, तो संसद् संयुक्त लोक सेवा आयोग की नियुक्ति की आज्ञा दे सकती है। राष्ट्रपति की आज्ञा से संघ लोक सेवा-आयोग किसी राज्य की प्रार्थना पर उस राज्य की सब या किन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कार्य करना स्वीकार कर सकता है।

लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति यदि वह संघ-आयोग या संयुक्त आयोग है तो, राष्ट्रपति द्वारा तथा यदि वह राज्य-आयोग है तो, राज्य के राज्यपाल द्वारा की जावेगी। इन सदस्यों में से आधे सदस्य ऐसे व्यक्ति नियुक्त किये जावेंगे जो कि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कम से कम दस वर्ष तक पद धारण कर चुके हैं।

लोक सेवा आयोग का सदस्य पद ग्रहण की तारीख से ६ वर्ष की अवधि तक, अथवा यदि वह संघ-आयोग का है तो ६५ वर्ष आयु की प्राप्ति होने तक, तथा यदि वह राज्य आयोग या संयुक्त-आयोग का है तो, साठ वर्ष की आयु की प्राप्ति होने तक, जो भी इनमें से पहले हो, अपना पद धारण करेगा। परन्तु सदस्य अपने पद से इस्तीफा दे सकता है। सेवा आयोग का कोई सदस्य अपने पद राष्ट्रपति द्वारा केवल कदाचार के कारण हटाया जा सकता है। ऐसे अवसर पर उच्चतम न्यायालय उस सदस्य के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की जाँच करेगा तथा उन्हें ठीक बताने पर ही वह सदस्य पद से राष्ट्रपति द्वारा हटाया जायेगा। जब तक जाँच की रिपोर्ट न आ जाये वह सदस्य अपने पद से निलम्बित किया जा सकता है। नीचे लिखी बातों से भी कोई सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता है। अगर वह दिवालिया हो जावे, अपनी पदावधि में अपने पद के कर्तव्यों के बाहर कोई वैतनिक नौकरी करता है; राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपने पद पर रहने के अयोग्य है।

संघ आयोग तथा संयुक्त-आयोग के बारे में राष्ट्रपति तथा राज्य-आयोग के बारे में उस राज्य का राज्यपाल आयोग के सदस्यों की तथा अन्य कर्मचारियों की संख्या तथा इनकी सेवाओं की शर्तों का निश्चय करेगा। परन्तु लोक सेवा आयोग के सदस्य की सेवा की शर्तों में उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई ऐसा परिवर्तन न किया जावेगा जो उसके लिए अलाभकारी हो। आयोग के सदस्यों का वेतन तथा अन्य व्यय भारत तथा राज्यों के संचित निधि से दिये जाते हैं। लोक-सेवा आयोगों को कार्यकारिणी के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रखा गया है ताकि वे अपना कार्य ठीक प्रकार सम्पादित कर सकें।

कोई व्यक्ति जो लोक सेवा आयोग के सदस्य के रूप में पद धारण करता है, अपनी पदावधि की समाप्ति कर पुन उसी पद पर नियुक्ति नहीं हो सकता है। सघ-आयोग का सभापति भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नौकरी के लिए अपात्र है। राज्य-आयोग का सभापति सघ-आयोग का सभापति या सदस्य अथवा किसी अन्य राज्य-आयोग का सभापति हो सकता है। परन्तु वह अन्य सरकारी नौकरी नहीं कर सकता है। सघ आयोग का सदस्य इसका अथवा किसी राज्य-आयोग का सभापति हो सकता है, परन्तु अन्य सरकारी नौकरी के अयोग्य है। राज्य आयोग का कोई सदस्य सघ-आयोग का सभापति या सदस्य तथा किसी अन्य राज्य-आयोग का सभापति हो सकता है परन्तु अन्य कोई सरकारी नौकरी के योग्य नहीं है। इन प्रतिबंधों का उद्देश्य यह है कि ये सदस्य अपना काम निष्पक्ष तथा निर्भयतापूर्वक करें।

सेवा आयोग के कृत्य —*सघ तथा राज्य के लोक सेवा-आयोगों का कर्तव्य* क्रमश सघ तथा राज्य की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का सचालन करना है। सघ लोक सेवा आयोग का यह कर्तव्य है कि अगर कोई दो या अधिक राज्य, ऐसी किन्ही सेवाओं के लिए, जिनके लिए विशेष योग्यता वाले उम्मीदवार चाहिये, मिली-जुली भर्ती की योजनाओं के बनाने तथा प्रवर्तन करने में सहायता माँगे तो *उनकी सहायता करे। सविधान द्वारा यह* आवश्यक कर दिया गया है कि निम्नलिखित विषयों पर सघ-सरकार सघीय लोक सेवा आयोग से तथा राज्यों की सरकारें राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श लें (धारा ३२०) —

(क) असैनिक सेवाओं में और असैनिक पदों के लिए भर्ती की रीति से सम्बन्धित समस्त विषयों पर;

(ख) असैनिक सेवाओं की नियुक्ति, पदोन्नति तथा बदली तथा इस विषय पर अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तों पर,

(ग) असैनिक सेवाओं के अनुशासन से सम्बन्धित विषयों पर,

(घ) सैनिक पद पर काम करने वाले किसी व्यक्ति के इस दावे पर कि कर्त्तव्य पालन में किए गए कार्यों के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध चलाई गई किन्ही कानूनी-कार्यवाहियों में जो खर्च उसे अपनी रक्षा पर करना पड़ा है वह सरकार द्वारा दिया जाय;

(ङ) किसी असैनिक पद पर काम करने वाले व्यक्ति का अपने कर्तव्य पालन में हुई क्षति के बारे में निवृत्ति वेतन (पेन्शन) दिए जाने के लिए किसी दावे पर, तथा ऐसी दी जाने वाली राशि का क्या हो, इस प्रश्न पर।

इन कर्तव्यों के अतिरिक्त, संविधान में यह कहा गया है कि संघीय लोक सेवा आयोग के कर्तव्य संसद् द्वारा तथा राज्यों के आयोग के कर्तव्य उनके विधान-मंडलों द्वारा बढ़ाये जा सकते हैं। संघीय लोक सेवा आयोग प्रति वर्ष राष्ट्रपति को अपने वार्षिक कार्य का विवरण देगा। राष्ट्रपति इस विवरण की एक प्रतिलिपि संसद् में प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा। अगर कोई ऐसे मामले हों जहाँ कि आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया तो राष्ट्रपति ऐसी अस्वीकृति के कारणों का विवरण भी उस रिपोर्ट के साथ रखवायेगा। राज्यों में राज्यपाल विवरण को विधान-मण्डल में रखवायेगा।

अगर देश में योग्य तथा ईमानदार व्यक्ति सरकारी सेवाओं में भर्ती करना है तो कार्यकारिणी को चाहिए कि लोक-सेवा आयोग के कार्य में हस्तक्षेप न करे तथा उनके परामर्श के अनुसार व्यक्तियों को भर्ती करे। योग्य कर्मचारियों के अभाव में कोई भी सरकार ठीक प्रकार काम नहीं कर सकती है। संविधान द्वारा इस बात का प्रयत्न किया गया है कि लोक सेवा आयोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपना काम कर सकें। इनकी स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता बहुत कुछ इस पर भी निर्भर करेगी कि इनके सदस्य भी निष्पक्ष, ईमानदार तथा निर्भीक हों। यह वाछनीय प्रतीत होता है कि राजनैतिक दलों से सम्बन्धित व्यक्ति इनके सदस्य न नियुक्त हों।

भारतीय सेना विभाग

अभी तक हम असैनिक सेवाओं का वर्णन कर रहे थे। अब सेना विभाग की ओर ध्यान देना चाहिए। राज्यों में आरम्भ से ही अपनी रक्षा की ओर सर्वदा ध्यान दिया है। सेना का काम देश को बाह्य आक्रमण से बचाना है। सेना कभी-कभी आन्तरिक अशान्ति से भी बचाव करती है। यूनानी दार्शनिक अफलातून (४२७–३४७ ई० पू०) ने सैनिकों की तुलना कुत्तों (watchdogs) से की है।

अँग्रेजी काल में सेना।—जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों ने भारत में अपनी फैक्टरियाँ स्थापित की, उन्होंने उनकी रक्षा के लिए चौकीदार (guards) तैनात किये। परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत की राजनैतिक अवस्था का लाभ उठाने के लालच से जब अंग्रेज तथा फ्रांसीसियों में युद्ध हुए तब अंग्रेजों ने सेना का संगठन किया। सन् १७९३ में अंग्रेजी सेना में १३,००० अंग्रेज तथा ५७,००० भारतीय थे। सन् १८२४ में अंग्रेजों ने भारतीय-सेना का पुनर्गठन किया।

सन् १८५७ में कम्पनी के शासन का अन्त होने पर ब्रिटिश सरकार ने

भारत में सेनाओं का फिर से सगठन किया। सेना तीन भागो में बाँटी गई—बगाल सेना, मद्रास की सेना तथा बम्बई की सेना। सन् १८९५ में इन तीन सेनाओं के स्थान पर ४ कमानो (commands) की स्थापना की गई—पजाब, ...ल, मद्रास तथा बम्बई। परन्तु सन् १९०७ में लार्ड किचनर (भारत का मुख्य सेनापति) ने इस सगठन को असन्तोषजनक बतलाया तथा भारतीय सेना को दो भागो में बाँट दिया—उत्तरी सेना तथा दक्षिणी सेना। इसमें से प्रत्येक एक जनरल अफसर (General officer) के अधीन थी। सन् १९१८ में यह उचित समझा गया कि जनरल अफसरो के अधिकार बढा दिये जायँ। उन्हें शासनीय (administrative) अधिकार दे दिये गये और इस प्रकार आर्मी हेडक्वार्टर्स के ऊपर से कुछ बोझ कम किया गया। सन १९२० में फिर से कमानो की स्थापना की गई। प्रत्येक एक जनरल अफसर कमाण्डिग के अधीन रखी गई। नवम्बर १,१९३८ को पश्चिमी कमान तोड दी गई।

सन् १९३८ में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सेना के सम्बन्ध में जाँच करने को एक कमिटी नियुक्त की जो कि चैटफील्ड कमिटी (Chatfield Committee) कहलाती है। इस कमिटी ने यह सुझाव रखा कि भारतीय सेना को आधुनिक ढग से सगठित किया जावे, इसको आधुनिक अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा दी जावे, इसका काम भारत की बाह्य सुरक्षा होना चाहिये, भारत ... गोला बारूद (munitions) के मामले में शीघ्र ही आत्मनिर्भर हो जाना चाहिये।

सन् १९४७ में जब भारतवर्ष का भारत तथा पाकिस्तान में विभाजन हुआ तो इसके साथ साथ भारतीय सेना भी भारत की सेना तथा पाकिस्तान सेना इन दो भागो में बाँट दी गई। इस काम के लिये तथा फिर से विभाजित सेनाओं के सगठन के लिये एक सुप्रीम कमाण्ड स्थापित किया गया था। यह ज्वाइन्ट डिफेन्स कौंसिल के अधीन था। इसमें दोनों देशो के प्रतिनिधि थे। यह काम समाप्त होने पर सुप्रीम कमान्ड नवम्बर १९४७ में तथा डिफेन्स कौसिल अप्रैल १९४८ में खतम हो गये।

ब्रिटिश सरकार तथा भारत की सरकार के बीच एक समझौता किया गया। इसमें यह तय हुआ कि भारत से अंग्रेजी फौज हटा ली जावेगी। इसके फलस्वरूप ...गस्त १९४७ से ब्रिटिश फौज यहाँ से हटनी शुरू हुई तथा १९४८ के फरवरी मास के अन्त तक सब अंग्रेजी फौज भारत से हटा ली गई थी।

अग्रेजी काल में सेना का सगठन—इसकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि सेना के सब उच्च पदो पर अंग्रेज अफसर थे। भारतीय अफसरो की सख्या बहुत

कम थी। सेना प्रत्येक अर्थ में अभारतीय थी। एक लेखक के अनुसार यह केवल इसी अर्थ में भारतीय थी कि इसका खर्च भारत को उठाना पड़ता था।

भारतीय सेना के सेनापति की नियुक्ति सम्राट् द्वारा की जाती थी। यह सेनापति के अतिरिक्त वाइसराय की कौन्सिल का सदस्य भी होता था। उन्हें रक्षा-सदस्य (Defence Member) कहते थे। वह थल, जल तथा नभ इन तीनों सेनाओं का सेनापति था। ब्रिटिश पार्लियामेंट में, भारत-सेक्रेटरी भारतीय सेना के लिये भी उत्तरदायी था। इस प्रकार भारतीय सेना पूर्णतः अंग्रेजी सरकार के अधीन थी। इसका मुख्य काम भारत में अंग्रेजी सरकार को बनाये रखना था। इसलिये राष्ट्रीय-मत इसके पूर्णतया विरुद्ध था।

भारतीय सेना जैसा लिखा जा चुका है चार कमानों (Commands) में बँटी थी। प्रत्येक कमान का अफसर लेफ्टिनेन्ट्-जनरल होता था। प्रत्येक कमान में कुछ डिस्ट्रिक्ट्स होते थे। इनका अफसर मेजर-जनरल कहलाता था। इनके बाद ब्रिगेड, और ब्रिगेडों के नीचे स्टेशन्स (Stations) होते थे। इनके अफसर क्रमशः ब्रिगेडियर तथा कर्नल या लेफ्टिनेन्ट-कर्नल होते थे।

द्वितीय युद्ध के पूर्व हमारे हवाई तथा समुद्री बेड़े बहुत ही छोटे थे। हवाई बेड़े में २११ भारतीय तथा २,१७३ अंग्रेज थे। जहाजी बेड़े में १८५४ भारतीय थे। परन्तु यह सब निम्न पदों पर थे। ऊँचे पदों पर सब अंग्रेज थे। इन अफसरों की संख्या १७१ थी। थल सेना के कई भाग थे—स्थायी ब्रिटिश सेना, स्थायी भारतीय सेना, रक्षित सेना, सहायक सेना, टेरिटोरियल फोर्सेज, तथा देशी रियासतों की सेना।

वर्तमान सैनिक-संगठन :—स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय सेना का पूर्णरूपेण भारतीयकरण हो गया है। फरवरी १९४८ तक सब अंग्रेजी फौजें यहाँ से चली गई थी। सब उच्च पदों पर, कुछ को छोड़ कर भारतीय हैं। कुछ अंग्रेज अफसर तथा टेकनीशियेन्स अभी हैं। परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त न्यून है।

मन्त्रिमंडल में एक रक्षा मन्त्री है। यह भारत की रक्षा नीति के लिये संसद् को उत्तरदायी है। रक्षा मन्त्री का काम सेना की नीति निर्धारित करना तथा यह देखना है कि वह कार्यान्वित की जाती है। इस मन्त्री के अतिरिक्त कैबिनेट की एक समिति इस विभाग की समस्याओं पर विचार करने के लिये है। इसको डिफेन्स कमिटी कहा जाता है। इस कमिटी का सभापति प्रधान मन्त्री होता है। रक्षा मंत्री तथा तीन अन्य मन्त्री इसके सदस्य होते हैं। इनके अतिरिक्त तीनों सेनाओं के सेनापति तथा डिफेन्स सेक्रेटरी भी इसकी बैठकों में भाग ले सकते हैं। रक्षा सम्बन्धी मामलों में इसका निर्णय अन्तिम होता है। परन्तु यह अपने कुछ

निर्णयों को पूरे मन्त्रिमण्डल के सामने उसका समर्थन प्राप्त करने के लिये रखती है। सेना की नीति सम्बन्धी मामलों में यह कमेटी सबसे महत्त्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त कई अन्य कमेटियाँ हैं। सबसे ऊपर जो कमेटी है उसको डिफेन्स मिनिस्टर्स कमेटी (रक्षा मन्त्री की समिति) कहते हैं। इसके सदस्य रक्षा मन्त्री, तीनों सेनापति, फाइनेन्शियल एडवाइजर तथा डिफेन्स सेक्रेटरी होते हैं। इस कमेटी के निर्णय अन्तिम होते हैं परन्तु जहाँ पर महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी प्रश्न होते हैं यह उनको केबिनेट का डिफेंस कमेटी को परामर्श हेतु भेज देती है।

डिफेन्स मिनिस्टर्स कमेटी के नीचे कई अन्य समितियाँ हैं। इनमें सबसे मुख्य तीन हैं—चीफ ऑव स्टाफ्स कमेटी, साइन्टिफिक एडवाइजरी कमेटी तथा मेडिकल कमेटी। इन सब कमेटियों की इसलिये स्थापना की गई ताकि सब काम शीघ्रता से तथा सुचारुरूप से होता रहे।

पहले नभ, जल तथा थल इन तीनों सेनाओं के लिये एक सेनापति होता था। परन्तु १५ अगस्त १९४७ से प्रत्येक का सेनापति अलग-अलग है। भारत की सरकार जल तथा नभ सेना की वृद्धि के लिए पूर्णरूपेण प्रयत्नशील है भारत का समुद्र तट बहुत लम्बा है, इसलिए हमारी जल सेना खूब मजबूत होनी चाहिए। ये सेनापति मन्त्रिमंडल के सदस्य नहीं होते हैं। ये रक्षा-मंत्री के अधीन हैं।

थल सेना —इसका सेनापति सबसे मुख्य अफसर है। उसके नीचे एक आर्मी हेडक्वार्टर है। इसमें छः विभाग हैं, जिनका काम सेना की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है। इनके नाम हैं जनरल स्टाफ विभाग, एडजूटेण्ट जनरल विभाग, क्वार्टर मास्टर जनरल विभाग, इंजीनियर-इन चीफ विभाग तथा मिलिट्री सेक्रेटरीज विभाग।

आर्मी हेडक्वार्टर्स के अधीन भारतीय सेना को तीन कमानों में बाँटा गया है। इनको पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी कमान कहा जाता है। प्रत्येक कमान का मुख्य अफसर एक लेफ्टिनेण्ट जनरल होता है। कमानों को एरिया में विभाजित किया गया। प्रत्येक एरिया एक मेजर जनरल के अधीन है। एरिया में नीचे सब एरियाज होते हैं। प्रत्येक सब एरिया एक ब्रिगेडियर के अधीन है। थल सेना के कई भाग होते हैं जैसे आमर्डकोर, आर्टिलेरी, इन्जीनियर्स, इन्फेन्ट्री एज्यूकेशन कोर आदि, आदि। देशी रियासतों की सेना भी भारतीय सेना में मिला दी गई है। स्थायी सेना के अतिरिक्त टैरिटोरियल आर्मी तथा नेशनल कैडेट कोर भी है।

टैरिटोरियल आर्मी —अंग्रेजी काल में भारत में एक टैरिटोरियल फोर्स था। इसका उद्देश्य आवश्यकता होने पर सेना की सहायता करना था। अर्थात

संकटकाल में यह द्वितीय रक्षा पंक्ति होता था। परन्तु यह अत्यन्त संकुचित था और इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। स्वतन्त्रता के पश्चात भारतीय सरकार ने इसके स्थान पर टेरिटोरियल आर्मी स्थापित करने का निश्चय किया। भारतीय संसद ने सितम्बर १९४८ में इंडियन टेरिटोरियल आर्मी ऐक्ट पास किया। टेरिटोरियल सेना पहिले से अधिक बड़ी होगी। इसमें दो तरह के दस्ते होंगे। (१) प्रान्तीय (Provincial) इसमें देहातों में भर्ती होगी। प्रति वर्ष इसका एक कैम्प होगा, जो कि दो या तीन महीने का होगा। (२) शहरी (Urban). इसमें नगर-क्षेत्रों में भर्ती होगी। प्रति सप्ताह इसकी ड्रिल होगी तथा प्रति वर्ष कुछ दिनों के लिये एक कैम्प होगा।

इस सेना में सब भारतीय भर्ती हो सकते हैं। अक्टूबर १९४९ में इसकी भर्ती आरम्भ हो गई है। भारत को ८ भागों में (Zones) में बाँटा गया है। इस सेना का काम संकट काल में द्वितीय रक्षा पंक्ति का होगा।

नेशनल कैडेट कोर:—अंग्रेजों के काल में विद्यार्थियों को कुछ सैनिक शिक्षा देने के लिये यूनीवर्सिटी ट्रेनिंग कोर था। परन्तु १९४८ में सरकार ने इसके स्थान पर नैशनल कैडेट कोर स्थापित किया है। सन् १९४६ में एक कमेटी प० हृदयनाथ कुंजरू के सभापतित्व में स्थापित की गई थी। इसकी रिपोर्ट के ऊपर ही नैशनल कैडेट कोर की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य भारत के नवयुवकों को कुछ सैनिक शिक्षा देना तथा उनमें सैनिक शिक्षा के प्रति रुचि पैदा करना है। इस योजना के अनुसार लड़कियों को भी सैनिक शिक्षा दी जावेगी। इस कोर के भाग हैं—सीनियर तथा जूनियर। सीनियर भाग में यूनीवर्सिटी के विद्यार्थी लिये जाते हैं। जूनियर भाग में स्कूल तथा कालेजों के विद्यार्थी हैं। इसमें भर्ती के लिये कोई जबर्दस्ती नहीं है।

भारतीय नभ सेना :—इसका मुख्य अफसर सेनापति नभ-सेना कहलाता है। इसके नीचे एक हेडक्वार्टर है। १५ अगस्त १९४७ से पूर्व नभ-सेना भी बहुत ही साधारण थी। अंग्रेजों ने इसके विकास की ओर नाम-मात्र का ही ध्यान दिया था। अंग्रेजी हवाई सेना की एक टुकड़ी भारत में स्थित थी। परन्तु स्वतन्त्रता मिलने के बाद सरकार ने नभ-सेना की ओर ध्यान दिया है और इस दिशा में कुछ उन्नति हुई है। परन्तु अब भी हमारे देश की नभ-सेना अन्य बड़े राष्ट्रों के मुकाबले में अत्यन्त कमजोर है। इसलिये इसके विकास की बहुत अधिक आवश्यकता है।

हवाई बेड़े की शिक्षा के लिये कई स्कूल खोले गये हैं जैसे, जोधपुर तथा अम्बाला। कोयम्बटूर में ग्राउन्ड-ट्रेनिंग के लिये स्कूल है। भारत में टेकनिकल

ट्रेनिंग के लिये भी एक कालिज खोला गया है। यह एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है।

भारतीय जल सेना —स्वतन्त्रता के पूर्व हमारी जल-सेना भी अत्यन्त हीन थी। अब इसके विकास की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है इसका प्रधान भी सेनापति कहलाता है। इसके नीचे एक हेडक्वाटर्स है। इसमें ५ विभाग हैं—स्टाफ विभाग, पर्सोनेल विभाग तथा एडमिनिस्ट्रेशन विभाग, मेटीरियल विभाग तथा नेवल एवियेशन विभाग।

जल सेना के लिये नवयुवको को शिक्षा देने के लिये कोचीन, विजगापट्टम जामनगर तथा लोनावाला में स्कूल खोले गये है। आजकल नौ-सेना के अफसरो की आरम्भिक शिक्षा नेशनल डिफेन्स एकेडेमी देहरादून में होती है। उच्चशिक्षा के लिए विलायत भेजा जाता है। परन्तु अफसरो की उच्च शिक्षा के लिये विजगापट्टम में एक कालेज खुलने वाला है। भारत सरकार की जलसेना के विकासार्थ एक दसवर्षीय योजना है। इस काल की समाप्ति पर यह आशा है कि भारतीय जलसेना राष्ट्र की आवश्यकताओ को पूरा करने में सफल होगी।

सैनिक शिक्षा की व्यवस्था —सेना के विकासार्थ यह आवश्यक है कि सैनिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो। संसार के सब देशो में इस प्रकार की व्यवस्था है। अमेरिका, रूस, इगलैण्ड में तो सैनिक-शिक्षा हेतु अत्यन्त ही उच्च कोटि के शिक्षालय है। बिना उच्च शिक्षा के अच्छे अफसरो का होना असम्भव है। हमारे देश में तो यह और भी आवश्यक है कि योग्य अफसरो की शिक्षा की ओर पूरा ध्यान दिया जावे। क्योंकि अंग्रेजो-काल में तो अंग्रेज ही उच्च पदो पर थे। इसलिए भारतीयो को उच्च पदो पर काम करने का अनुभव नही के बराबर है। योग्य अफसरो की कमी को पूरा करने तथा उनकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध करने के लिए भारत सरकार पूना के निकट खड़कवासला नामक स्थान पर एक सैनिक शिक्षालय खोल दिया है इसका नाम भारतीय रक्षा शिक्षालय (National Defence Academy) है। इसका शिलान्यास ६ अक्टूबर, १९४९ को पं० नेहरू के द्वारा किया गया था। इसमें सेना, नौ सेना तथा नभ सेना के अफसरो को शिक्षा दी जावेगी। इसमें सन् १९५५ से शिक्षा प्रारम्भ हो गई है। इस एकेडमी में १५०० छात्र शिक्षा पाते है। इसके निर्माण में ६ ५ करोड रुपये का व्यय हुआ।

इस राष्ट्रीय एकेडमी के अतिरिक्त कई अन्य शिक्षा संस्थाएँ है। नौसेना तथा नभ सेना के शिक्षालयो का वर्णन हम कर चुके है। वैलिंगटन (नीलगिरी

पहाड़) में एक स्टाफ कालिज खोला गया है। रड़की में फौज के इंजीनियरों की शिक्षा का प्रबन्ध है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्कूल भी हैं। परन्तु इतना होते हुए भी यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि सैनिक-शिक्षा में अभी हम बहुत पिछड़े हैं और इस ओर और अधिक देना चाहिये।

प्रश्न

(१) संघीय लोक सेवा-आयोग के विधान का वर्णन कीजिये। कौन ऐसे विषय हैं जिनमें संघ सरकार के लिये उसकी सम्मति लेना आवश्यक है?

(यू० पी० १९५१)

(२) अखिल भारतीय सेवाओं पर टिप्पणी लिखिये।

(यू० पी० १९५२)

(३) लोक सेवा आयोग से आप क्या समझते हैं? केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के संगठन तथा कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(यू० पी० १९५८)

अध्याय १६

संघ तथा राज्यों में अधिकार विभाजन तथा सम्बन्ध

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, प्रत्येक सघात्मक सविधान में, सघ सरकार तथा राज्यो की सरकारो के बीच अधिकार विभाजन किया जाता है। यह विभाजन सविधान द्वारा किया जाता है। इस प्रकार दोनो के क्षेत्र निश्चित कर दिये जाते हैं। इस विभाजन का आधार यह होता है कि सर्वदेशीय महत्व के विषय तो सघ सरकार के अधीन रखे जाते हैं और स्थानीय महत्व के विषय राज्यो की सरकारो के अधीन। इस प्रकार यह चेष्टा की जाती है कि सम्पूर्ण देश के तथा विभिन्न स्थानो के हित, दोनों ही ठीक प्रकार से पूरे हो सकें। न्यायपालिका का यह कर्तव्य है कि वह सघ तथा राज्यो को एक दूसरे के क्षेत्र में अनाधिकार हस्तक्षेप न करने दे। न्यायपालिका सविधान की सरक्षक है। सघ तथा राज्यो के मध्य अधिकार विभाजन निम्नलिखित प्रकार से हो सकता है। (१) सविधान में सघ सरकार के अधिकारो का वर्णन कर दिया जाता है और शेष सब अधिकार (residuary powers) राज्य सरकारों को दिये जाते हैं। ऐसा सयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया के सविधान में है (२) सविधान में सघ तथा राज्य दोनो की शक्तियो का वर्णन कर दिया जाता है। इनके अतिरिक्त यदि कोई अधिकार और हों, जिनको अवशिष्ट अधिकार कहा जाता है, सघ को दे दिये जाते हैं। ऐसा हम कैनेडा के सविधान में पाते हैं।

विधायिनी सम्बन्ध (Legislative Relations) —भारत के सविधान में अधिकार विभाजन कुछ विशेष रूप से किया गया है। इसका कारण यह है कि सविधान निर्माताओं ने १९३५ के Government of India Act का बहुत मात्रा तक अनुसरण किया है। अवशिष्ट अधिकार सघ को दिये गए हैं। यह कैनेडा की तरह है। सविधान द्वारा समस्त विषयों को तीन सूचियों में बाँटा गया है—सघ सूची राज्य सूची तथा समवर्ती सूची। सघ-सूची में वर्णित विषयो पर कानून बनाने का अधिकार केवल सघ ससद का है। राज्य-सूची में वर्णित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार राज्यो के विधान मण्डलो को है। समवर्ती सूची में वर्णित विषयो पर ससद् तथा राज्यो के विधान-मण्डल, दोनो को कानून बनाने का अधिकार है। परन्तु यहाँ पर भी ससद् का प्रधानता तथा

प्राथमिकता प्रदान की गई है। अगर समवर्ती सूची में वर्णित किसी विषय पर संसद् तथा किसी राज्य द्वारा बनाये कानून में विरोध हो तो संसद् का ही कानून लागू होगा। परन्तु अगर राष्ट्रपति राज्य द्वारा निर्मित किसी कानून को अपनी स्वीकृत दे देता है जिसका कि संसद् द्वारा निर्मित किसी कानून से विरोध हो तो उस दशा में उस राज्य के अंदर विधान मंडल का बनाया हुआ कानून ही लागू होगा। अगर संसद् चाहे तो वह इस प्रकार के कानून को रद्द कर सकती है या उसमें संशोधन कर सकती है। संसद् राज्य सूची में वर्णित विषयों पर विधि निर्माण कर सकती है। इसमें संसद की ही प्रधानता होगी।

संविधान द्वारा इस प्रकार अधिकार विभाजन के साथ-साथ संघ को राज्यों के क्षेत्र में कई अवसरों पर हस्तक्षेप का अधिकार भी दिया गया।

(अ) अगर राज्य परिषद् दो-तिहाई उपस्थित सदस्यों के मत से यह पास कर दे कि कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है तो संसद् उस प्रस्ताव में वर्णित विषय पर कानून बना सकती है। ऐसा प्रस्ताव एक बार में एक वर्ष तक लागू रहेगा। अगर राज्य-परिषद् दुबारा से प्रस्ताव को पास कर दे तो इस अवधि को फिर एक वर्ष के लिये बढ़ाया जा सकता है। संसद् द्वारा ऐसे प्रस्ताव के अधीन बनाया हुआ कानून, प्रस्ताव की अवधि समाप्त होने के बाद भी ६ महीने तक लागू रहेगा। (धारा २४९)

(ब) संकटकाल की घोषणा के उपरान्त संसद् को राज्य सूची में वर्णित किसी विषय पर भी कानून बनाने का अधिकार है। ऐसी अवस्था में संसद् द्वारा निर्मित कानून संकटकाल की घोषणा के समाप्त होने के बाद भी ६ महीने तक लागू रहेगा। (धारा २५०)

उपरोक्त दोनों अवस्थाओं में राज्यों के विधान-मण्डलों को भी उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार रहेगा। परन्तु संसद् के कानून से विरोध होने पर संसद का कानून ही मान्य होगा और राज्य द्वारा निर्मित कानून अमान्य हो जावेगा।

(स) अगर दो या अधिक राज्यों के विधान-मंडल इस आशय का प्रस्ताव पास कर दें कि राज्य सूची में वर्णित किसी विषय पर संसद् ही कानून बनावे तो उन राज्यों के लिये उन विषयों पर संसद् कानून बना सकती है और उन राज्यों के विधान मंडलों को उन कानूनों में संशोधन का या उन्हें रद्द करने का अधिकार नहीं होगा। ऐसा कानून किसी अन्य राज्य में भी प्रभावी होगा, अगर वहाँ

का विधान-मण्डल भी एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय करे कि इस विषय पर संसद् ही कानून बनावे। (धारा २५२)

(द) संसद् को किसी अन्य देश या देशों के साथ की हुई सन्धि या करार अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या संस्था में किये गये किसी निश्चय के पालन के लिये भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र या उसके किसी भाग के लिये कोई विधि बनाने की शक्ति है। (धारा २५३)

हम पहले लिख चुके हैं कि भारत का संविधान एक अत्यन्त शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करता है। देश की अवस्था को देखते हुए यह आवश्यक समझा गया। संघ को संविधान द्वारा अधिकार दिए गये हैं। अवशिष्ट अधिकार भी संघ को दिये गये हैं। समवर्ती सूची में वर्णित अधिकारों में भी संघ को ही प्राथमिकता तथा प्रधानता दी गई है। इसके अतिरिक्त कई उपबन्ध हैं जिनके द्वारा साधारण काल में भी संसद् राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कानून बना सकती है। संकटकाल में तो संसद् के अधिकार बहुत ही बढ़ जाते हैं। संसार के किसी अन्य विधान में इस प्रकार के संकटकालीन अधिकारों का उपबन्ध नहीं है।

संघ तथा राज्यों के अधिकारों को बहुत ही विस्तृत रूप से संविधान द्वारा तीन सूचियों में वर्णित किया गया है। इस प्रकार के विस्तारपूर्वक वर्णन का लाभ यह होगा कि इनमें आपस में झगड़ों की कम सम्भावना रहेगी और इस कारण संविधान में कानूनियत की कमी की गई है।

संघ सूची —इस सूची में वह विषय वर्णित हैं जो सार्वदेशीय महत्व के हैं। इसमें ९७ विषय वर्णित हैं। मुख्य विषय निम्नलिखित हैं भारत की रक्षा, भारत की जल, थल तथा नभ सेनाएँ, शस्त्रास्त्र, अणुशक्ति, दूसरे देशों सम्बन्ध युद्ध तथा शान्ति, नागरिकता तथा देशीयकरण, रेल, डाक और तार, बेतार, संघ का लोक ऋण, विदेशों के साथ व्यापार अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य, बीमा, अफीम की खेती, रिजर्व बैंक, मुद्रा जनगणना, निगम कर आदि।

राज्य-सूची —इसमें वर्णित विषय स्थानीय महत्व के हैं। इसमें ६६ विषय वर्णित हैं। मुख्य विषय निम्नलिखित हैं - सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, न्याय प्रशासन, कारागार स्थानीय-शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा स्वच्छता, शवदाह और श्मशान, सड़कें, पुल आदि, कृषि, वन, बाजार तथा मेले, राज्य लोक-सेवाएँ, कृषि आय पर कर आदि।

समवर्ती सूची —इस सूची में उन विषयों को रखा है जो कि संघ तथा

राज्य दोनों के महत्व के हैं। इसमें ४७ विषय वर्णित हैं। मुख्य ये हैं: दण्ड-विधि, दण्ड-प्रक्रिया, निवारण-निरोध, विवाह और विवाह-विच्छेद, दिवाला, न्याय और न्यासी, पशुओं के प्रति निर्दयता के निवारण आर्थिक और सामाजिक योजना, श्रमिकों का कल्याण, मूल्य-नियन्त्रण, कारखाने, वाष्पयन्त्र, विद्युत, समाचार-पत्र, पुस्तकें तथा मुद्रणालय, शरणार्थियों को सहायता और पुनर्वास आदि।

अन्य संघों में शक्ति विभाजन :—अगर हम संसार के अन्य संघात्मक संविधान को देखें तो यह ज्ञात होगा कि भारत के बराबर शक्तिशाली केन्द्र अन्यत्र कहीं नहीं है।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में संघ सूची में ३० से भी कम विषय वर्णित हैं। अवशिष्ट अधिकार राज्यों को दिए गए हैं। ऐसी कोई व्यवस्था नहीं जिसके द्वारा राज्यों के अधिकार संघ ले ले। कुछ विषयों में संघ तथा राज्यों के समवर्ती अधिकार हैं। और इन विषयों में संघ को प्राथमिकता है।

आस्ट्रेलिया में केन्द्र को बहुत कम अधिकार हैं। केवल ६ विषय संघ-सूची में वर्णित हैं—(१) संघ सरकार की राजधानी (seat), (२) संघ की नौकरियाँ, (३) कस्टम, आबकारी तथा निर्यात कर, (४) जहाजी सेना तथा थल सेना, (५) मुद्रा, (६) संशोधन के कुछ अधिकार। इन विषयों के अतिरिक्त संघ का अन्य विषयों में एकाधिकार नहीं है। राज्यों को अपना विधान में भी कुछ मात्रा तक संशोधन करने का अधिकार है। समवर्ती सूची में कई विषय हैं और इनमें संघ की ही प्रधानता है।

कैनेडा में अवशिष्ट अधिकार संघ को दिए गए हैं। संघ तथा राज्यों के विधायिनी-अधिकारों का संविधान में वर्णन है। समवर्ती सूची में केवल दो विषय हैं-कृषि तथा आवासन (Agriculture and Immigration) कैनेडा तथा भारत के संविधान में यह समानता है कि दोनों में अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को दिये गये हैं। कैनेडा में भी केन्द्र काफी शक्तिशाली है। वहाँ राज्यों को प्रान्त कहा जाता है। केन्द्र को प्रान्तीय विधान-मण्डल के कार्य में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार है।

संघ तथा राज्यों में प्रशासन-सम्बन्ध

संविधान में २५६ धारा से २६३ धारा तक इस संबंध का वर्णन किया गया है। उपबन्धों द्वारा संघ सरकार को राज्यों के क्षेत्र में कुछ अवसर पर, हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया गया है। संविधान में यह भी कहा गया है कि अगर संघ द्वारा अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में दिए गए किन्हीं आदेशों का

पालन करने में कोई राज्य असफल होगा, तो राष्ट्रपति यह मान सकता है कि उस राज्य में संविधान के उपबन्धों के अनुकूल शासन नहीं चलाया जा सकता है और वह उस राज्य के अधिकारों को अपने हाथ में ले सकता है (धारा ३६५)। संविधान द्वारा यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिये जिससे संसद् द्वारा बनाए हुए कानूनों का पालन सुनिश्चित रहे। राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए जिससे संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न हो। संघ को यह अधिकार दिया गया है कि वह राज्यों को समय-समय पर इस प्रयोजन के लिए आदेश दे सके। संघ राज्यों को ऐसे संचार-साधनों (means of communication) के निर्माण तथा बनाये रखने के लिए आदेश दे सकता है जो कि राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के हों। संघ राज्यों को उनकी सीमाओं के अन्तर्गत रेलों की रक्षा के लिए भी आदेश दे सकता है। इन कारणों से राज्य की सरकार का जो अतिरिक्त खर्च होगा वह संघ द्वारा दिया जायगा।

राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह किसी राज्य की सरकार की सम्मति से उस सरकार को या उसके पदाधिकारी को ऐसे काम, जो संघ के क्षेत्र में है, सौंप सकता है। संसद् कानून द्वारा किसी राज्य सरकार या उसके पदाधिकारियों को ऐसे विषय पर अधिकार दे सकती है या उन पर कर्तव्य आरोपित कर सकती है जो कि राज्य सरकार के क्षेत्र के बाहर है। ऐसा करने पर जो अतिरिक्त खर्च होगा वह संघ द्वारा सहन किया जावेगा।

संघ की सरकार को यह अधिकार है कि वह भारत के बाहर किसी राज्य की सरकार से करार कर उस सरकार के कामों को अपने हाथ में ले सकती है।

भारत के राज्य-क्षेत्र में सब जगह संघ की और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं (public acts), अभि-लेखों (records) और न्यायिक कार्यवाहियों (judicial proceedings) को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जावेगी।

संसद् को यह अधिकार है कि कानून द्वारा राज्यों के आपस में किसी नदी के पानी के ऊपर झगड़ों के समझौते का प्रबन्ध करे। संसद् कानून द्वारा ऐसे झगड़ों को उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के बाहर रख सकती है।

राष्ट्रपति आदेश द्वारा एक परिषद् की स्थापना कर सकता है जिसके नीचे लिखे कर्तव्य होंगे :

(१) राज्यों के आपसी झगड़ों की जाँच करना और उन पर राय देना ;

(२) ऐसे विषयों का अनुसन्धान करना जिनमें कुछ या सब राज्यों के या संघ और एक या अधिक राज्यों के हित सम्बद्ध हों

(३) किसी ऐसे विषय पर सिफारिश करना ।

जहाँ तक केन्द्रीय प्रशासित क्षेत्रों का सम्बन्ध है उनका शासन संघ सरकार के अधीन है ।

संघ तथा राज्यों में वित्तीय सम्बन्ध

भारत की वित्तीय व्यवस्था का इतिहास :—सन् १७७३ से पूर्व भारत में बंगाल, मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सियाँ वित्त के विषय में पूर्ण स्वतन्त्र थीं परन्तु धीरे धीरे इनकी स्वतन्त्रता कम होने लगी । सन् १८८३ में इनकी स्वतंत्रता का पूर्णरूपेण अन्त हो गया । यह केन्द्रीयकरण की पराकाष्ठा थी । परन्तु १८७० ई० के पश्चात् पुनः विकेन्द्रीकरण आरम्भ हुआ । प्रान्तों को कुछ आय के साधन दे दिये गये । लार्ड रिपन तथा लार्ड कर्जन के काल में यह और आगे बढ़ा ।

प्रथम युद्ध के पश्चात् १९१९ में गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया एक्ट द्वारा प्रान्तों को कुछ स्वायत्त शासन के अधिकार दिए गए । इसलिए यह किया गया कि वित्त के विषय में भी प्रान्तों को केन्द्र से स्वतन्त्र रखा जाय । इस कारण आय के साधनों का केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच विभाजन किया गया । प्रान्तों के आय के स्रोत भूमिकर, आबकारी, जंगल, स्टाम्प, तथा रजिस्ट्रेशन, रखे गये । केन्द्र के आय के स्रोत कस्टम, आयकर, नमक, रेल, अफीम, मिलीटरी रिसीट्स (Military Rercipts) तथा डाक और तार रखे गए परन्तु इस व्यवस्था में केन्द्र की आमदनी कम हो गई । इस कारण मेस्टन एवार्ड द्वारा तय हुआ कि प्रान्त केन्द्र को सालाना ९८३ लाख रुपया दे । यह १९२८-१९२९ में खतम हो गया ।

जब १९३५ का एक्ट बना तो उसके द्वारा भी आय के स्रोत केन्द्र तथा प्रान्तों के बीच विभाजित किए गए : इस ऐक्ट द्वारा यह निश्चित हुआ कि आय कर में से कुछ भाग प्रान्तों को दिया जावे । जिन प्रान्तों में जूट उत्पन्न होती थी उनको जूट-निर्यात कर का कुछ भाग मिले । इसके अतिरिक्त प्रान्तों को केन्द्र द्वारा नमक कर, आबकारी आदि से हुई आय भी दी जाने वाली थी ताकि विभिन्न प्रान्त स्वास्थ्य, शिक्षा आदि पर पूरी प्रकार ध्यान दे सकें । उनको इन उपरोक्त करों से आमदनी के अतिरिक्त केन्द्र द्वारा कुछ और सहायता दी जाने का प्रबन्ध

हुआ। एक कमेटी बैठी जिसके सभापति सर ओटो नेमियर थे। इसने इस विषय में अपनी सिफारिश सरकार के सामने रखी। इस कमेटी ने इस विषय में भी सिफारिश की कि आयकर तथा जूट निर्यात कर का किस प्रकार विभाजन किया जाय।

संविधान द्वारा स्थापित वित्त व्यवस्था—संविधान द्वारा संघ तथा राज्यों की आय के साधनों का वर्णन दिया गया है।

(१) *संघ की आय के साधन निम्नलिखित हैं।* कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय कर, सीमा शुल्क जिसके अन्दर निर्यात शुल्क भी है, तम्बाकू पर उत्पादन कर, व्यक्तियों तथा कम्पनियों के मूल धन पर कर, कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में शुल्क, रेल या समुद्र या वायु सेना से आने जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल के जन भाड़े पर कर, मुद्रांक शुल्क (Stamp duty) को छोड़कर स्टॉक एक्सचेंज तथा वादा बाजार कर, विनिमय पत्र, चेक, हुण्डी, बीमा पत्र आदि पर मुद्रांक शुल्क, समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर, किसी न्यायालय में लिये जाने वाले फीसों को छोड़कर इस सूची में के विषयों में किसी के बारे में फीस।

२) *स्वायत्त राज्यों की आय के साधन*—भूराजस्व, कृषि आय पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकारी के विषय में शुल्क, कृषि भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क, भूमि और भवनों पर कर, संसद द्वारा लगाई सीमाओं के अधीन खनिज अधिकार पर कर, अफीम, भांग, शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं पर उत्पादन कर, किसी क्षेत्र में वस्तुओं के प्रवेश पर कर, विद्युत कर, समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय पर कर, समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर, सड़कों पर उपयोग के योग्य यानों पर कर, पशुओं और नौकाओं पर कर, पथ कर, वृत्तियों, व्यापार, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर, प्रति व्यक्ति कर, विलास की वस्तुओं पर कर, दस्तावेज़ों पर स्टाम्प ड्यूटी।

(३) *समवर्ती आय के साधन*—न्यायिक मुद्रांक (Judicial stamp) द्वारा संगृहीत शुल्कों या फीसों को छोड़कर अन्य मुद्रांक शुल्क (stamp duty) समवर्ती सूची में के विषयों में किसी के बारे में फीस किन्तु इनके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसें नहीं हैं।

राज्य सरकारों को संघ की सहायता—हम लिख चुके हैं कि १९३५ के ऐक्ट में इस प्रकार के उपबन्ध थे जिनके द्वारा प्रान्तों को संघ सरकार से आर्थिक

सहायता दी जाती थी। नेमियर कमेटी (Niemeyer Committee) ने संघ द्वारा प्रान्तों की सरकार को कितनी राशि दी जावे इसको निश्चित कर दिया गया था। नये संविधान के द्वारा इस बात का प्रबन्ध किया गया है संघ सरकार द्वारा राज्यों की सरकारों को वित्तीय सहायता दी जावे। यह कहना ठीक ही होगा कि साधारणतः नये संविधान द्वारा इस विषय में वैसा ही प्रबन्ध किया गया है जैसा कि १९३५ के ऐक्ट में था।

प्रश्न यह उठता है कि संघ द्वारा राज्यों को वित्तीय सहायता क्यों दी जावे ? इसका उत्तर है क्योंकि राज्यों की आय इतनी नहीं है कि वे अपने विविध कर्तव्य जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य जनहित के कार्य ठीक प्रकार कर सकें। इसलिये यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि उनको संघ सरकार द्वारा कुछ सहायता दी जावे। संघ सरकार की आय की मदें ऐसी हैं कि उनसे आमदनी बढ़ती ही जावेगी, जैसे आयकर, कस्टम आबकारी आदि दूसरी ओर राज्यों के कुछ साधन ऐसे हैं जिनसे आमदनी घटती जावेगी जैसे शराब पर कर, कई सरकारों ने अपने यहाँ मद्यनिषेध लागू कर दिया है। इन बातों को दृष्टि में रखते हुए यह उचित ही है कि राज्यों को संघ द्वारा सहायता दी जावे।

संघ तथा राज्यों में आदर्श वित्तीय-सम्बन्ध तो यह होगा कि संघ अपनी समस्त आवश्यकतायें अपनी आय में से पूरी कर ले तथा इसी प्रकार राज्यों के साधन उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त हों। परन्तु कार्यरूप में ऐसा होना कठिन है। तब भी इस बात का पूर्ण प्रयत्न करना था कि राज्य की सरकारें बहुत अधिक मात्रा तक संघ सरकार के ऊपर आर्थिक सहायता के लिये निर्भर न हों। क्योंकि इस प्रकार की आर्थिक-निर्भरता स्वायत्त शासन के हित में नहीं है।

संघ तथा राज्यों के बीच करों के वितरण के लिये संविधान में निम्नलिखित उपबन्ध हैं :—

(१) कुछ कर ऐसे हैं जो कि संघ द्वारा आरोपित किये जायेंगे परन्तु अपने क्षेत्र में स्वायत्त राज्यों द्वारा संगृहीत होंगे तथा खर्च किये जायेंगे। केन्द्रीय क्षेत्रों भीतर में संघ सरकार द्वारा ही संगृहीत होंगे। इसमें ऐसे मुद्रांक-शुल्क (Stamp duty) तथा औषधीय और प्रसाधन सामग्री (Medicinal and toilet preparations) ऐसे उत्पादन शुल्क हैं जो कि संघ-सूची में वर्णित हैं। ऐसे करों की आमदनी भारत की संचित निधि का भाग नहीं होगी परन्तु उस राज्य को दी जायगी।

(२) निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और संगृहीत किये जायेंगे किन्तु राज्यों को सौंप दिए जायगे।

(क) कृषि भूमि के अलावा अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक शुल्क

(ख) कृषि भूमि के अलावा अन्य सम्पत्ति विषयक सम्पत्ति शुल्क

(ग) रेल समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं पर या यात्रियों पर सीमा कर

(घ) रेल भाड़ा और वस्तु भाड़ा पर कर

(ङ) स्टाक एक्सचेंज तथा वायदा बाजारों के सौदों पर स्टाम्प ड्यूटी से अन्य कर

(च) समाचार पत्रों के क्रय विक्रय तथा उसमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर

इन सब करों से हुई आय सिवाय केन्द्रीय क्षेत्रों के हिस्से को छोड़ कर उन राज्यों में बांट दी जावेगी जिसमें वे कर उस साल वसूल हों। इस बटवारे के लिए संसद कानून बनावेगी।

(३) कुछ कर ऐसे हैं जो कि संघ द्वारा लगाये जायगे तथा वसूल किये जायगे परन्तु उनकी आय संघ तथा राज्यों के बीच बट जावेगी —

(क) कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय पर कर

(ख) अगर संसद् निश्चित करे तो औषधीय तथा प्रसाधनीय सामग्री के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर संघ सूची में वर्णित उत्पादन शुल्क (excise duty) राज्यों के बीच संसद् द्वारा निर्मित विधि के अनुसार बांटा जावेगा।

(४) अगर संसद् चाहे तो वह ऊपर वर्णित (२) तथा (३) भाग के करों में से किसी को भी किसी समय संघ के प्रयोजनों के लिये अधिभार (surchrge) द्वारा बढ़ा सकती है और इस प्रकार जो अतिरिक्त आय होगी वह केवल संघ के संचित निधि का भाग होगी।

आय करके बटवारे का प्रबंध —संविधान में इस विषय में निम्नलिखित उपबन्ध है आय कर के केवल शुद्ध आगम (net proceeds) का ही वितरण होगा अर्थात इस कर की वसूली में जो व्यय होगा वह इसमें से पहले ही काट लिया जावेगा। इस शुद्ध आगम में से वह भाग निकाल लिया जावेगा जो कि केन्द्रीय क्षेत्रों को मिलने वाला माना जायगा तथा इसके अतिरिक्त इसमें

से संघ सरकार द्वारा कर्मचारियों को दिए जाने वाले वेतन तथा पेन्शन आदि (उपलब्धियाँ) का भाग भी निकाल लिया जावेगा। इसके पश्चात् जो राशि बचेगी इसमें राष्ट्रपति के आदेशानुसार स्वायत्त राज्यों को भाग मिलेगा। परन्तु जब वित्त आयोग स्थापित हो जावेगा तब राष्ट्रपति इसकी सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए, आय-कर के वितरण के लिए आदेश देगा।

संघ द्वारा राज्यों को अनुदान—इन अनुदानों को नीचे लिखे चार वर्गों में रखा जा सकता है :—

(१) संविधान में यह कहा गया है कि आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल तथा बिहार को पटसन या पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्यात शुल्क (Export duty) के स्थान से संघ द्वारा प्रति वर्ष कुछ अनुदान दिया जावेगा। जब तक भारत सरकार इन वस्तुओं पर निर्यात शुल्क वसूल करती है या संविधान प्रारम्भ होने से दस वर्ष तक, या इन दोनों में से जो भी पहले हो उसके होने तक, यह अनुदान भारत सरकार द्वारा इन चार पटसन पैदा करने वाले राज्यों को दिया जावेगा। १९३५ के ऐक्ट द्वारा भी ऐसा उपबन्ध था। इन चार प्रान्तों को निर्यात शुल्क का ६२½% भाग मिलता था।

(२) संसद् विधि द्वारा विभिन्न स्वायत्त राज्यों को भारत की संचित निधि से ऐसे अनुदान देने का उपबन्ध कर सकती है, जैसा कि वह उन राज्यों की सहायतार्थ आवश्यक समझे।

(३) अगर कोई स्वायत्त राज्य अपने अन्तर्गत अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण के लिए या अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन स्तर को ऊँचा करने के लिए भारत सरकार के अनुमोदन से विकास योजनाएँ को लागू करता है तो इसमें जो खर्च होगा वह भारत सरकार द्वारा दिया जावेगा।

(४) आसाम राज्य को भारत सरकार द्वारा स्वायत्त जिलों के प्रशासन तथा उनके प्रशासन स्तर को ऊँचा करने में, जो खर्च हो वह अनुदान के रूप में दिया जावेगा। इस विषय में संसद् विधि निर्माण करेगी और जब तक विधि नहीं बनती है, अनुदान राष्ट्रपति के आदेश से दिया जावेगा। जब वित्त-आयोग स्थापित हो जावेगा तो राष्ट्रपति कोई आदेश इसकी सिफारिशों पर विचार किए बिना नहीं देगा।

वित्त-आयोग:—इस आयोग का काम राष्ट्रपति को वित्त-सम्बन्धी मामलों पर परामर्श देना होगा। राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर एक ऐसे आयोग की स्थापना करे। इसके पश्चात्

प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् अथवा उससे पहिले ऐसे समय पर जब राष्ट्रपति आवश्यक समझे यह स्थापित किया जावेगा। इसमें एक सभापति तथा चार सदस्य होंगे। इनकी योग्यताएँ संसद् विधि द्वारा निश्चित करेगी। प्रथम आयोग की स्थापना १ नवम्बर १९५१ को की गई। इसमें निम्नलिखित सदस्य थे।

(१) श्री के० सी० नियोगी (सभापति)
(२) श्री वी० पी० मेनन,
(३) श्री कौशल चन्द्र नाग,
(४) श्री डा० बी० के० मदन,
(५) श्री एम० वी० रंगाचारी।

आयोग का कर्त्तव्य निम्नलिखित बातों पर राष्ट्रपति को परामर्श देना था

(क) संघ तथा राज्यों के बीच में उन करों के वितरण के बारे में जिनका विभाजन संविधान द्वारा निश्चित किया गया है तथा राज्यों के बीच उनके भाग के बँटवारे के बारे में।

(ख) भारत की संचित निधि में से राज्यों को अनुदान देने में पालनीय सिद्धान्तों के बारे में

(ग) भारत सरकार तथा किसी राज्य की सरकार के बीच किए गये करार के उपबन्धों के चालू रखने अथवा उनमें कोई बदलाव करने के में।

(घ) राष्ट्रपति द्वारा कोई वित्त-सम्बन्धी विषय के बारे में।

राष्ट्रपति संविधान के उपबन्धों के अधीन वित्त-आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिफारिश को तथा उस पर की कार्यवाही के विवरण को, संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायगा। राष्ट्रपति के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह आयोग के परामर्श अनुसार ही निर्णय ले। परन्तु यह आवश्यक है कि वह किसी निर्णय लेने के पहिले आयोग से परामर्श अवश्य ले।

संविधान में कहा गया है कि वित्त-आयोग अपनी प्रक्रिया निर्धारित करेगा तथा अपने कृत्यों के पालन में उसे वे शक्तियाँ होंगी जो संसद् विधि द्वारा उसे दान करे।

संघ तथा राज्यों में कर-वितरण आदि का वर्तमान प्रबन्ध —वित्त-आयोग स्थापित होने तक संघ तथा राज्यों के बीच आयकर किस प्रकार वितरित हो इसका निश्चय करना था। इसलिये सरकार ने दो कमेटियाँ नियुक्त की।

एक के सभापति श्री एन० आर० सरकार थे तथा दूसरे के श्री वी० पी० अडारकर थे। परन्तु इन दोनों की रिपोर्ट सन्तोष-जनक न होने के कारण यह कार्य श्री सी० डी० देशमुख (भूत पूर्व वित्त-मन्त्री) को सौंपा गया। श्री देशमुख का निर्णय साधारण परिवर्त्तनों के अतिरिक्त वैसा ही है जैसा कि नेमियर-निर्णय था। इस निर्णय के अनुसार यह निश्चित किया गया था कि आयकर के शुद्ध-आगम का ५०% भाग राज्यों में निम्न प्रकार से वितरित हो

मद्रास	१७.५%
बम्बई	२१%
बंगाल	१३.५%
उत्तर प्रदेश	१८%
पंजाब	५.५%
बिहार	१२.५%
मध्य प्रदेश	६%
आसाम	३%
उड़ीसा	३%

श्री देशमुख का निर्णय १ अप्रैल १९५० में लागू हुआ तथा ३१ मार्च, १९५२ तक लागू रहेगा यह निश्चित किया गया था।

श्री देशमुख द्वारा ही इसका निर्णय किया गया कि पटसन के निर्यात-शुल्क के बदले में पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार तथा उड़ीसा को कितना अनुदान मिलेगा।

पश्चिमी बंगाल	१०५ लाख रुपया वार्षिक
आसाम	४० लाख रुपया वार्षिक
बिहार	३५ लाख रुपया वार्षिक
उड़ीसा	५ लाख रुपया वार्षिक

वित्त आयोग की सिफारिशें :—वित्त आयोग की रिपोर्ट १३ फरवरी १९५३ को श्री देशमुख द्वारा संसद में प्रस्तुत की गई। सिफारिशें भारत सरकार द्वारा मान ली गई तथा ये १ अप्रैल १९५३ में लागू हुई।

मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित हैं :—

(१) आय-कर के शुद्ध-आगम का ५५% भाग राज्यों में निम्न प्रकार से वितरित होगा :—

आसाम	२·२५%
बिहार	९·७५%
बम्बई	१७·५%
हैदराबाद	४·५%
मध्य भारत	१·७५%
मध्य प्रदेश	५·२५%
मद्रास	१५·२५%
मैसूर	२·२५%
उड़ीसा	३·५%
पेप्सू	०·७५%
पंजाब	३·२५%
राजस्थान	३·५%
सौराष्ट्र	१%
ट्रावनकोर-कोचीन	२·५%
उत्तर प्रदेश	१८·७५%
पश्चिमी बंगाल	११·२५%

(२) पटसन के निर्यात शुल्क के बदले बंगाल, आसाम, बिहार तथा उड़ीसा को निम्नलिखित वार्षिक अनुदान मिले, बंगाल १५० लाख आसाम ७५ लाख बिहार तथा उड़ीसा १५ लाख रुपये।

(३) राज्यों को संघ की कुछ एक्साइज ड्यूटीज (Excise Duties)—तम्बाकू, दियासलाई तथा वेजीटेबिल प्राडक्ट्स—का भाग दिया गया।

(४) जिन राज्यों को आयोग उपयुक्त समझे उनको संघ द्वारा कुछ अधिक सहायता दी जाय।

(५) कुछ कम उन्नत राज्यों की प्रारम्भिक शिक्षा के विकासार्थ संघ द्वारा सहायता दी जाय।

द्वितीय वित्त आयोग —भारत सरकार द्वारा एक नवीन वित्त आयोग की स्थापना की गई थी। इस आयोग ने राष्ट्रपति के सम्मुख निम्न विषयों में सिफारिश की थी।

(१) केन्द्र और राज्यों में आयकर का वितरण और राज्यों के हिस्से का राज्यों में बटवारा।

(२) केन्द्रीय उत्पादन शुल्क इत्यादि केन्द्रीय करों का बटवारा।

(३) पटसन और पटसन के माल के निर्यात शुल्क की आय के हिस्से के बदले आसाम, बिहार, बंगाल, और उड़ीसा को कितनी रकम दी जाय।

(४) वे सिद्धान्त जिनके आधार पर भारत की संचित निधि में से राज्यों को अनुदान दिये जायें।

(५) वे कौन से राज्य हैं जिन्हें अपने राजस्व में से अनुदान की आवश्यकता है। अन्य बातों के अलावा पंचवर्षीय योजना की आवश्यकताओं को देखकर तथा यह देखकर कि ये राज्य अपने साधनों से धन एकत्र करने का जितना प्रयत्न कर रहे हैं, तय करना कि इन्हें कितनी सहायता कर दी जाय।

(६) कृषि भूमि को छोड़कर और संपत्ति पर लगने वाले संपदा शुल्क की आय को किस आधार पर बाँटा जाय।

(७) १५ अगस्त, १९४७ और ३१ मार्च, १९५७ के बीच केन्द्र ने राज्य की सरकारों को जो कर्ज दिया है उसकी ब्याज दर और अदायगी की शर्तों में क्या किसी प्रकार के संशोधनों की आवश्यकता है।

नये वित्त आयोग को द्वितीय पंचवर्षीय योजना तथा राज्यों के पुनर्गठन को ध्यान में रखते हुए, हर राज्य के हिस्से को नये सिर से तय करना था।

वर्तमान स्थिति—वित्त आयोग ने करों के वितरण के सम्बन्ध में निम्नोक्त मुख्य सिफारिशें की हैं जो वित्तीय वर्ष १९५७-५८ में लागू हुईं —

आयकर के शुद्ध आगम का ६०% भाग राज्यों में निम्नोक्त प्रकार से वितरित हो :—

आंध्र	८·१२%	मैसूर	५·१४%
आसाम	२·४४%	उड़ीसा	३·७३%
बिहार	९·९४%	पंजाब	४·२४%
बम्बई	१५·९०%	राजस्थान	४·०९%
केरल	३·६४%	उत्तर प्रदेश	१६·३६%
मध्य प्रदेश	६·७२%	पश्चिमी बंगाल	१०·०८%
मद्रास	८·४०%	जम्मू तथा काश्मीर	१·१३%

इन राज्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय शासित प्रदेशों को १% दिया जायगा।

(२) राज्यों को संघ की इक्साइज ड्यूटी—तम्बाकू, दियासलाई, वेजीटेबिल प्रोडक्ट्स, चीनी, चाय, कॉफी, कागज, तथा वेजीटेबिल तेल के ऊपर—का २५% भाग दिया जाय।

(३) वित्त आयोग ने यह भी सिफारिश की पटसन के निर्यात शुल्क के बदले पश्चिमी बंगाल को १५२.६९ लाख, बिहार को ७२.३१ लाख, आसाम को ७५ लाख तथा उड़ीसा को १५ लाख रुपये का अनुदान दिया जाय।

(४) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति पर इस्टेट ड्यूटी का वितरण जिस आधार पर राज्यों के मध्य किया जाय इसका भी आयोग ने सिफारिश की है। ये अनुदान १९६० सन् के अन्त में बन्द हो जायेंगे।

(५) इसी प्रकार राज्य सरकारों ने सेल्स टैक्स के स्थान पर कपड़े (textile), चीनी तथा तम्बाकू पर अतिरिक्त इक्साइज ड्यूटी से जो आय होगी इसका वितरण राज्यों के मध्य किसी आधार पर हो इसको भी आयोग ने सिफारिश की है।

(६) रेलभाड़े म टैक्स से जो आमदनी होगी उसके वितरण की भी सिफारिश की गई है।

सचित निधि —इस अध्याय में कई समय 'सचित-निधि' का प्रयोग किया गया है। यहाँ पर उचित प्रतीत होता है कि इसका अर्थ बतलाया जाय।

संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई है (धारा, २६६) कि भारत सरकार द्वारा प्राप्त सब राजस्व, राजहुडियो को निकाल कर उधार द्वारा और अर्थोपाय पेशगियो द्वारा लिए सब उधार, तथा उधारो के प्रतिदान में उस सरकार को प्राप्त सब धनो की एक सचित निधि बनेगी जो भारत की सचित निधि के नाम से ज्ञात होगी तथा राज्य की सरकार द्वारा प्राप्त सब राजस्व, राजहुडियो को निकाल कर उधार द्वारा और अर्थोपाय पेशगियो द्वारा लिए गए सब उधार तथा उधारो के प्रति दान में उस सरकार को प्राप्त सब धनो की एक सचित निधि बनेगी जो राज्य की सचित निधि के नाम से ज्ञात होगी।

भारत की सरकार तथा राज्यों की सरकार द्वारा या ओर से प्राप्त अन्य सब सार्वजनिक धन यथास्थिति भारत के या राज्य के लोक लेखे में जमा किये जायेंगे।

सचित निधि मे से धन केवल विधि की अनुकूलता से या इस संविधान म वर्णित रीति से ही निकाला जा सकता है, अन्यथा नही।

सचित निधि के अतिरिक्त भारत सरकार तथा राज्यों को सरकारें एक आकस्मिक निधि की भी स्थापना करेंगी। भारत सरकार के लिए ऐसी निधि की स्थापना ससद् विधि द्वारा करेगी। इसी के द्वारा यह भी निश्चय होगा कि इसमें समय-समय पर कौन सी राशियाँ डाली जायें। इस आकस्मिकता निधि

में से राष्ट्रपति संसद की आज्ञा मिलने से पूर्व व्यय कर सकता है। यह निधि राष्ट्रपति के हाथ में रखी गई है।

इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की भी एक आकस्मिक निधि होगी। इसकी स्थापना का अधिकार राज्यों के विधान मण्डल को दिया गया है। यह निधि राज्यपाल के हाथों में रहेगी और वह इसमें से विधान-मण्डल की आज्ञा के पूर्व आकस्मिक कार्यों के लिए धन दे सकता है।

प्रश्न

(१) संघ तथा राज्यों के मध्य संविधान द्वारा किस प्रकार अधिकार विभाजन किया गया है? संघ तथा इकाई राज्य सरकारों के अधिकार-क्षेत्र का वर्णन कीजिये।

(२) वित्त आयोग के क्या अर्थ हैं? इस आयोग की क्या सिफारिशें थीं?

(३) संघ तथा राज्यों के मध्य वित्तीय सम्बन्ध पर एक टिप्पणी लिखिए?

अनुसूचित क्षेत्रों तथा जन-जातियों के लिए विशेष प्रबन्ध

बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास, राजस्थान तथा आसाम में कई पिछड़े हुये वर्ग हैं जिनको जनजाति कहते हैं। सभ्यता की दृष्टि से ये अत्यन्त पिछड़ी हुई अवस्था में हैं। इनकी आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था भी शोचनीय है। इनकी उन्नति की दृष्टि से संविधान में इनके शासन के लिये विशेष उपबन्ध हैं।

ये अनुसूचित क्षेत्र संविधान द्वारा दो भागों में विभक्त किये गये हैं तथा उनके लिये अलग-अलग शासन-व्यवस्था का प्रबन्ध किया गया है। एक भाग में तो आसाम के जनजाति क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य राज्यों के ऐसे क्षेत्र रखे गये हैं। दूसरे भाग में आसाम के जनजाति क्षेत्र रखे गये हैं। इनके शासन का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

आसाम के अतिरिक्त अन्य अनुसूचित क्षेत्रों का निश्चय—राष्ट्रपति को संविधान द्वारा यह अधिकार दिया है कि वह आदेश द्वारा यह घोषणा करे कि विभिन्न राज्यों में कौन अनुसूचित जनजातियाँ हैं तथा कौन अनुसूचित क्षेत्र हैं। इस घोषणा में वह बाद को केवल निम्नलिखित परिवर्तन कर सकता है

(क) कि कोई सम्पूर्ण अनुसूचित क्षेत्र या उसका कोई उल्लिखित भाग अनुसूचित क्षेत्र या ऐसे क्षेत्र का भाग न रहेगा।

(ख) किसी अनुसूचित क्षेत्र को बदल सकेगा। किन्तु उसकी सीमाओं का शोधन करके ही बदल सकेगा।

(ग) किसी राज्य की सीमाओं के किसी परिवर्तन पर अथवा संघ में किसी नये राज्य के प्रवेश पर अथवा नये राज्य की स्थापना पर ऐसे किसी क्षेत्र को अनुसूचित क्षेत्र या उसका भाग घोषित कर सकेगा जो पहिले से किसी राज्य में समाविष्ट नहीं है।

इनका शासन—प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार उसमें के अनुसूचित क्षेत्रों तक होगा। परन्तु, उस राज्य के राज्यपाल को जिसमें अनुसूचित क्षेत्र हैं प्रतिवर्ष या जब भी राष्ट्रपति चाहे, इनके शासन प्रबन्ध के बारे में राष्ट्रपति को रिपोर्ट देनी होगी। संघ की कार्यपालिका को यह अधिकार है कि वह राज्य की कार्यपालिका को इन क्षेत्रों के शासन के बारे में आदेश

दे सकती है। इस प्रकार राज्यों की कार्यपालिका इस विषय में संघ कार्यपालिका के अधीन की गई है। राज्यपाल यह आदेश दे सकता है कि संसद या उस राज्य के विधान मण्डल का कोई कानून उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्र या उसके किसी भाग में बिल्कुल ही लागू नहीं होगा या कुछ परिवर्तनों के साथ लागू होगा। राज्यपाल को यह भी अधिकार है कि वह ऐसे क्षेत्रों की शान्ति और सुशासन के लिये नियम बना सकेगा। वह अनुसूचित जनजाति के सदस्यों द्वारा भूमि के हस्तान्तरण या उसके वितरण के सम्बन्ध में नियम बना सकता है। ऐसे नियम तब तक लागू नहीं होंगे जब तक कि उन्हें राष्ट्रपति की अनुमति न मिल जावे। राज्यपाल ऐसे नियमों को बनाने के पूर्व उस राज्य में जनजाति मंत्रणा परिषद् से परामर्श लेगा।

जनजाति मंत्रणा परिषद् —प्रत्येक राज्य में, जिसमें अनुसूचित क्षेत्र हैं, तथा राष्ट्रपति के आदेश पर ऐसे राज्यों में भी, जहां अनुसूचित जनजातियां हैं यद्यपि अनुसूचित क्षेत्र नहीं है, एक जनजाति मंत्रणा परिषद् स्थापित होगी। इसमें बीस से अधिक सदस्य नहीं होंगे। इसके सदस्यों में से जहाँ तक सम्भव हो तीन चौथाई उस राज्य की विधान सभा में से अनुसूचित जनजातियों के प्रतिनिधि होंगे। परन्तु अगर विधान मण्डल में प्रतिनिधियों की संख्या इस निश्चित संख्या से कम है तो शेष स्थान उन जातियों के अन्य सदस्यों द्वारा भरे जायेंगे।

इस परिषद् का कर्तव्य होगा कि वह उस राज्य की जनजातियों के कल्याण और उन्नति से सम्बन्ध रखने वाले ऐसे विषयों पर राय दे जो कि उसको राज्यपाल द्वारा सौंपे जायें।

राज्यपाल को परिषद् के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों पर नियम बनाने का अधिकार है —

(क) सदस्यों की संख्या, उनकी नियुक्ति तथा परिषद् के सभापति तथा पदाधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति।

(ख) परिषद् के अधिवेशनों के संचालन तथा उनकी साधारण प्रक्रिया।

(ग) अन्य सब प्रासंगिक विषयों पर।

इन क्षेत्रों के विषय में उपरोक्त वर्णित उपबन्धों को संसद् जब चाहे तब संशोधित कर सकती है। ऐसा संशोधन संविधान का संशोधन नहीं समझा जावेगा। अर्थात संसद् साधारण विधि से ही इनमें संशोधन कर सकती है।

आसाम के जनजाति क्षेत्र —आसाम के जन-जाति क्षेत्रों के बारे में संविधान में अन्य राज्यों के जन जाति क्षेत्रों से अलग उपबन्ध है। इसका कारण यह है कि आसाम के जन-जाति धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से सर्वथा भिन्न हैं। इस कारण यह स्वाभाविक था कि उनके शासन के लिये विशेष व्यवस्था हो। भारत की अन्य जन-जातियाँ साधारणत हिन्दू समाज के अन्तर्गत आ जाती है परन्तु आसाम की जन-जातियाँ अपना अलग अस्तित्व रखती हैं।

आसाम के जनजाति क्षेत्रों को दो भागों में बाँट दिया गया है—इनको क्रमश 'क' तथा 'ख' भाग कहा जाता है।

'क' भाग में ६ क्षेत्र हैं। इनमें से प्रत्येक एक स्वायत्त क्षेत्र है। इनके नाम हैं :—

(१) संयुक्त खासी-जयंतिया पहाड़ी।

(२) गारो पहाड़ी जिला।

(३) लुसाई पहाड़ी जिला, (संसद् ने एक विधेयक पारित कर यह निश्चय किया है कि इस जिले का नाम मिजो जिला (Mizo District) कर दिया जाय)।

(४) नागा पहाड़ी जिला।

(५) उत्तरी कछार पहाड़ियाँ।

(६) मिकिर पहाड़ियाँ।

'ख' भाग में निम्नलिखित क्षेत्र हैं —

(१) उत्तरी-पूर्वी सीमान्त इलाका जिसके अन्तर्गत बालिपारा सीमान्त इलाका, तिराप सीमान्त इलाका, अबोर पहाड़ी जिला और मिशिम पहाड़ी जिला भी हैं।

(२) नागा जनजाति क्षेत्र।

राज्यपाल, राष्ट्रपति की अनुमति से, 'ख' भाग में वर्णित जनजाति क्षेत्रों का शासन उन्हीं उपबन्धों द्वारा कर सकता है जो कि 'क' भाग के लिए लागू होंगे। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक राष्ट्रपति इन जन-जाति क्षेत्रों का शासन आसाम के राज्यपाल द्वारा करवायेगा। राज्यपाल राष्ट्रपति के एजेन्ट के रूप में अपने स्वविवेक से काम करेगा। इन क्षेत्रों को स्वायत्त शासन का अधिकार इसलिए नहीं दिया गया क्योंकि अभी तक भारतीय अधिकारियों को इनके कुछ भागों के बारे में पूरा परिचय नहीं है।

'क' भाग के जनजाति क्षेत्रों का शासन—इस भाग के प्रत्येक जनजाति क्षेत्र का एक स्वायत्त जिला होगा। यदि किसी जिले में भिन्न-भिन्न जन-जातियाँ हैं तो राज्यपाल इन जन जातियों के अनुसार जिले को स्वायत्त प्रदेशों (autonomous regions) में बाँट देगा। राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह दो स्वायत्त जिलों को मिलाकर एक कर दे, या एक को दो में बाँट दे, या किसी स्वायत्त जिले के क्षेत्र को घटा दे, या बढा दे।

प्रत्येक स्वायत्त जिले के लिए जिला परिषद् होगी। इसमें चौबीस से अधिक सदस्य नहीं होंगे। इसमें कम से कम तीन-चौथाई का वयस्क-मताधिकार के आधार पर निर्वाचन होगा। प्रत्येक स्वायत्त प्रदेश के लिये एक प्रादेशिक परिषद् होगी। स्वायत्त प्रदेश का शासन प्रादेशिक परिषद् में तथा जिले का शासन जिला-परिषद् में निहित होगा। राज्यपाल जिला-परिषद् तथा प्रादेशिक-परिषद् के प्रथम गठन के लिए नियम बनायेगा। इसके पश्चात् ये परिषदें स्वयं अपने गठन के लिये नियम बना लेंगी।

इन परिषदों को चार प्रकार के अधिकार हैं—कानून सम्बन्धी, न्याय-सम्बन्धी, वित्त-सम्बन्धी तथा शिक्षा सम्बन्धी।

कानून सम्बन्धी—इन परिषदों को अपने अपने क्षेत्र के अन्दर निम्न-लिखित विषयों पर कानून बनाने का अधिकार है—

(१) किसी रक्षित वन की भूमि को छोड़कर अन्य भूमि को ऐसे प्रयोजन लिये जिससे किसी ग्राम नगर निवासियों के हितों की उन्नति सम्भव हो, बाँटना (allotment), दखल, या उपयोग या अलग रखना।

(२) रक्षित वन न होने वाले किसी वन का प्रबन्ध।

(३) कृषि प्रयोजनार्थ किसी नहर या जलधारा का प्रयोग।

(४) झूम की प्रथा या अन्य प्रकार की स्थानान्तरणशील (shifting) कृषि की प्रथा का विनियम (regulation)।

(५) ग्राम अथवा नगर समितियों या परिषदों की स्थापना और उनकी शक्तियाँ।

(६) ग्राम या नगर प्रशासन से सम्बद्ध कोई अन्य विषय जिनके अंतर्गत ग्राम या नगर पुलिस और लोक-स्वास्थ्य तथा स्वच्छता भी हैं।

(७) प्रमुखों या मुखियों की नियुक्ति तथा उत्तराधिकार।

(८) सम्पत्ति का दायभाग (inheritance)।

(९) विवाह ।

(१०) सामाजिक रूढ़ियाँ ।

परन्तु इन सब विषयों पर उपरोक्त परिषदों द्वारा निर्मित कानून तब तक लागू नहीं होंगे जब तक उन्हें राज्यपाल की अनुमति प्राप्त न हो जाय। जिला परिषद को अपने क्षेत्र के अन्दर निवास करने वाले जन-जातियों से भिन्न लोगों की साहूकारी तथा व्यापार पर नियन्त्रण के लिए नियम बनाने का भी अधिकार है।

न्याय सम्बन्धी :—जिला परिषद तथा प्रदेश-परिषद् को अपने अपने क्षेत्र के अन्दर ग्राम परिषदें या न्यायालय स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इनमें ऐसे मामले आयेंगे जिनमें दोनों पक्ष इन क्षेत्रों के भीतर की जन-जातियों के ही हैं। इन ग्राम परिषदों तथा न्यायालयों से अपील प्रदेश परिषद् या जिला परिषद में होगी। आसाम के उच्च न्यायालय को इनके ऊपर ऐसे अधिकार होंगे जैसे कि राज्यपाल समय समय पर आदेश दे। राज्यपाल इन परिषदों को व्यवहार प्रक्रिया संहिता १९०८ (Code of Civil Procedure) तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता १८९८ (Code of Criminal Procedure) के अधीन कुछ शक्तियाँ प्रदान कर सकता है जैसे मृत्यु दंड, आजीवन कालापानी या ५ वर्ष से अधिक के लिये कारावास। राज्यपाल जब चाहे तब इन शक्तियों को छीन सकता है या उनमें अदलाबदल कर सकता है।

वित्त सम्बन्धी :—जिला परिषद तथा प्रदेश परिषद् को अपने अपने क्षेत्र के अन्दर सब भूमियों के बारे में उन सिद्धान्तों के अनुसार लगान लगाने और वसूल करने का अधिकार होगा जो साधारणतः आसाम सरकार द्वारा माने जाते हैं। वे अपने क्षेत्र के अन्दर भूमि तथा इमारतों पर कर तथा उन क्षेत्रों में निवास करने वाले व्यक्तियों पर पथ कर (Tolls) लगा सकती हैं। इनके अतिरिक्त इनको नीचे लिखे कर लगाने तथा वसूल करने का भी अधिकार है : वृत्तियों, व्यापारियों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर, पशुओं, यानों और नावों पर कर, किसी बाजार में वहाँ बिकने के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर तथा नावों से जाने वाले व्यक्तियों और माल पर पथ कर, पाठशालाओं औषधालयों या सड़कों के बनाये रखने के लिये कर। इनके अतिरिक्त जिला परिषद को अपने क्षेत्र के अन्दर जो खानें हैं उनकी आमदनी का एक भाग दिया जायगा। इसका निश्चय आसाम सरकार तथा जिला परिषद के बीच एक करार द्वारा किया जायगा। अगर इसके बारे में कोई झगड़ा हो तो राज्यपाल उसका निश्चय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा।

प्रत्येक जिला में एक जिला निधि तथा प्रदेश में एक प्रदेश निधि होगी जिसमें क्रमश: जिले तथा प्रदेश द्वारा प्राप्त सब धनों को जमा किया जावेगा। इन निधियों के प्रबन्ध के लिये जिला परिषद् तथा प्रदेश परिषद् राज्यपाल के अनुमोदन से नियम बनायेंगे।

शिक्षा सम्बन्धी, आदि अधिकार—जिला परिषद् को अपने क्षेत्र में प्राथमिक विद्यालयों, औषधालयों, बाजारों काञीहौस, नौघाट, मीन-क्षेत्र (Fisheries) सड़कों और जल पथों की स्थापना, निर्माण और प्रबन्ध करने का अधिकार है। वह इसका भी निश्चय करेगी कि प्राथमिक शिक्षा किस भाषा में दी जावे तथा किस रीति से दी जावे।

जाँच आयोग—राज्यपाल इन जिलों के या प्रदेशों के शासन की जाँच के लिये किसी समय भी एक आयोग नियुक्त कर सकता है। विशेषतः ऐसा आयोग निम्नलिखित बातों की जाँच करेगा:—(१) शिक्षा और चिकित्सा की सुविधाएँ तथा उनके प्रबन्ध, (२) इन क्षेत्रों के बारे में किसी नये विधान की आवश्यकता तथा, (३) इन परिषदों द्वारा बनाये गये विधियों, नियमों आदि की। यह आयोग अपनी जाँच की रिपोर्ट राज्यपाल को देगा। इन बातों के अतिरिक्त राज्यपाल इन जिलों की सीमाओं के बारे में, नये जिले बनाने के या दो जिलों को मिलाकर एक करने के बारे में, उनके क्षेत्रों को घटाने या बढ़ाने के बारे भी जाँच करने के लिये आयोग स्थापित कर सकता है। इस प्रकार के आयोगों की रिपोर्ट को राज्यपाल विधानमण्डल के सामने रखवायेगा। राज्यपाल एक मन्त्री को विशेषतया इन क्षेत्रों के कल्याण के लिये नियुक्त कर सकेगा।

संविधान में जन जातियों तथा जनजाति क्षेत्रों के बारे में विशेष उपबन्ध

इन विशेष उपबन्धों की व्यवस्था इस कारण की गई है ताकि ये पिछड़े हुए वर्ग जल्दी से अन्य भागों के समतल हो जावें। संसद तथा विधानमंडलों में इन अनुसूचित जनजातियों को (सिवाय आसाम के 'ख' भाग के) विशेष प्रतिनिधित्व दिया गया है। यह उपबन्ध संविधान आरम्भ होने से दस वर्ष तक रहेगा।

जिन राज्यों में ऐसे क्षेत्र हैं उन्हें इनके विकासार्थ तथा कल्याणार्थ योजनाएँ बनाने को उत्साहित किया गया है। इन योजनाओं के भारत सरकार का अनुमोदन प्राप्त होने पर उन्हें कार्यान्वित करने का पूरा खर्च भारत सरकार

सम्बन्ध में अनुसूचित जातियां समझी जावें, इसका निश्चय करेगा। स्वायत्त राज्यों के बारे में वह इसके राज्यपाल से परामर्श करके इसका निश्चय करेगा। १० अगस्त १९५० को राष्ट्रपति ने एक आदेश द्वारा आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत, मैसूर, पटियाला तथा पूर्वी बंगाल राज्यसंघ, हैदराबाद, ट्रावनकोर-कोचीन, राजस्थान तथा सौराष्ट्र में कौन-कौन अनुसूचित जातियां हैं इसकी घोषणा की। राष्ट्रपति द्वारा इस प्रकार निर्मित सूची में संसद् को परिवर्तन करने का अधिकार है।

लोकसभा में अनुसूचित जातियों के लिये स्थान उनकी जनसंख्या के आधार पर रक्षित रहेंगे। इसी प्रकार राज्यों की विधान सभाओं में भी उनके लिये स्थान सुरक्षित रखे गए हैं परन्तु यह व्यवस्था संविधान प्रारम्भ होने के दस वर्ष बाद समाप्त हो जावेगी। संघ तथा राज्य की नौकरियों में भी नियुक्तियां करने में इन जातियों के सदस्यों के दावे का ध्यान रखा जावेगा। सितम्बर १९५० में इनके लिये केन्द्रीय नौकरियों में सुरक्षित स्थानों की संख्या निश्चित कर दी गई है।

राष्ट्रपति अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिये एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करेगा। इसका काम संविधान द्वारा इन वर्गों के लिये जो विशेष व्यवस्था कि गई है उससे सम्बद्ध बातों की जाँच करना तथा राष्ट्रपति को उसके बारे में रिपोर्ट देना होगा। राष्ट्रपति इसकी रिपोर्ट को संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाएगा। यह पदाधिकारी आंग्ल-भारतीय समुदाय तथा पिछड़े वर्गों के विषय में जाँच करेगा। इस उपबन्ध के अनुसार नवम्बर १८,१९५० को राष्ट्रपति द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिये एक कमिश्नर की नियुक्ति की गई। इसके अधीन ६ सहायक कमिश्नर हैं। इनमें से प्रत्येक एक-एक क्षेत्र विशेष के लिये कार्य करता है। कमिश्नर द्वारा अभी तक राष्ट्रपति को चार रिपोर्टें दी जा चुकी है।

राष्ट्रपति संविधान लागू होने के दस वर्ष पश्चात् एक आयोग की नियुक्ति करेगा जो कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के शासन के सम्बन्ध में उसको रिपोर्ट देगा। राष्ट्रपति इसकी नियुक्ति इस काल के पूर्व भी कर सकता है। इसी प्रकार राष्ट्रपति सांस्कृतिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की दशा की जाँच करने के लिये भी एक आयोग स्थापित कर सकता है। इन आयोग की रिपोर्ट संसद के सम्मुख रखी जावेगी।

आंग्ल भारतीय समुदाय:—अगर राष्ट्रपति यह सोचें कि लोकसभा में इस समुदाय का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह इसके अधिक से

अधिक दो सदस्यों को मनोनीत कर सकता है। इसी प्रकार राज्यों में राज्य-पाल को यह अधिकार दिया गया है कि वह इस समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व न होने पर विधान सभा में जितने उचित समझे उतने इस समुदाय से सदस्य मनोनीत कर सकता है। यह विशेष व्यवस्था संविधान प्रारम्भ होने के ' ' वर्ष के पश्चात् लागू नहीं रहेगी।

अंग्रेजी सरकार के अधीन आंग्ल-भारतीय के लिये कुछ सरकारी सेवाओं में बहुत अधिक स्थान थे जैसे रेलवे, कस्टम्स डाक तार विभाग। इस समुदाय के अधिकतर सदस्य अपनी आजीविका के लिए सरकारी नौकरी करते आए हैं। इसलिए यह उचित समझा गया है कि नये संविधान के लागू होने पर एकदम इनकी स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस लिये संविधान द्वारा यह उपबन्ध किया गया कि इसके प्रारम्भ के पश्चात् प्रथम दो वर्षों में संघ की रेल, कस्टम्स, डाक तार सम्बन्धी सेवाओं में उस समुदाय के लोगों की नियुक्तियाँ उसी आधार पर की जावेंगी जिस आधार पर १५ अगस्त १९४७ ई० से पूर्व की जाती थी। संविधान लागू होने के प्रत्येक दो वर्ष की समाप्ति पर समुदाय के लिए रक्षित स्थानों में दस प्रतिशत कमी की जावेगी। तथा १० वर्ष की समाप्ति पर इस प्रकार के रक्षणों का अन्त हो जावेगा।

आंग्ल भारतीय समुदाय के शिक्षण के लिये विशेष अनुदानों का प्रबन्ध किया गया है। संविधान लागू होने के बाद तीन वर्ष तक इनकी शिक्षण-संस्थाओं को विभिन्न राज्यों में वही अनुदान मिलते रहेंगे जैसे कि ३१ मार्च १९४८ ई० को अन्त होने वाले वित्तीय वर्ष में दिए गए थे। इस काल पश्चात् प्रति तीन वर्ष की समाप्ति पर इन अनुदानों में १० प्रतिशत कमी की जावेगी। परन्तु संविधान प्रारम्भ होने से १० वर्ष की समाप्ति पर ऐसी रियायतों का अन्त हो जावेगा। परन्तु किसी आंग्ल भारतीय शिक्षण संस्था को इस प्रकार के विशेष अनुदान तब तक नहीं दिए जायेंगे जब तक इसमें कम से कम ४० प्रतिशत आंग्ल-भारतीयों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के विद्यार्थी प्रति वर्ष प्रवेश न पायें।

पिछड़े वर्गों के लिए कमीशन—राज्य की नीति के निदेशक तत्व वाले भाग में यह उपबन्ध है कि राज्य जनसंख्या के पिछड़े वर्गों की उन्नति—आर्थिक तथा सांस्कृतिक—की ओर विशेष ध्यान देगा। इसी को ध्यान में रखते हुए संविधान की ३४० धारा में कहा गया है कि राष्ट्रपति भारत-राज्य क्षेत्र के अन्दर सामाजिक तथा शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की दशा की जाच करवाने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति करेगा। यह कमीशन इस बात की

सिफारिश करेगा कि उन्नति के हेतु संघ तथा राज्य सरकारों को क्या करना चाहिये। तथा इस उद्देश्य से उनको क्या अनुदान (Grants) देना चाहिये। दिसम्बर १९५२ में गृहमन्त्री ने संसद् में यह घोषणा की कि शीघ्र ही इस कमीशन की नियुक्ति की जावेगी। जनवरी १९५३ में राष्ट्रपति ने अपने आदेश द्वारा इस कमीशन को नियुक्त किया। इसके निम्नलिखित सदस्य थे।

(१) श्री काका साहब कालेलकर (सभापति)
(२) श्री एन० एस० कजरोलकर
(३) श्री भीका भाई
(४) श्री शिवदयाल सिंह चौरसिया
(५) श्री राजेश्वर पटेल
(६) श्री अब्दुल कैय्यूम अन्सारी
(७) श्री लाला जगन्नाथ
(८) श्री नरेप्पा
(९) श्री अरुणांशु दे

इस कमीशन के निम्नोक्त कर्तव्य थे :—

(अ) इस बात का निर्णय करना कि किन आधार (criterion) पर किसी वर्ग विशेष अथवा जनसंख्या के भाग को पिछड़ा वर्ग कहा जा सकता है।

(ब) सम्पूर्ण भारत के लिए ऐसे वर्गों की तालिका प्रस्तुत करना।

(स) इनकी दशा तथा कठिनाइयों की जाँच करना तथा इस बात की सिफारिश करना कि संघ सरकार तथा राज्य सरकारें को इनकी दशा में सुधार करने के लिए क्या करना चाहिए।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को ३१ मार्च, १९५५ को दी। सरकार ने इस रिपोर्ट के आधार पर पिछड़े वर्गों के हित में कुछ महत्त्वपूर्ण पग उठाए हैं। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए एक-एक केन्द्रीय परामर्शदात्री बोर्ड का निर्माण किया गया है। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए भी इसी प्रकार के एक बोर्ड की स्थापना का विचार है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कमीशन के सिफारिशों को पूरा करने के लिए अनेक योजनाएँ हैं।

प्रश्न

(१) अनुसूचित क्षेत्रों से क्या तात्पर्य है ? आसाम के अतिरिक्त अन्य अनुसूचित क्षेत्रों का किस प्रकार निश्चय किया जावेगा तथा वहाँ की क्या शासन व्यवस्था होगी ?

(२) आसाम के अनुसूचित क्षेत्रों के लिये संविधान में क्या विशेष व्यवस्था है।

(३) आंग्ल-भारतीय समुदाय के हितों को किस प्रकार सुरक्षित रखा गया ?

(४) पिछड़े वर्गों के कमीशन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अध्याय १८

राजभाषा

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत की राजभाषा अँग्रेजी थी। क्योंकि उस समय हमारे शासक अँग्रेज थे और यह स्वाभाविक था कि विदेशी शासक अपनी ही भाषा को सरकारी-भाषा भी बनावें। नये संविधान द्वारा देवनागरी लिपि में हिन्दी राजभाषा बना दी गई है। परन्तु अंकों का रूप अन्तर्राष्ट्रीय ही होगा। यह इसलिये किया गया क्योंकि दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों का कहना था कि यही अंक माने जांय। हिन्दी भाषा का प्रचार करना तथा उनका विकास करना संघ का कर्त्तव्य बना दिया गया है।

परन्तु एकदम से हिन्दी को सब कामों के लिये व्यवहृत कर देना उचित नहीं था। क्योंकि बहुत काल से सब काम अँग्रेजी में ही होता आया है। बहुत से लोगों को हिन्दी का ज्ञान नहीं है या अत्यन्त स्वल्प है। तीसरे हिन्दी अभी अँग्रेजी के बराबर उन्नत भाषा नहीं है। इन सब कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुये संविधान में यह उपबन्ध है कि १५ वर्ष के लिये संघ की सरकारी भाषा अँग्रेजी भाषा ही रहेगी। परन्तु राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि उक्त काल के अन्दर ही आदेश द्वारा संघ के राजकीय प्रयोजनों में से किसी के लिये अँग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषा का तथा देव नागरी अंकों का प्रयोग अधिकृत कर दे। इसके साथ ही साथ यह भी उपबन्ध है कि १५ वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर भी संसद् विधि द्वारा अँग्रेजी भाषा का प्रयोग सरकारी प्रयोजनों के लिये अधिकृत कर सकेगी। संसद् अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के स्थान में देवनागरी अंकों का प्रयोग विधि द्वारा १५ वर्ष की कालावधि समाप्त होने पर करवा सकती है।

हिन्दी भाषा के लिए आयोग :—संविधान के प्रारम्भ के ५ वर्ष पश्चात् तथा फिर इसके १० वर्ष बाद, राष्ट्रपति आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेगा। इसमें एक सभापति तथा निम्नलिखित भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सदस्य होंगे : असामिया, उड़िया उर्दू, कन्नड़, काश्मीरी, गुजराती, तामिल, तेलुगू, पंजाबी, मलयालम, संस्कृत तथा हिन्दी।

इस आयोग का काम यह होगा कि राष्ट्रपति को सरकारी कामों में हिन्दी भाषा के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग के सरकारी कामों के लिये अँग्रेजी भाषा के प्रयोग पे, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय में प्रयोग की जाने वाली भाषा के, तथा अन्य ऐसे विषयों के जो राष्ट्रपति इसको सौंपे, बारे में सिफारिश करे। इस आयोग की सिफारिशें एक समिति के सामने रखी जावेंगी। इस समिति में २० सदस्य लोकसभा से तथा १० राज्यपरिषद् से चुने जायेंगे। इस समिति का काम भाषा आयोग की सिफारिशों पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट देना होगा। राष्ट्रपति इस रिपोर्ट पर विचार करने के पश्चात् आदेश निकालेगा।

७ जून, १९५० को भारत सरकार द्वारा हिन्दी कमीशन की स्थापना की घोषणा की गई थी। यह कमीशन श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में बना था। उनके अतिरिक्त इसमें २० सदस्य थे। हिन्दी के प्रयोग के विषय में अपनी सिफारिश करते हुये कमीशन का देश की औद्योगिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक प्रगति और सार्वजनिक सेवाओं में अहिन्दी क्षेत्रों के निवासियों की उचित मांगों तथा हितों को ध्यान में रखते हुए अपनी सिफारिशें देनी थी। इस आयोग की सिफारिश के आधार पर केन्द्रीय सरकार ने यह निश्चय किया कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राजभाषा के रूप में व्यवहृत करने में शनैः शनैः बढ़ना चाहिये।

प्रादेशिक भाषायें —कोई राज्य अपने में सरकारी कामों के लिये उस राज्य में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं में से एक या अधिक को या हिन्दी को विधि द्वारा अंगीकार कर सकता है। परन्तु जब तक इस बारे में कोई विधि का निर्माण नहीं किया जाता है तब तक सरकारी कामों के लिये अंग्रेजी प्रयुक्त होगी।

राज्यों के बीच में तथा उनके और संघ के बीच में संचार के लिये राजभाषा अँग्रेजी ही रखी गई है। परन्तु दो अधिक राज्य आपस में करार द्वारा हिन्दी का प्रयोग कर सकते हैं।

अगर किसी राज्य के अन्दर जनसंख्या की पर्याप्त मात्रा यह चाहती है कि उसके द्वारा बोली जाने वाली भाषा राज्य द्वारा मान ली जावे तो राष्ट्रपति आदेश दे सकता है कि वह भाषा राज्य के अन्दर या उसके किसी भाग में सरकारी कामों के लिये मान ली जावेगी।

उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय की भाषा

जब तक संसद विधि द्वारा प्रबन्ध न करे उच्चतम न्यायालय तथा उच्च-न्यायालय में सब कार्यवाहियाँ अँग्रेजी में होंगी। इसके अतिरिक्त संसद् में

या किसी विधान-मंडल में पेश किये जाने वाले सब बिल, या उनके संशोधन, या संसद् अथवा विधान-मंडलों द्वारा पास कोई अधिनियम, या कोई अध्यादेश, या कोई नियम इत्यादि के प्राधिकृत पाठ (authoritative texts) अंग्रेजी में होंगे।

राज्यपाल राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से हिन्दी या अन्य किसी भाषा को जो राज्य के अन्दर सरकारी काम के लिये प्रयुक्त (authorise) कर सकता है। परन्तु उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय, आदेश आदि अंग्रेजी में दिये जायेंगे।

अगर किसी राज्य में बिल, ऐक्ट या अध्यादेश आदि के लिये अंग्रेजी के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा प्रयोग की जाती है तो वहाँ यह आवश्यक होगा कि राजकीय सूचना-पत्र में इन सब का अंग्रेजी अनुवाद छापा जाय।

इन उपबन्धों का संशोधन —इस विषय में संविधान में यह कहा गया है [illegible] के पन्द्रह वर्ष बाद तक कोई संशोधन [illegible] नहीं पेश किया जायेगा। राष्ट्रपति [illegible] या समिति की राय ले लेगा।

अध्याय २६

राष्ट्रीय जागृति

जब १७ वीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज व्यापारी भारत में आए, तब यह किसी ने भी नहीं सोचा होगा कि एक दिन इन्हीं व्यापारियों की सन्तान भारत में शासन करेगी। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारत में अंग्रेज व्यापारियों ने भूमि विजय प्रारम्भ कर दी तथा १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में वे सर्वेसर्वा हो गए। जो थोड़े से भारतीय राज्य उनके अधीन नहीं हुए थे वे भी धीरे-धीरे उनके अधीन होने वाले थे। क्योंकि भारत में कोई भी राज्य इतना शक्तिशाली नहीं बचा था जो कि अंग्रेजों की शक्ति को पराजित कर सकता। अंग्रेजों की सफलता का सबसे मुख्य कारण यह भी था कि भारत में एकता का नितान्त अभाव था। भारतीय नरेश आपसी वैमनस्य के कारण निर्बल हो गए थे। इसके अतिरिक्त, यह बात भी नहीं भूलना चाहिये कि अंग्रेजों की युद्ध कला भी हमसे उच्च कोटि की थी। केवल भारत में ही नहीं परन्तु अन्य एशियाई देशों में भी जहाँ कहीं यूरोपियन पहुँचे, जैसे चीन, वे अपनी उच्च युद्धकला के कारण सफल रहे। उनके अस्त्र-शस्त्र भी उच्च कोटि के थे। भारत में अंग्रेजों की विजय का फल यह हुआ कि न केवल उन्होंने हमारे देश को जीता ही परन्तु हमको उन्होंने दासता में जकड़ लिया।

अंग्रेजी विजेता अपने को सभ्य तथा भारतवासियों को असभ्य समझते थे। उनमें प्रत्येक भारतीय वस्तु के लिए निरादर था। उनकी आशातीत सफलता के कारण भारतीय भी उनसे इतना अधिक प्रभावित हुए कि प्रत्येक यूरोपीय वस्तु के लिए उनके हृदय में महान् आदर की भावना घर कर गई। इसका फल यह हुआ कि भारतीय सभ्यता के प्रति उनके हृदय में निरादर भर गया और उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता का अन्धाधुन्ध अनुकरण आरम्भ किया। भारतीयों के मन में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति विरक्ति हो गई। ईसाई पादरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के साथ-साथ भारतीयों के धर्म-विश्वासों के ऊपर भी आक्रमण किया। इनके अनुसार भारतीय-धर्म केवल अन्ध विश्वास मात्र थे। ईश्वर तक पहुँचने का ठीक रास्ता केवल ईसाई धर्म था। इस प्रकार इस बात में विदेशियों ने न केवल हमारे देश को ही

जीता परन्तु उनका प्रयास हमारे मन को भी जीतने का था और इसमें भी वे काफी मात्रा तक सफल हुए थे।

परन्तु इस समय भारत में कुछ धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे किया जावेगा। इन धार्मिक आन्दोलनों ने हमारी सुप्तप्राय चेतना को पुन जगाया। बंगाल में राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) ने ब्रह्म समाज आन्दोलन चलाया। इसके विषय में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने लिखा है कि इसने बंगाल को, जो कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने संज्ञा-शून्य कर दिया था, फिर से चैतन्य किया। उत्तर-पश्चिमी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने आर्य समाज आन्दोलन चलाया। स्वामी जी ने कहा कि हिन्दुओं का प्राचीन वैदिक धर्म सब धर्मों से ऊँचा है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में अन्य धर्मों की आलोचना की तथा यह दिखलाने का प्रयास किया है कि हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। स्वामी जी का आन्दोलन यद्यपि मुख्यतः धार्मिक, था, परन्तु इसके साथ-साथ यह राष्ट्रीय भी था। इसने भारत की राजनैतिक जागृति में महत्वपूर्ण काम किया।[1] श्री रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भी भारतीयों को जगाने में महत्वपूर्ण काम किया। इन दोनों धार्मिक नेताओं ने भारतीयों को यह ज्ञान दिया कि भारत आध्यात्मिकता की दृष्टि से संसार में सबसे बढ़ा-चढ़ा है। यह सच्चे धर्म का घर है। थियोसोफिकल समाज ने जिसका आरम्भ सन् १८८२ में मद्रास में हुआ, भारत को जगाने में काफी काम किया। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने जो कि १८९३ ई० में भारत आयीं, इस आन्दोलन में भाग लिया तथा अपने मृत्युपर्यन्त वे इसके लिए पूर्णरूपेण प्रयत्नशील रहीं। इन सब धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव यह हुआ कि भारत में एक नवीन जागृति प्रारम्भ हुई। यहाँ के निवासियों में आत्म-विश्वास तथा आत्म-गौरव के भाव जगे। यह भावना कि हम यूरोपीय सभ्यता के सम्मुख बिलकुल ही गिरे हुए हैं, दूर हुई। तथा इनके साथ साथ सामाजिक कुरीतियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ और यह बात समझ में आने लगी कि बिना इन सामाजिक बुराइयों को दूर किए हुए हमारा उत्थान सम्भव नहीं है। यद्यपि ये सब

---

1. इसके विषय में लेखक ने लिखा है कि It was "at once a religious and national revival It sought to bring new life to India and the Hindu race." Hans Kohn, History of Nationalism in the East. p 62.

आन्दोलन मुख्यतः धार्मिक थे परन्तु साथ-साथ इन्होंने हमारे अन्दर राष्ट्रीयता का भी प्रचार किया। अतएव हमारे राजनैतिक जागृति के इतिहास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

इसी समय यूरोप में कई विद्वानों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के ऊपर शोध-कार्य किया तथा अपनी खोजों के फलस्वरूप उन्होंने भारत के महान अतीत को सबों के सामने रखा। उनके अनुसार भारत की सभ्यता, साहित्य तथा दर्शन सब बहुत ही उच्च कोटि के थे। इन पाश्चात्य विद्वानों में मुख्य मैक्समूलर विलियम्स, रौथ बर्नाफ आदि थे। भारतीयों के ऊपर इनकी पुस्तकों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। अपने अतीत गौरव के प्रति हमारे मन में सम्मान की भावना जगी। हमें यह लगने लगा कि हमारी सभ्यता के सम्मुख यूरोपीय सभ्यता कुछ भी नहीं है।

धर्म ने राष्ट्रीयता के विकास में केवल भारत में ही नहीं परन्तु कई अन्य देशों में भी महत्वपूर्ण भाग लिया है। उदाहरणार्थ, दक्षिण-पूर्वी योरोप में भी राष्ट्रीयता की जागृति में धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है। ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट होगा कि भारत में "धर्म ने राष्ट्रीयता को प्रेरणा दी।"

भारत में राष्ट्रीय-चेतना के जागृत होने में धार्मिक-आन्दोलनों के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य कारण हैं —

अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव —भारतवर्ष में शासनतंत्र चलाने के लिए उच्च अफसर तो अंग्रेज होते थे परन्तु निम्नकोटि के सरकारी कर्मचारी भारतीय ही हो सकते थे। इसलिए हमारे विदेशी शासकों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना की ताकि उन्हें क्लर्क मिल सकें। परन्तु इस शिक्षा का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण हुआ। एक तो यह कि इससे भारतवर्ष में एक कोने से लेकर दूसरे कोने में शिक्षित समुदाय में भाषा की एकता स्थापित हो गई। इसके फलस्वरूप जो विभिन्न भाग के निवासियों में भाषा की विभिन्नता के कारण विचारों के आदान-प्रदान में व्यवधान था, वह दूर हो गया। दूसरे, अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीयों का पाश्चात्य-विचारों से परिचय हुआ। उस समय योरोप में राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, उदारवाद आदि जोरों पर थे। भारतीयों का भी इन विचारों से परिचय हुआ। विद्वान तथा दार्शनिक जैसे मिल स्पेन्सर, रूसो आदि के विचारों ने भारतीयों को प्रभावित किया। इस प्रकार हमारे देशवासियों को प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों का ज्ञान मिला।[1]

---

1. "Mr Herbert Spencer's individualism and Lord Morley's liberalism are as it were, the only battery of guns which India

बहुत से भारतीय शिक्षा या अन्य उद्देश्यों से इंगलैंड गये। वहाँ उन्होंने देखा कि स्वतन्त्र-देश के नागरिक किस प्रकार अपने अधिकारों का उपभोग करते हैं। वहाँ उन्होंने यह अनुभव किया कि बिना स्वतन्त्रता के व्यक्तित्व का विकास सम्भव नहीं है। वहाँ जाकर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि बिना स्वराज्य के जीवन का उपभोग नहीं हो सकता है। ये भारतीय जब विदेश से वापिस आए तो यहाँ के परतन्त्र वातावरण में उनकी साँस घुटने लगी। अतएव उनमें असन्तोष स्वाभाविक था।

मैकौले ने जो कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा के लिए उत्तरदायी था, यह पहले ही देख लिया था कि अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव भारत में राजनैतिक अधिकार की माँग करेगा।

देश में एकता की स्थापना —यद्यपि यह नितान्त सत्य है कि सांस्कृतिक दृष्टि से भारत प्राचीनकाल तथा मध्यकाल में एक था तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि राजनैतिक दृष्टि से भारत की एकता सर्वदा अस्थिर रही। अशोक, समुद्रगुप्त या बाद को अकबर या औरंगजेब ने भारत के एक बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था परन्तु यह स्थायी नहीं हो सका। परन्तु अंग्रेजों के भारत विजय के फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से एक इकाई हो गया। इस प्रकार भारत में पहली बार स्थायी रूप से राजनैतिक एकता स्थापित हुई। इस राजनैतिक एकता का फल यह हुआ कि स्थानीय भक्ति का स्थान सम्पूर्ण देश के प्रति भक्ति ने ले लिया। यह एकता की भावना, हम लिख चुके हैं कि अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप दृढ़ हुई। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों ने समस्त देश में रेल तथा सड़कों का जाल-बिछा दिया। यातायात के साधनों के सुविधा के कारण देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाना सरल हो गया। अतएव यह स्वाभाविक था कि देश के विभिन्न भाग एक दूसरे के अधिक सम्पर्क में आए और इससे एकता की भावना और अधिक दृढ़ हो गई। अंग्रेज-शासकों ने भारत में यातायात के साधनों में उन्नति, आर्थिक-शोषण तथा सैनिक दृष्टि से की थी। परन्तु परोक्ष में उससे यह लाभ हुआ कि एकता की भावना संगठित हो गई।

आर्थिक कारण :—बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि अंग्रेज सात समुद्र पार से भारत में क्यों आए ? इसका कारण कुछ विदेशियों ने खोज की प्रवृत्ति बतलाया है तथा किन्हीं ने विजय की इच्छा। परन्तु यथार्थ कारण यह है कि

---

has [illegible] from us, and condescends to use against us."—Ramsay Macdonald, Awakening of India, pp. 124-125.

अँग्रेज भारत में व्यापार करने आये। परन्तु जब इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई उसके पश्चात् उत्पादन व्यवस्था में आमूल-परिवर्तन हो गया। इंगलैण्ड में कारखानों को कच्चे माल की अधिकाधिक आवश्यकता होने लगी तथा उनकी आवश्यकता यह थी कि इन कारखानों में बना हुआ सामान बेचा जाए। मशीन से बने हुए माल के सामने छोटे छोटे गृह उद्योगों द्वारा बनाया हुआ माल अधिक महँगा होता। इसलिए जब भारत में अँग्रेजी माल आने लगा और विदेशी शासकों ने इसके ऊपर कोई चुंगी नहीं लगाई तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भारत के उद्योग धंधे चौपट हो गए, बेकारी बढ़ी तथा अधिकाधिक लोग और कोई साधन न होने के कारण खेती की ओर झुके। अँग्रेजों की आर्थिक नीति यह थी कि भारत का आर्थिक-शोषण इंगलैण्ड के पूँजीपतियों के हित में हो। उन्हें भारत की परवाह नहीं थी। भारत की अवस्था का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि सन् १८३४ में लार्ड बेंटिंक ने लिखा "The misery hardly finds a parallel in the history of commerce. The bones of cotton weavers are bleaching the plains of India."

अँग्रेजी काल में खेती की कोई उन्नति नहीं हुई। इसका कारण यह था कि भूमि के सम्बन्ध में अँग्रेजी सरकार कोई प्रगतिशील नीति नहीं अपनाना चाहती थी। जमींदारी प्रथा के कारण बहुत से लोग भूमिहीन हो गये थे। अँग्रेज देश में बड़े उद्योग-धंधों के स्थापित करने के लिए भी तैयार नहीं थे। १८७० ई० में देश में भयानक अकाल पड़ा। परन्तु सरकार ने इससे उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करने की कोई विशेष चेष्टा नहीं की। इसी समय द्वितीय अफगान युद्ध में भारत का करोड़ों रुपया बर्बाद किया गया। सन् १८८० में सर विलियम हण्टर ने कहा कि भारत में ४ करोड़ व्यक्ति केवल एक समय खाते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में एक अँग्रेज अफसर के अनुसार भारत में ७ करोड़ व्यक्ति भरपेट खाना नहीं पाते थे।

सरकारी नौकरियों में सब उच्च पदों पर अँग्रेज आसीन थे। भारतीयों को केवल निम्न कोटि की नौकरियों से ही सन्तोष करना पड़ता था। यद्यपि सन् १८३३ में यह कह दिया गया था कि नौकरियों में भेद भाव नहीं किया जायगा। तथापि यह भेद भाव बना रहा। शिक्षित भारतीयों में इस कारण क्षोभ होना स्वाभाविक था।[1] सन् १८५८ की महारानी विक्टोरिया

1. शिक्षित भारतीयों की सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में यह भावना हो गई थी कि "They are the helots of the land, the hewers of wood and the drawers of water . . ."

की घोषणा में भी यह आश्वासन था कि नौकरियों में योग्यता के अनुसार नियुक्ति होगी परन्तु कार्यरूप में यह सिद्धान्त कभी भी पूरी तरह लागू नहीं हुआ।

इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा में सन् १८६९ में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पास हुए लेकिन वे नौकरी में नहीं लिए गये। इससे बंगाल में बहुत असंतोष हुआ बाद को सरकार ने उनको सन् १८७१ में नौकरी में ले लिया किन्तु दो वर्ष बाद वे नौकरी से हटा दिये गये। श्री बनर्जी ने विलायत जाकर बैरिस्टरी पास की। भारत लौटने पर उन्होंने सन् १८७६ में 'इण्डियन एसोसियेशन' नामक संस्था की स्थापना की। जब आई० सी० एस० में उम्र २१ से घटाकर १९ कर दी गई तो भारतीयों के लिए इसमें बैठना असम्भव हो गया। भारत में अत्यन्त क्षोभ हुआ। इण्डियन एसोसियेशन ने देश में इस कार्य के विरुद्ध जन-मत संगठित किया। कलकत्ते में २४ मार्च सन् १८७७ को एक बृहत सभा हुई। इसके पश्चात् कई अन्य नगरों में भी सभाएँ हुईं, जैसे लाहौर, अमृतसर, मेरठ, इलाहाबाद, अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, मद्रास आदि। इन सभाओं से देश में राजनैतिक चेतना बढ़ी तथा भारतीयों ने संगठन का महत्व समझा।

समाचार-पत्र :—राष्ट्रीयता के विकास में भारतीय समाचार-पत्रों का भी बड़ा हाथ रहा है। देश की दुर्दशा की ओर इन्होंने जनसाधारण का ध्यान खींचा, ब्रिटिश नीति के दुष्परिणामों से इन्होंने लोगों को अवगत कराया तथा इनके कारण देश में ब्रिटिश विरोधी जनमत संगठित हुआ। भारत में जो समाचारपत्र अँग्रेजी के थे वे सरकारी नीति के समर्थक थे। भारतीय पत्र सरकारी नीति के आलोचक थे। इसलिये समय-समय पर ब्रिटिश सरकार ने इनकी स्वतन्त्रता पर कई नियम बनाकर कुठाराघात किया। परन्तु इससे सरकार को लाभ कम हुआ और हानि अधिक, क्योंकि भारतीय जनमत इन कारणों से अधिकाधिक अँग्रेजों का विरोधी होता चला गया।

साहित्य :—भारतीय भाषाओं में जो साहित्य का सृजन हुआ उसने भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायता दी। कुछ सीमा तक यह राष्ट्रीय भावना का फल यह था और कुछ सीमा तक राष्ट्रीय भावना इसका फल थी। बंगाल में इस समय जिस साहित्य की सृष्टि हुई उसने जनता में नए चेतना का संचार किया। बंकिम बाबू के उपन्यासों में सर्वत्र स्वतन्त्रता की महिमा गाई गई है। बन्देमातरम् गाना उनके उपन्यास आनन्दमठ से लिया गया है। हिन्दी में भी इस समय राष्ट्रीयता के विचार लेखों आदि द्वारा प्रकट किए जा रहे थे।

अंग्रेजों की भारतीयों के प्रति घृणा —भारत में सन् १८५७ से पूर्व अंग्रेजों का व्यवहार भारतीयों के प्रति अच्छा था वे भारतीयों के साथ मिलकर रहते थे। कई अंग्रेजों ने भारतीयों के साथ विवाह किया। परन्तु १८५७ के विद्रोह पश्चात यह अवस्था न रही। अंग्रेज भारतीयों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। उनका व्यवहार इतना अधिक बुरा हो गया था कि वे भारतीयों को मनुष्य ही न समझते थे। वे अलग रहते थे। भारतीयों से उनका कोई सम्पर्क नहीं था और न वे उनसे सम्पर्क स्थापित ही करना चाहते थे। वे भारतीयों को बर्बर तथा जंगली समझते थे।

इस समय अंग्रेजों का जो व्यवहार भारतीयों के प्रति था वह इतना बर्बर तथा घृणित था कि किसी भी सभ्य समाज को उसके ऊपर लज्जा होनी चाहिए। अंग्रेजों के लिए भारतीयों की हत्या करना साधारण बात हो गई थी। ऐसे कई उदाहरण हैं। इन सब अपराधों के लिए उन्हें या तो कोई सजा नहीं मिलती थी या बहुत साधारण सी सजा मिलती थी। सन् १८९० में भारतीय सिविल सर्विस के एक अंग्रेज सदस्य ने लिखा था कि, "It is an ugly fact which it is no use to disguise that the murder of the natives by Englishmen is no infrequent occurrence" इस काल में अंग्रेजों का आचरण तीन सिद्धान्तों पर आधारित है।

(१) यूरोपियन का जीवन कई भारतीयों के जीवन से अधिक मूल्यवान था।

(२) भारतीय थप्पड़ भय समझता है, और कुछ नहीं।

(३) अंग्रेजों का काम भारत में आकर आनन्द करना है न कि वहां के निवासियों का हित-साधन।[1]

अंग्रेजों के दुर्व्यवहार के कारण भारतीयों में भी उनके प्रति घृणा असन्तोष तथा क्षोभ की भावना जागृत हुई।

लार्ड लिटन का शासन —लार्ड लिटन ने अपने वाइसराय काल में कई ऐसे काम किए जिससे भारत में असन्तोष और बढ़ा। संक्षेप में वे निम्नलिखित थे उसने सन् १८७७ में दिल्ली में दरबार किया जब लाखों

---

1 *Garratt—An Indian Commentary, pp 116-117*

भारतीय भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे थे। परन्तु इसका एक अच्छा फल यह हुआ कि देशवासियों के मन में भी अखिल भारतीय राष्ट्रैक्य स्थापित करने का विचार पैदा हुआ।

उसने द्वितीय अफगान युद्ध में भारत का करोड़ो रुपया व्यय किया

उसके समय में भारतीय भाषा के समाचार-पत्रों पर कई प्रकार की रुकावटें लगाईं। इन ऐक्ट को साधारणतः 'बन्धन ऐक्ट' कहते हैं।

इसने इंगलैंड के कपड़ों को मिलों के लाभ के लिए भारत से रूई के निर्यात पर से कर उठा लिया।

उसने एक आर्म्स ऐक्ट पास करवाया। इसके द्वारा कोई भी भारतीय बिना लाइसेन्स के हथियार नहीं रख सकता था, परन्तु यह ऐक्ट अंग्रेजों पर लागू नहीं था।

इलबर्ट-बिल:—भारतीय मैजिस्ट्रेट तथा जजों को अंग्रेजों के मुकदमे करने का अधिकार नहीं था। सन् १८८३ में जब लार्ड रिपन ने एक बिल द्वारा यह भेद-भाव दूर करने का प्रयत्न किया तो इस बिल के विरुद्ध भारत में अंग्रेजों ने एक तूफान खड़ा कर दिया। अंग्रेजों के विरोध के कारण यह बिल, रद्द हो गया। परन्तु इससे भारतीयों ने दो बातें सीखीः एक तो यह कि बिना संगठित रूप से आन्दोलन किए उनकी मांगें पूरी नहीं हो सकती हैं तथा दूसरी यह कि अंग्रेजों से न्याय की आशा करना व्यर्थ है।

उपरोक्त कारणों से भारत में राजनैतिक चेतना दिन पर दिन बढ़ती गई। देशवासियों का आत्म-विश्वास तथा आत्म-गौरव इस कारण और भी जाग्रत हुआ क्योंकि इस समय कुछ पूर्वीय देशों ने करवट बदली। सबसे महत्त्व पूर्ण घटना यह हुई कि जापान ने पाश्चात्य देशों की देखा-देखी अपने देश में राजनैतिक तथा आर्थिक परिवर्तन किए। इससे उसकी शक्ति अत्यन्त बढ़ी। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पश्चात् वह रूस को युद्ध में हराने में सफल हुआ।

राजनैतिक आन्दोलन का विकास:—भारत में अंग्रेजों की दुर्नीति के कारण काफी असन्तोष उत्पन्न हो गया था। इलबर्ट बिल की असफलता के कारण भारतीयों में नई जान आई और उन्होंने संगठितरूप से कार्य आरम्भ किया। सन् १८८२ ई० में कलकत्ते में इण्डियन एसोसियेशन की सभा हुई, इसमें समस्त बंगाल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। सन् १८८४ में मद्रास

में महाजन सभा की एक प्रान्तीय बैठक हुई। बम्बई में सन् १८८५ के प्रथम मास में बम्बई एसोसियेशन की स्थापना हुई। परन्तु ये सब संघ प्रान्तीय थे।

सन् १८८४ में कुछ लोगों ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का विचार किया। इसमें सब से मुख्य भाग श्री० ए० ओ० ह्यूम ने लिया। ये भारतीय सिविल-सर्विस के एक अवकाश प्राप्त सदस्य थे। इन्होंने इस संघ की स्थापना के पूर्व भारत के वाइसराय लार्ड डफरिन से सलाह ली थी। वाइसराय ने इन्हें इस प्रकार के संघ की स्थापना के लिए उत्साहित किया। यह निश्चित हुआ कि इस संघ का कार्य सामाजिक न होकर राजनैतिक होगा। यह सरकार का ध्यान शासन की बुराइयों की ओर आकर्षित करेगी। यह तय हुआ कि इस संघ की प्रथम बैठक २८, २९, तथा ३० दिसम्बर को होगी। पहले यह बैठक पूना में होने वाली थी, परन्तु वहाँ हैजा फैलने के कारण यह बम्बई में हुई। इसके प्रथम सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी थे।

इस सम्मेलन में ७० प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इनमें से केवल दो मुसलमान थे। यही संस्था भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नाम से प्रसिद्ध हुई। जिस समय कांग्रेस की प्रथम बैठक हुई करीबन उसी समय कलकत्ते में राष्ट्रीय कान्फ्रेंस का एक बैठक हुई। इसमें भी भारत के कई प्रान्तों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुये थे। परन्तु दूसरे वर्ष से राष्ट्रीय कान्फ्रेंस कांग्रेस में ही मिल गई।

कांग्रेस शुरू में केवल भारतीय शिक्षित तथा मध्य वर्ग की संस्था थी। प्रति वर्ष इस वर्ग के प्रतिनिधि एक बार एकत्रित होते थे तथा अंग्रेजी सरकार के सामने कुछ माँगे रखते थे जैसे कि नौकरियों में अधिक भारतीयों को लिया जाय तथा उन्हें शासन में अधिक भाग लेने का अवसर हो। उस समय इनकी माँग स्वराज्य नहीं थी यह तो बाद को हुआ। कांग्रेस के जन्म के विषय में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि श्री ह्यूम ने इसकी स्थापना इस कारण की क्योंकि उस समय भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध इतना अधिक असन्तोष हो गया था कि यह भय था कहीं एक विद्रोह फिर न फट पड़े। इसलिये यह प्रयत्न किया गया कि भारतीय आन्दोलन वैधानिक रूप ले। इसको 'Save the British Empire सिद्धान्त कहा जाता है। लाला लाजपत राय का कांग्रेस के जन्म के बारे में यही विचार था।[1] इस विचार में सत्य का एक अंश

[1] But one thing is clear that the Congress was started more with the object of saving the British Empire from danger than with that of wining political liberty for India"—Lala Lajpat Rai, Young India, p 126

अवश्य है। परन्तु यह पूर्णतया सत्य नहीं। कांग्रेस का जन्म जिस कारण भी हुआ हो, धीरे-धीरे यह राष्ट्रीयता के संग्राम में प्रमुख संस्था हो गई तथा इसका ध्येय भारत की स्वतन्त्रता हो गया।

सन १८८५ में कांग्रेस की पहली बैठक में इसके सभापति ने इसके प्रमुख उद्देश्य बतलाये थे —

(१) साम्राज्य के विभिन्न भागों में बसे हुए भारतवासियों के बीच सम्पर्क तथा मैत्री स्थापित करना।

(२) देश के समस्त प्रेमियों के बीच में जाति, धर्म तथा प्रान्तीयता की भावनाओं को दूर करना।

(३) मुख्य-मुख्य समस्याओं पर शिक्षित भारतीय वर्ग के विचारों का स्पष्टीकरण।

(४) आगामी वर्ष के लिए लोकसेवी कामों को बतलाना।

इस प्रकार से सन् १९०६ तक कांग्रेस के ये ही उद्देश्य रहे। उस वर्ष प्रथम बार कांग्रेस के सभापति पद से श्री दादा भाई नौरोजी ने यह कहा था कि कांग्रेस का उद्देश्य भारत में स्वराज्य प्राप्त करना है। परन्तु स्वराज्य का अर्थ उस भांति का राज्य था जैसा कि इंगलैंड के अन्य उपनिवेशों में स्थापित था। इन उद्देश्यों के अतिरिक्त कांग्रेस ने देश की बढ़ती हुई गरीबी के विरुद्ध भी आवाज उठाई, यह मांग की कि भूमि पर कर कम किया जावे। कांग्रेस ने अपने दसवें अधिवेशन में सरकार की औद्योगिक नीति के विरुद्ध भी आवाज उठाई। इसने अपने अधिवेशनों में प्रवासी भारतीयों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार की भी निन्दा की। इन कामों के साथ-साथ कांग्रेस ने भारतीयों के अधिकार तथा स्वतन्त्रता के लिए भी मांगें रखी।

कांग्रेस के आन्दोलन का यह फल हुआ कि सन् १८९२ में इंडिया कौंसिल्स ऐक्ट पास हुआ। इसका उद्देश्य शिक्षित भारतीयों की कुछ मांगें पूरी कर उनके विरोध को दूर करना था। परन्तु इससे शिक्षित वर्ग को सन्तोष नहीं हुआ।

कांग्रेस इस काल में केवल उच्च वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती थी। इसके नेताओं का जनता के साथ सम्पर्क नहीं था। इनका अंग्रेजी शासन पर पूरा विश्वास था और वे अंग्रेजी छत्रछाया में रह कर ही राजनैतिक अधिकार चाहते थे। परन्तु धीरे-धीरे कांग्रेस के अन्दर एक उग्रदल पैदा होने लगा जो

कि इस नर्म-दलों की नीति से असन्तुष्ट था। इस उग्रदल के पैदा होने का मुख्य कारण यह था कि भारत में अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध असन्तोष बढ़ता ही जा रहा था। इसके कई कारण थे। सन् १८९७ में एक भीषण अकाल पड़ा जिसके फलस्वरूप कई लाख व्यक्ति मरे। सरकारी सहायता असन्तोषजनक थी। इसी समय बम्बई में बड़े से जोरों के साथ प्लेग फैला। इसमें भी सरकारी सहायता असन्तोषजनक थी। सरकार के विरुद्ध भावना ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था कि पूना में दो नवयुवकों ने दो अंग्रेजी अफसरों को गोली मार दी। इस घटना पर सरकार ने महाराष्ट्र के लोगों से बस कर बदला लिया। श्री बाल गंगाधर तिलक को १८ महीने के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। सरकारी नीति के फलस्वरूप असन्तोष और बढ़ा। सन् १८९८ में बंगाल में नारकपुर नामक स्थान में तीन गोरों ने श्री सुरेशचन्द्र सरकार नामक एक डाक्टर को मार डाला। परन्तु इनको मृत्युदण्ड न दिया जाकर केवल ७ वर्ष के कठोर कारावास दण्ड दिया गया।

लार्ड कर्जन के काल में सरकार की नीति से भारत में क्रोध तथा असन्तोष बढ़ता गया इस काल में सरकार ने कई ऐसे कानून पास किए जिनको देश का अधिकांश भाग अत्यन्त ही प्रतिक्रियावादी समझता था। लार्ड कर्जन उन साम्राज्यवादियों में से था जो कि भारतीयों को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो भागों में विभाजित करने की योजना प्रस्तुत की। यह अक्तूबर में लागू की गई। इस योजना का बंगाल में घोर विरोध किया गया। सारे देश में इसके विरुद्ध आवाज उठाई गई। बंगाल विभाजन का उद्देश्य राजनैतिक आन्दोलन को अशक्त करना तथा हिन्दू और मुसलमानों के बीच विरोध पैदा करना था। सरकार के विरोध में देश में स्वदेशी आन्दोलन चला। यह देशवासियों ने चीन से सीखा जहाँ कि इस समय अमेरिकन माल बायकाट किया जा रहा था। सरकार ने दमननीति को अपनाया। सरकारी नीति के कारण कांग्रेस के अन्दर उग्र-दल शक्तिशाली होने लगा। इनके नेता तिलक, विपिन चन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय थे। सन् १९०५ में जब सूरत में कांग्रेस हुई वहाँ नरमदल तथा उग्रदल अलग अलग हो गए और कांग्रेस में फूट पड़ गई। कांग्रेस नरमदल के हाथ में रही, दूसरा दल इसमें से निकाल दिया गया।

इसी समय बंगाल, पंजाब तथा महाराष्ट्र में एक आतंकवादी आन्दोलन आरम्भ हुआ। इसका काम सरकार की दमन नीति का उत्तर गोली बम से देना था। देश में कई आतंवादी दल थे। देश के बाहर भी कुछ क्रान्तिकारी

संगठन थे। इनका उद्देश्य बाहर से हथियार आदि भेजना था। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने में नृशंसता तथा बर्बरता का पूर्ण उपयोग किया। उग्रदलीय कांग्रेसियों को भी सरकार ने नहीं छोड़ा। तिलक को बर्मा में कैद कर भेज दिया गया। लाला लाजपतराय को हिन्दुस्तान से निकाल दिया गया तथा विपिन चन्द्र पाल को कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। सरकार ने कई दमनकारी कानून पास किए। उदाहरणार्थ १९०८ में Criminal Law Amendment Act तथा Newspapers Act, १९१० में Press Act, सन् १९११ में Seditious Meetings Act आदि। इन सब कानूनों का उद्देश्य आतंकवादी तथा उग्रवादी आन्दोलन को कुचलना था। इस दमन नीति के साथ साथ दूसरी ओर सरकार नरमदलीय कांग्रेसियों को यह आश्वासन दे रही थी कि वह भारत में शीघ्र ही कई सुधार लागू करने वाली है। तीसरी ओर सरकार मुसलमानों को प्रोत्साहित कर रही थी कि वे अपना अलग संगठन बनावें तथा हिन्दू आन्दोलनकारियों से कोई सम्पर्क न रखें।

मुसलमानों का संगठन:—अपने शासन के प्रारम्भिक-काल में अंग्रेजों ने मुसलमानों की तथा उनके हितों की उपेक्षा और हिन्दुओं के ऊपर विशेष कृपा रखी। क्योंकि उस समय अंग्रेजों की नीति मुसलमानों को पददलित करने की थी। मुसलमानों को सेना में या सरकारी नौकरियों में स्थान पाने का कोई अवसर नहीं था।[1] मुसलमान अधिकतर अंग्रेजी शिक्षा से अनभिज्ञ थे। इसलिए वे भी समाज में पिछड़ गए।

१८ वीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों में कुछ-कुछ अपनी दशा का ज्ञान होने लगा। सय्यद अहमद ब्रलवी ने भारत में मुसलमानों में एक धार्मिक सुधार आन्दोलन चलाया। परन्तु मुसलमानों की राजनैतिक जागृति में सबसे अधिक हाथ सर सैयद अहमद खान (१८१७-१८९८) का रहा है। उनका विचार था कि उनके सम्प्रदाय वालों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर अधिक से अधिक बढ़ना चाहिए। सन् १८५५ में उन्होंने अलीगढ़ मोहमडन कालिज की स्थापना की। उनका विचार था कि मुसलमानों को अंग्रेजों के साथ मिलकर रहना चाहिये और इसी में उनका कल्याण है। इसलिए जब

1. Sir William Hunter ने लिखा, "We believed that their exclusion was necessary to our safety." Indian Musalmans p. 163

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई तब सैयद अहमद ने इसका विरोध करने का बनारस के राजा शिवप्रसाद के साथ एक दूसरा संगठन स्थापित किया। अंग्रेजों ने जब देखा कि कांग्रेस अधिकाधिक राष्ट्रीय तथा सरकार विरोधी होती जा रही है तो उन्होंने मुसलमानों को साम्प्रदायिक-संगठन बनाने में खूब सहायता दी। सन् १८९० में एक डिफेंस एसोसियेशन नामक मुसलमानी संस्था स्थापित हुई। इसका उद्देश्य मुसलमानों में राजभक्ति का प्रचार करना तथा उनको कांग्रेस से अलग रखना था।

बीसवीं शताब्दी में मुसलमानी साम्प्रदायिकता को उभाड़ने के लिये विशेष प्रयत्न किए गये। बंगाल के विभाजन के पीछे भी उद्देश्य यह था कि हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य बढ़ जावे। पूर्वी बंगाल को मुसलमानी सूबा कहा गया। सन् १९०६ में आगा खाँ वाइसराय के पास एक मुस्लिम शिष्टमण्डल लेकर पहुँचे और यह प्रार्थना की कि मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व दिया जावे। इस शिष्टमण्डल के पीछे अंग्रेजों का हाथ स्पष्ट था। उनका प्रयास था कि हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच किसी प्रकार की एक खाई बना दी जावे और इसमें वे अन्त में सफल हुए। वाइसराय ने शिष्टमण्डल को आश्वासन दिया कि उनकी माँगों का भविष्य में सुधारों के समय ध्यान रखा जायेगा।[1] इस दिन के बारे में (अक्टूबर १, १९०६) वाइसराय ने लिखा 'This has been a very eventful day as someone said to me an 'epoch in Indian history' "

३० दिसम्बर सन् १९२६ में ढाका में नवाब सलीमउल्लाह ने मुस्लिम लीग की स्थापना की। इसके निम्नलिखित उद्देश्य थे :

(१) भारतीय मुसलमानों में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति बढ़ाना।

(२) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना और माँगों को सरकार के समक्ष रखना।

(३) मुसलमान तथा अन्य सम्प्रदायों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना।

1 वाइसराय ने शिष्टमण्डल से कहा,' You justly claim that your position should be estimated not only on your numerical strength, but in respect to the political importance of your community and the service it has rendered to the Empire"

मिण्टो-मॉर्ले सुधार तथा प्रथम महायुद्ध—सरकार ने देखा कि सब उपाय करने पर भी असन्तोष में किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही है तो उसने १९०९ में मिण्टो-मॉर्ले सुधारों की घोषणा की। इनका वर्णन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। इन सुधारों का उद्देश्य भारत में उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन स्थापित करना नहीं था और न उनका उद्देश्य भारतीयों के हाथ में यथार्थ शक्ति देना था। उनका उद्देश्य नरमदल को वश में करना तथा हिन्दू मुसलमानों के बीच खाई को गहरा करना था। इसलिये इनके द्वारा जहाँ एक ओर लेजिस्लेटिव कौंसिलों में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ाई गई वहाँ दूसरी ओर साम्प्रदायिक-प्रतिनिधित्व प्रणाली को मान लिया गया। उग्र-दल इस समय नेतृत्व-विहीन था; उसके सब नेता जेलों में थे। सन् १९१० के बाद सरकार की नीति में परिवर्तन होने लगा क्योंकि योरोप में युद्ध के बादल दिन पर दिन अधिकाधिक घने होते जा रहे थे। १९११ में सम्राट जार्ज पन्चम भारत आये और बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया। सन् १९१२ में नौकरियों में अधिक भारतीयों की भर्ती के सम्बन्ध में एक रायल कमीशन नियुक्त किया गया। इस समय मुसलमानों में राजनैतिक चेतना बढ़ी। मुस्लिम लीग के अन्दर एक उग्रदल का जन्म हुआ। इसके नेता मौलाना मोहम्मद अली थे। सन् १९१३ में लीग ने भी स्वराज्य (Self-government) को अपना उद्देश्य बतलाया। लीग तथा कांग्रेस में इस समय काफी सहकारिता थी। परन्तु इस समय देश में अँग्रेजों के विरोध में कोई आन्दोलन नहीं हुआ।

प्रथम महायुद्ध में भारत ने इंगलैंड की सहायता की। अँग्रेजों ने कुछ इस प्रकार के आश्वासन दिये कि युद्ध के पश्चात् भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की जावेगी। लाखों भारतीयों ने मित्र-राष्ट्रों के लिए युद्ध में अपने प्राण दिये और करोड़ों रुपया भारत ने दिया। इस समय देश में फिर आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। १९१४ में कांग्रेस के सभापति श्री भूपेन्द्रनाथ वसु ने अपने सभापति पद से कहा कि भारत के शासन में आमूल परिवर्तन होने चाहिये। ऐनी बेसेंट ने कहा कि भारत स्वतन्त्रता चाहता है। इस समय लोकमान्य तिलक जेल से छूट गये थे। सन् १९१५ में श्री गोखले तथा श्री फिरोजशाह मेहता की मृत्यु से नरमदल को आघात पहुँचा। सन् १९१६ में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस में दोनों दल मिल गए। इस अधिवेशन के बाद भारत में 'होम रूल' आन्दोलन ऐनी बेसेंट तथा तिलक के नेतृत्व में आरम्भ हुआ। सरकार ने ऐनी बेसेन्ट को नजरबन्द कर दिया (१९१७)। इससे देश में होम रूल आन्दोलन

और बढ़ा। परन्तु कुछ काल बाद ऐनी बेसेंट रिहा कर दी गई। होम रूल आन्दोलन अधिकतर वैधानिक ही रहा।

युद्धकाल में मुसलमानों तथा कांग्रेस में सहयोग बढ़ता ही गया। सन् १९१६ में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच एक समझौता हुआ। इसके फलस्वरूप इन दोनों दलों ने सुधारों की एक संयुक्त योजना स्वीकार की। इसको साधारणतः कांग्रेस-लीग पैक्ट कहा जाता है। इस समझौते के द्वारा मुसलमानों के नेताओं ने स्वराज्य की माँग को मान लिया और हिंदुओं ने साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को स्वीकार कर लिया।

मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों वैधानिक रूप से कार्य करने में विश्वास करती थीं। इनके अतिरिक्त भारत में आतंकवादियों तथा क्रान्तिकारियों के दल भी थे तथा देश के बाहर भी इनके संगठन थे। इन संगठनों का जनता तथा सेना को अँगरेजों के विरुद्ध उकसाया। इनके पास बाहर से कुछ हथियार भी भेजे गये परन्तु बंगाल, पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त तीनों स्थानों में जहाँ क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत की चेष्टा की थी वे असफल रहे। भारतीय जनता की यद्यपि इनके प्रति सहानुभूति थी परन्तु भारतीय नेता इनके प्रति विरक्त थे और वे वैधानिक उपायों से अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे।

अगस्त १९१७ में भारत मन्त्री ने ब्रिटिश सरकार की भारत के प्रति नीति को एक घोषणा द्वारा स्पष्ट किया। नवम्बर १९१७ में भारत मन्त्री मि० मोण्टेग्यू भारत आये और १९१८ में मोण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना से भारत में उग्रवादियों को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इसको निराशाजनक बतलाया।[1] परन्तु नरमदल वालों ने इस योजना को सन्तोषजनक बतलाया जो कि क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना की ओर अग्रसर होगी। अगस्त १९१८ में कांग्रेस का बम्बई में एक अधिवेशन हुआ। परन्तु नरमदल वालों ने इसमें भाग नहीं लिया और नवम्बर १९१८ में अपनी अलग कान्फ्रेंस की। इस प्रकार भारतीय लिबरल फेडरेशन का जन्म हुआ। बाद को दिसम्बर १९२० में लिबरल पार्टी ने १९१९ के ऐक्ट के अधीन नए चुनावों में भाग भी लिया।

---

1 श्री सत्यमूर्ति ने कहा, "The scheme is ungenerous for England to offer and unworthy for India to accept."

गांधी युग तथा जन आन्दोलन —सन् १९१९ के पश्चात् भारत में कांग्रेस का आन्दोलन केवल समाज के शिक्षित तथा उच्चवर्गों तक ही सीमित नहीं रहा परन्तु यह जन आन्दोलन हो गया। इसका श्रेय महात्मा गांधी को है। गांधी ने दक्षिणी अफ्रीका में गोरों की भारतीय-विरोधी नीति का सफलतापूर्वक विरोध किया था। उनका शस्त्र असहयोग था और उनका नारा अहिंसा तथा सत्य थे। अफ्रीका में भारतीयों की बहुत दुर्दशा थी और आज भी भारतीय वहाँ के गोरे शासकों के कारण तथा उनकी संकुचित मनोवृत्ति के फलस्वरूप नागरिक के अधिकारों से वंचित हैं। गांधी जी ने इस नीति के विरुद्ध वहाँ जन आन्दोलन चलाया था। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की भारतीय विरोधी नीति के कारण भारत में बहुत असन्तोष बढ़ा। इस काल में अंग्रेजों के विरुद्ध जो भारत में आन्दोलन हुआ उसका एक कारण प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा भी थी। दक्षिणी अफ्रीका से वे भारत आ गए थे क्योंकि उन्होंने यह देख लिया था कि प्रवासी भारतीयों की दशा में तब तक कोई सुधार सम्भव नहीं है जब तक भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं हो जाता है।

युद्ध के पश्चात् भारतीयों की आशा के विरुद्ध अंग्रेजी सरकार ने स्वराज्य तथा स्वतन्त्रता के बदले भारत में दमनकारी नीति को अपनाया। सरकार का यह विचार था कि रूस तथा अफगानिस्तान के एजेण्ट भारतीयों को भड़का रहे हैं। इसलिए मार्च १९१९ में कुछ कानून पास किए गए जिनके द्वारा नागरिकों की स्वतन्त्रता का मूल्य कुछ नहीं रहा। इनको साधारणतः रौलट बिल्स (Rowlatt Bills) कहते हैं।

इन बिलों के विरुद्ध देश-व्यापी आन्दोलन हुआ। इसका नेतृत्व गांधी जी ने किया। सरकार ने दमन के द्वारा आन्दोलन को कुचलना चाहा परन्तु इसमें वह सफल न रही। गांधी जी ने जनता से हड़ताल करने की अपील की थी। भारतीय जनता ने इसमें पूर्ण रूप से भाग लिया। पंजाब में फसल खराब होने के कारण आर्थिक अवस्था खराब थी। इनके साथ साथ युद्धोत्तर बीमारियों के कारण भी जनता का कष्ट बढ़ गया था। ऐसी दशा में वहाँ असन्तोष स्वाभाविक था। युद्ध में पंजाब के प्रान्त से हजारों की संख्या में नवयुवक सेना में भर्ती हुए थे। परन्तु युद्ध के बाद सरकार वहाँ के प्रति उदासीन थी। ३ अप्रैल १९१९ को अमृतसर में २०,००० जनता की सभा के ऊपर फौज ने तब तक गोली चलाई जब तक कि उनकी गोलियाँ समाप्त न हो गई। यह गोलीकाण्ड अत्यन्त नृशंसतापूर्ण था। इसके फलस्वरूप

असहयोग-आन्दोलन—गांधी जी ने देश के सम्मुख अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का कार्यक्रम रखा। इस विषय में कांग्रेस में कई मत थे। परन्तु सितम्बर, १९२० में कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में बहुमत ने गांधी जी का साथ दिया। इस अधिवेशन में गांधी जी ने अपने व्याख्यान में कौंसिल-प्रवेश का विरोध किया तथा सन् १९१९ के सुधारों से सहयोग करने को कहा क्योंकि वे स्वराज्य की ओर नहीं ले जा रहे थे।[1] दिसम्बर १९२० में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में गांधी जी के विचार पूर्णतः स्वीकार कर लिये गये। इस अधिवेशन में ही यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया गया कि कांग्रेस का ध्येय स्वराज्य है।

इस अधिवेशन के पश्चात् देश में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन के कारण कई हजार व्यक्ति जेल गए, विद्यार्थियों ने बहुत बड़ी संख्या में स्कूल तथा कालेज छोड़ दिए, वकीलों ने वकालत छोड़ दी, उपाधि-धारियों ने सरकारी उपाधियों को लौटा दिया। इसके साथ-साथ देश में स्वदेशी का प्रचार हुआ तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। सरकार ने पूरी शक्ति से आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया, परन्तु सन् १९२१ में आन्दोलन और बढ़ा। प्रिंस ऑव वेल्स के भारत आगमन पर कांग्रेस ने उनका बॉयकॉट करने को कहा। जहाँ-जहाँ युवराज गया जनता ने हड़ताल से उनका स्वागत किया।

आन्दोलन जोरों पर था, परन्तु ४ फरवरी १९२२ को चौरी-चौरा नामक एक छोटे से शहर में करीबन २००० के जलूस ने, २१ पुलिस-वालों को तथा एक थानेदार को थाने में ही जला दिया। इस घटना का गांधी जी पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा और उन्होंने आन्दोलन को स्थगित कर दिया (१२ फरवरी)। अंग्रेजी सरकार ने इसके बाद ही गांधी जी को पकड़ लिया। गांधी जी के सत्याग्रह स्थगित करने के कारण उनकी लोक-प्रियता में कुछ कमी अवश्य हो गयी थी। आन्दोलन के आरम्भ में गान्धी का नारा था 'एक-वर्ष में स्वराज्य।' लोगों ने जब इसकी प्राप्ति के लिए इतना त्याग किया और जब वे समझते थे कि सफलता सन्निकट है, गान्धी जी ने आन्दोलन वापिस ले लिया।[2] गान्धी जी को ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला।

---

1. गान्धी ने स्वराज्य की परिभाषा देते हुए कहा, "It means a state such that we can maintain our separate existence without the presence of the English. If it is to be a partnership, it must be a partnership at will."

2. "We were angry when we learnt of this stoppage of our

साम्प्रदायिक दंगे—आन्दोलन स्थगित हो गया। आशा का स्थान निराशा ने ले लिया। लोग नहीं समझ पाये कि क्यों आन्दोलन आरम्भ हुआ तथा क्यों वह स्थगित किया गया। आन्दोलन स्थगित होने से हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच पुनः मतभेद उत्पन्न होने लगा। अली बन्धु तथा श्री जिन्ना कांग्रेस से बिल्कुल अलग हो गये। कुछ काल के बाद खिलाफत आन्दोलन भी बन्द हो गया क्योंकि टर्की में कमाल पाशा ने अपना शासन स्थापित कर लिया था। खलीफा के लिये वहाँ कोई स्थान नहीं रह गया था। इसी समय हिन्दू महासभा की पुनः स्थापना की गई। इस प्रकार देश का वातावरण दूषित होने लगा था। फलस्वरूप देश में १९२५, १९२६ तथा १९२७ में साम्प्रदायिक दंगे हुए। श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार आन्दोलन स्थगित हो जाने के कारण जनता की दबी हुई हिंसा वृत्ति इन साम्प्रदायिक दंगों के रूप में फूट पड़ी।

स्वराज्य पार्टी—क्योंकि जनता के सम्मुख कोई अन्य कार्यक्रम नहीं था तथा देश में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे इसलिए यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग फिर से कौंसिलों में प्रवेश की सोचें। इस मत के लोगों में मुख्य सी० आर० दास०, श्री मोतीलाल नेहरू, श्री विट्ठल भाई पटेल आदि थे। इन लोगों का विचार था कि ये सरकार को धारा सभाओं के अन्दर से उलट दें। वे सरकार के प्रत्येक काम का विरोध करेंगे। कौंसिलों के अन्दर असहयोग का नारा था, क्योंकि कौंसिलों के बाहर असहयोग असफल हो गया था।

सन् १९२३ में स्वराज्य पार्टी की स्थापना हुई। निर्वाचनों में कई प्रान्तों में इस दल को अच्छी सफलता मिली। इसी वर्ष फरवरी में गांधी जी रिहा कर दिए गए थे। दिसम्बर १९२४ में गांधी जी ने स्वराज्य पार्टी के कार्य-क्रम को मान लिया। स्वराज्य पार्टी ने उनके रचनात्मक कार्य-क्रम को स्वीकार कर लिया—चर्खा, हाथ करघा तथा हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रयत्न। स्वराज्य

---

struggle at a time when we seemed to be consolidating our position and advancing on all fronts" J. Nehru, *Autobiography* p 81

1 The drift to sporadic and futile violence in the political struggle was stopped, but the suppressed violence had to find a way out, and in the following years, this perhaps aggravated the communal trouble" *Autobiography* p 86

पार्टी ने कौंसिलों के अन्दर अच्छा काम किया, परन्तु वे सरकार को अपने कार्य-क्रम से विचलित नहीं कर सके। इस पार्टी के पीछे यथार्थ शक्ति श्री सी० आर० दास थे। जून १९२५ में देशबन्धु का देहान्त हो गया। इससे स्वराज्य पार्टी को बहुत बड़ी हानि हुई। इस समय स्वराज्य पार्टी के अन्दर भी मत भेद पैदा हो रहा था। एक भाग सरकार से सहयोग करने की सोच रहा था। इन सबका फल यह हुआ कि स्वराज्य पार्टी अशक्त होने लगी और १९२६ के निर्वाचनों में पहले की तरह सफल नहीं रही।

साइमन कमीशन।—जब देश में एक प्रकार की नैराश्यवादिता छा रही थी तथा विदेशी-सरकार के प्रति किसी प्रकार का आन्दोलन नहीं था उस समय ब्रिटिश सरकार ने एक कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की। १९१९ के ऐक्ट के अनुसार १० वर्ष बाद (अर्थात् १९२९) एक कमीशन इस बात की जाँच करने को नियुक्त होता कि नया ऐक्ट कार्यरूप में कितना सफल हुआ। परन्तु इंगलैंड की सरकार ने दो वर्ष पूर्व ही एक कमीशन नियुक्त कर दिया। इसके सभापति सर जोन साइमन थे। अतएव यह साइमन-कमीशन कहलाता है। इस कमीशन में एक भी भारतीय नहीं था। इस कारण देश में प्रत्येक दल ने (सिवाय मद्रास के जस्टिस दल तथा मुसलमानों के छोटे दलों के) इसका विरोध किया। श्री जिन्ना ने कहा कि किसी भी आत्मसम्मानी भारतीय के लिए इस कमीशन के बहिष्कार के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। अंग्रेजी सरकार ने कहा कि भारत में हिन्दू तथा मुसलमान सम्प्रदाय में मतैक्य न होने के कारण कमीशन में किसी भारतीय को सदस्य बनाना सम्भव न था। कमीशन के विरोध में विभिन्न सम्प्रदाय तथा राजनैतिक दल एक थे। केन्द्रीय एसेम्बली में फरवरी, १९२८ को कमीशन के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया गया।

साइमन कमीशन का सर्वत्र हड़ताल तथा काले झंडों द्वारा स्वागत किया गया। सम्पूर्ण भारत में हजारों कंठों से यह शब्द निकल रहे थे 'गोबैक'। सरकार ने सब जगह प्रदर्शनकारी पर लाठी-प्रहार किया। लाहौर में लाला लाजपतराय पुलिस की लाठियों के शिकार हुए। लखनऊ में पं० नेहरू तथा पं० पन्त को लाठियों की चोटें सहनी पड़ीं।

सन् १९२८ में भारत भर में फिर से एक क्रान्तिकारी जागृति हुई। नवयुवकों में एक नया उत्साह आया। स्थान-स्थान पर नवयुवकों की समितियाँ स्थापित हुईं। इसी समय देश में मजदूर आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा। मजदूरों की हड़तालें हुईं। किसानों में भी एक नयी जागृति आयी। मध्यवर्ग में भी एक नयी चेतना का संचार हो रहा था। भारत के पूँजीपति तथा व्यापारी

की ब्रिटिश नीति के विरोधी हो रहे थे। देश में आतंक फिर उभरा। लाहौर के जिस पुलिस अफसर ने लाला लाजपतराय पर वार किया था उसको गोली मार दी गई। भगतसिंह तथा बी० के० दत्त ने असेम्बली में बम फेंका तथा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा लगाया।

नेहरू रिपोर्ट —अंग्रेजी सरकार का कहना था कि भारतीय सम्मिलित रूप से कोई विधान बना ही नहीं सकते हैं। इसी बात पर दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया गया। पं० मोतीलाल की अध्यक्षता में एक कमेटी स्थापित हुई। इसने अपनी रिपोर्ट में भारत के लिए डोमिनियन स्टेटस की माँग रखी। यह अगस्त १९२८ में लखनऊ में एक सर्वदलीय सम्मेलन के सम्मुख रखी गयी। नेहरू रिपोर्ट को कांग्रेस ने मान लिया परन्तु लीग ने इसे नहीं माना—श्री जिन्ना कुछ बातें मनवाना चाहते थे। कांग्रेस के अन्दर भी एक छोटे से वर्ग ने इस रिपोर्ट से इस कारण असन्तोष प्रकट किया क्योंकि इसने पूर्ण-स्वतन्त्रता ध्येय नहीं रखा था। ब्रिटिश-सरकार ने इस रिपोर्ट पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन —सन् १९२९ में भारत में बेकारी तथा गरीबी बढ़ रही थी। मजदूरों की दशा शोचनीय थी क्योंकि वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गए थे। मध्यवर्ग भी असन्तुष्ट था। देश में कई स्थानों में मजदूरों की हड़तालें हुईं। सरकार ने मजदूर आन्दोलन को कुचलने के लिये कम्यूनिस्ट पार्टी के मुख्यकार्यकर्त्ताओं को पकड़ा तथा उन पर मुकदमा चलाया। यह मेरठ-षड्यन्त्र केस कहलाता है।

इंगलैंड में मजदूर दल की सरकार बन गई थी (मई, १९२९)। परन्तु भारत के मामले में इस दल तथा अन्य दलों की नीति में भाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं था। भारत से वाइसराय इंगलैंड गए तथा वहाँ से लौट कर लार्ड इर्विन ने घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश भारत तथा रियासतों की एक कान्फ्रेन्स बुलायेगी परन्तु कांग्रेस ने इसमें भाग लेना व्यर्थ समझा।

दिसम्बर १९२९ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया गया तथा गाँधी जी ने अंगरेजी सरकार से कहा कि अगर ३१ दिसम्बर तक भारत को स्वतन्त्रता प्रदान न की गई तो वे सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करेंगे। २६ जनवरी १९३० को देश भर में स्वाधीनता की प्रतिज्ञा पढ़ी गई। (तब से ही यह दिवस स्वाधीनता-दिवस के नाम से हर वर्ष मनाया जाता है।) कांग्रेस के सदस्यों ने धारासभाओं से इस्तीफा

दे दिया। गांधी जी ने १८ मार्च को दांडी की ओर प्रस्थान किया और ६ अप्रैल को नमक कानून तोड़ा। देश भर में आन्दोलन चला। गांधी जी ५ मई को पकड़ लिए गए। सरकार ने दमनचक्र पूरी शक्ति से चलाया। कई स्थानों पर गोलियां चलाई, निहत्थे तथा अहिंसात्मक सत्याग्रहियों पर लाठियों की वर्षा की गई। करीबन एक लाख व्यक्ति जेलों में भर गए। सरकार की दुष्ट नीति से असन्तोष और बढ़ा। इसी समय साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसने आग में घी काम किया। परन्तु इस आन्दोलन में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के अतिरिक्त, मुसलमानों ने भाग नहीं लिया।

गोलमेज सभा तथा गांधी इरविन समझौता:—नवम्बर १९३० में प्रथम गोलमेज सभा की बैठक इंग्लैंड में हुई। इसमें कांग्रेस ने भाग नहीं लिया क्योंकि इसकी मांगें सरकार द्वारा अस्वीकार कर दी गई थी। इंगलैंड के प्रधानमन्त्री ने एक घोषणा भारत के सम्भावित विधान के बारे में की। जनवरी, १९३१ में गांधी जी तथा कांग्रेस के १९ अन्य प्रमुख सदस्य छोड़ दिये ताकि वे इस घोषणा पर विचार विनिमय कर सकें। गांधी जी ने कांग्रेस की ओर से लार्ड इरविन से मार्च १९३१ को एक समझौता किया। सरकार सत्याग्रहियों को रिहा करने को तैयार हो गई, कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द कर दिया। कांग्रेस ने दूसरी गोलमेज सभा में भाग लेने का वचन भी दिया।

द्वितीय गोलमेज सभा का अधिवेशन सितम्बर से दिसम्बर १९३१ तक हुआ इसमें कांग्रेस की ओर से गांधी जी ने भाग लिया। परन्तु यह सभा भारत के विषय में कुछ निर्णय नहीं कर सकी। इसका कारण यह था कि विभिन्न भारतीय समुदायों की मांगें एक दूसरे से इतनी भिन्न थी कि आपस में कोई समझौता असम्भव था।[1] अंग्रेजी सरकार ने इन प्रतिक्रियावादी दलों को खूब उकसाया। फल यह हुआ कि गांधी जी इंगलैंड से खाली हाथ वापिस लौट आए।

४ जनवरी १९३२ को भारत सरकार ने गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश-सरकार समझौते की नीति के स्थान में दमन की नीति का अनुसरण करना चाहती थी। गांधी जी के गिरफ्तार होने से देश में आन्दोलन फिर आरम्भ हुआ। सरकार ने गोली तथा डन्डों ने

1. गांधी जी ने इस विषय में कहा था, "It is with deepsorrow and deeper humiliaton, that I have to anounce utter failure to secure an agreed solution of the communal question."

इसको दबाना चाहा पुलिस का अत्याचार चरम सीमा पर पहुँचा। परन्तु आन्दोलन चलता रहा। विदेशी माल का बहिष्कार बहुत सफल हुआ। सरकार के कामों में मुस्लिम लीग ने भी सहायता पहुँचाई। बम्बई में भीषण हिन्दू मुस्लिम दंगा हुआ। मुसलमानों ने विदेशी माल के बहिष्कार का विरोध किया।

मैकडोनल्ड एवार्ड तथा पूना पैक्ट —८ अगस्त १९३२ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री मैकडानल्ड ने भारत में साम्प्रदायिक प्रश्न को हल करने के लिए एक निर्णय दिया जो मैकडानल्ड एवार्ड कहलाता है। इस निर्णय के द्वारा साम्प्रदायिक-प्रतिनिधित्व बना रहा। इसके साथ-साथ अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने के लिए उन्हें भी अलग निर्वाचन अधिकार ■ दिये गये। गाँधी जी ने जेल में ही इसके विरुद्ध आमरण-अनशन किया। पूना में हिन्दुओं तथा अछूतों के कुछ नेताओं के बीच समझौते की वार्ता चली। इसके फलस्वरूप एक 'पैक्ट' पर दोनों ने हस्ताक्षर कर दिये जो कि पूना पैक्ट कहलाता है। इस पैक्ट द्वारा यह तय हुआ कि हरिजनों के लिए प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा सभा में कुछ स्थान रखे जाँय तथा उन्हें सरकारी नौकरियों में उचित प्रतिनिधित्व दिया जावे। इसके बदले में अछूतों ने पृथक निर्वाचन की माँग त्याग दी। सरकार ने इस पैक्ट को मान लिया, इसलिए गाँधी जी ने अपना उपवास तोड़ दिया। गाँधी जी के उपवास का फल यह हुआ कि देश में हरिजनोद्धार आन्दोलन जारी हो चला।

तीसरी गोली मेज सभा —इसका अधिवेशन नवम्बर-दिसम्बर १९३२ में हुआ। इसमें कांग्रेस ने भाग लिया। इस अधिवेशन की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया। इन योजनाओं से भारत में कोई सन्तोष नहीं हुआ।

आन्दोलन का अन्त और कौंसिल प्रवेश —देश में आन्दोलन धीमा पड़ रहा था। गाँधी जी ने १९३३ में फिर से हरिजनों के उद्धार के लिए २१ दिन का अनशन करने का निश्चय किया। वे ८ मई को जेल से छोड़ दिए गए। गाँधी जी ने सामूहिक आन्दोलन के स्थान पर व्यक्तिगत आन्दोलन की राय दी। मार्च, १९३४ में कांग्रेस ने आन्दोलन वापिस ले लिया।

इसी बीच कांग्रेस ने फिर से कौंसिल प्रवेश कार्यक्रम को मान लिया था। कांग्रेस के अन्दर एक भाग था जो कि कांग्रेस की इस नीति से असन्तुष्ट था। देश में साम्यवादी दल भी इससे असन्तुष्ट थे। सन् १९३३ के चुनावों में कांग्रेस को अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

१९३५ का ऐक्ट —इस ऐक्ट का वर्णन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं।[1] कांग्रेस के अन्दर दक्षिण पक्षियों को यद्यपि इस ऐक्ट से पूर्ण सन्तोष नहीं था तथापि वे इसके अन्तर्गत होने वाले चुनावों में भाग लेने को उत्सुक थे। वामपक्षी नेता इस कार्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं थे। परन्तु कांग्रेस ने चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया। १९३७ के चुनावों में कांग्रेस को बहुत बड़ी सफलता मिली।

कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाने से पूर्व यह आश्वासन चाहा कि गवर्नर उनके कामों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करेंगे। यह बात वॉइसरॉय तथा गाँधी जी के बीच एक समझौते द्वारा तय हुई। इसके पश्चात् ६ प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना। दो प्रान्तों में कांग्रेस ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाया।

कांग्रेस में मतभेद :—कांग्रेस में दो विचार धाराएँ हो गई थी। एक तो थे गाँधीवादी। इसके प्रतिनिधि पुराने नेता थे, जैसे सरदार पटेल, श्री राजेन्द्रप्रसाद, श्री आचार्य कृपलानी, राजा जी, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त आदि। दूसरी ओर कांग्रेस के अन्दर एक जोशीली वामपन्थ विचार धारा पैदा हो गई थी। इस समय इसका नेतृत्व श्री सुभाषचन्द्र बोस कर रहे थे। पं० नेहरू इन दोनों दलों के बीच में थे। श्री बोस अंग्रेजों के विरुद्ध एक आन्दोलन चाहते थे जो कि आवश्यकता पड़ने पर हिंसात्मक भी हो सकता था। उनको समाजवादियों तथा साम्यवादियों का सहयोग प्राप्त था। सन् १९३९ में जब श्री सुभाष बोस गाँधी जी के विरोध करने पर भी पट्टाभि सीतारमैया को हराकर दुबारा राष्ट्रपति चुने गये तब इनको कांग्रेस दक्षिण पन्थियों ने पसन्द नहीं किया। गाँधी जी ने कहा 'पट्टाभि की हार मेरी हार है'। त्रिपुरी कांग्रेस (१९३९) में इन्होंने श्री बोस के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास किया। बोस ने कांग्रेस छोड़ दी और अपना एक अलग दल बनाया। इसका नाम Forward Bloc रखा।

द्वितीय महायुद्ध—सितम्बर, १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजी सरकार ने बिना भारत की अनुमति के इसको युद्ध में सम्मिलित कर दिया। इसके विरोध स्वरूप कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने पदत्याग कर दिया।

1- इस ऐक्ट तथा इसके बाद की घटनाओं के लिए पहला अध्याय देखिए।

(अक्टूबर १९३९)। मुस्लिम लीग ने भारत भर में इस अवसर पर मुक्ति दिवस मनाया।

पश्चिमी यूरोप को फासिस्ट सेनाओं ने कुछ महीने के अन्दर ही रौंद दिया। प्रजातन्त्रीय देशों की स्थिति चिन्तनीय थी। कांग्रेस की कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव द्वारा यह कहा कि अगर भारत-सरकार को केन्द्रीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी बना दिया जाय तो कांग्रेस युद्धकालीन सहयोग के लिए तैयार थी। इसके उत्तर में वाइसराय ने अगस्त ८, १९४० को एक घोषणा की। यह असन्तोषजनक थी और कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। (नवम्बर १९४०)।

सन् १९४१ में युद्ध के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण बातें हुईं। प्रथम तो यह कि जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। दूसरी बात यह हुई कि दिसम्बर के महीने में जापान ने भी मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जब दिसम्बर १९४१ में भारतीय कांग्रेस का बारदोली अधिवेशन हुआ तो कांग्रेस ने उन सब देशों से अपनी सहानुभूति प्रकट की जो कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए फासिज्म के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। परन्तु कांग्रेस ने यह भी स्पष्ट रूप से कहा कि केवल एक स्वतन्त्र भारत ही देश की रक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध कर सकता है। जापान ने दक्षिणीपूर्वी एशिया को बहुत शीघ्र विजय कर लिया। अंग्रेजों को इस अवसर पर भारत के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता हुई। इसलिए ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने हाउस ऑफ कॉमन्स में यह ऐलान किया कि सर स्टैफोर्ड क्रिप्स भारतीय नेताओं से बात चीत करने भारत जायेंगे चर्चिल ने यह भी कहा कि युद्धोपरान्त भारत को औपनिवेशिक-स्वराज्य प्रदान किया जावेगा।

क्रिप्स मिशन सफल नहीं हुआ। इसकी असफलता के कारणों का हम वर्णन कर चुके हैं। इसके पश्चात् कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि अंग्रेज भारत छोड़ें और ९ अगस्त १९४२ को नए अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

कांग्रेस के नेताओं के पकड़े जाने पर देश में क्षोभ, असन्तोष तथा गुस्सा फैला। लोगों ने जो कुछ ठीक समझा वह किया। रेल्वे स्टेशन, डाकखाने, पुलिस चौकियाँ, सैकड़ों की संख्या में जला दिये। रेल की पटरियाँ उखाड़ दी तथा तार काट दिये। परन्तु अंग्रेजी सरकार इस आन्दोलन को कुचलने के लिये तैयार बैठी थी। असमानुषिक बर्बरता से सरकार ने दमन

प्रारम्भ किया। सरकार के अनुसार कांग्रेस, जर्मनी तथा जापान से मिली हुई थी परन्तु यह नितान्त असत्य था। कांग्रेस की सहानुभूति प्रजातंत्रीय राष्ट्रों से थी। गांधी जी का विचार था कि भारत से अंग्रेजी सेनाएँ हटा ली जावें तो जापान फिर आक्रमण नहीं करेगा और करेगा भी तो भारत अपनी रक्षा ठीक ढंग से कर सकेगा।[1]

कांग्रेस सरकार से भारत छोड़ो प्रस्ताव के बाद भी समझौता की बात चलाना चाहती थी। परन्तु सरकार ने नेताओं को पकड़ लिया और इस कारण से देश में क्षोभ उत्पन्न हुआ। गांधी जी का कहना था जो कुछ जनता ने किया उसका उत्तरदायित्व सरकार पर है। इस आन्दोलन में भी मुस्लिम लीग अलग रही। इसने इसको हिन्दुओं का आन्दोलन बतलाया।

आज़ाद-हिन्द-सेना :—इसका आरम्भ सितम्बर १९४२ में हुआ। जब जापान ने मलाया, सिंगापुर विजय किये तब एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय सैनिक तथा अफसर कैदी बना लिये गये थे। इन्हीं में से आज़ाद हिन्द सेना का संगठन किया गया। इस सेना में भारतीय सेना के सैनिकों के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में रहने वाले कई अन्य भारतीय भी भर्ती हुए। इसका उद्देश्य भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करना था।

सन् १९४३ के जुलाई मास में श्री सुभाष चन्द्र बोस ने इस सेना का संचालन अपने हाथ में लिया। श्री बोस भारत से सन् १९४१ में अलोप हो गये। वे यहाँ से अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुँचे और वहाँ से बाद को आज़ाद फौज के संगठन के लिए आये। उनको इस सेना ने नेता जी कहना प्रारम्भ किया। वे इसके मुख्य सेनापति थे। उनके अनुसार यह सेना पूर्णतया भारतीय थी और इनका उद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता थी। जर्मनी और जापान से इस कार्य के लिये सहायता लेना वे अनुचित नहीं समझते थे। उनका कहना था कि आधुनिक इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहाँ कि किसी देश ने बिना विदेशी सहायता के स्वतन्त्रता प्राप्त की हो।[2]

---

1. "The presence of the British in India is an invitation to Japan to invade India. Their withdrawal removes the bait. Assume, however, that it does not, free India will be better able to cope with the invasion. Unadulterated non-co operation will then have full sway."

2. "I have yet to find one single instance in modern history where an enslaved nation has achieved its liberation without

सन् १९४२ से ४५ तक आजाद फौज ने अंग्रेजों के विरुद्ध कई युद्धों में भाग लिया। परन्तु इसको अधिक सफलता नहीं मिली। तथापि यह निस्सन्देह कि इसने बड़ी बहादुरी से लड़ाइयों में भाग लिया।

श्री सुभाष बोस ने एक अस्थायी सरकार की भी स्थापना की थी। इसको जापान, जर्मनी आदि देशों ने मान लिया था।

देश की अवस्था — भारत छोड़ो आन्दोलन के फलस्वरूप इस समय देश में एक कोने से दूसरे कोने तक उत्तेजना की लहर दौड़ गई। परन्तु कुछ समय बाद जब आन्दोलन धीमा हो गया तब देश के ऊपर कई विपत्तियाँ आईं। उनमें सबसे मुख्य बंगाल का दुर्भिक्ष था (१९४३-१९४४)। इस दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व अंग्रेजी सरकार, उसके कर्मचारी तथा धनी व्यापारी वर्ग पर है। यह कहना कठिन है कि व्यापारी वर्ग ने अपने स्वार्थ के सम्मुख देश के हित को गौण समझा ... भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के ... उनकी मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। ... दुर्भिक्ष के फलस्वरूप ... अनुमान लगाया जाता है कि ... बंगाल में अधिक ... व्यक्ति भूख से मरे। ... इस समय ... बेकारी ... बढ़ गई।

नेताओं की रिहाई तथा शिमला कान्फ्रेंस — सन् १९४५ में युद्ध का अन्त हुआ। भारत के भी सभी प्रमुख ... कांग्रेस के नेता छोड़ दिये गये। गांधी जी तो १९४४ में छोड़ दिये गये थे। फिर से समझौते के प्रयत्न हुए। गांधी जी तथा जिन्ना साहब में बातें हुईं परन्तु वह असफल रहीं। जून १९४५ में लार्ड वेवल ने कुछ प्रस्ताव रखे। ... विचार विनिमय हेतु शिमला में ... कान्फ्रेंस ... की। यह लीग की नीति के कारण असफल रहा।

इंग्लैण्ड में नये चुनावों के फलस्वरूप मजदूर दल की विजय हुई। सितम्बर १९४५ में वेवल ने ... घोषणा की जिसके फलस्वरूप भारत में भी नए चुनाव हुए। कांग्रेस ने भी भाग लिया। ८ प्रान्तों में कांग्रेस की धारासभाओं में बहुमत रहा। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेज सरकार भारत के साथ एक समझौता करना चाहती है।

ब्रिटिश सरकार ने देखा कि भारत में नई शक्तियाँ पैदा हो रही थीं। ... द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय जनता को बहुत दिनों तक दासता में नहीं

foreign help of some sort. And for enslaved India it is much more honourable to join hands with the enemies of the British Empire than to curry favour with ... its slaves ... or political parties.

रखा जा सकता था। आजाद-फौज के मामले को लेकर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हलचल मच गई। सरकार को यह आशा नहीं थी कि समस्त देश इस प्रकार आजाद फौज का साथ देगा। अंगरेजी सरकार ने सोचा था कि वह सेना के कुछ अफसरों पर मुकदमा चलायेगी, तथा उन्हें कठोर दण्ड देकर भारतीयों के सम्मुख अपनी शक्ति का एक दृष्टान्त रखेगी। परन्तु इसको लेने के देने पड़ गए।

देश में असन्तोष केवल जनता तक ही सीमित नहीं रहा परन्तु सेना में भी धीरे-धीरे फैलने लगा। फरवरी, १९४६ में बम्बई में भारतीय नौ सेना के सैनिकों ने हड़ताल की। उनकी माँगें यह थी कि सब सैनिकों से एक प्रकार का ही बर्ताव हो चाहे वे अंग्रेज हों या भारतीय हों। सब राजनैतिक कैदी तथा आजाद सेना के कैदी छोड़ दिये जायें। यह हड़ताल बम्बई के अतिरिक्त अन्य स्थानों में फैली। इन हड़तालियों तथा अंगरेजी सेना में संघर्ष भी हुआ। देश में नौ सेना के हड़तालियों के साथ पूरी सहानुभूति थी। बम्बई में मज-दूरों ने हड़ताल कर दी। बम्बई के रास्तों में जनता तथा अंगरेजी फौज में टक्कर हुई।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी सरकार ने यह स्पष्ट रूप से देख लिया कि अगर भारत से समझौता नहीं किया गया तो अब जो आन्दोलन होगा वह यथार्थ में एक युद्ध होगा। इस कारण वे समझौते को तैयार हुए।

कैबिनेट मिशन तथा अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना :—अंगरेजी सरकार ने कैबिनेट मिशन को भारत भेजा। क्योंकि कांग्रेस तथा लीग में कोई समझौता नहीं हो सका अतएव इस मिशन ने ही एक योजना भारतीय नेताओं के सामने रखी। इस योजना को कांग्रेस तथा लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया।[1] संविधान सभा के लिए चुनाव हुए। इनमें लीग ने भी भाग लिया।

अगस्त १९४६ में एक अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना हुई। इसमें लीग सम्मिलित नहीं हुई। लीग ने देश भर में 'डाइरेक्ट ऐक्शन डे' मनाया जिसके फलस्वरूप कई स्थानों में भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुए। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि लीग का आन्दोलन अंगरेजी सरकार के विरुद्ध न होकर हिन्दुओं के विरुद्ध था। बंगाल में इस समय लीगी मन्त्रिमण्डल था। बंगाल

1. इन सब का प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

में लीग को हिन्दुओं के विरुद्ध जेहाद करने का अच्छा अवसर मिला। इन दगों की प्रतिक्रिया देश के अन्य भागों में भी हुई।

अक्टूबर माह में लीग अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित हुई। इसका काम कांग्रेस के मार्ग में रोडे अटकाना था। वाइसराय ने लीग को इसलिये सरकार में स्थान दिया ताकि इनके और कांग्रेस के मतभेद के कारण देश में कुछ भी प्रगति न हो सके। प० नेहरू ने कहा कि वाइसराय लीग के शामिल होने के बाद एक एक कर कैबिनेट के पहिए निकाल रहा है। जिन्ना ने कहा था कि लीग सरकार में पाकिस्तान प्राप्त करने के लिये सम्मिलित हो रही है। लार्ड वैवेल ने लीग को सरकार में सम्मिलित कर लिया परन्तु लीग ने संविधान सभा में भाग लेना स्वीकार नहीं किया था। इस प्रकार सरकार साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहित कर रही थी।

लन्दन कान्फ्रेन्स तथा १९४७ का ऐक्ट —मुस्लिम लीग के अन्तर्कालीन सरकार में सम्मिलित होने से कांग्रेस की कठिनाइयाँ और बढ़ गईं। लीग ने सरकार में सम्मिलित होते समय भी इस प्रकार का करार नहीं किया था कि वह कैबिनेट मिशन योजना को पूरी तरह मान ही लेगी। लीग एक संविधान सभा के स्थान में दो संविधान सभाओं की मांग कर रही थी।

इगलैण्ड के प्रधान मन्त्री ने कांग्रेस तथा लीग के नेताओं को एक कॉन्फ्रेंस के लिये लन्दन आमन्त्रित किया। इस कॉन्फ्रेंस का उद्देश्य कांग्रेस तथा लीग के बीच में इस प्रकार का कोई समझौता कराना था ताकि संविधान सभा ९ दिसम्बर से अपना काम आरम्भ कर सके। इस कान्फ्रेंस में भी कांग्रेस तथा लीग में समन्वय न हो सका। जब संविधान सभा का अधिवेशन ९ दिसम्बर को हुआ उसमें लीग के सदस्य अनुपस्थित रहे। देश में इस समय साम्प्रदायिक दंगे हुए।

२० फरवरी १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि सन् १९४८ तक ब्रिटिश सरकार भारत में भारतीयों को ही शक्ति सौंप देगी। इसी दिन यह भी ऐलान किया गया कि लॉर्ड माउण्टबेटन भारत के नए वाइसराय होंगे।

लार्ड माउण्टबेटन २३ मार्च को नई दिल्ली पहुँचे। उन्होंने कांग्रेस तथा लीग के नेताओं से वार्ता की और इसके फलस्वरूप ३ जून को एक नई योजना

रखी। इस माउन्टबैटेन योजना के अनुसार भारत का दो क्षेत्रों में विभाजन निश्चित हो गया।

इस योजना के अनुसार बंगाल तथा पंजाब का भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन करने के लिये सीमा-कमीशन नियुक्त किये गये। सिलहट का जिला पूर्वी बंगाल में मिला दिया गया।

१५ अगस्त १९४७ को भारत तथा पाकिस्तान, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत इन दो नए उपनिवेशों का जन्म हुआ। देश के विभाजन के फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। परन्तु विभाजन के बाद भी देश में खून बहा। हिन्दू तथा मुसलमानों ने जो कुछ किया, वह अवर्णनीय है। लाखों निरपराध तथा निर्दोषों के प्राण गये, लाखों की सम्पत्ति नष्ट हुई और लाखों को अपना घर-बार छोड़ना पड़ा। यह ब्रिटिश-नीति का कटुफल था।

भारत उपनिवेश २६ जनवरी १९५० से स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया। परन्तु यह राष्ट्र-संघ का सदस्य बना रहा। संक्षेप में यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास है।

परिशिष्ट

(अ) देशी-रियासतों में राष्ट्रीय जागृति :—ऊपर के वर्णन में हमने देशी रियासतों में जो जागृति हुई उसका वर्णन नहीं किया है। देशी राज्यों में जनता ब्रिटिश-भारत की जनता के मुकाबले में अधिक पिछड़ी हुई थी। इसका कारण यह था कि ये रियासतें एक प्रकार से मध्य-युग में थीं। न इनमें शिक्षा ने प्रगति की थी और न उद्योग धंधों ने। परन्तु कुछ रियासतें इन मामलों में उन्नत थी, जैसे मैसूर तथा ट्रावनकोर। राजनैतिक जागृति रियासतों में ब्रिटिश भारत से बाद प्रारम्भ हुई। इन सब रियासतों में जनता को किसी भी प्रकार के राजनैतिक अधिकार नहीं थे। इसलिए यह स्वाभाविक था कि इनमें जनता का आन्दोलन इन अधिकारों की मांग करे। सर्वप्रथम सन् १९२७ में एक संगठन की स्थापना हुई। इसका नाम देशी राज्य लोक-परिषद् रखा गया। इसका उद्देश्य इन रियासतों के निवासियों के लिये राजनैतिक अधिकारों की मांग करना था। आरम्भ में कांग्रेस ने इन रियासतों के मामलों में कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु कुछ काल बाद कांग्रेस ने इनके भी उत्तरदायी शासन की मांग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सन् १९३१ में लोक-परिषद् का उद्देश्य यह था कि देशी रियासतों के निवासियों को वे सब अधिकार—राजनैतिक तथा सामाजिक—प्राप्त हों, जो कि ब्रिटिश भारत के

निवासियों को नये विधान के अन्तर्गत दिये जायेंगे तथा रियासतें भारतीय संघ में शामिल हों।

ज्यों ज्यों रियासतों में जागृति बढ़ती गई त्यों-त्यों लोक परिषद के तत्वावधान में विभिन्न रियासतों में जनता ने वहाँ अत्याचारी शासन के विरुद्ध आन्दोलन किये। नरेशों ने इन आन्दोलनों को कुचलने में सब उपाय अपनाये। रियासतों के निवासियों ने भी गोलियाँ खाईं तथा लाठियाँ सहीं। उन्होंने भी अपने अधिकारों के लिये प्राण विसर्जित किये। देशी रियासतों के आन्दोलन में कांग्रेस ने प्रत्यक्ष भाग नहीं लिया तथापि इनको सर्वदा परोक्ष रूप में सहायता मिलती रही। देशी रियासतों की लड़ाई भारत के स्वाधीनता संग्राम का ही एक भाग है। इस प्रकार यथार्थ में यह दो सत्ताओं के विरुद्ध लड़ाई थी अर्थात् साम्राज्यवाद तथा इसके पिट्ठू भारतीय नरेश।

(थ) **साम्यवाद का जन्म** —प्रथम महायुद्ध तक भारत में शायद ही कोई अपने को साम्यवादी कहता हो। परन्तु सन् १९१७ में रूसी क्रान्ति ने पहिली बार भारतीयों का इस नई विचारधारा से परिचय कराया। पहिली बार भारतीयों ने यह सुना कि रूस में ज़ार (Tsar) की अत्याचारी सरकार के स्थान में एक मजदूर तथा किसानों की सरकार स्थापित हो गई। भारत में भी इसका असर हुआ तथा भारतीय नवयुवक इस नयी विचारधारा की ओर आकर्षित हुये। इस समय तक भारत में भी मजदूर-आन्दोलन का आरम्भ हुआ तथा मजदूर सभाओं की स्थापना हुई। इनका उद्देश्य मजदूरों के हितों का संरक्षण था। मजदूरों की दशा अत्यन्त खराब थी। इस कारण मजदूर सभाओं ने कई हड़तालें संगठित कीं।

कांग्रेस के अन्दर भी कुछ लोग साम्यवादी विचार धारा से प्रभावित हुए थे। पं० जवाहरलाल नेहरू तथा श्री सुभाष चन्द्र बोस अपने को समाजवादी (Socialist) कहते थे और भारत में इस प्रकार के समाज की स्थापना की बात कहते थे। इनके अतिरिक्त आचार्य नरेन्द्र देव, श्री जयप्रकाश नारायण आदि भी कांग्रेस के अन्दर समाजवादी थे। कांग्रेस ने इस विचार धारा से प्रभावित होकर अपना लक्ष्य भारत में वर्ग-विहीन समाज की स्थापना रखा।

प्रश्न

(१) संक्षेप में सन् १८८५ से १९२१ तक के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास लिखिये।

(२) गान्धी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास लिखिए।

(३) भारत में राष्ट्रीय जागृति के क्या कारण थे ? उनका विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिए।

(४) १९०९ से १९३५ तक देश में कांग्रेस की क्या नीति थी ? इस पर प्रकाश डालिए। (यू० पी० १९४०)

(५) देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के सन् १९१६ से सन् १९२९ तक के इतिहास का सूक्ष्म में वर्णन कीजिए। (यू० पी० १९५८)

अध्याय २०

भारत में राजनैतिक दल

राजनैतिक दलों का महत्व—प्रजातन्त्र में राजनैतिक दलों का अत्यन्त महत्व है। सामान्यतः यह सभी स्वीकार करते हैं कि बिना इन दलों के प्रजातन्त्रवाद सम्भव ही नहीं है। इन दलों के द्वारा जनता को राजनीति की शिक्षा मिलती है। प्रत्येक राजनैतिक दल कुछ उद्देश्यों को लेकर चलता है और चाहता है कि सरकार उन उद्देश्यों की पूर्ति करे। इसलिये प्रत्येक राजनैतिक दल सरकार पर अधिकार करना चाहता है। प्रजातन्त्र में यह निर्वाचनों के द्वारा होता है। एक निश्चित समय के बाद निर्वाचन होता है। इसमें जनता प्रतिनिधियों को छाँटती है और ये प्रतिनिधि जनता के नाम में शासन करते हैं। जिस दल का बहुमत होता है वही सरकार बनाता है।

भारत में भी कई राजनैतिक दल हैं। उनमें से कुछ अत्यन्त छोटे हैं तथा उनका यहाँ के जनजीवन में कोई प्रभाव नहीं है। इन दलों के अतिरिक्त, अन्य मुख्य मुख्य दलों का संक्षेप में वर्णन दिया जायगा।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस—साधारणतः भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास तथा कांग्रेस का इतिहास एक ही है। यह सच है कि कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया तथापि कांग्रेस का ही कार्य सबसे महत्वपूर्ण रहा है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस उस समय एक दल न होकर स्वाधीनता संग्राम में भाग लेने वाले सब दलों का संयुक्त मोर्चा थी। स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेस से समाजवादी दल अलग हो गया है। इसके पूर्व कांग्रेस से साम्यवादी दल निकाल दिया गया था।

कांग्रेस की स्थापना सन १८८५ में हुई। आरम्भ में कई वर्षों तक यह केवल उच्च मध्यवर्ग की संस्था थी। प्रति वर्ष इसका एक अधिवेशन किसी बड़े नगर में होता था और यह कुछ प्रस्ताव पास कर साल भर के लिये फिर विसर्जित हो जाती थी। इसका आरम्भ इसलिये हुआ ताकि यह मध्यवर्ग की मांगों को जैसे शासन में भाग लेने का अवसर मिले या सरकारी नौकरियों में भारतीयों को अधिक पद दिये जायें, इत्यादि, सरकार के सामने रखे। इस

प्रकार इसका काम अंग्रेजी सरकार से प्रार्थना करना था। कई वर्षों तक इसका यही काम रहा। परन्तु शनैः शनैः इसके स्वभाव में परिवर्तन होने लगा। इन सब कारणों का हम पिछले अध्याय में वर्णन कर चुके हैं। बंग-भंग के कारण देश में जो असन्तोष उत्पन्न हुआ उससे कांग्रेस के स्वभाव में और अधिक परिवर्तन हुआ। महायुद्ध के बाद देश में राजनैतिक चेतना बढ़ी। गान्धी जी ने सर्वप्रथम कांग्रेस को यथार्थ में जनता का संगठन बनाया। उन्होंने कहा कि हम अपना युद्ध सत्य तथा अहिंसा के अस्त्रों से लड़ेंगे। कांग्रेस ने सदा अहिंसात्मक मार्ग का अवलम्बन किया। देश में कई लोग इसकी अहिंसात्मक नीति को पसन्द नहीं करते थे। उनके अनुसार यह शान्ति का मार्ग न होकर ब्रिटिश सरकार से समझौते का मार्ग था। आलोचकों का कहना था कि जब-जब जन-आन्दोलन क्रान्तिकारी होने लगा तब-तब कांग्रेस ने उसको बन्द कर दिया। अहिंसात्मक-मार्ग के अनुयायियों का कहना था कि केवल इसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। हिंसात्मक तरीकों को अपनाने के अर्थ यह होंगे कि ब्रिटिश सरकार अपनी पूरी शक्ति से ऐसे आन्दोलन को कुचल देगी क्योंकि बारूद तो उसके पास कमी नहीं है। अतएव केवल नैतिक शक्ति द्वारा ही उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

कांग्रेस के अन्दर कुछ लोग सदा से ही ऐसे रहे जो कि केवल वैधानिक उपायों का ही अवलम्बन करना चाहते थे। इनके अनुसार स्वराज्य ऐसेम्बलियों के अन्दर से जीता जा सकता था। ऐसे विचार के लोगों ने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की थी तथा चुनावों में भाग लिया और ऐसेम्बलियों में गए। परन्तु इनको स्वराज्य नहीं प्राप्त हुआ।

कांग्रेस के इतिहास में सन् १९१९ के बाद यह दिखलाई देता है कि आन्दोलन की नीति तथा वैधानिक नीति बारी-बारी से अपनाये गये हैं।

सन् १९२१ में कांग्रेस ने अपना उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य रखा। यद्यपि लोकमान्य तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' का नारा लगा दिया था, तथापि सर्वप्रथम सन् १९२७ में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य अपना लक्ष्य बनाया। इसके पश्चात् सन् १९२८ में कांग्रेस ने पुनः औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना उद्देश्य बतलाया। परन्तु जब ब्रिटिश सरकार ने यह भी नहीं दिया तो फिर से सन् १९२९ में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय बनाया।

सन् १९३० के आन्दोलन के पश्चात् दूसरी गोलमेज सभा में कांग्रेस

ने भाग लिया परन्तु उसके हाथ केवल असफलता आयी। देश में फिर आन्दोलन हुआ जो कि सन् १९३४ में बन्द हुआ। सन् १९३५ के ऐक्ट के प्रान्तों में लागू होने पर कांग्रेस ने चुनावों के पश्चात् ८ प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाये।

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर जब अंग्रेजी सरकार ने भारत को बिना भारतीयों की राय के उसमें सम्मिलित कर दिया तब कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने इसके विरोध-स्वरूप पद त्याग कर दिया। इसके बाद कांग्रेस ने सन् १९४० में व्यक्तिगत आन्दोलन और सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाया। सन् १९४५ में पुनः समझौते की बातें हुईं तथा अगस्त १५, १९४७ को भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हुआ तथा २६ जनवरी १९५० को भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस ने विधान सभाओं तथा संसद में बहुमत होने के कारण प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारें बनाईं। १९५२ में निर्वाचनों के पश्चात् भी कांग्रेस का ही बहुमत रहा। इस समय कांग्रेस ही सत्तारूढ़ है।

कांग्रेस के विरोधियों के अनुसार इसमें अनेक बुराइयाँ आ गई हैं। इसके सदस्यों में सेवा तथा त्याग का भाव नहीं रह गया है। वे स्वार्थ-साधन में अधिक रत हैं। कांग्रेस अब एक सरकारी संस्था हो गई है तथा इसका उद्देश्य किसी भी प्रकार शासन पर अधिकार रखना है। इसके अन्दर एकता भी नहीं है, दलबन्दी हो गई है। गांधी जी के आदर्शों से यह दल दूर चला गया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि कांग्रेस पूंजीपतियों के प्रभाव में है और इसके द्वारा देश का कल्याण सम्भव नहीं है। इनके अनुसार तो स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में कुछ भी उन्नति दृष्टिगोचर नहीं होती है। खाने तथा कपड़े का प्रश्न हल नहीं हुआ है। कांग्रेस सरकार की योजनाएँ केवल कागजी हैं। व्यवहार में उन्हें सफलता नहीं मिली।

परन्तु कांग्रेस के समर्थकों का कहना है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस ने देश के लिये जो कुछ सम्पन्न किया है उससे अधिक सम्भव नहीं था। आर्थिक अवस्था पहले से सुधर रही है। गल्ले का प्रश्न तो हल ही हो गया है। अभी कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ हैं। परन्तु इनके लिए कांग्रेसी सरकार प्रयत्नशील है। पञ्चवर्षीय योजना, सामुदायिक योजनाएँ तथा ग्राम-विकास की योजनाएँ शीघ्र ही देश की अवस्था को सुधार देंगी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश की प्रतिष्ठा बढ़ गई। पं० नेहरू का रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों में जो भव्य स्वागत हुआ वह इस बात को सिद्ध करता है।

कांग्रेस के उद्देश्य :—कांग्रेस का राजनैतिक उद्देश्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति था और वह एक प्रकार से पूरा हो चुका है। इस कारण से लोगों का कहना है कि अब कांग्रेस का काम पूरा हो चुका है और इसे अब भंग कर देना चाहिए। कांग्रेस देश में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना चाहती है। इसमें किसी प्रकार का धार्मिक भेद-भाव नहीं होगा तथा अमीर और गरीब को बराबर अधिकार मिलेंगे।

आर्थिक क्षेत्र में कांग्रेस एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना अपना उद्देश्य बतलाती है। इसमें आर्थिक शोषण नहीं होगा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता बनी रहेगी। इस बात का प्रयत्न किया जायगा कि मजदूरों की दशा में सुधार हो, देश में बेकारी न हो। सब लोग अपनी सामान्य-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

इस वर्ष आवाडी अधिवेशन में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि कांग्रेस का उद्देश्य देश में समाजवादी समाज की स्थापना है। कांग्रेस के अध्यक्ष (श्री ढेबर) के अनुसार इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं : (१) समाज के हित में उत्पादन के साधनों का समाजीकरण, अर्थात् ये किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेंगे। (२) राष्ट्र की सम्पत्ति, आय तथा साधनों का न्यायपूर्ण वितरण। (३) समाज के प्रत्येक भाग को अवसर की समानता प्रदान करना।

कांग्रेस ने कुछ मास पूर्व अपने नागपुर अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि देश में सरकार द्वारा सहकारी कृषि व्यवस्था लागू होनी चाहिये। पं० नेहरू कहा कि इसके अतिरिक्त देश की खाद्य स्थिति सुधारने का अन्य कोई साधन नहीं है। परन्तु कांग्रेस के अन्दर तथा बाहर अनेक व्यक्ति इस प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं। उनके अनुसार समाजवादी व्यवस्था तथा सहकारी कृषि दोनों ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये घातक हैं।

सामाजिक क्षेत्र में कांग्रेस का उद्देश्य हरिजनोद्धार तथा साम्प्रदायिकता को हटाना है। यह मद्य-निषेध के पक्ष में है तथा अन्य सामाजिक बुराइयों को

---

1. कांग्रेस-विधान की प्रथम धारा में यह कहा गया है कि—
"The object of the Indian National Congress is the well-being and advancement of the people of India and the establishment i
tive comn
political,
and fellowship."

हटाना चाहती है। शिक्षा-प्रचार तथा हिन्दी का प्रचार भी कांग्रेस अपना उद्देश्य रखती है।

गांधी जी ने सदा इस बात पर जोर दिया कि भारतवर्ष गाँवों का देश है और यहाँ की अवस्था तब तक नहीं सुधर सकती है जब तक कि गाँवों का सुधार न हो। कांग्रेस अभी तक गाँवों की उन्नति को—शिक्षा स्वास्थ्य, सफाई, कुटीर-उद्योग आदि को—प्रथम कार्यक्रम में स्थान देती है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कांग्रेस सब देशों के साथ मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध रखना चाहती है और तटस्थ रहना चाहती है। कांग्रेस के कुछ विरोधियों ने इस तटस्थता की नीति का केवल एक धोखा कहा है। उनके अनुसार कांग्रेस का झुकाव अमेरिका तथा इंगलैंड की ओर अधिक है। परन्तु अब प० नेहरू की तटस्थता की नीति की रूस, चीन आदि देशों ने भी सराहना की है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई है। इसका श्रेय प० नेहरू तथा उनकी नीति को है।

कांग्रेस दल के नेता अब यह देखने लगे हैं कि सत्तारूढ़ होने के पश्चात् इस दल में कई प्रकार की बुराइयाँ आ गई हैं। पद लोलुपता, गुटबन्दी, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता आदि दोष इसमें भर गए हैं। इसके सदस्यों तथा अनेक नेताओं में भी वह आत्मत्याग नहीं रह गया है जिसके कारण कांग्रेस का इतना मान था। पण्डित नेहरू ने भी यह निश्चय किया था कि वे प्रधान-मन्त्री-पद से त्याग दें तथा कांग्रेस के पुनर्संगठन की ओर ध्यान दें। उन्होंने यह विचार अपने सहयोगियों के समझाने से छोड़ दिया परन्तु अब कांग्रेस के उच्च पदस्थ नेता कांग्रेस को उन दोषों से मुक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं जिनके कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा दश में गिर रही है।

प्रजा समाजवादी दल (Praja Socialist Party) —इस राजनैतिक दल का निर्माण दिसम्बर १९५२ में हुआ। यह भारतीय समाजवादी तथा कृषक-मजदूर प्रजा पार्टी के संयुक्तीकरण से बना, अतएव इसका नाम प्रजा समाजवादी दल बन गया।

भारतीय समाजवादी दल का आरम्भ सन १९२६ में पटना में हुआ था। कई वर्ष तक यह दल कांग्रेस के ही अन्तर्गत रहा। यद्यपि कई महत्वपूर्ण विषयों में, जैसे आर्थिक उद्देश्य, इसमें तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में मतभेद था, तथापि समाजवादी इससे पृथक नहीं हुए। परन्तु सन् १९४७ के पश्चात् समाजवादियों तथा कांग्रेस में मतभेद बढ़ता ही गया और सन् १९४८ में यह दल कांग्रेस

से अलग हो गया। इसके पूर्व इसका नाम कांग्रेस समाजवादी दल था परन्तु अलग होने पर इसने अपने नाम के आगे से कांग्रेस शब्द हटा लिया।

कृषक प्रजा पार्टी का संगठन आचार्य कृपलानी ने किया। आचार्य जी तथा अन्य कई कांग्रेस के पुराने कार्यकर्ताओं का यह विचार होता गया कि भारतीय कांग्रेस अपने आदर्शों के अनुसार कार्य नहीं कर रही है। वह जनता की सेवा से विमुख हो गई है तथा पूँजीपतियों के हितों को ही मुख्य स्थान में रख रही है। वह गांधी जी के मार्ग से विचलित हो गई है। इसमें भ्रष्टाचार बढ़ गया है। सरकार भी जनता की सेवा से विमुख हो गई है। इन्हीं कारणों से कृपलानी जी ने सन् १९५१ में इस दल की नींव डाली।

जब सन् १९५२ में भारत में आम चुनाव हुए उस समय समाजवादी दल तथा कृषक पार्टी दोनों ने ही अपने अनेकों उम्मीदवार निर्वाचनों में संघ तथा प्रादेशिक विधान-सभाओं के लिये खड़े किए। इन दोनों दलों का यह कहना था कि कांग्रेस के स्थान पर वे सरकार बना सकते हैं। परन्तु निर्वाचनों में कांग्रेस को ही बहुमत प्राप्त हुआ तथा इन दलों को अत्यन्त ही सीमित सफलता प्राप्त हुई। मद्रास में कृषक पार्टी ने भारतीय साम्यवादी दल के साथ संयुक्त मोर्चा बनाया था।

परन्तु इन दोनों दलों के नेताओं के अन्दर यह भावना धीरे-धीरे काम करने लगी है कि कांग्रेस के विरुद्ध विपक्षी दलों को एक संगठन बनाना चाहिए, तभी सफलता मिलेगी। साम्यवादी दल के साथ इन दोनों का सिद्धान्त रूप में मेल नहीं था और ये साम्यवादी दल के विरोधी थे। अतएव यह स्वाभाविक था कि ये दोनों दल मिलाकर एक नया दल बनाते। इस उद्देश्य से इन दोनों दलों के नेताओं के मध्य वार्ताएँ हुईं तथा अन्त में सितम्बर (ता० २६, २७) में बम्बई में एक संयुक्त सम्मेलन हुआ तथा प्रजा-समाजवादी दल का निर्माण हुआ।

इस दल के विरोधियों का कहना है—विशेषकर साम्यवादियों का—कि यह एकता केवल अवसरवाद पर आधारित है। इसका कोई सैद्धान्तिक आधार नहीं है। क्योंकि समाजवादी दल का आधार मार्क्सवाद है तथा कृषक पार्टी का आधार गांधीवाद तथा सर्वोदय की नीति है। परन्तु प्रजा समाजवादी दल के नेताओं का कहना है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों दलों में कोई विशेष भेद नहीं है। अतएव इस एकता का आधार सैद्धान्तिक है।[1]

---

1. आचार्य कृपलानी ने बम्बई में २६ सितम्बर को अपने भाषण में कहा: The new Party "is not formed in terms of any rigid political

इस दल की नीति यह है कि वैधानिक उपायों से यह कांग्रेस की सरकार के स्थान में अपनी सरकार स्थापित करे क्योंकि इसके अनुसार कांग्रेस की नीति पूँजीपतियों का हित साधन करना है न कि जनता का। देश के सम्मुख जो समस्याएं हैं उनमें से कांग्रेस एक को भी हल करने में असमर्थ है। यह कांग्रेस की मजदूरों के प्रति नीति से भी असन्तुष्ट है।

इस दल के निम्नलिखित उद्देश्य हैं

(१) भारत में वर्ग विहीन तथा वर्ग हीन समाज की स्थापना करना।

(२) देश में किसान-सभा तथा मजदूर-सभाओं का संगठन करना। यह अहिंसात्मक वर्ग युद्ध को प्रजातन्त्रीय कार्य प्रणाली के अन्तर्गत मानता है।

(३) मुख्य उद्योग धंधों तथा विदेशी व्यापार का राष्ट्रीयकरण।

(४) यह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति को मानता है। इस दल के अनुसार भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्र नीति का अवलम्बन करना चाहिए तथा विरोधी गुटों से बाहर रहना चाहिए।

(५) यह साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध है।

प्रजा समाजवादी दल के अन्दर अनुशासन का अभाव सा रहता है जो कि किसी दल की सफलता के लिए आवश्यक है। दल के नेताओं में उद्देश्य तथा नीति सम्बन्धी भेद हैं। इस दल की अर्थ नीति तथा कांग्रेस की नीति में कोई मूल अन्तर नहीं दृष्टिगोचर होता है। इसमें पृथक अस्तित्व का औचित्य भी नहीं दीखता है।

समाजवादी दल —डा० राममनोहर लोहिया ने सन् १९५५ में समाजवादी दल की स्थापना की। डा० लोहिया प्रजा समाजवादी दल से पृथक हो गये क्योंकि उनके अनुसार प्रजा समाजवादी दल द्वारा भारत में समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं हो सकती। त्रावनकोर में सन् १९५५ में वहाँ की प्रजा समाजवादी सरकार ने मजदूरों पर गोली चलवाई। इस पर डा० लोहिया ने कहा कि इस गोली काण्ड की जाँच (Judicial inquiry) होनी चाहिए तथा इसे पदत्याग कर देना चाहिए। परन्तु प्रजा समाजवादी दल की कार्य समिति ने डा० लोहिया से सहमति नहीं प्रकट की। इसी बात पर डा० लोहिया

---

creed or ism It is based upon identity of certain basic principles of a common goal and major socio-economic policies Both parties have accepted the idea that social change must be accomplished through peaceful means

ने पृथक दल बनाने का निश्चय किया। उनका कहना है कि ७ वर्ष में उनका दल भारत में सत्तारूढ हो जायगा।

वामपन्थी समाजवादी :—समाजवादी दल के अन्दर एक प्रामन्त ही छोटा भाग ऐसा था जो कि दल की नीति से सन्तुष्ट नहीं था। इन लोगों का यह कहना था कि समाजवादी दल क्रान्तिकारी दल नहीं रह गया है वरन् यह दक्षिणी-पन्थी हो गया है। इसकी नीति मार्क्सवादी नहीं रह गई है। श्रीमती अरूणा आसफअली ने कहा कि कोई भी सच्चा समाजवादी इस दल के अन्दर नहीं रह सकता है। अभी इस दल का विशेष प्रभाव नहीं है।

साम्यवादी दल (Communist Party of India) :—इसका जन्म सन् १९२४ में हुआ था। परन्तु करीबन बीस वर्षों तक यह दल अवैध रहा। इस कारण इसको खुल कर काम करने का अवसर सन १९४३ के पूर्व नहीं मिला। सन् १९४७ में स्वतन्त्रता के पश्चात् इस दल ने श्री पी० सी० जोशी के नेतृत्व में नेहरू सरकार का स्वागत किया तथा यह नारा दिया कि इस सरकार से सहयोग करो। परन्तु कुछ समय बाद इसकी नीति में परिवर्तन हो गया। श्री रणदिवे इसके नए मन्त्री चुने गये। उनके काल में दो वर्षों तक साम्यवादी दल ने सरकार का सर्वत्र विरोध प्रारम्भ किया। इस काल में तेलगाना में इस दल के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध खुल कर विरोध किया गया। परन्तु यह संघर्ष की नीति असफल रही। इसके फलस्वरूप देश में इसका प्रभाव और भी कम हो गया। दल की नीति में पुन परिवर्तन हुआ तथा श्री अजय घोष इसके नए मन्त्री निर्वाचित हुए तथा अभी तक हैं।

साम्यवादी दल का चरम उद्देश्य भारत में पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण रूपेण उन्मूलन करना है। इस प्रकार एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी जिसमें मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण का अन्त हो जायगा। उत्पादन के सब साधनों पर समाज का अधिकार होगा। इस उद्देश्य के पूर्ति के लिये साम्यवाद के प्रवर्तकों के मतानुसार, शान्तिपूर्ण या हिंसात्मक किसी भी प्रकार के मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है। भारतीय साम्यवादी दल का भी यही दृष्टिकोण था। परन्तु इस दल ने अमृतसर अधिवेशन के पश्चात् स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि यह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति केवल वैधानिक तथा शान्तिपूर्ण उपायों से करेगा। इस दल ने प्रथम तथा द्वितीय निर्वाचनों में पूरा भाग लिया तथा दूसरे निर्वाचनों के पश्चात् केरल प्रदेश में इस दल द्वारा मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया है।

साम्यवादी दल का नीति देश में सच्चे प्रजातन्त्रीय ढंग के साथ एक सरकार स्थापित करने का कार्यक्रम बनाना है। इस समय यह देश में एक साम्यवादी सरकार की स्थापना न कर एक सच्ची प्रजातन्त्रीय सरकार की स्थापना अपना लक्ष्य बताते हैं। इस सरकार का मुख्य काम रोटी कपड़े की समस्या को हल करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस दल का लक्ष्य अमेरिका की नीति का विरोध करना है। क्योंकि इसके अनुसार संसार की शांति का सबसे बड़ा भय अमरीकी साम्राज्यवाद से है। देश के अन्दर यह विभिन्न राष्ट्रीय वर्गों की अपने सांस्कृतिक तथा आर्थिक उत्थान के लिए प्रत्येक प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थक है। इस दल के विरोधियों के अनुसार यह प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं अपितु एक निरंकुश शासन की स्थापना करना चाहता है जिसमें कि केवल एक दल रहेगा और कोई नहीं। कांग्रेस तथा प्रजा समाजवादी दोनों ही साम्यवादी दल के विरुद्ध हैं।

अन्य वामपक्षी दल—देश में कुछ छोटे छोटे अन्य दल भी हैं जो कि समाजवादी (Socialist) विचार धारा से प्रभावित हुए हैं। परन्तु इन दलों का प्रभाव बहुत कम है। इन छोटे दलों में सबसे मुख्य फारवर्ड ब्लाक है। इसकी स्थापना श्री सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस से अलग होने के बाद की थी। इस दल का प्रभाव सीमित है। इस समय इसका उद्देश्य भारत में एक समाजवादी सरकार की स्थापना है जो कि जनसाधारण के हित में तत्पर होगी। इसके अन्दर दो विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो मार्क्सवादी है और दूसरी को हम क्रान्तिकारी उदारवादी (Radical Liberalism) कह सकते हैं।

अन्य वामपक्षी दलों के नाम ये हैं—बोल्शेविक पार्टी, रिवोल्यूशनरी कम्यूनिस्ट पार्टी, किसान एण्ड पीजेन्ट्स पार्टी, रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी आदि।

लिबरल पार्टी—लिबरल पार्टी का जन्म सन् १९१८ में हुआ। उस समय तक लिबरल पार्टी की कोई अलग सत्ता नहीं थी क्योंकि उदारवादी नेता कांग्रेस के ही अन्दर थे। जब शुरू शुरू में कांग्रेस बनी थी तब वह यथार्थ में उदारवादियों की ही संस्था थी और यह वैधानिक उपायों के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करना चाहती थी। परन्तु धीरे धीरे कांग्रेस के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। लार्ड कर्जन के शासन काल में भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष और बढ़ा। कुछ नेताओं ने वैधानिक उपायों को छोड़कर अन्य उपायों को अपनाने पर जोर दिया। औपनिवे-

शिक स्वराज्य के स्थान में कुछ लोग पूर्ण स्वराज्य को अपना उद्देश्य बतलाने लगे। पहले पहल तो कांग्रेस के अन्दर नरम दल वालों का ही जोर रहा परन्तु बाद को नरम दल वालों का अल्पमत हो गया। सन् १९१८ में ये नरम दल वाले कांग्रेस से अलग हो गये।

लिबरल पार्टी का प्रथम अधिवेशन सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में बम्बई में हुआ। इस नई पार्टी का नाम इण्डियन लिबरल फेडरेशन रखा गया। लिबरल फेडरेशन का लक्ष्य सदा औपनिवेशिक स्वराज्य रहा है। यह दल इस उद्देश्य की प्राप्ति वैधानिक उपायों से ही करने का पक्षपाती रहा है। इसीलिए जब-जब कांग्रेस ने विदेशी शासन के प्रति आन्दोलन चलाये उदारवादी उनसे अलग रहे।

यथार्थ में लिबरल पार्टी का जनता से कभी भी सम्पर्क नहीं रहा। एक तरह से यह पार्टी थी ही नहीं। इसमें नेता ही नेता थे। इसके नेताओं में भारत के प्रतिष्ठित व्यक्ति रहे हैं, जैसे सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, सर तेज बहादुर सप्रू, डा० जयकर, श्री चिन्तामणी, डा० कुंजरू आदि।

प्रति वर्ष लिबरल पार्टी अपना अधिवेशन करती है। इसमें देश की विभिन्न समस्यों पर विचार-विमर्श किया जाता है। राष्ट्रीयता के इतिहास में इस दल विशेष महत्व नहीं रहा है। आजकल इस दल का अन्त ही हो गया है।

स्वतन्त्र दल—श्री राजगोपालाचारी ने इस दल की अभी एक मास पूर्व स्थापना की है। इस दल के प्रमुख नेताओं में राजा जी, श्री मसानी तथा प्रो० रंगा हैं। इस दल का उद्देश्य देश में समाजवाद, सहकारी खेती तथा राज्य के बढ़ते हुए प्रभाव-क्षेत्र का विरोध कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। स्वतन्त्रता दल के घोषणा-पत्र को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह केवल एक अनुदार दल नहीं है अपितु एक प्रतिक्रियावादी दल है। इस दल का भविष्य क्या होगा यह कहना कठिन है। यह सम्भव है कि यह अन्य प्रतिक्रिया-वादी तत्वों तथा दलों के साथ मिलकर देश में एक संगठित प्रतिक्रियावादी विरोध-पक्ष बनाने का प्रयत्न करे।

साम्प्रदायिक दल:—अब तक जिन राजनैतिक दलों का वर्णन किया गया है वे किसी सम्प्रदाय-विशेष के या धर्म-विशेष के ऊपर आधारित नहीं हैं। परंतु इसके विपरीत ये राजनैतिक तथा आर्थिक कार्यक्रम को लेकर चलते हैं। इस लिये उनकी सदस्यता भी किसी विशेष सम्प्रदाय या धर्मानुयायियों तक ही

ही सीमित नहीं हैं। प्रत्येक भारतीय जो कि उनके कार्यक्रम तथा सिद्धान्तों में विश्वास करता है उनका सदस्य हो सकता है। इन दलों के अतिरिक्त देश में कुछ अन्य दल भी हैं जो कि साम्प्रदायिक हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू महासभा और दल तथा मुस्लिम लीग। भारतवर्ष के विभाजन के पश्चात् भारत में मुस्लिम लीग की शक्ति क्षीण हो गई है तथा यह समाप्तप्राय सी ही है। मुख्य मुख्य साम्प्रदायिक दलों का वर्णन नीचे किया गया है —

हिन्दू महासभा —इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब अंग्रेजी सरकार की नीति के फलस्वरूप मुसलमानों के नेता मुस्लिम लीग की स्थापना कर रहे थे उसी समय हिन्दू हितों के रक्षार्थ हिन्दू महासभा का जन्म हुआ। यह दल प्रारम्भ में राजनैतिक न था। परन्तु इसका उद्देश्य हिन्दुओं के सामाजिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा करना था। शुरू शुरू में हिन्दू जनता इसकी ओर कोई विशेष आकर्षित नहीं हुई क्योंकि कांग्रेस का अत्यधिक प्रभाव था। परन्तु जैसे जैसे मुसलमानों में साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ती गई वैसे-वैसे हिन्दू महासभा का प्रभाव बढ़ा। परन्तु इतना होने पर भी हिन्दू महासभा कभी भी हिन्दुओं में अधिक जनप्रिय न हो पाई। इसका कारण यह है कि हिन्दू जनता का यह विश्वास रहा है कि कांग्रेस उनके हितों की रक्षा ठीक प्रकार से कर रही है। इसके अतिरिक्त एक बात यह थी कि अंग्रेजी सरकार ने मुस्लिम लीग को मुसलमानों की प्रतिनिधि-संस्था माना परन्तु हिन्दू-महासभा के इस दावे को कभी भी स्वीकार नहीं किया कि यह हिन्दुओं की प्रतिनिधि संस्था है। इसके बदले अंग्रेजी सरकार सदा कांग्रेस को ही हिन्दुओं की प्रतिनिधि मानती आई यद्यपि कांग्रेस ने सदा सारे देश का प्रतिनिधि होने का दावा किया। हिन्दू-महासभा के नेताओं में प्रमुख नाम लाला लाजपत राय, प० मदन मोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, डा० मु जे आदि के हैं। वर्तमान समय में इसके नेता वीर सावरकर, श्री आशुतोष लाहिरी, श्री भोपतकर आदि हैं। इस समय भी हिन्दू महासभा के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

हिन्दू महासभा देश की अखण्डता में विश्वास करती है। इसलिए इसका सबसे मुख्य उद्देश्य यह है कि देश के विभाजन का अन्त हो और भारत तथा पाकिस्तान के स्थान में अखण्ड भारत की स्थापना हो। इसका कहना है कि देश का विभाजन कांग्रेस की ही नीति का परिणाम है। इसके अतिरिक्त महासभा के अन्य मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं —

(अ) यह देश में प्रजातन्त्र की स्थापना करना चाहती है जिसमें किसी भी प्रकार की जाति, वर्ग आदि का भेदभाव नहीं होगा। इस प्रजातन्त्र का आधार भारतीय संस्कृति होगी। देश के अन्दर एक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी।

(ब) देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाना और इसलिए सब स्वस्थ नागरिकों को सैनिक शिक्षा देना।

(स) देश की आर्थिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक उन्नति करना। देश में उद्योग-धंधों की स्थापना करना।

(द) हिन्दू धर्म की रक्षा करना।

(य) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना तथा विश्व-शान्ति के लिए प्रयास करना।

अगर हिन्दू-महासभा सामाजिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखती तो शायद अधिक लाभदायक काम कर सकती। परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में इसकी नीति प्रतिक्रियावादी है। यद्यपि यह एक प्रगतिशील आर्थिक कार्यक्रम को अपना ध्येय बतलाती है, परन्तु इसके अन्दर जमींदार, पूँजीपति आदि को देखने से लगता है कि इस क्षेत्र में इसका काम विशेष हितों की रक्षा ही होगा।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ—संघ की स्थापना सन् १९२५ में डा० हेडगेवार द्वारा की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दू संस्कृति, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू राज्य की स्थापना था। इस दल का प्रारम्भ महाराष्ट्र में हुआ था तथा अनेक वर्षों तक इसका प्रभाव उसी प्रदेश में सीमित रहा। परन्तु धीरे धीरे संघ का काम अन्य प्रदेशों में भी फैला। भारत के विभाजन के पश्चात् साम्प्रदायिक दंगों के फलस्वरूप जो वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न हुआ उसमें संघ के विचारों तथा प्रभाव को प्रसारित होने का अवसर मिला। इस समय संघ के नेता श्री गोलवाल्कर हैं। संघ का उद्देश्य इसके अनुयायियों के अनुसार हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान है। यह अपने को राजनैतिक दल नहीं बतलाता न इसके राजनैतिक उद्देश्य ही हैं। संघ का संगठन अर्ध सैनिक संगठन है। इसका प्रभाव अधिकतर विद्यार्थियों तथा छोटे दुकानदारों में है।

भारतीय जनसंघ:—भारतीय जनसंघ वास्तव में भारतीय न होकर एक हिन्दू साम्प्रदायिक राजनैतिक दल है। इसकी स्थापना सन् १९५१ में स्वर्गीय डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी द्वारा की गई थी। यह वास्तव में राष्ट्रीय

स्वयं सेवक संघ का ही राजनीतिक पक्ष है। जनसंघ एक प्रतिक्रियावादी दल है तथा सभी प्रगतिशील आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों का व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा भारतीय संस्कृति के नाम में विरोधी है।

इस दल के निम्नांकित मुख्य उद्देश्य हैं—(१) भारत की अखण्डता की स्थापना (२) भारत का राष्ट्रमण्डल से पृथक्करण, (३) भारत का आर्थिक विकास तथा औद्योगिक उन्नति (४) समाजवादी व्यवस्था तथा सरकारी खेतो का विरोध, (५) काश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्रमण्डल से वापिस लिया जाय, तथा (६) देश में अल्पसंख्यकों के हितों का समुचित संरक्षण।

देश के कुछ भागों में विशेषतः दिल्ली तथा पंजाब में जनसंघ का प्रभाव बढ़ रहा है।

सिक्खों के दल—सिक्खों के अन्दर एक भाग तो ऐसा है जो कांग्रेस में है तथा इस विचार का अनुयायी है कि कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था है तथा किसी साम्प्रदायिक संस्था की सिक्ख हितों के विशेष रक्षार्थ आवश्यकता नहीं है। परन्तु इस विचारधारा के अनुयायियों के अतिरिक्त सिक्खों में दो दल हैं। एक तो अकाली दल है। इसके नेता मास्टर तारासिंह हैं। यह दल साम्प्रदायिक भावना से ओत प्रोत है। यह कांग्रेस का विरोधी है। इसकी माँग संक्षेप में यह है कि सिक्ख-हितों के रक्षार्थ यह आवश्यक है कि सिक्ख सम्प्रदाय की एक अलग सत्ता हो। इसको सबसे अधिक सन्तोष तब होगा जब कि एक सिक्खिस्तान बन जाय। अकाली दल मुख्यतः राजनैतिक है। इसकी राजनीति का आधार धर्म है। दूसरे दल के नेता महाराजा पटियाला हैं। इस दल का कार्यक्रम राजनैतिक नहीं है। इसका प्रमुख उद्देश्य सिक्खों की सांस्कृतिक उन्नति है।

मुस्लिम लीग तथा अन्य मुस्लिम दल—हम पिछले अध्याय में यह बतला चुके हैं कि किस प्रकार सन् १९०६ में लीग का जन्म हुआ। लीग आरम्भ से ही एक प्रतिक्रियावादी तथा अराष्ट्रीय संस्था रही है। इसका उद्देश्य सदा साम्प्रदायिक रहा है। इसका जन्म भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में रोड़ा अटकाने के हेतु अंग्रेजों की कूटनीति द्वारा किया गया था। कोई भी विदेशी शासन अधिक दिनों तक किसी देश को दासता में नहीं रख सकता है अगर वहाँ के निवासी एक होकर उसके विरुद्ध हो जावें। इसलिए अत्यन्त प्राचीन काल से ही सर्वत्र विदेशी शासकों ने फूट डालने की नीति

को अपनाया है। रोम के शासकों ने अपने साम्राज्य में इसी नीति को अपनाया था। इसको Divide and Rule की नीति कहते हैं। अंग्रेजों ने भी भारत में इसी नीति को अपनाया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे इसमें अत्यन्त सफल हुये अन्त में जब वे यहां से चले भी गये हैं, तब भी हम उनके प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके हैं।

लीग ने स्थापना के पश्चात सरकार के सम्मुख इस प्रकार की मांगें रक्खीं, जैसे कि मुसलमानों के हितों का संरक्षण ठीक प्रकार से हो, उन्हें नौकरियों में अधिक स्थान दिये जांय, मुसलमानों के लिये अलग निर्वाचन-क्षेत्र का निर्माण हो इत्यादि। क्योंकि सरकार मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखना चाहती थी, इसलिये सन् १९०९ में मार्ले मिन्टो सुधार द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन का प्रारम्भ हुआ। परन्तु इस काल में देश में कई प्रसिद्ध मुसलमान नेताओं ने लीग का साथ नहीं दिया। कुछ प्रगतिशील विचार के नेताओं ने यह चेष्टा की कि लीग तथा कांग्रेस में मेल हो जावे। कुछ सीमा तक इसमें सफलता रही। सन १९१५ में लखनऊ में कांग्रेस-लीग पैक्ट हुआ। इसके द्वारा लीग ने स्वतन्त्रता की मांग को अपना भी उद्देश्य स्वीकार कर लिया तथा कांग्रेस ने पृथक निर्वाचन को मान लिया।

जब युद्ध के पश्चात देश में असन्तोष बढ़ा तथा कांग्रेस का आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन हुये, उनका लीग ने विरोध नहीं किया। परन्तु इस काल में लीग से अधिक प्रभाव जमायत-उल-उलमाये हिन्द का हो गया था।

जैसा पहले दिखलाया जा चुका है सन् १९२३ से भारत में करीबन चार वर्षों तक कई स्थानों में हिन्दू मुस्लिम दंगे हुये। इन दंगों का असली उत्तरदायित्व अंग्रेजी सरकार पर है।[1] इसका असर यह हुआ कि जो हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच सन् १९१९ से एकता चली आ रही थी वह टूट गई तथा मुस्लिम लीग पुनर्जीवित हो गई। परन्तु इस समय भी लीग के अन्दर भी

---

1. पं० जवाहरलाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Discovery of India, में लिखा है, "I cannot excuse or forgive the British authorities for the deliberate part they have played in creating disruption in India. All other injuries will pass but this will continue to plague us for a much longer period."

विचारधाराएँ थी। एक तो कुछ मात्रा तक राष्ट्रीय था परन्तु दूसरी पूर्णतया साम्प्रदायिक थी। जब सन १९२७ म साइमन कमीशन के आगमन की घोषणा हुई उस समय साम्प्रदायिक भाग ने अपना एक अलग अधिवेशन किया तथा कमीशन के स्वागत में एक प्रस्ताव पास किया। इस समय उन्माओ भी साम्प्रदायिकता की भावना उनकी और उन्होंने नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया। नेहरू रिपोर्ट म संयुक्त निर्वाचन प्रथा का अनुमोदन किया गया था। परन्तु उलमाओं ने यह माँग रखी कि पृथक निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए। लीग के अन्दर प्रतिक्रियावादियों का प्रभाव बढ़ता ही गया और इसका फल यह हुआ कि राष्ट्रीय विचार वाले इसमे अलग हो गये।

मुसलमानों म साम्प्रदायिकता बढ़ती गई और इसका कारण अंग्रेजी सरकार का इस विचार धारा को प्रोत्साहन देना था। सन १९२९ म श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने जो कि अपने राजनैतिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों म राष्ट्रीयता के समर्थक थे लीग के लाहौर अधिवेशन म अपनी प्रसिद्ध १४ माँग रखी जो कि Fourteen points कहलाती है। ये माँग नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशों की पूर्णतया विरोधी है। इनम से मुख्य निम्नलिखित थी —

(१) भारत का भावी विधान संघात्मक हो तथा अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों के पास हो। प्रान्तों को स्वायत्त शासन का अधिकार हो।

(२) सब विधान मण्डलो म अल्पसंख्यकों के लिये स्थान सुरक्षित हो। केन्द्रीय विधान मण्डलो म मुसलमानों के लिये एक तिहाई स्थान सुरक्षित हो।

(३) पृथक निर्वाचन प्रणाली हो।

(४) सब नौकरियों म मुसलमानों के लिये उचित स्थान हो।

(५) मुसलमानों के धर्म संस्कृति भाषा आदि के संरक्षण का विधान द्वारा उचित प्रबन्ध हो आदि।

गोलमेज सभाओं म मुस्लिम लोग ने पूरी तरह से अंग्रेजी सरकार का साथ दिया। इसका फल यह हुआ कि अंग्रेजी सरकार ने राष्ट्रीय माँगों को यह कह कर ठुकरा दिया कि मुसलमान इसके विरुद्ध है। अंग्रेजी सरकार ने पूरा प्रयत्न किया कि हिन्दू तथा मुसलमानों म समझौता न हो पाये।

सन् १९३५ में ऐक्ट द्वारा भारत में साम्प्रदायिकता को और प्रोत्साहन मिला। जब कांग्रेस ने ऐक्ट के अन्तर्गत चुनावों के बाद कई प्रान्तों में पद-ग्रहण किया तथा मुस्लिम लीग की इस माँग को कि संयुक्त मन्त्रि-मंडल बनाये जाँय, स्वीकार नहीं किया तो लीग ने मुसलमानों से कहा कि देश में हिन्दू राज्य स्थापित हो गया है तथा मुसलमानों का धर्म, भाषा तथा संस्कृति सभी खतरे में है। इस काल में देश भर में लीग का प्रभाव बढ़ा। अधिकाधिक मुसलमान इसमें आने लगे। जब कांग्रेस ने पद-त्याग किया तब लीग ने देश भर में मुक्तिदिवस मनाया।

इस काल में लीग की माँगें उत्तरोत्तर बढ़ती गईं। लीग नेताओं के भाषणों में राष्ट्रीयता के विरुद्ध विष बढ़ता ही गया। उन्होंने कहना आरम्भ किया कि हिन्दू तथा मुसलमान मिल कर नहीं रह सकते हैं। सन् १९४० में श्री जिन्ना ने लीग के सभापति पद से भाषण देते हुए लाहौर में कहा था कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की सभ्यता, संस्कृति, भाषा और धर्म सब पृथक् पृथक् हैं। इसलिए यह आशा करना व्यर्थ है कि वे दोनों मिलकर एक राष्ट्रीयता को जन्म देंगे। उनका इतिहास भिन्न है, उनकी प्रेरणा के स्रोत भिन्न हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि लीग अधिकाधिक राष्ट्रीयता की शत्रु होती जा रही थी। इसकी माँगें बढ़ती जा रही थीं। अब यह केवल विशेष प्रतिनिधित्व या नौकरियों में अधिक स्थानों की ही माँग कर सन्तुष्ट न थी परन्तु अब यह कहने लग गई थी कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं। इसके बाद यह स्वाभाविक था कि दूसरा कदम यह होता कि मुसलमानों का एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो। लाहौर अधिवेशन में ही लीग ने यह प्रस्ताव पास किया कि देश के वे भाग जिनमें मुसलमानों का बहुमत है स्वतन्त्र राज्य माने जाय।

सर्वप्रथम सन् १९३० में लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में सर मोहम्मद इकबाल ने मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य की माँग की थी। इसमें उनके अनुसार पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त प्रदेश, सिन्ध तथा बलूचिस्तान सम्मिलित होने चाहिये थे। तीन वर्ष बाद इंगलैंड में कुछ मुसलमान विद्यार्थियों ने एक पुस्तिका में यह सुझाव रखा कि उपरोक्त प्रान्तों का एक अलग राज्य

1. Islam and Hindnism "are not telegions in the strict sense of the word, but are in fact different distinct social orders, and it is only a dream that Hindus and Muslims can ever evolve a common nationality..The Hindus and Muslims have different religions; philosophies, social customs, literature."

हो। इसका उद्देश्य पाकिस्तान था। इसके अतिरिक्त बंगाल तथा आसाम और हैदराबाद को भी मुसलमानों के स्वतन्त्र राज्य बनाना चाहते थे।

इस प्रकार पाकिस्तान की माँग ने जन्म लिया। परन्तु प्रारम्भ में यह एक अस्पष्ट विचार था। धीरे धीरे लीग के नेताओं के भाषणों में इसकी रूपरेखा स्पष्ट होती गयी। लीग और जिन्ना ने इसका जोरों से प्रचार किया। साधारण मुसलमान इतना अधिक प्रभावित हुआ कि वह और सब कुछ भूल गया। सन् १९४१ में मद्रास अधिवेशन में लीग ने पाकिस्तान को अपना उद्देश्य स्वीकार किया। जब सन् १९४२ में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो लीग ने मुसलमानों को बताया कि इसका उद्देश्य भारत में हिन्दू राज्य स्थापित करना है इसलिए उसमें सहयोग न दें। मुसलमान इस आन्दोलन से अलग ही रहे।

सन् १९४० से १९४६ तक कांग्रेस और लीग के बीच समझौतों के लिये कई बार प्रयत्न किये परन्तु सफलता प्राप्त न हुई। राजाजी, भूलाभाई देसाई तथा अन्त में गांधी जी सभी असफल रहे।

जब सन् १९४६ में 'कैबिनेट मिशन' भारत में आया तब मुस्लिम लीग ने उसके सामने यह माँग रखी कि उत्तर पश्चिम में पंजाब, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध तथा बलूचिस्तान और पूर्व में बंगाल तथा आसाम पाकिस्तान में सम्मिलित किये जायें। पंजाब से तात्पर्य काश्मीर से भी था। लीग यह जानती थी कि इतना बड़ा मिलना असम्भव है। परन्तु दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया था कि बिना लीग को संतुष्ट किये भारत की वैधानिक समस्या हल नहीं हो सकती है। लीग अपनी स्थिति से किसी भी प्रकार हटने को तैयार नहीं था। कांग्रेस तो कभी विभाजन के लिये प्रस्तुत नहीं थी। परन्तु धीरे धीरे उसने अवश्यम्भावी को स्वीकार कर लिया। अन्त में जुलाई १९४७ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारतीय स्वतन्त्रता एक्ट पास किया और भारतवर्ष में दो उपनिवेशों की स्थापना की गई—भारत तथा पाकिस्तान।

इसके पश्चात् यह स्वाभाविक था कि लीग के सब नेता पाकिस्तान चले जायें। भारत में लीग का प्रभाव कम हो गया। कुछ नेताओं ने यह प्रयत्न किया था कि मुसलमानों को फिर से नए रूप में संगठित किया जाए ताकि उनके राजनीतिक और सांस्कृतिक अधिकार सुरक्षित रहें परन्तु अधिकांश शिक्षित मुस्लिम वर्ग किसी एक अलग दल की स्थापना के पक्ष में नहीं है।

लीग के अतिरिक्त भारत में मुसलमानों के कुछ अन्य दल भी रहे हैं। ब्रिटिश युग में मुस्लिम जनता के ऊपर इनका प्रभाव लीग की अपेक्षा अत्यन्त

कम था। ये दल सदा से राष्ट्रीय विचारों के रहे हैं। इन्होंने कांग्रेस का सदा साथ दिया और विभाजन का विरोध किया। स्वतन्त्रता के बाद भारत में मुस्लिम जनता के ऊपर इनका प्रभाव पहले से कुछ बढ़ गया है। इन दलों में मुख्य जमीयत-उल-उल्माये हिन्द, अहरार दल, मोमिन दल तथा शिया दल हैं।

हमारे देश में चाहे हिन्दुओं के साम्प्रदायिक दल हों अथवा मुसलमानों के, दोनों के लिए कोई स्थान नहीं है। साम्प्रदायिकता केवल राष्ट्रीयता के ही विकास में बाधक नहीं है वरन् यह देश में प्रगतिशीलता की भी शत्रु है। धर्म के नाम से प्रत्येक सुधार का विरोध करना साम्प्रदायिक दलों का काम रहा है। इसलिए अगर भारतीय जनता आगे बढ़ना चाहती है तो उसे इन साम्प्रदायिक दलों की ओर से मुँह मोड़ लेना चाहिए।

प्रश्न

(१) कांग्रेस के क्या उद्देश्य हैं? संक्षेप में इसका इतिहास लिखिये।

(२) प्रजा समाजवादी दल का किस प्रकार जन्म हुआ तथा इसके क्या उद्देश्य हैं?

(३) साम्प्रदायिक दलों के ऊपर एक निबन्ध लिखिए। भारत में इनका क्या भविष्य है?

(४) साम्यवादी दल पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(यू० पी० १९५१)

अध्याय २१

धर्म तथा धार्मिक आन्दोलन

धर्म तथा जीवन में इसका महत्व—साधारणतः धर्म शब्द का तात्पर्य किसी विशेष प्रकार से किसी देवी देवता या ईश्वर की उपासना करना समझा जाता है। इस अर्थ में यह व्यक्ति तथा ईश्वर के मध्य सम्बन्ध है। परन्तु व्यवहार जगत में धर्म इससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ रखता है। धर्म से तात्पर्य न केवल एक विशेष प्रकार की पूजा विधि या उपासना का ढंग ही समझना चाहिए परन्तु वह यथार्थ में एक जीवन का ढंग (a way of life) भी है। प्रत्येक देश में अलग अलग जीवन की दशाएं होने के कारण अलग अलग बातें उचित या अनुचित समझी गई है। धर्म से तात्पर्य इन सब बातों से समझा जाता है। इस प्रकार धर्म जीवन में एक प्रकार का नियन्त्रण है। यह सिखलाता है कि जीवन में क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। यह कुछ नैतिक नियमों का पालन आवश्यक बतलाता है। ये सदाचार के नियम प्रसन्नता प्राप्ति के साधन हैं परन्तु इनके पालन से न केवल इस संसार में पर मृत्योपरान्त भी सुख प्राप्त होता है।

धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न का विवेचन करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म का जीवन में अत्यन्त महत्व है। वह हमें सदाचार की ओर प्रेरित करता है। वह मनुष्यों के अन्दर सामाजिक [illegible]

धर्म ही की देन है।

इन विचारों में सत्य का बड़ा अंश है। इस दृष्टि से संसार के सभी धर्मों में मूल बातें एक ही है इसलिए उनमें यथार्थ में कोई भेद नहीं है। कोई भी धर्म यह नहीं सिखलाता कि असत्य भाषण करो। कोई भी धर्म दया के स्थान में निर्दयता नहीं सिखलाता है। इस प्रकार सभी धर्म व्यक्ति को उन गुणों को प्राप्त करने को कहते हैं जो कि सफल सामाजिक जीवन के लिए

आवश्यक है। प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में एक अलौकिक तथा अनश्वर शक्ति में विश्वास रखता है। यह शक्ति सर्वोच्च सर्वशक्तिमान्, जगत का आदि कारण मानी गई है। इसके रूप के विषय में प्रत्येक धर्म में अलग अलग विचार हैं। धर्मों में आपस में उपासना की विधि के विषय में भी भेद है। परन्तु विभिन्नताओं के होते हुए भी उनमें बहुत अधिक मात्रा तक समानता है।

धर्म के कारण समाज में जहाँ एक ओर अच्छाइयाँ आईं वहाँ दूसरी ओर कई बुराइयाँ भी आईं। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने एक दूसरे के विरुद्ध जो कुछ किया है वह अवर्णनीय है। योरोप में कैथोलिक धर्मावलम्बियों ने प्रोटेस्टेन्टों को आग में जिन्दा जलाया। मुसलमानों ने धर्म के नाम में अन्य धर्म के मानने वालों को तलवार के घाट उतारा, ईसाइयों ने इसी प्रकार के अत्याचार किए। सभी धर्म ने दूसरे धर्मों के समर्थकों पर जब अवसर मिला कुछ न कुछ अत्याचार किए हैं। हमारे ही देश में, हमारे ही जीवन में, धर्म के नाम से हिन्दू तथा मुसलमानों ने जो कुछ एक दूसरे के विरुद्ध किया वह विदित है।

धर्म समाज की प्रगति में कई अवसरों पर बाधक सिद्ध हुआ है। यूरोप में जब पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक-ज्ञान (Scientific Knowledge) फैल रहा था, धर्म ने इसका विरोध किया तथा इसको अधार्मिक बतलाया। इसी प्रकार सब देशों में धर्म किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरुद्ध रहा है। धर्म के नाम में समाज में सुधारों का विरोध किया गया आज भी हमारे समाज में सुधारों का विरोध किया जाता है। आज भी हमारे हमारे समाज में कई लोग हरिजनों की अथवा स्त्रियों की अवस्था में किसी प्रकार के सुधार के विरोधी हैं क्योंकि उनके अनुसार यह हमारे धर्म के विरुद्ध है। धर्म अन्धविश्वास का जन्मदाता है। यह मानसिक दासता को जन्म देता है तथा विचारों की स्वतंत्रता का शत्रु है। धर्म का आधार विश्वास है, न कि बुद्धि। हमारे समाज में बाल-विवाह, बहुविवाह, पर्दा-प्रथा सब धर्म के नाम में उचित बतलाये जाते हैं। धर्म के ही नाम में विधवा-विवाह, स्त्रियों की शिक्षा, उनको अधिकार प्रदान करना आदि का विरोध किया जाता है। भारत में कुछ वर्ष पूर्व तक समुद्र यात्रा करना पाप समझा जाता था। बहुतों ने इसी कारण विदेश यात्रा ही नहीं की। जिन्होंने की भी उनमें से बहुत से लोगों ने भारत आकर प्रायश्चित किया। धर्म सकीर्णता का स्रोत है।

धर्म समाज को विभिन्न वर्गों में बाँट देता है। इस प्रकार सामाजिक एकता नष्ट हो जाती है। हिन्दू-समाज में वर्ण-व्यवस्था ने समाज को अत्यन्त

दिया जाता, यद्यपि पुण्य तत्व से अधिक विचार कर सकता है। धर्म के नाम से पण्डित तथा पुजारी और मुल्ला और मौलवी भोली-भाली जनता को लूटते हैं। भारत में, धार्मिकता कोई बुरी बात नहीं परन्तु धार्मिकता का अर्थ आडम्बर तथा कुत्साचार नहीं होना चाहिये।

भारत के मुख्य धर्मों का वर्णन किया जाता है —

हिन्दू-धर्म :—भारत में जनता का अधिकांश भाग हिन्दू धर्म का अनुयायी है। इसको सनातन धर्म कहा जाता है। इस अर्थ में यह ठीक है कि भारत जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनमें यह सबसे प्राचीन है। इसके अनुयायियों की संख्या करोड़ों में है। करीबन संसार की जनसंख्या का पाँचवाँ भाग इसको मानता है।

हिन्दू धर्म के अन्दर कई मतमतान्तर हैं। इस कारण इसकी परिभाषा करना असम्भव है क्योंकि इसके अन्तर्गत हो कई विभेद हैं। इसका कारण यह है कि समय की गति के साथ-साथ मौलिक हिन्दू-धर्म में कई बातें जुड़ती चली गईं।

हिन्दू धर्म का स्रोत वेद है। वे चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। हिन्दुओं का विश्वास है कि वेद किसी मनुष्य की कृति नहीं परन्तु भगवान के मुख से प्रकट हुए हैं। यथार्थ में वेद उन स्तुतियों के संग्रह हैं जिनके द्वारा आर्य लोग अपने देवताओं की उपासना करते थे। आर्य प्रकृति-पूजक थे। वेदों में सूर्य, इन्द्र, वरुण, अग्नि वायु आदि की स्तुतियाँ हैं।[1] यह स्वाभाविक है कि कृषि-प्रधान देश में प्रकृति की इन शक्तियों की उपासना की जावे। आर्य लोग इनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ करते थे। प्रारम्भ में आर्यों का विचार था कि संसार की देवताओं ने ही सृष्टि की है। आर्य इन विविध देवताओं की उपासना इसलिए करते थे ताकि उन्हें संसार में सुख मिले और मृत्योपरान्त भी उन्हें कष्ट न हो। इस समय यह विचार हो गया था कि मरने के बाद पुण्यात्मा व्यक्ति तो स्वर्ग को जाते हैं और दुरात्मा नरक में जाते हैं।

---

1. "In this religion the various powers of nature like fire (agni), wind (vayu) and the sun (surya), amidst which man lives and to whose influence he is constantly subject, are personified. They are looked upon as higher beings, whom it is man's duty to obey and to propitiate." Hiriyana, Essential, of Indian Philosophy, p. 10.

शनैः शनैः आर्यों में इस विचार का आविर्भाव हुआ कि इन विविध देवताओं के पीछे एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और अन्य सब शक्तियाँ उसी के विविध रूप हैं। उसको एक स्थान पर 'तत् एकम्' कहा गया है। यह सर्वोच्च शक्ति स्वयंभू है और सारी सृष्टि इसी से जन्मी है।

पहले-पहल आर्य अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिये उन्हें अन्न तथा घी चढ़ाते थे। परन्तु कालान्तर में पूजा का ढंग अधिकाधिक जटिल हो गया। बड़े-बड़े यज्ञ होने लगे। इनको करने के लिये विशेष पुरोहित वर्ग का भी जन्म हुआ। इस प्रकार कर्मकाण्ड की वृद्धि हुई। इस काल में यह विश्वास भी उत्पन्न हो गया था कि यज्ञों के द्वारा जो कुछ चाहा वह कराया जा सकता है।

एक ओर तो कर्मकाण्ड की वृद्धि हो रही थी परन्तु दूसरी ओर इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप उपनिषदों के विचारों का जन्म हुआ। उपनिषद का अर्थ गुप्त विद्या या रहस्य से है। यह विद्या सर्वसाधारण के लिए नहीं थी परन्तु गुरु द्वारा केवल उन्हीं को दी जाती थी जो कि इसके योग्य समझे जाते थे। उपनिषदों में कर्मकाण्ड के ऊपर कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। ये मुख्यतः दर्शन (philosophy) के ग्रंथ हैं। इनमें मुख्य विचार यह है कि ब्रह्म ही चरम सत्य है। उपनिषदों की चरम शिक्षा है कि मैं ही ब्रह्म हूँ।

उपनिषदों के विचारों का साधारण जीवन में अधिक प्रभाव नहीं हुआ और कर्मकाण्ड बढ़ता ही गया। नए-नए यज्ञ निकले और उनको करने की नई विधियाँ पुरोहितों ने निकालीं। यज्ञों में बलिदान बहुत होने लगा। इस प्रकार बाह्याडम्बर पर अधिक जोर दिया गया। हिन्दू धर्म की ऐसी अवस्था देखकर इसमें सुधार के उद्देश्य से जैन तथा बौद्ध धर्मों का जन्म हुआ। (इनका वर्णन बाद को किया गया है)। इन दो नए धर्मों के प्रभावस्वरूप हिन्दू धर्म में कई परिवर्तन हुए। ये इस कारण भी किए गए ताकि लोग पुराने धर्म को बिल्कुल ही छोड़ न दें। इसलिए हिन्दू धर्म में नए देवताओं की सृष्टि की गई—शिव, विष्णु तथा देवी। इन तीनों के अनुयायियों ने अलग अलग मत चलाए। परन्तु इसके साथ ही साथ यह नहीं भूलना चाहिये कि ये सब नए मत हिन्दू धर्म की शाखा मात्र हैं। यज्ञों के स्थान में भक्ति की महिमा बढ़ने लगी। स्वर्ग प्राप्ति का साधन इन देवी देवताओं की प्रसन्नता हो गई।

हिन्दू धर्म की दो विशेषतायें हैं, एक तो यह कि कोई एक व्यक्ति इस धर्म का संस्थापक नहीं कहा जा सकता है तथा दूसरे प्रत्येक हिन्दू एक ही सिद्धान्तों

का मानने पर अवलम्बित नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जिनको प्रत्येक हिन्दू मानता है—वेदों की श्रेष्ठता, आत्मा की अमरता, ईश्वर की सत्ता तथा कर्मवाद में विश्वास। इनके साथ साथ सभी हिन्दू पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। एक विशेष देवता का भक्त होते हुए भी वे अन्य देवताओं के प्रति श्रद्धा रखते हैं। वे यह भी मानते हैं कि सब देवी-देवता एक ही परम-ब्रह्म के विभिन्न रूप हैं।

जैन धर्म—यह वैदिक धर्म की एक शाखा नहीं है। शायद उत्तर वैदिक-काल में इसका प्रारम्भ हुआ। परन्तु ई० पू० छठी शताब्दी में महावीर द्वारा इसको पुनर्जीवित किया गया। महावीर जैनों के आदि गुरु नहीं हैं। वे चौबीसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। महावीर का जन्म करीबन ५४० ई० पू० में हुआ था और इनकी मृत्यु करीबन ४६८ ई० पू० में हुई। इनका जन्म राजघराने में हुआ था परन्तु उन्होंने करीबन तीस वर्ष की आयु में सब कुछ त्याग दिया। तेरह वर्ष की तपस्या के पश्चात् उनको ज्ञान प्राप्त हुआ और वे 'जिन' हो गए। इसका अर्थ आत्म-विजेता से है। इसी से जैन शब्द निकला है। जैन धर्म का भारत के बाहर किसी भी देशों में प्रचार नहीं हुआ और भारत में भी यह कभी बौद्ध धर्म की तरह लोक-प्रिय नहीं हुआ। कालान्तर में जैनियों के दो भाग हो गए—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। श्वेताम्बरों के साधु केवल श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। उनकी मूर्तियाँ भी सफेद वस्त्रों से ढँकी रहती हैं परन्तु दिगम्बर जैनियों के साधु वस्त्र हीन रहते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि किसी भी वस्तु का अपने पास होना निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है।

जैन धर्म जीव (spirit) तथा अजीव (matter) में विश्वास करता है। परन्तु इसका हिन्दुओं की तरह ईश्वर में विश्वास नहीं है। जीव शाश्वत् है। यह पुनर्जन्म में भी विश्वास करता है और इसके साथ-साथ कर्मवाद को भी मानता है। जीव को अपने कर्मों के अनुसार अच्छे या बुरे फल भोगने पड़ते हैं। जैन धर्म अहिंसा पर बहुत अधिक जोर देता है। छोटे से छोटे जीव की हिंसा भी महापाप है।[1] जैनियों के अनुसार संसार से किसी वस्तु का भी लगाव नहीं होना चाहिये। अगर जीवन का चरम उद्देश्य प्राप्त करना है तो

1. "Its chief doctrine is that there are souls in every particle of earth, air, water and fire, as well as in man, animals and plants; and its first ethical precept is "Do not destroy life."

Farquhar—Modern Religious Movements in India, p. 321.

वैराग्य का रास्ता अपनाना चाहिये। केवल इसी मार्ग से आत्मा को कैवल्यज्ञान की प्राप्ति होगी। यह वह अवस्था है जब आत्मा प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण हो जाती है। इस अवस्था को निर्वाण कहा गया है। इसके लिये तीन चीजें आवश्यक बतलाई गई हैं—सम्यक दर्शन, सम्यकज्ञान तथा सम्यक चरित्र। सम्यक दर्शन का तात्पर्य इस धर्म की शिक्षाओं में पूर्ण विश्वास से है। सम्यक् ज्ञान का अर्थ ठीक ज्ञान से है और सम्यक् चरित्र का अर्थ सदाचार से है। इन तीनों को त्रिरत्न कहा जाता है। इनके पालन करने से जीव कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जावेगा और उसको निर्वाण की प्राप्ति होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म न वेदों को मानता है, न इसमें यज्ञों के लिये स्थान है और न यह हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था को ही मानता है। अभी तक भारतवर्ष में कई लोग इस धर्म को मानते हैं परन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है।

बौद्ध-धर्म—इस धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध थे। उनका जन्म कपिलवस्तु में ई० पू० ५६३ में हुआ था। उनका जन्म भी राजघराने में हुआ था। १६ वर्ष की आयु में उनका विवाह एक सुन्दरी राजकन्या के साथ कर दिया गया। इससे उनके एक पुत्र भी हुआ। परन्तु गौतम संसार से विरक्त हो गए और एक दिन उन्होंने चुपचाप रात को गृहत्याग कर दिया। पहले उन्होंने जंगल में जाकर घोर तपस्या की। परन्तु इसमें शरीर के अशक्त हो जाने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हुआ। उन्होंने इस प्रकार की शरीर को कष्ट देने वाली तपस्या को छोड़ कर ध्यान का मार्ग अपनाया और इस बार इनको ज्ञान प्राप्त हुआ और वे बुद्ध हो गए। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। उनकी शिक्षा भी कर्मकाण्ड के विरुद्ध है। बुद्ध का धर्म बहुत सरल था। उन्होंने नैतिकता पर विशेष जोर दिया। उनके बहुत से अनुयायी हो गए। उनके जीवन काल में ही उनके धर्म का बहुत विस्तार हुआ। बाद को तो यह भारत के बाहर भी देशों में फैला। चीन, तिब्बत, जापान, लंका, बर्मा तथा मध्य एशिया तक में यह धर्म फैला। भारत के अन्दर भी इसका खूब प्रचार हुआ। बुद्ध भी महावीर की तरह वर्ण-व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। उनकी शिक्षा बिना किसी भेद भाव के सबों के लिये थी। यथार्थ में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म सुधार-आन्दोलन थे। उस समय हिन्दू धर्म में कई बुराइयाँ आ गई थीं और इन बुराइयों को दूर करने के लिये ही ये दो धर्म चले थे। उस समय यज्ञों में बहुत अधिक बलिदान की प्रथा चल गई थी। इन दोनों धर्मों ने इसका विरोध किया और अहिंसा को परम धर्म बतलाया।

बुद्ध ने ध्यान द्वारा चार मुख्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त किया और जनसाधारण के हितार्थ इनका ही उपदेश लोगों को दिया। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) जीवन दुखमय है।

(२) इस दुख का कारण अविद्या है।

(३) यह दुख दूर किया जा सकता है। क्योंकि अगर इसके कारणों को नष्ट कर दिया जावे तो यह दुख भी नष्ट हो जावेगा। निर्वाण के लिये जन्म तथा मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाना चाहिये।

(४) दुख को हटाने का उपाय सम्यक् ज्ञान (प्रज्ञा) प्राप्त करना है।

बुद्ध की शिक्षाओं में सदाचार को प्रमुख बतलाया गया है। इसकी प्राप्ति के लिये शरीर को क्लेश या दुख नहीं देना चाहिये परन्तु बुद्ध ने दुख दूर करने के लिये आठ बातें बतलाई है। इनको अष्ट-मार्ग (Eightfold path) कहते हैं। ये आठ बातें निम्नलिखित हैं: शील या सदाचार, प्रज्ञा या सम्यक् ज्ञान, समाधि या सम्यक् ध्यान, सम्यक् वाक्, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयास, सम्यक् विचार तथा सम्यक् विश्वास।[१]

बुद्ध का देहान्त ई० पू० ४८३ में ८० वर्ष की अवस्था में कुशीनारा नामक स्थान में हुआ।

कालान्तर में बौद्ध धर्म कई सम्प्रदायों में बँट गया। इनमें से प्रमुख हीनयान तथा महायान हैं। इन दो शब्दों के ठीक अर्थ के विषय में सन्देह है। शायद हीनयान से तात्पर्य नीचा और महायान से उच्च पथ होगा। हीनयान वर्ग के अनुयायी बुद्ध को न ईश्वर का अवतार मानते हैं और न उनकी पूजा करते। वे बुद्ध को एक मनुष्य मानते हैं जिनमें कई दैवी गुण थे। परन्तु महायान वर्ग वाले बुद्ध की पूजा करते हैं और उन्हें ईश्वर मानते हैं। इस पूजा के फलस्वरूप वे सोचते हैं कि निर्वाण की प्राप्ति होगी। महायान के ऊपर हिन्दू धर्म का प्रभाव प्रत्यक्ष है। एक विद्वान् के अनुसार इसमें भक्ति के मार्ग का प्रभाव दृष्टिगोचर है।

इस्लाम धर्म:—भारत के मुसलमानों का धर्म इस्लाम कहलाता है। यह धर्म भारत में पैदा नहीं हुआ परन्तु बाहर से भारत में आया। इसकी स्थापना अरब में हजरत पैगम्बर द्वारा की गई थी। पैगम्बर का नाम मोहम्मद

१. सुविधा के लिए इनका अंगरेजी अनुवाद यह है : Right conduct, right knowledge, right concentration, right speech, right livelihood, right effort, right mindfulness, right resolve.

था। उनका जन्म ५७० ई० में हुआ था। उनका देहान्त ६३२ ई० में हुआ। छोटी उम्र से ही मोहम्मद साहब को एकान्त में रहने और सोचने की आदत थी। वे अपनी साथियों से कहते थे मनुष्य केवल खेल-कूद में समय नष्ट करने के लिए नहीं परन्तु अन्य उच्च कार्यों के लिए बनाया गया है।[1]

इस समय अरब में सुख तथा शान्ति का नाम न था। अरब की जनसंख्या कई कबीलों (Tribes) में विभाजित थी। ये आपस में लड़ते रहते थे। इन लड़ाइयों में जो लोग पकड़े जाते थे उनको दास बना लिया जाता था। औरतों की अवस्था भी अच्छी नहीं थी। लड़कियों को मार डालने का रिवाज था। शराब पीने का रिवाज खूब प्रचलित था। अरब इस समय मूर्ति-पूजक थे। प्रत्येक कबीले के अलग अलग देवता थे। इनकी कुल संख्या कई हजार होगी। अरब के कुछ भागों में यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म प्रचलित थे। इन दो धर्मों के अनुयायी भी आपस में लड़ते थे और एक दूसरे को नष्ट करने की सतत चेष्टा में रहते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि मोहम्मद साहब ने देखा कि उनके देशवासी अन्धकार में डूबे हैं उनमें न एकता है और न शान्ति और इसलिए वे सुख शान्ति से भी वंचित हैं। उनका उद्देश्य इन बुराइयों को दूर करना था।

पैगम्बर की शिक्षाओं में तीन सबसे महत्वपूर्ण हैं। उनको हम इस्लाम धर्म का निचोड़ कह सकते हैं। ये निम्नलिखित हैं —

(१) ईश्वर एक है। कुरान में लिखा है उस अल्लाह के नाम में जो रहमान (माँ की सी मुहब्बत से भरा हुआ) और रहीम (दयावान) है कह दो कि अल्लाह एक है और सब कुछ उसी अल्लाह के सहारे है न वह खुद कभी जन्म लेता है और न किसी को जनता है कोई उस-जैसा नहीं है। वह आप ही अपनी मिसाल है। कुरान में बार बार कहा गया है एक के अतिरिक्त दूसरा खुदा नहीं है।

(२) कुरान में दूसरा मुख्य विचार यह पाया जाता है कि सब आदमी एक हैं। पैगम्बर ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि आदमियों में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहिए। अमीर गरीब स्वामी दास ऊँच नीच ये सब भेद भाव निरर्थक हैं। आदमी बड़ा छोटा इस प्रकार नहीं होता है। ईश्वर ने सबको बराबर बनाया है। बड़ा वह है जो कि अच्छे काम करता

1 M A Fazl Life of Mohammad p 20

हैं। कुरान में कहा गया कि, "यथार्थ में तुम सब व्यक्ति एक ही उम्मत (Community) हो, मैं तुम सब का पालने वाला हूँ, तुम सब मेरी ही पूजा करो।"

(३) कुरान में इस बात पर भी बार-बार जोर दिया गया है संसार में सब धर्मों के प्रति आदर करो क्योंकि सब धर्म सच्चे हैं। इसलिए कुरान में कहा गया है कि "हमने संसार के सब उम्मतों (Communities) में रसूल भेजा जिसका उपदेश यही था कि ईश्वर की पूजा करो और बुराई से बचो।"

पैगम्बर ने अपनी शिक्षाओं के द्वारा अरबों को सभ्य बनाने तथा उनमें ज्ञान का प्रचार करने की चेष्टा की। उनकी शिक्षाएं लोगों के हृदय में घर कर गई और बहुत शीघ्रता से इनका प्रचार होने लगा। थोड़े ही समय में समस्त अरबवासी इस नये धर्म के अनुयायी हो गए। अरब से यह धर्म दूसरे देशों में फैला। इनके अनुयायियों ने अपना धर्म तलवार के बल पर फैलाया। भारत में भी इसका आगमन मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ हुआ।

इस्लाम के अनुसार प्रत्येक मुसलमान को नीचे लिखे कर्त्तव्यों का पालन अवश्य करना चाहिए। प्रत्येक मुसलमान को प्रतिदिन कलमा पढ़ना चाहिए। कलमा यह है—'ईश्वर एक है और मोहम्मद उसका रसूल है।' मुसलमान प्रति दिन पाँच बार नमाज पढ़नी चाहिए। नमाज पढ़ते समय मुसलमान अपनी मुंह मक्के की ओर करते हैं। जीवन में एक बार कम से कम प्रत्येक मुसलमान को हज करना चाहिए अर्थात् मक्के की तीर्थयात्रा करनी चाहिए। प्रत्येक मुसलमान को अपनी आमदनी का एक हिस्सा दान में देना चाहिए। रमजान के महीने भर मुसलमानों को रोजा रखना चाहिए।

इन कर्त्तव्यों की सूची देखने से स्पष्ट हो गया होगा कि मोहम्मद साहब का उद्देश्य अपने देशवासियों का बुराइयों से उद्धार करना था। इसमें वे बहुत मात्रा तक सफल रहे। अरबों ने मूर्त्ति-पूजा को त्याग कर एक ईश्वर की प्रार्थना आरम्भ की। इसके फलस्वरूप उनमें एकता बढ़ी। इसी एकता तथा संगठन के कारण अरब वाले दूसरे देशों को विजय तथा इस्लाम का प्रचार कर सके।

मुसलमानों में पैगम्बर की मृत्यु के कुछ काल बाद दो सम्प्रदाय हो गए—शिया तथा सुन्नी। शिया मुसलमानों की संख्या सुन्नियों की अपेक्षा बहुत कम

हैं। शिया केवल कुरान को मानते हैं तथा पैगम्बर के बाद उनके दामाद अली को ही (जो कि चौथा खलीफा था,) खलीफा पद का न्यायपूर्ण अधिकारी मानते हैं। सुन्नी कुरान के अतिरिक्त इस्लाम की पुरानी प्रथाओ (सुन्नत) को भी मानते हैं तथा पैगम्बर के बाद अबूबक, उमर तथा उसमान को भी खलीफा पद का न्यायपूर्ण अधिकारी मानते हैं। शिया इन तीनो को खलीफा नहीं मानते हैं। शिया हसन के शहीद होने की स्मृति मे मोहर्रम मनाते हैं तथा ताजिये निकालते हैं।

मुसलमानो का ही एक सम्प्रदाय सूफी कहलाता है। सूफी सम्प्रदाय भक्तिमार्गी है। इसमे तथा हिन्दू अद्वैत वेदान्त में काफी साम्य है। सूफी भी एक ईश्वर में विश्वास करते हैं। वे अवतारवाद तथा पुनर्जन्म मे भी विश्वास करते हैं। ईश्वर तक पहुँचने का रास्ता प्रेम का है। भारत में कई प्रसिद्ध सूफी हुए हैं।

सिक्ख धर्म—इस धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक थे। वे पंजाब के रहने वाले थे। उनका जन्म सन् १४६९ मे हुआ और उनकी मृत्यु सन् १५३८ में हुई। गुरु नानक का उद्देश्य हिन्दू धर्म में जो बहुत सारे आडम्बर तथा झूठी प्रथाएँ सम्मिलित हो गई थी उनको दूर करना था। उनकी शिक्षाओ का उद्देश्य हिन्दुओ के धर्म मे सुधार करना था। इस दृष्टि से सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म की ही एक शाखा कहला सकता है।

गुरु नानक, कबीर अन्य भक्तिमार्गी साधुओ की शिक्षा से प्रभावित हुए थे। उनकी शिक्षाओ में वेदान्त तथा मुसलमानी धर्म का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। उनकी शिक्षा यह थी कि ईश्वर एक है। इस ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग तीर्थयात्रा गगा-स्नान आदि न बतलाकर उन्होने चित्त की शुद्धि पर जोर दिया। मूर्ति-पूजा के भी वे विरोधी थे। उन्होने कहा कि ईश्वर के नाम का जाप करना चाहिए। यह नाम 'श्री सत' है। ईश्वर उनके अनुसार सर्वव्याप्त तथा सर्वशक्तिशाली है। वह दयालु भी है। सब उसकी दृष्टि में समान हैं। इस कारण सिक्ख धर्म जाति-पाँति में विश्वास नही करता है।

नानक ने यह भी कहा कि सब धर्मों के तथा उनके महात्माओ के प्रति आदर करना चाहिए। गुरु नानक ने इस बात पर भी जोर दिया कि बिना गुरु के ईश्वर की प्राप्ति नही हो सकती है। सिक्ख धर्म में गुरु की महिमा है। सिक्ख कर्मवाद तथा तथा पुनर्जन्म मे भी विश्वास करते है।

गुरु नानक के बाद सिक्खों के नौ गुरु और हुए। सिक्खों के पांचवें गुरु ने गुरु नानक तथा कई अन्य महात्माओं के धार्मिक पदों का संग्रह एक पुस्तक के रूप में कर दिया। यह 'आदि-ग्रंथ' कहलाता है। गुरु गोविन्द सिंह ने इसमें कई और बातों का समावेश किया। यह नई पुस्तक 'ग्रंथ साहिब' कहलाती है। उन्होंने यह भी कहा कि उनके मरने के पश्चात् कोई अन्य गुरु की नियुक्त न की जावे तथा सिक्ख 'ग्रंथ-साहब' को ही अपना गुरु मानें। इसी कारण उनके पश्चात् कोई अन्य गुरु नहीं हुए।

गुरु गोविन्द सिंह ने मुगल सम्राट् औरंगजेब से अपने धर्मानुयायियों की रक्षा करने के लिए उन्हें एक सेना के रूप में संगठित कर दिया। यह खालसा सम्प्रदाय कहलाया। इस सम्प्रदाय के प्रत्येक सदस्य का उद्देश्य धर्म के रक्षार्थ प्राणों को उत्सर्ग कर देना तथा प्रत्येक अन्य सदस्य को अपना भाई समझना था। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख धर्म की रक्षा की। प्रत्येक खालसा सिक्ख पाँच चिन्हों को धारण करता है, जो कि गुरु गोविन्दसिंह द्वारा नियत कर दिए गये थे—केश, कंघा, कृपाण कच्छ तथा कड़ा।

ईसाई धर्म:—इसके प्रवर्तक ईसा मसीह थे। उनका जन्म जेरुसलम में हुआ था। उस समय जेरुसलम रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत था। ईसा के विचार शासक-वर्ग द्वारा ठीक नहीं समझे गए और ईसा को उन्होंने सूली पर चढ़ा दिया। पर धीरे-धीरे उनके विचार फैलने लगे। कालान्तर में रोम के सम्राट् ने ईसाई धर्म को रोमन साम्राज्य का धर्म बना दिया। इसके फल-स्वरूप ईसाई-धर्म बहुत शीघ्रता से योरोप में फैलने लगा। योरोप से यह अन्य देशों में भी जहां-जहां यूरोपीय पहुँचे, फैला। आज यह संसार के प्रमुख धर्मों में से एक है। संसार के प्रत्येक देश में इस धर्म के अनुयायी थोड़ी-बहुत संख्या में अवश्य ही मिल जावेंगे।

ईसा का धर्म प्रेम का धर्म है। उन्होंने यह सिखलाया कि सब जीवों के प्रति प्रेम का व्यवहार करो। उनका विचार था कि सब प्राणी परमात्मा की सन्तान हैं। उनका उद्देश्य मनुष्य समाज का नैतिक उत्थान करना था। उन्होंने कहा कि विनयशील व्यक्ति ही अन्त में संसार के स्वामी होंगे (The meek will possess the land)। उनके अनुसार ईश्वर केवल मनुष्यों का राजा नहीं है परन्तु वह उनका पिता है। ईश्वर को प्रसन्न करने का उपाय यह है कि दीन-दुखियों की सहायता करो।

ईसा की शिक्षाएं विशेषत: नैतिक हैं। इनमें चार मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला सिद्धान्त प्रेम है। ईसा ने कहा कि अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम रखो।

पड़ोसी में उनका अर्थ मानव मात्र से था। उनका दूसरा सिद्धान्त सत्य है। इस कारण उन्होंने झूठी गवाही देना लागों को ठगना तथा इस प्रकार के अन्य कामों की अत्यन्त निन्दा की है। तीसरा सिद्धान्त विनयशीलता है। मनुष्यों को किसी भी प्रकार का गर्व नहीं होना चाहिए। ईसा स्वयं ही विनयशीलता की मूर्ति थे। विनयी व्यक्ति के लिए स्वर्ग के द्वार खुले हैं। चौथा सिद्धांत यह है कि मनुष्य में बुद्धिमत्ता होनी चाहिए।

ईसा मसीह भी सुधारक थे। उन्होंने अपनी शिक्षाओं के द्वारा यहूदी समाज में जो प्रचलित कुरीतियाँ थीं उनको दूर करने की चेष्टा की। उन्होंने यह कहा कि निर्धनों के लिए स्वर्ग में स्थान है। धनी वहाँ कोई स्थान नहीं पावेगा। चाहे एक ऊँट सुई के छेद में से निकल जाए परन्तु एक धनी स्वर्ग के द्वार में से नहीं घुस सकता है।

भारत में कहा जाता है कि सर्वप्रथम इस धर्म का प्रचार सन्त टामस ने किया था। चौथी शताब्दी में सीरिया के कुछ ईसाई भाग कर यहाँ आए थे और कारोमण्डल तट में बस गए। अभी तक उनकी सन्तानें यहीं रहती हैं। ईसाई धर्म का प्रचार १६वीं शताब्दी से हुआ जब कि पुर्तगालवासियों ने यहाँ अपना धर्म फैलाना आरम्भ किया। विशेषकर निम्न वर्ग के लोग इस धर्म की ओर आकर्षित हुए। बाद को कुछ उच्च वर्ग के लोग भी ईसाई हो गए। ईसाइयों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में अच्छा काम किया है। उन्होंने समाज के निम्नवर्गों तथा आदिवासियों की दशा सुधारने का भी प्रयत्न किया।

पारसी धर्म—भारत में कुछ लोग इस धर्म के भी अनुयायी हैं। इनको पारसी कहते हैं। ये लोग अधिकतर बम्बई तथा गुजरात में हैं। पारसी सम्प्रदाय बड़ा उन्नतिशील है। यह पाश्चात्य शिक्षा तथा सभ्यता से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। पारसी लोग पारस से भारत में आए। इसका कारण यह था कि जब पारस अरबों द्वारा जीत लिया गया तथा वहाँ विजेताओं ने इस्लाम धर्म फैलाया तो जिन लोगों ने इस नए धर्म को स्वीकार नहीं किया उनमें से बहुत से पारस से दूसरे देशों को भाग। भारतीय पारसी पारस के पुराने धर्म के अनुयायी हैं।

पारस के पुराने धर्म के प्रवर्त्तक का नाम जोरोआस्टर (Zoroaster) था। इनकी धार्मिक पुस्तक का नाम जन्द अवेस्ता है। पारसी लोगों का सब से बड़ा देवता अहुरमज्द कहलाता है। इसका अर्थ महान देवता है।

इस धर्म के अनुयायियों को अग्निपूजक (fire worshipper) भी कहते हैं। क्योंकि अग्नि या सूर्य अहुर-मज्द के ही रूप हैं। पारसी भी आत्मा की अमरता पर विश्वास करते हैं। इस धर्म में तथा हिन्दू धर्म में कई बातों में समानता है।

धार्मिक सुधार-आन्दोलन —उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में कई धार्मिक सुधार-आन्दोलन चले। इन आन्दोलनों का उद्देश्य धर्म के नाम में जो कुरीतियाँ पैदा हो गई थी, उनको दूर करना था। हम यहाँ पर केवल हिन्दू धर्म तथा इस्लाम से सम्बन्धित सुधार-आन्दोलनों का वर्णन करेंगे।

प्रत्येक धर्म में कालान्तर में कई बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि समय तथा परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ धर्म में परिवर्तन नहीं होता है। धर्म मुख्यतः एक अनुदार शक्ति (Conservative force) है। भारतीय धर्मों में भी, विशेषतः हिन्दू-धर्म में, इस प्रकार की अनेक बुराइयाँ भर गई थी और लोग इन्हीं को यथार्थ धर्म मानते हुए थे जैसे, सती-प्रथा, वर्ण व्यवस्था, बच्चों की हत्या करना इत्यादि। जब विदेशी-शासन के स्थापित होने के फलस्वरूप ईसाइयों ने अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ किया तो उन्होंने हिन्दू-समाज की इन बुराइयों की ओर संकेत कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि भारतीय-धर्म असभ्य हैं। इस समय भारतीय नवयुवकों में अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित वर्ग पाश्चात्य दर्शन तथा सभ्यता से अत्यन्त प्रभावित हो गया था। उसे अपने देश के साहित्य, दर्शन, धर्म में केवल अन्धकार के और कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। जब देश की ऐसी अवस्था थी उस समय इन धार्मिक सुधार-आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ। ये आन्दोलन हमारी राष्ट्रीय जागृति के प्रथम फल हैं। धर्म के रूप में हमारी राष्ट्रीय चेतना सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुई। हमारे समाज के ऊपर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव इन धार्मिक आन्दोलनों का मूल-कारण है।

इन सब धार्मिक आन्दोलनों का उद्देश्य हिन्दू समाज में प्रचलित बुराइयों को हटाना था। ये जाति-पाँति के विरुद्ध हैं तथा छुआछूत में विश्वास नहीं करते। सब मनुष्य एक ही ईश्वर की सन्तान हैं, इसलिए सब भाई-भाई हैं। इन सब आन्दोलनों ने मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया और निराकार ब्रह्म की उपासना की शिक्षा दी। इनके अनुसार सब धर्मों में कुछ सत्य का अंश है। अतएव इसको ग्रहण कर लेना चाहिए। इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिंदुओं के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों—वेद तथा उपनिषदों से प्रेरणा ली। ये आन्दोलन धार्मिक

तथा सामाजिक उद्देश्य को लेकर चले और इसके साथ साथ देश की राज-राजनैतिक जागृति में भी उनका महत्वपूर्ण हाथ रहा है।

ब्रह्म समाज—उन्नीसवीं शताब्दी के धार्मिक आन्दोलन में, ब्रह्म समाज का सबसे मुख्य स्थान है। इस आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३ ई०) थे। राजा राममोहन हिन्दू धर्म से उन सब रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करना चाहते थे जो कि कालान्तर में उसमें घर कर गई थी। वे ईसाई धर्म से भी कुछ सीमा तक प्रभावित हुये थे। उनका जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था। उनके पिता वैष्णव तथा माता शाक्त थी। १० वर्ष की अवस्था में वे अध्ययन के लिए पटना भेजे गये। वहाँ वे सूफी धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुए। कुछ काल पश्चात बनारस में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया तथा १७९६ में अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया। उन्होंने इस काल में ही विविध धर्मों का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सन् १८०५ में उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकरी कर ली और १८१४ तक वे इसमें रहे। यहाँ से अवकाश ग्रहण करने पर उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों का प्रचार करना प्रारम्भ किया।

राजा राममोहन राय केवल धार्मिक सुधार ही नहीं चाहते थे परन्तु वे समाज-सुधार भी करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सती प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। इस प्रथा के बन्द होने में उनका बहुत बड़ा हाथ है। धर्म के मामले में वे हिन्दुओं के प्राचीन धर्म को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। इसलिये वे उन अन्ध-विश्वासों के शत्रु थे जो कि हिन्दू-धर्म में प्रवेश कर गये थे। वे बहु-विवाह के भी विरोधी थे।

सन् १८२८ में उन्होंने कुछ मित्रों के साथ एक संगठन की स्थापना की जो कि 'ब्रह्म समाज' कहलाया। इसकी प्रति शनिवार को सन्ध्याकाल में ७ से ९ तक बैठक होती थी, जिसमें कि भगवान की प्रार्थना की जाती है। जनवरी सन् १८३० में समाज के लिए प्रथम मन्दिर की स्थापना की गई। नवम्बर १८३० में राम-मोहन विलायत को रवाना हुये और वहीं सन् १८३३ में उनका देहान्त हो गया। वे केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे, वरन् उन्होंने समाज तथा शिक्षा की उन्नति के लिए भी बड़ा ही महत्वपूर्ण काम किया है।[1]

1 "Ram Mohan Roy is the pioneer of all living advance, religious, social and educational in the Hindu community during the century."

सन् १८४२ में श्री देवेन्द्र नाथ टैगोर (श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता) ब्रह्म-समाज के सदस्य हो गये। वे अपनी मृत्यु-पर्यन्त इसके प्रचार के लिए प्रयत्नशील रहे। वे भी उस प्राचीन हिन्दू-धर्म को जो कि उपनिषदों में मिलता है पुनः स्थापित करना चाहते थे। परन्तु वे राजा राममोहन की तरह ईसाई-धर्म से प्रभावित नहीं हुये थे। कुछ वर्षों बाद सन् १८५७ में श्री केशवचन्द्र सेन ब्रह्म-समाज में सम्मिलित हुये। आरम्भ में श्री देवेन्द्रनाथ तथा उनमें बहुत मेल रहा परन्तु बाद को उनमें मतभेद हो गया। इसका कारण यह था कि श्री केशव चन्द्र सेन ईसाई धर्म से बहुत ही अधिक मात्रा तक प्रभावित थे। उन्होंने एक अलग समाज का संगठन किया जो कि भारतीय ब्रह्म-समाज कहलाया (सन् १८६६)। कुछ वर्षों के पश्चात् इसमें भी दो दल हो गये। एक तो केशवचंद्र के अनुयायी तथा दूसरे उनके विरोधी। सन् १८७८ में उनके विरोधियों ने एक नया संगठन स्थापित किया जो कि साधारण ब्रह्म समाज कहलाया। इस प्रकार ब्रह्म समाज की तीन शाखायें हो गईं।

ब्रह्म समाजियों के अनुसार केवल एक ईश्वर है। उसी ने इस सृष्टि की रचना की है तथा वही इसका संरक्षक है। वह असीम शक्तिशाली तथा सर्व-व्याप्त है। बिना ईश्वर की कृपा के मोक्ष संभव नहीं है। उसकी उपासना प्रेम तथा सत्य से होनी चाहिए। आध्यात्मिक उन्नति के लिये प्रार्थना करना चाहिए। ईश्वर परम पिता है। सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। ईश्वर पुण्यात्माओं तथा पापियों को उनके कर्मों के अनुसार फल देता है। आत्मा अमर है और अपने कर्मों के लिये ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। सब धर्मों से सत्य को ग्रहण करना चाहिए। ईश्वर मानकर किसी वस्तु आदि की पूजा नहीं करनी चाहिए।

प्रार्थना समाज:—ब्रह्म समाज के ही प्रभाव से सन् १८६७ में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके प्रमुख सदस्यों में श्री रानाडे, सर आर० जी० भंडारकर तथा नारायन चन्द्रावरकर थे। इस समाज के उद्देश्य जातिप्रथा का अन्त, विधवाओं का पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन तथा बाल-विवाह को बन्द करना था। धर्म के विषय में इसके तथा ब्रह्म-समाज के विचार मुख्यतः एक ही हैं।

आर्य समाज:— आर्य समाज आन्दोलन सन् १८७५ में बम्बई में आरम्भ हुआ परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात यह पंजाब और उत्तरप्रदेश में विशेष कर फैला। इसके प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती थे। उनका जन्म सन् १८२४ में काठियावाड़ में अमीर ब्राह्मण घराने में हुआ था। उनका वास्तविक नाम

मूलशंकर था। बचपन से ही वे गम्भीर प्रकृति के थे। १८४६ में वे घर से भाग निकले। अपने भ्रमण में कई साधु-सन्यासियों तथा योगियों के सम्पर्क में आये। उन्होंने संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया। दयानन्द के ऊपर अंग्रेजी सभ्यता तथा ईसाई धर्म का प्रभाव बिल्कुल नहीं पड़ा। वे अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे। उनका उद्देश्य पुराने हिन्दू धर्म का फिर से संस्थापन था। हिन्दू-धर्म में जो बुराइयाँ आ गई थीं उनको वे निकालना चाहते थे। उन्होंने अपना प्रचार-कार्य सन् १८६६ में आरम्भ किया। अपने भाषणों में उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और इसको वेदों के विरुद्ध बताया। वे अपने व्याख्यानों में हिन्दी का प्रयोग करते थे न कि संस्कृत का। सन् १८७४ में उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश की रचना की। इसमें धर्म के ऊपर उनकी शिक्षायें संग्रहीत हैं तथा धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण है। वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि वैदिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। सन् १८७५ में बम्बई में आर्य समाज की स्थापना हुई। दो वर्ष पश्चात लाहौर में इसकी स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में भी आर्य समाज मन्दिरों की स्थापना की गई।

श्री दयानन्द की शिक्षाओं के निम्नलिखित आधार हैं।

(अ) ईश्वर एक है और पूजा मूर्तियों के द्वारा नहीं हो सकती है।

(ब) वेदों में सब कुछ सत्य है व ईश्वर के ही शब्द हैं।

(स) वेद कर्म तथा आवागमन का सिद्धान्त सिखलाते हैं।

(द) आर्यसमाजी नीचे लिखे दस नियमों में विश्वास रखते हैं।

(१) ईश्वर ही ज्ञान का परम कारण है। आवागमन के बंधनों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

(२) ईश्वर सत्-चित्-आनन्द है। इसका कोई आकार नहीं है। वह न्यायपूर्ण तथा दयावान है। सर्वव्याप्त तथा सर्वशक्तिशाली है। वह अजन्मा तथा अमर है। केवल उसी की उपासना करनी चाहिए।

(३) वेद सत्य विद्या के भंडार हैं। प्रत्येक आर्य को इनका अध्ययन, मनन तथा प्रचार करना चाहिए।

(४) प्रत्येक व्यक्ति सत्य ग्रहण तथा असत्य त्यागने को तत्पर रहे।

(५) प्रत्येक काम उचित अनुचित के विचार से करना चाहिये।

(६) समाज का उद्देश्य मानव-जाति की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक उन्नति कर संसार का भला करना है।

(७) प्रत्येक के साथ उनके गुणों के अनुसार प्रेम तथा न्यायपूर्ण व्यवहार करना चाहिये।

(८) अविद्या का नाश तथा विद्या का प्रचार करना चाहिए।

(९) प्रत्येक को सर्वसाधारण की उन्नति में ही अपनी उन्नति देखनी चाहिए।

(१०) व्यक्तिगत मामलों में प्रत्येक मनुष्य को आचरण की स्वतंत्रता होनी चाहिए, परन्तु सामाजिक भलाई से सम्बन्धित विषयों में सब भेदों को भुला देना चाहिये।[1]

स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्य-समाज आन्दोलन न केवल धार्मिक आन्दोलन ही था अपितु वह एक सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आन्दोलन भी था। इसने देश में एक नवीन चेतना फैलाने तथा हिन्दुओं की आत्म-सम्मान की भावना को जागृत किया। इसने यह दिखलाया कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति अन्य धर्म तथा संस्कृतियों से उच्च है। आर्य समाज ने वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार किया और इस प्रकार हिन्दू-समाज की एकता को दृढ़ किया। स्वामी दयानन्द एक सुधारक तथा नेता थे। उनका उद्देश्य देश और समाज की सर्वांगीण उन्नति करना था।[2] उनके शिष्यों ने उनके कार्य को जारी रखा। सन् १८८३ में स्वामी जी का देहान्त हुआ।

थियोसोफिकल समाज:— इस समाज की स्थापना पहले पहल न्यूयार्क में एक रूसी महिला—मदाम ब्लैवात्स्की तथा एक अमेरिकन कर्नल आलकाट द्वारा की गई थी (सन् १८७५)। सन् १८७९ में वे दोनों स्वामी दयानन्द द्वारा निमन्त्रित किये जाने पर भारत आये। भारत में इन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। इन्होंने भारतीयों को बतलाया कि उनका धर्म उच्च कोटि का है तथा उनमें सत्य निहित है। परन्तु इसमें कई कुरीतियाँ आ गई हैं और इनको दूर करना चाहिये। सन् १८८२ में मद्रास प्रान्त में अडयार नामक स्थान में इस समाज की स्थापना की गई। देश में बड़ी शीघ्रता से इनके विचार फैले तथा कई अन्य स्थानों में इसकी शाखाएँ खुलीं। सन् १८९३ ई० में

1. Farquhar, Modern Religious Movements in India, p. 114.

2. "Pandit Dayanand Saraswati was a man of large views. He was a dreamer of splendid dreams. He had a vision of

श्रीमती एनी बेसेण्ट इसकी सदस्य हो गईं। उन्होंने इसके प्रचार में बड़ा काम किया। वे आयरलैण्ड की निवासिनी थीं परन्तु भारत में आकर उन्होंने हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने अपने भाषणों तथा लेखों द्वारा हिन्दू धर्म का समर्थन किया। इस धर्म के अन्दर जो कुरीतियाँ आ गई थीं उनको भी उन्होंने उचित बतलाया। थियोसोफिकल समाज ने हिन्दुओं के पुनरुत्थान में काफी भाग लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने देश में कई शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। सन् १८९८ में एनी बीसेण्ट ने काशी में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। उन्होंने कहा इसका उद्देश्य हिन्दुओं को हिन्दू धर्म सिखलाना होगा। यही बाद को चल कर हिन्दू विश्वविद्यालय हो गया। सामाजिक सुधारों की ओर भी इस समाज ने हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित किया। स्त्रियों के अधिकारों का भी समर्थन किया गया। जाति-पाँति के भेद भाव में इस समाज का विश्वास नहीं है। सभी ईश्वर की सन्तान हैं इसलिए सभी बराबर हैं और सभी पर ईश्वर की समान कृपा है।

थियोसोफी वाले सब धर्मों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। विशेषतः हिन्दू धर्म तथा बौद्ध धर्म को गूढ़ विद्या का आगार मानते हैं। मैडम ब्लेवाट्स्की का कथन था कि तिब्बत में रहने वाले कुछ महान साधुओं के द्वारा उनको ज्ञान प्राप्त हुआ है परन्तु यह निश्चित नहीं है कि वे कभी तिब्बत भी गई थीं। उनका कहना था कि तिब्बत में जो महात्मा हैं वे अमर हैं तथा वे ही संसार का संचालन करते हैं। उन्होंने ब्लेवाट्स्की को विशेष रूप से अपनी शिष्या बनाने को चुना। उनके गुरु का नाम महात्मा मोरया था। इसके अतिरिक्त अन्य महात्मा भी थे। इनमें से एक का नाम कुतहूमी था।

थियोसोफी में क्या सत्य है तथा क्या असत्य है इसका हमें निर्णय नहीं करना है। यहाँ पर उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि इस आन्दोलन के द्वारा किस प्रकार हिन्दुओं में एक नई चेतना का संचार हुआ और शिक्षित हिन्दू

India purged of its superstitions, filled with the fruits of science, worshipping one God, fitted for self-rule, having a place in the sisterhood of nations and restored to her ancient glory. All this was to be accomplished by throwing overborad the accumulated superstitions of the centuries and returning to the pure and inspired teachings of the Vedas.

Dr Griswold quoted in Social and Religious Movements, by Srinivasachari.

वर्ग के अन्दर यह भावना बहुत मात्रा तक दूर हो गई कि उनका धर्म केवल अन्धविश्वासों का समूह है। थियोसोफी ने यह निष्कर्ष निकाला कि ईसाईयों द्वारा हिन्दू धर्म पर लगाये गये आक्षेप निराधार तथा असत्य हैं।

रामकृष्ण मिशन—इस मिशन की स्थापना अपने गुरु के नाम से स्वामी विवेकानन्द द्वारा की गई थी। उन्होंने कलकत्ते के निकट वेलूर नामक स्थान में तथा अल्मोड़े के पास मायावती में मठ भी स्थापित किये। इन मठों का काम रामकृष्ण मिशन के लिये प्रचारक तैयार करना था।

स्वामी विवेकानन्द के गुरु का नाम श्री रामकृष्ण परमहंस था। परमहंस जी का जन्म २० फरवरी सन् १८३४ को बंगाल के हुगली जिले में हुआ था। वे जाति के ब्राह्मण थे। उन्होंने बचपन से ही धार्मिक पुस्तकों तथा कथाओं से प्रेम था। उनका वास्तविक नाम गदाधर चटर्जी था। उनको किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिली। अतएव न उनको अँगरेजी का ज्ञान था और न संस्कृत का। यहाँ तक कि वे साहित्यिक बंगला से भी अनभिज्ञ थे। वे अपने बड़े भाई के साथ एक मन्दिर में पुजारी का काम करते थे। उन्हें इस काम में बीच-बीच में समाधि प्राप्त हो जाती थी। क्योंकि वे अपने पुजारी-पद के कामों को ठीक प्रकार नहीं करते थे इसलिए उन्हें मन्दिर छोड़ देना पड़ा और पास ही एक जंगल में रहने लगे। वहाँ उन्हें एक सन्यासिनी तथा बाद को एक सन्यासी ने सिद्धि प्राप्त करने में सहायता दी। गदाधर चटर्जी सन्यासी हो गये और उनका नया नाम रामकृष्ण परमहंस पड़ा। परमहंस जी ने बाद को इस्लाम तथा ईसाई धर्म का परिचय प्राप्त किया। उनका यह विश्वास था कि सब धर्म सत्य हैं। वे एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अलग-अलग मार्ग हैं।

परमहंस जी के अनुसार ईश्वर निराकार है तथा मनुष्य के ज्ञान और पहुँच के परे है। परन्तु प्रत्येक वस्तु में ईश्वर वर्तमान है और जो कुछ संसार में होता है वह ईश्वर द्वारा ही किया जाता है। सब देवता एक ही ईश्वर के विविध रूप हैं।

परमहंस जी के शिष्यों में सबसे मुख्य स्वामी विवेकानन्द हुए। इनका वास्तविक नाम नरेन्द्र नाथ दत्त था। इनका जन्म ९ जनवरी १८२१ को हुआ था। पहले ये नास्तिक थे परन्तु परमहंस जी के संसर्ग से आस्तिक हुए। जब सन् १८८६ में रामकृष्ण परमहंस का देहान्त हुआ तो नरेन्द्र नाथ ने सन्यास धारण कर लिया। करीब ६ वर्षों तक वे एकान्त में भारतीय धर्म तथा दर्शन का अध्ययन करते रहे। सन् १८९२ में उन्होंने दक्षिण भारत में अपने गुरु की शिक्षाओं का प्रचार किया। सन् १८९३ में शिकागो में जो

सर्व-धर्म सम्मेलन (Parliament of Religions) हुआ उसमें उन्होंने हिन्दू धर्म की व्याख्या की। उनके व्यक्तित्व तथा व्याख्यान का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। फिर उन्होंने अमेरिका में प्रचार कार्य किया और वहाँ से इंगलैंड होते हुए भारत लौटे। भारत में उन्होंने रामकृष्ण मिशन को पुनर्संगठित किया।

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं को निम्नलिखित चार भागों में रखा जा सकता है —

(१) प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही धर्म में रहना चाहिए क्योंकि प्रत्येक धर्म सच्चा तथा अच्छा है।

(२) ईश्वर निराकार है। वह मनुष्य की बुद्धि से परे है। वह सर्व-व्याप्त है। आत्मा ईश्वरीय है।

(३) क्योंकि हिन्दू सभ्यता सबसे प्राचीन तथा श्रेष्ठ धर्म से निस्सृत है अतएव यह सत्य है, शिव है तथा सुन्दर है। हिन्दू राष्ट्र संसार का शिक्षक रहा है तथा भविष्य में भी रहेगा।

(४) प्रत्येक हिन्दू को अपनी शक्ति भर अपने धर्म तथा सभ्यता की पाश्चात्य सभ्यता तथा विचारों से रक्षा करनी चाहिए। पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक न होकर भौतिक तथा स्वार्थपूर्ण है। परन्तु हिन्दुओं को पाश्चात्य शिक्षा तथा काम करने के ढंग को अपनाना चाहिए। बिना इसके उनका उत्थान नहीं हो सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुओं को इस बात की बार-बार याद दिलाई कि उनका धर्म तथा सभ्यता उच्च कोटि के हैं। उन्होंने हिन्दुओं से कहा तुम्हें अपने आध्यात्म तथा दर्शन से संसार को विजय करना है।

रामकृष्ण मिशन ने समाज सुधार के सिलसिले में अच्छा काम किया है। इसने दीनों तथा दुखियों की सहायता की है तथा बाढ़ और अकाल के समय भी अच्छी सेवा करते हैं।

अन्य आन्दोलन —हिन्दू समाज में ऊपर वर्णित मुख्य आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ और आन्दोलन भी हुए परन्तु उनका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं था। इन गौण आन्दोलनों में राधास्वामी सत्संग का नाम उल्लेखनीय है। इसकी स्थापना आगरा में श्री शिवदयाल ने सन् १८६१ में की थी।

उनका कहना था कि ईश्वर ने स्वयं उनको गुरु पद प्रदान किया है। राधा-स्वामियों के चौथे गुरु ने आगरा के पास दयालबाग बसाया तथा वहाँ कई उद्योग स्थापित किए। इस मत के मानने वाले गुरु को सबसे पूज्य तथा ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग समझते हैं। ये लोग जाति-पाँति में भी विश्वास नहीं करते हैं।

एक दूसरा आन्दोलन देव-समाज है। इसकी स्थापना प० शिवनारायण अग्निहोत्री द्वारा की गई थी। श्री अग्निहोत्री पहले ब्रह्म-समाज में थे। उससे अलग होने पर उन्होंने देव-समाज की स्थापना की। अपने अन्तिम दिनों में वे नास्तिक हो गए थे। इसलिए देव-समाज भी ईश्वर में विश्वास नहीं करता है। उनका देहान्त सन् १९२९ में हुआ।

दक्षिण-भारत में कई लघु सुधार-आन्दोलन हुए। परन्तु उनका वर्णन यहाँ व्यर्थ है।

मुस्लिम-सुधार आन्दोलन:—इस्लाम में भी कई ऐसी बातें आ गई थीं जो कि वास्तविक धर्म के प्रतिकूल थीं। इसका एक कारण तो यह था कि शिक्षा के मामले में मुसलमान बहुत पिछड़े हुए थे। अतएव धार्मिक कुरीतियाँ उनमें स्वभावतः ही घुस गईं। इसके साथ-साथ बहुत से हिन्दुओं ने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया था। धर्म परिवर्तन के बाद भी वे पूर्णतया हिन्दू-प्रभाव से मुक्त न हो सके। उन्होंने इस्लाम के सन्तों की पूजा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार इस्लाम में मूर्ति-पूजा होने लगी। धार्मिक कुरीतियों को दूर करने तथा मुसलमान सम्प्रदाय की सामाजिक उन्नति के लिए कुछ धार्मिक आन्दोलन हुए जो कि साथ-साथ सामाजिक भी थे। इनमें से प्रमुख आन्दोलनों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

(अ) *वहाबी आन्दोलन*.—१८ वीं शताब्दी के अन्तिम काल में अरब में वहाबी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भारत में भी इसका प्रभाव पड़ा। राय-बरेली के सैयद अहमद बेलवी (१७८६-१८३१) इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि इस्लाम में जो बहुत सी कुरीतियाँ आ गई थीं उनको निकाल दिया जाय। उनका काफी प्रभाव फैला। बंगाल में इस आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने इस्लाम को स्वीकार किया। पंजाब में वहाबियों ने सिक्खों के विरुद्ध युद्ध किया। जब पंजाब को अंग्रेजों ने जीत लिया, तो उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। अंग्रेजी सरकार ने इस आन्दोलन को पूरी तरह दबाया। यह आन्दोलन साम्प्रदायिक था। इसका उद्देश्य मौलिक इस्लाम का प्रचार करना था।

(ब) अलीगढ़ आन्दोलन—यह आन्दोलन सैयद अहमद खां (१८१७-१८९८) के नाम से सम्बद्ध है। सर सैयद अपने सहधर्मियों की दशा में सुधार करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि मुसलमान शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़े हैं तथा पाश्चात्य शिक्षा को नहीं ग्रहण कर रहे हैं। उन्होंने उनको पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करने को उत्साहित किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने अलीगढ़ में मोहम्डन कालिज की स्थापना की। यह बाद को मुस्लिम विश्वविद्यालय हो गया। उनका विश्वास था कि अगर मुसलमान अँग्रेजी शिक्षा को अपनावेंगे तो उनकी सर्वांगीण उन्नति होगी। अपनी योरोपीय यात्रा के फलस्वरूप वे पाश्चात्य सभ्यता से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे।

सर सैयद अहमद का विचार था कि मुसलमानों को अँग्रेजों के साथ सहयोग से रहना चाहिए। इसके लिए उन्होंने पूरा प्रयत्न किया कि मुसलमान कांग्रेस से अलग रहें। उन्होंने राजा शिव प्रसाद के साथ मिलकर पैट्रियाटिक एसोसिएशन की स्थापना की।

मुसलमानों की जागृति में सर सैयद अहमद ने महत्वपूर्ण काम किया, उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप मुसलमानों ने अँग्रेजी शिक्षा को अपनाया।

(स) अहमदिया आन्दोलन—इसके संस्थापक मिर्जा गुलाम अहमद (१८३८-१९०८) थे। वे पंजाब के गुरदासपुर जिले में कादियान गाँव में पैदा हुए थे। उनका कहना था कि वे ईसाइयों के मसीहा, मुसलमानों के मेंहदी तथा हिन्दुओं के अन्तिम अवतार थे तथा ईश्वर के द्वारा तीनों धर्मों के पुनरुत्थान हेतु भेजे गए थे। लोगों ने उनकी शिक्षाओं को अधिक महत्व नहीं दिया। पंजाब में उनके अनुयायी थोड़ी संख्या में हैं। मिर्जा साहब अपने विचारों में प्रतिक्रियावादी थे।

संक्षेप में यह मुख्य-मुख्य धार्मिक आन्दोलनों का वर्णन है। इन आन्दोलनों ने हिन्दू तथा मुसलमान समाजों पर बहुत प्रभाव डाला। इस कारण इनका काफी महत्व है।

प्रश्न

(१) धर्म का नागरिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? भारतीय दशाओं को विशेष रूप से ध्यान में रख कर इस विषय पर विवेचन कीजिए। (यू० पी० बोर्ड, १९५२)

(२) बौद्ध तथा जैन धर्मों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(३) टिप्पणियां लिखिए वहाबी आन्दोलन, स्वामी विवेकानन्द, थियोसोफिकल सोसायटी, ब्रह्म समाज। (यू० पी० १९५३,१९५४)

(४) भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार-आन्दोलनों का राष्ट्रीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है? (यू० पी० १९५६)

(५) देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जागृति के प्रति निम्नलिखित किन्हीं दो संस्थाओं की देन का वर्णन कीजिये .

(१) ब्रह्म समाज, (२) आर्य समाज, (३) रामकृष्ण मिशन।

अध्याय २२

भारतीय समाज की समस्याएँ तथा उनके सुधार

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य से इतर जानवरों में भी सामाजिक भावना पाई जाती है। समाज से तात्पर्य मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का स्वरूप स्थायी होता है। इस प्रकार छोटे से छोटा समाज-कुटुम्ब है तथा सबसे वृहद समाज समस्त मानव जाति है। साधारण बोलचाल की भाषा में समाज से तात्पर्य समस्त देश के निवासियों के पारस्परिक सम्बन्ध से होता है। परन्तु हमारे देश में धार्मिक विभेदों के कारण एक समाज के स्थान में कई समाज माने जाते हैं। बहुधा यह कहते सुना जाता है कि यह बात हिन्दू समाज के योग्य नहीं यद्यपि अन्य समाजों में प्रचलित है। इस आधार पर भारत में हिन्दू समाज, मुसलमान समाज, ईसाई समाज, पारसी समाज आदि हैं। यहां पर समाज से तात्पर्य अलग-अलग धर्मों के अनुयायियों से है। कभी-कभी समाज शब्द इससे भी संकुचित अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे क्षत्रिय समाज में यह नहीं होना चाहिए या ब्राह्मण समाज में मदिरा-पान वर्जित है इत्यादि। यहाँ पर समाज से तात्पर्य विभिन्न वर्ण अथवा जातियों और उनमें प्रचलित प्रथाओं से है।

भारत में अभी तक व्यक्ति के जीवन में धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है। जन्म से मृत्यु तक साधारण भारतीय के जीवन में प्रत्येक महत्वपूर्ण अवसर पर किसी न किसी रूप में धर्म का हाथ रहता है। जन्म के अवसर पर, यज्ञोपवीत के अवसर पर विवाह तथा बच्चों के जन्म के अवसर पर तथा अन्त में मृत्यु होने पर पुरोहित के बिना काम नहीं चलता है। साधारणतः बहुधा यह कहते हुए सुना जाता है कि हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण धर्म से प्रभावित है। इस कारण हम अन्य देश के निवासियों से सर्वथा भिन्न हैं। हमारी मान्यताएं तथा नैतिक आदर्श, हमारी सभ्यता तथा संस्कृति, हमारी राजनीति संक्षेप में हमारे सामाजिक जीवन के आधार ही अन्य देशवासियों से न केवल भिन्न हैं परन्तु उनसे उच्च भी हैं। कुछ विदेशियों ने भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि की है।

साधारणतः धर्म से तात्पर्य विविध सामाजिक रीति-रिवाजों से लिया जाता है। परन्तु क्या धर्म केवल यही है? धर्म से तात्पर्य संकुचित अर्थ में व्यक्ति

का दैवी-शक्ति से सम्बन्ध हो सकता है। परन्तु अधिक व्यापक अर्थ में धर्म से तात्पर्य सामाजिक जीवन को नियमित करने वाली समस्त शक्तियों से है इनके लिए अंग्रेजी में Social Ethics शब्द है। जहां तक धर्म का द तात्पर्य है उनमें एक भय है। वह यह कि कहीं हम यह न समझने ल कि प्रत्येक सामाजिक नियम उचित है।

आज भारतीय जीवन में साधारणतः धर्म का अर्थ समाज में प्रचलि रूढ़ियों तथा कुसंस्कारों से है। यह कहना कि भारत के गांवों में आज भी प्राचीन आदर्शों के अनुसार जीवन चलता है, सुनने में अच्छा लगता है परन्तु सत्य नहीं। क्योंकि भारत में अविद्या के कारण जनसंख्या का बहुत भाग धार्मिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों को मानने में ही जीवन की सार्थकता समझता है। इस दृष्टि से आज धर्म हमारे मार्ग में बाधक हो गया है। सत्य है कि धर्म का अर्थ यह नहीं होना चाहिए। परन्तु यह भी सत्य है कि साधारण जनता इसी को धर्म मान बैठी है।

इसलिए इसमें अधिक दुख नहीं करना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से आज हमारे जीवन में धर्म का महत्व गौण होता जा रहा है। हमें यह देखना चाहिए कि हम मनुष्य का मनुष्य के रूप में आदर करें। हमारी मान्यतायें रुपये पर आधारित न हों। अगर हम प्रत्येक मनुष्य में दैवी अंश देखते हैं तो हम अपने धर्म से नहीं हट रहे हैं। जहां तक प्राचीन सामाजिक प्रथाओं में परिवर्तन का प्रश्न है, कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात में सन्देह नहीं करेगा कि काल की गति के साथ-साथ जीवन की दशाएँ बदलनी जाती हैं। अतएव सामाजिक दशाएं भी परिवर्तित होनी चाहिए।

इस अध्याय में संक्षेप से भारतीय समाज की विविध संस्थाओं का वर्णन किया जायेगा। यद्यपि हिन्दू समाज तथा मुस्लिम समाज में कई विषयों पर एकता है। उनकी कई समस्याएँ एक हैं, तथापि उनका अलग-अलग वर्णन किया गया है। हिन्दू समाज में निम्नलिखित मुख्य बातों पर दृष्टिपात करना चाहिए—वर्ण व्यवस्था, हरिजनों की स्थिति, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली, विवाह की समस्या तथा स्त्रियों का स्थान और उनकी समस्याएँ।

वर्ण-व्यवस्था.—इससे तात्पर्य हिन्दू समाज की जाति-व्यवस्था से है। वर्ण का अर्थ रंग है, परन्तु यह यहाँ पर जाति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दू समाज में मुख्यतः ४ जातियां हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। परन्तु इनके अन्तर्गत कई उपजातियां हैं। इनकी संख्या तीन हजार से ऊपर है।

सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। इस विषय में तीन सिद्धान्त हैं। इनमें से कोई भी पूर्णरूप से सन्तोषजनक नही है।

एक सिद्धान्त यह है कि वर्णों की उत्पत्ति तब हुई जब कि आर्य अनार्यों के साथ सम्पर्क में आए। समाज में आर्य सबसे ऊपर थे। सबसे नीचे अनार्य थे। इन दोनो के बीच में वर्णसंकर थे। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार जातियों की उत्पत्ति जनों (tribes) से हुई। इसका सबूत यह है कि जातियों में आपस में खान पान, विवाह आदि पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध हैं। तीसरा सिद्धान्त यह है कि विभिन्न जातियों की उत्पत्ति अलग-अलग पेशों के कारण हुई। इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त में सत्य का एक अंश है।

पूर्व वैदिक काल में मुख्य भेद आर्य तथा अनार्यों में था। आर्यों में दो विशेष वर्ग थे ब्राह्मण तथा राजा (राजन्य)। इनके अतिरिक्त अन्य लोग विशः कहलाते थे। उत्तर वैदिक-काल में शूद्रों का वर्ण और हो गया था। ये वे अनार्य थे जो कि आर्यों के समाज में प्रवेश पा गए थे। इस काल में वर्णों में कठोरता (rigidity) आ गई थी। इसी काल में सर्वप्रथम वर्णों के सबंध में यह सिद्धान्त बना कि इनकी उत्पत्ति दैवी है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से क्षत्रिय बाहुओं से वैश्य नाभि से तथा शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। बुद्ध के काल में इन चार वर्णों के अतिरिक्त कई उपजातियाँ उत्पन्न हो गई थी।

सर्व प्रथम वर्णों का आधार कर्म था। ब्राह्मणों का काम शिक्षा तथा पुरोहिती था। क्षत्रियों का काम युद्ध तथा शासन था। वैश्य कृषि, व्यवसाय आदि काम करते थे। शूद्रों का काम अपने से ऊपर वर्णवालों की सेवा करना था। प्रारम्भ में यह वर्ण-व्यवस्था कठोर नही थी। एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण में जा सकते थे। उदाहरणार्थ विश्वामित्र तपस्या के प्रभाव से क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गए थे। परन्तु कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था कठोर हो गई। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाना सम्भव नही था। कर्म के स्थान में जन्म सिद्धान्त प्रचलित हो गया। बौद्धमतावलम्बियों ने कर्म के सिद्धान्त को ही माना। कुछ ब्राह्मणों ने भी इस सिद्धान्त को माना परन्तु साधारणतः जन्म सिद्धान्त ही स्वीकृत किया गया। धर्म शास्त्रों में वर्णों को जन्म के ऊपर रखा गया है।

आज कर्म का सिद्धान्त कोई नही मानता। वर्ण-व्यवस्था हिन्दू समाज में जन्म के ऊपर ही आधारित है। ब्राह्मण के घर में उत्पन्न व्यक्ति ब्राह्मण ही है चाहे वह निरक्षर भट्टाचार्य होवे। इसी प्रकार शूद्र के घर में उत्पन्न

व्यक्ति शूद्र है चाहे वह कितना ही बड़ा विद्वान क्यों न हो। हिन्दू-समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी जाति में पैदा होता है। वह जन्म भर उसी जाति का सदस्य रहता है चाहे वह उसे छोड़ना ही क्यों न चाहे। यद्यपि जातियों का निश्चय जन्म से ही होता है तथापि आज भी थोड़ी-सी सीमा तक अलग-अलग जातियों के पेशे निश्चित-से हैं। प्रत्येक जाति के लोगों को कुछ निश्चित नियमों का पालन करना होता है। अगर ऐसा न करें तो उनका जाति से बहिष्कार कर दिया जावेगा। अपनी जाति के बाहर शादी करना मना है। इसी प्रकार खान-पान के संबंध में भी नियम हैं। यद्यपि शिक्षित वर्ग में अब इन नियमों की अवहेलना होने लगी है परन्तु जनसाधारण इनका अब भी पालन करते हैं।

वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध बहुत लोग हो गए हैं। परन्तु आज भी इस व्यवस्था के कई समर्थक हैं। उनके अनुसार इस व्यवस्था के निम्नलिखित लाभ हैं :—

जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू-समाज हजारों वर्षों के बाद आज भी जीवित है। अगर समाज इस प्रकार सगठित नहीं होता तो कभी छिन्न भिन्न हो गया होता। बाहर से कई आक्रमणकारी भारत में आए। इनमें से कुछ को तो हिन्दू समाज ने अपने में मिला लिया। जो हिन्दू समाज में नहीं मिले जैसे मुसलमान, उनके प्रभाव से समाज में विश्रृंखलता नहीं आने पाई। जाति-व्यवस्था ने सामाजिक परम्परा को जीवित रखा। संसार में कई अन्य प्राचीन जातियों का आज पता भी नहीं है, परन्तु हिन्दू समाज आज भी जैसे का तैसा है। आक्रमणकारियों ने भारत का तन जीता परन्तु उनका मन नहीं जीत पाये।

क्योंकि जाति-व्यवस्था श्रम-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित था, इसलिए प्रत्येक जाति अपने विशेष कार्य में कुशलता प्राप्त कर सकती थी। बचपन से ही लोग अपने-अपने विशेष कार्य में लग जाते थे। पिता का कार्य उसके पश्चात् पुत्र करता था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने काम को अच्छी प्रकार समझ जाता था और उसे उचित रीति से करता था।

आज का विविध वर्णों में अलग-अलग कामों के अनुसार विभाजन, समाज की एकता बनाने के लिए बहुत ही उपयोगी था। विभिन्न वर्णों में आपस में प्रतियोगिता नहीं होती थी। सब अपना-अपना निर्दिष्ट काम करते थे। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में भी तीन वर्णों की स्थापना की है। प्रत्येक वर्ण अपने विशेष काम करेगा।

प्रत्येक वर्ण अपने सदस्यों के दुख-सुख में काम आते थे। आपस में एक ही वर्ण के लोगों में सहानुभूति, सौहार्द्र तथा प्रेम स्वाभाविक है। प्रत्येक वर्ण के अन्दर सहकारिता का सिद्धान्त अपनाया जाता था। इससे यह लाभ था कि आवश्यकता के समय व्यक्ति अकेला नहीं रहता था परन्तु उसे दूसरों की सहायता उपलब्ध होती थी।

प्रत्येक जाति के अन्दर सब लोग समान समझे जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक जाति का एक जनतन्त्रात्मक संगठन था। धनी-निर्धन का भेद भाव नहीं था। जाति का यह कर्त्तव्य समझा जाता था कि वह अपने अन्दर के निर्धन सदस्यों तथा अनाथ परिवारों की सहायता करे। इससे यह लाभ था कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई न कोई साधन समूह द्वारा जुटा दिया जाता था। जीवन तब सामूहिक था न कि आजकल की तरह व्यक्तिगत।

जाति-व्यवस्था के जिन गुणों का ऊपर वर्णन किया गया है वे वर्तमान काल में नहीं पाये जाते हैं। आजकल तो जाति प्रथा दोषों का समूह है। इसलिए समाज सुधारकों का कहना है कि अगर हिन्दू-समाज अपनी उन्नति चाहता है तो यह आवश्यक है कि वर्ण-व्यवस्था का अन्त कर दिया जावे। इस प्रथा के नीचे लिखे मुख्य दोष हैं —

जाति-व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज एक इकाई के रूप में काम नहीं कर सका है अपितु अनेकों वर्णों में विभाजित हो गया। हमारी भक्ति मुख्यतः समाज के प्रति न होकर अपने जाति-विशेष के लिए होती है। इससे हमारी एकता की भावना असफल हो गई। एक जाति के लोग दूसरी जाति में न विवाह कर सकते हैं, न अन्य प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध उनसे स्थापित कर सकते हैं। खान-पान में भी प्रतिबन्ध हैं। ये सब बातें एकता के स्थान में पृथकता को बढ़ाती हैं। इस भावना का फल यह हुआ कि हिन्दू समाज विदेशियों का कभी भी एक होकर सामना नहीं कर पाया। इसी कारण राष्ट्रीय एकता की भावना भी सुदृढ़ नहीं हो पाई।

जाति-व्यवस्था के कारण हिन्दू-समाज का दृष्टिकोण अत्यन्त ही संकुचित हो गया है। यह व्यवस्था प्रगतिशीलता की विरोधी है। इस कारण इसने समाज की उन्नति में बहुत बड़ी रुकावट डाली है। कुछ समय पहले तक बहुत से लोग इस डर से विदेश-यात्रा नहीं करते थे कि वे जाति से बहिष्कृत कर दिए जायेंगे।

जाति-व्यवस्था मूलतः अप्रजातन्त्रीय है। समानता के स्थान में यह असमानता को प्रोत्साहित करती है। इसके कारण समाज ऊँच तथा नीच में विभाजित हो गया है। इस ऊँच-नीच का आधार कर्म या योग्यता न होकर जन्म है। बहुत से मनुष्य केवल इस कारण समाज में अपने को दूसरों से उच्च समझते हैं क्योंकि वे ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय हैं चाहे कर्म की दृष्टि से वे अत्यन्त हीन कोटि के हों। समाज के एक बहुत बड़े भाग को इस व्यवस्था के कारण कभी भी उन्नति करने का अवसर नहीं मिला। कितने दुःख तथा लज्जा की बात है कि समाज के एक-चौथाई भाग को हमने मनुष्यों की तरह रहने नहीं दिया। इसीलिए हमारे देश में सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना में जाति-व्यवस्था एक बहुत बड़ा रोड़ा है। इसके कारण चुनावों के अवसर पर बहुत से लोग आर्थिक या राजनैतिक कार्यक्रम पर ध्यान न देकर उम्मीदवारों की जाति को ध्यान में रख मतदान करेंगे। इससे यह भय भी है कि कहीं जाति पर आधारित दल न बन जाएँ। कुछ सीमा तक म्युनिसिपैलिटियों, जिला-बोर्डों, विश्वविद्यालयों के अन्दर इस प्रकार के विभाजन दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे ब्राह्मण-कायस्थ, या ब्राह्मण क्षत्रिय आदि। सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार की संकुचित मनोवृत्ति समूल नष्ट कर दी जावे।

जाति-व्यवस्था के कारण समाज की आर्थिक-प्रगति में भी बाधा पहुँची है। क्योंकि बहुत से व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी पसन्द का काम नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक जाति का पेशा निश्चित है। अगर कोई अपनी जाति के बाहर का पेशा अपनाता है तो जाति उसको ठीक नहीं समझती है। बिना स्वतन्त्रता के आर्थिक उन्नति में स्वभावतः ही कमी हो जावेगी इसके साथ ही साथ यह भी दिखाई देता है कि समाज में इस व्यवस्था के कारण बहुत से लोग कठिन परिश्रम के पश्चात् भी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते हैं जबकि दूसरी ओर कुछ लोग बिना किसी प्रकार का काम किए ही आराम से जीवन बिताते हैं।

जाति-व्यवस्था स्त्रियों के अधिकार की शत्रु है। हमारे समाज में स्त्रियों की दुर्गति बहुत सीमा तक इसी व्यवस्था का परिणाम है। विवाह के मामले में स्त्रियों को यह किसी प्रकार के अधिकार प्रदान नहीं करती है। अन्य क्षेत्रों में भी यह स्त्रियों को पुरुष का समकक्ष बनाने की विरोधी रही है।

उपरोक्त वर्णित दोषों को देखने से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जाति-व्यवस्था को बनाए रखना हिन्दू समाज के हित में नहीं है। हजारों-लाखों

व्यक्तियों ने जाति व्यवस्था के कारण तथा हिन्दू समाज में अपने मात्र पशुतुल्य व्यवहार होने के कारण दूसरे धर्मों को अंगीकार कर लिया। आजकल शिक्षा-प्रचार के कारण यह व्यवस्था पहले से अशक्त तो अवश्य हो गई है परन्तु अब भी इसका प्रभाव अशिक्षित वर्ग में पूर्व की ही तरह है। जितना शिक्षा का प्रचार होगा उतना ही इस व्यवस्था के दुर्गुण लोगों की समझ में आते जावेंगे। देश में औद्योगीकरण के प्रसार से भी इस व्यवस्था को भारी आघात पहुँचेगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही कई सुधारकों ने इस व्यवस्था विरोध किया था। ब्रह्म-समाज आर्य-समाज थियोसोफिकल-समाज आदि ने इस व्यवस्था का अनुमोदन नहीं किया।

बीसवीं शताब्दी में भी इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाई गई। महात्मा गाँधी जैसे व्यक्ति ने इस प्रथा को दोषपूर्ण तथा हानिकारक बतलाया। इतना होने पर भी यह अभी प्रभावहीन नहीं हुई है। यद्यपि पहले से अब जाति-व्यवस्था कम कठोर हो गई है तथापि अब भी यह पूर्णतः प्रभावहीन नहीं हुई है। अब खान-पान में शिक्षित वर्ग के नवयुवक कम परहेज करते हैं। अन्तर्जातीय विवाह भी कुछ-कुछ होने लगे हैं। परन्तु अभी भी पुराने संस्कारों का इतना प्रभाव है कि इस व्यवस्था के विरुद्ध शिक्षा तथा प्रचार की बहुत अधिक आवश्यकता है।

अछूतों की समस्या —*हिन्दू समाज का चौथाई भाग अछूत कहलाता है। सवर्ण हिन्दुओं का विचार है कि अछूत को छूने मात्र से ही महापातक होगा। कुछ स्थानों में उनकी छाया के छूने से भी अपवित्र होने का डर रहता है। हमारे समाज में अछूतों की समस्या जाति-व्यवस्था का ही कुपरिणाम है। ब्रह्मा के पैर से इनकी उत्पत्ति बतलाई जाती है। शूद्रों की उत्पत्ति शायद अनार्य जातियों से हुई है। परन्तु बाद का इनमें समाज द्वारा सताए हुए कई अन्य वर्ण भी मिल गए होंगे।*

हिन्दू समाज में अछूतों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय है। यद्यपि अब पहले से कुछ सुधार अवश्य है। परन्तु अब भी केवल पहला कदम ही उठाया गया है। संक्षेप में अछूतों को समाज द्वारा सब प्रकार के अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। उनका कर्तव्य सवर्ण हिन्दुओं की सेवा बतलाया गया। इस प्रकार इनको उन्नति का अवसर ही नहीं दिया गया। अछूतों का सवर्णों की बस्ती के अन्दर रहने का अधिकार नहीं था और अब भी वे इन बस्तियों

के बाहर ही रहते हैं। उनके स्वास्थ्य तथा शिक्षा का कभी भी प्रबन्ध नहीं किया गया। वर्तमान समय में तो उनमें शिक्षा का प्रसार हो रहा है। इनके बाल-बच्चे भी शिक्षालयों में जाते हैं यद्यपि अब भी उनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। परन्तु पहले तो उनको इस अधिकार का उपभोग करने का अवसर ही नहीं था। शिक्षा प्राप्त करना उनका काम नहीं था। पहले यह कहा जाता था कि अगर कोई अछूत वेद सुन ले तो उसे दण्ड देना चाहिए। अछूतों के वास्ते सब उन्नति के मार्ग बन्द थे। एक ओर जब हमारे धर्मशास्त्रकार यह लिखते रहे थे कि सब जीवों में ईश्वर का अंश है, दूसरी ओर अपने ही समाज में इतने बड़े भाग को वे पशुओं के स्तर से ऊँचा नहीं उठने देना चाहते थे। शताब्दियों के इस व्यवहार का फल यह हुआ कि अछूत न आर्थिक उन्नति कर पाए और न सांस्कृतिक। आर्थिक क्षेत्र में, न वे व्यापार-वाणिज्य कर सकते थे और न शिक्षा के अभाव में अच्छी नौकरियाँ पा सकते थे। उनके लिए केवल ऐसे ही काम बचे, जैसे मोची, कुम्हार लुहार आदि। राजनीति के क्षेत्र से भी वे दूर रहे। और सबसे बड़ा कुफल यह हुआ कि उनका नैतिक पतन भी हो गया। उनमें कई बुराइयाँ आ गई, जैसे, शराब पीना, अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन आदि। परन्तु इस अवस्था का उत्तरदायित्व ऊँचे वर्ग के हिन्दुओं पर है। उन्होंने अछूतों को सदा यह बतलाया कि अछूत पशुओं से अच्छे नहीं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्पृश्यता हिन्दू-समाज का सबसे बड़ा कलंक है। संसार में ऐसा छुआ-छूत का विचार अन्य किसी देश में नहीं पाया जाता है। कुछ-कुछ इसी प्रकार का व्यवहार अमेरिका में गोरी जनता हबशियों के साथ करती है।

हरिजन सुधार-आन्दोलन :— अछूतों को हरिजन नाम गांधीजी ने दिया। इनकी अवस्था सुधारने का प्रयत्न संगठित रूप से उन्नीसवीं शताब्दी में आरंभ हुआ। परन्तु इसके पूर्व भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब धार्मिक-सुधारकों ने अस्पृश्यता को निराधार ठहराया। उदाहरणार्थ, महावीर तथा गौतम बुद्ध जाति-व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। मोक्ष का द्वार उन सबों के लिए समान रूप से खुले हैं जो उनको प्राप्त करने के लिए नैतिक जीवन व्यतीत करें, यह इनकी शिक्षाओं का सार था। परन्तु इन धार्मिक सुधारकों का प्रभाव स्थायी नहीं रहा क्योंकि जब इन धर्मों का ह्रास हुआ और पुराना हिन्दू धर्म पुनः बलशाली हुआ तो जाति-व्यवस्था भी पुनः संगठित हो गई। यथार्थ में इस काल में इसकी जटिलता और कठोरता और भी बढ़ गई। इसके पश्चात् मध्यकाल तक फिर कोई आन्दोलन इस व्यवस्था के विरुद्ध नहीं चला। मध्यकाल में कई महात्मा तथा संतों ने इस व्यवस्था को नहीं माना। ये संतभक्ति-

मार्गी थे। उन्होंने सबको ईश्वर की भक्ति का अधिकारी बतलाया और सब जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उदाहरणार्थ, १४वीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द ने न केवल सब वर्णों के हिन्दुओं को परन्तु कई मुसलमानों को भी अपना शिष्य बनाया। बाद को कबीर, नानक, तुकाराम आदि भक्ति मार्गी गये। इस व्यवस्था को नहीं माना। कबीर स्वयं जाति के जुलाहे थे। परन्तु इन सन्तों के प्रयत्न से जाति-व्यवस्था में कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह ज्यों की त्यों बनी रही। यथार्थ में इसकी कठोरता और बढ़ गई। यही अवस्था बाद तक चलती आई। इसी बीच में भारत में मुसलमान आ गये थे तथा उन्होंने यहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद ईसाई भी भारत में आ गये थे। इन दोनों धर्मवालों ने अपने धर्म का प्रचार किया। इन दोनों धर्मों में ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है। इसलिए यह स्वाभाविक था कि धीरे-धीरे हिन्दू-समाज की सतायी हुई जातियाँ इन धर्मों को स्वीकार कर लें। इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि जिन लोगों ने हिन्दू-धर्म को छोड़कर इस्लाम या ईसाई धर्म को स्वीकार किया उनमें बहुसंख्या हिन्दू-समाज के अछूतों की है।

१९वीं शताब्दी में राजा राम मोहन राय ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार किया। आर्य समाज ने भी जाति भेद को नहीं माना। स्वामी दयानन्द ने कहा कि वेद इस व्यवस्था का समर्थन नहीं करते हैं। आर्य-समाज ने अछूतों की शिक्षा तथा सामाजिक उन्नति की ओर ध्यान दिया परन्तु इसका प्रभाव अत्यन्त सीमित रहा।

बीसवीं शताब्दी में अछूतोद्धार को गांधी जी ने अत्यन्त महत्व दिया। भारत आने के बाद से ही उन्होंने जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित करना आरम्भ कर दिया। कांग्रेस ने गांधी जी के प्रभाव में अछूतोद्धार को अपने कार्य-क्रम में रख लिया। गांधी जी ने बार-बार यह कहा कि हिन्दू-समाज को इस कलंक को दूर करना चाहिए। कई बार उन्होंने यह भी कहा कि बिना अछूतोद्धार के स्वराज्य असम्भव है। जब दूसरी गोलमेज सभा के बाद ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने अपनी घोषणा द्वारा अछूतों को हिन्दू सम्प्रदाय से, अलग सम्प्रदाय माना तब गांधी जी ने अनशन किया। इसका फल यह हुआ कि सितम्बर १९३२ में पूना पैक्ट हुआ और हरिजन हिन्दू-समाज से पृथक् सम्प्रदाय नहीं माने गये।

सन् १९३३ में गांधी जी ने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। इस संघ ने इस दिशा में अच्छा काम किया है। गांधी जी ने अपने भाषणों तथा

लेखों द्वारा हिन्दू समाज की सुप्तप्राय चेतना को जगाना चाहा और उन्हें यह समझाना चाहा कि वे अछूतों के ऊपर सदियों से कितना अत्याचार कर रहे हैं। गाँधी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप हरिजनों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं का व्यवहार कुछ सीमा तक बदला। कई स्थानों में उन्हें मन्दिरों में प्रवेश करने की आज्ञा मिल गई। हरिजनों में भी चेतना का संचार हुआ और उन्होंने मद्यपान बुराइयाँ जैसे नशीली वस्तुओं का सेवन आदि, छोड़ने की ओर पग उठाया। उनमें शिक्षा का भी प्रसार हुआ।

नवीन संविधान द्वारा यह घोषणा कर दी गई है कि राज्य की दृष्टि में बिना किसी प्रकार भेद-भाव के सब व्यक्तियों को समान अधिकार है। अब अछूत बिना रोक-टोक मन्दिरों में जा सकते हैं, तालाबों तथा कुओं से पानी भर सकते हैं, स्कूलों में भर्ती हो सकते हैं। संक्षेप में विधि द्वारा उन्हें वे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकार प्रदान कर दिए गए हैं जो कि राज्य के अन्दर नागरिकों को प्राप्त हैं। क्योंकि अछूत समाज के पिछड़े हुए वर्ग हैं इसलिये संविधान में उनके लिये कुछ विशेष उपबन्ध हैं, जैसे विधान मण्डलों में उनकी जनसंख्या के अनुसार उनके लिये स्थान सुरक्षित रखे जायेंगे। संविधान द्वारा संसद् में ६८ स्थान अछूतों (scheduled castes) के लिये सुरक्षित रखे गये हैं। राज्यों के विधान मण्डलों में ४८३ स्थान उनके लिए सुरक्षित हैं। सरकारी नौकरियों में भी कुछ काल तक उनको विशेष सुविधा दी जायेगी। इस प्रकार संविधान द्वारा यह प्रयत्न किया है कि हरिजनों के साथ असमानता का व्यवहार न हो। परन्तु केवल अधिकारों के इस प्रकार प्रदान करने से ही कुछ न होगा। आवश्यकता इस बात है कि समाज का यह उत्पीड़ित अंग अपने अधिकारों को समझे तथा उनका उपयोग कर सके। इसके लिये उनमें शिक्षा-प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। इसकी ओर भी सरकार ने ध्यान दिया है। परन्तु और अधिक काम की आवश्यकता है। शिक्षा द्वारा ही उनकी सांस्कृतिक तथा आर्थिक उन्नति सम्भव है। इस दिशा में भी भारत सरकार का कार्य सराहनीय है।

१५ मार्च, १९५५ को संसद् में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया था जिसका उद्देश्य समस्त भारत में छुआछूत को अपराध घोषित करना था। यह विधेयक अछूतों को मन्दिरों में प्रवेश तथा पूजा का अधिकार, तालाब, कुआँ, नदी नालों तथा सार्वजनिक नलों के प्रयोग का अधिकार, किसी सार्वजनिक मार्ग मुर्दाघाट, जहाज, होटल, भोजनालय आदि में प्रवेश करने का अधिकार, किसी भी पेशे को करने का अधिकार आदि प्रदान करता है। यदि कोई उनको इन

उपयुक्त अधिकारों से वंचित करे तो उसे ६ महीने की सजा या ५००) रुपया दण्ड तक हो सकता है। यह विधेयक मई १९५५ में कानून हो गया है।

अछूतों को स्वयं भी अपनी उन्नति की ओर अग्रसर होना चाहिये। इसके लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि उनमें यह भावना जमकर बैठ जाये कि वे अन्य किसी भी वर्ण से नीचे नहीं हैं। वे भी मनुष्य हैं। इसी भावना के सुदृढ़ हो जाने पर वे स्वयं भी अपने अन्दर फैली हुई गन्दगी को हटाने की चेष्टा करेंगे। उन्हें अपनी बुरी आदतों को छोड़ देना चाहिए। उन्हें अपने अन्दर के ऊँच-नीच के भाव को हटा देना चाहिए। उन्हें समाज के अन्य वर्गों से अच्छे गुणों को ग्रहण करना चाहिए। संक्षेप में, उन्हें स्वयं भी इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि वे अपने अधिकारों का ठीक प्रकार से उपभोग कर सकें।

संयुक्त प्रणाली कुटुम्ब :—यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि भारतीय समाज की इकाई व्यक्ति न होकर कुटुम्ब है। हिन्दुओं में कुटुम्ब से तात्पर्य केवल पति पत्नी और बच्चों से ही नहीं है। पाश्चात्य देशों में कुटुम्ब का यही अर्थ है। हिन्दुओं में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली प्रचलित है। संयुक्त कुटुम्ब का अर्थ यह है कि एक ही परिवार में पति-पत्नी और उनके बच्चों के अतिरिक्त दादा दादी, चाचा-चाची, भाई भतीजे पुत्र और उनकी बहुएँ सब रहते हैं। कभी कभी एक परिवार में तीन तीन पीढ़ियाँ तक एक साथ ही रहती हैं। ऐसे कुटुम्ब की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(अ) इनके सदस्यों की संख्या वैयक्तिक-कुटुम्ब की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। तीस-चालीस होना साधारण बात है। कभी कभी एक एक कुटुम्ब में सौ तक व्यक्ति होते हैं।

(ब) ऐसे कुटुम्ब की सम्पत्ति सम्मिलित होती है। कुटुम्ब के सदस्य जितना भी कमाते हैं वह सब सम्मिलित रूप से कुटुम्ब के ऊपर व्यय होता है। कुटुम्ब में सबों के लिये सम्मिलित भोजन की व्यवस्था होती है।

(स) सबसे वयोवृद्ध पुरुष कुटुम्ब का मुखिया होता है। उसी का अनुशासन सबों को मानना पड़ता है। अर्थात कुटुम्ब पितृ प्रधान होते हैं।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली हिन्दू समाज की विशेषता है परन्तु भारत में मुसलमानों में यह प्रणाली कुछ मात्रा तक प्रचलित हो गई है, यद्यपि उनमें यह हिन्दुओं के बराबर कठोर नहीं हुई है।

लाभ :—संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के निम्नलिखित लाभ हैं —

क्योंकि सम्मिलित कुटुम्ब में कई वैयक्तिक कुटुम्ब साथ साथ मिलकर रहते हैं इसलिये इसे बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि इसके सदस्यों में परस्पर एक दूसरे के प्रति सहयोग, त्याग तथा सहानुभूति की भावना वर्तमान हो। इसका फल यह होता है कि बच्चे भी आरम्भ से इन गुणों को शिक्षा पाते हैं। ये ही गुण अच्छे नागरिक में भी आवश्यक हैं। संयुक्त कुटुम्ब नागरिकता की शिक्षा के लिये केवल प्रथम ही नहीं परन्तु प्रमुख पाठशाला भी है।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का दूसरा लाभ यह है कि इसमें उन व्यक्तियों का भी जो कि दुर्घटना, बीमारी, बुढ़ापा या अन्य किसी कारण से अपना तथा अपने बाल-बच्चों का भरण-पोषण नहीं कर सकते हैं, उनके बच्चों का भी पालन हो जाता है तथा उनकी आवश्यकताओं की एक बड़ी मात्रा तक पूर्ति हो जाती है। प्रत्येक सदस्य के न्यूनतम जीवन निर्वाह का प्रबन्ध हो जाता है, जो कि, एक लेखक के शब्दों में आर्थिक प्रगति के लिये आवश्यक है। अनाथ बच्चों तथा विधवाओं की भी ऐसी प्रणाली में अच्छी प्रकार देखभाल हो जाती है। कुटुम्ब के सदस्य दुख सुख में एक दूसरे का साथ देते हैं।

संयुक्त कुटुम्ब के आय के साधन भी अधिक होते हैं। प्रत्येक सदस्य कुछ न कुछ कमाता है। इसका फल यह होता है कि कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था अच्छी रहती है। समाज में कुटुम्ब की प्रतिष्ठा रहती है। आपत्ति के समय सारा कुटुम्ब एक इकाई की तरह काम करता है।

संयुक्त कुटुम्ब होने के कारण कई खर्च के मदों कमी हो जाती है। जैसे अगर परिवार के सदस्य अलग अलग खाना बनायें तो उसमें अधिक खर्च होगा परन्तु संयुक्त परिवार में सारे कुटुम्ब का खाना साथ ही साथ बनता है। इसी प्रकार कई अन्य खर्च संयुक्त रूप से रहने के कारण कम हो जाते हैं।

उपरोक्त वर्णित लाभों को देखते से यह लगता है कि यही व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ है तथा यह चालू रखनी चाहिये। परन्तु कई विद्वान तथा सुधारकों का कहना है कि इस प्रणाली में दोष अधिक हैं। इसमें नीचे लिखे मुख्य दोष हैं :—

(१) क्योंकि प्रत्येक सदस्य की भावना रहती है कि बिना उसके हाथ पैर हिलाये ही उसके जीवन की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो ही जायगी इसलिये उनमें आलस्य तथा काम न करने की इच्छा पैदा हो जाती है। इसका फल यह होता है कि कुटुम्ब का सारा भार थोड़े से उन लोगों को ही ढोना पड़ता है जो कि परिश्रम करते हैं। इसके दो दुष्परिणाम होते हैं। एक तो यह कि कुटुम्ब में कुछ लोग निकम्मे तथा उत्तरदायित्वहीन हो जाते हैं। दूसरे यह कि जो लोग काम करते हैं उनमें कुछ काल बाद यह भावना पैदा होना स्वाभाविक है कि काम क्यों करें और मौज दूसरे लोग करें।

(२) ऐसे कुटुम्ब में घर का संचालन क्योंकि एक ही व्यक्ति के कंधों पर होता है इसलिये अन्य सदस्यों में आत्मनिर्भरता का अभाव हो जाता है। यह सभी जानते हैं कि बिना आत्मनिर्भरता के आर्थिक उन्नति असम्भव है। इसके साथ साथ आर्थिक स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जाती है।

(३) बड़े कुटुम्ब में आपस में मनोमालिन्य पैदा हो जाता है। छोटी छोटी बातों में घर में शान्ति नष्ट हो जाती है। यह अशान्तिमय वातावरण बच्चों के ऊपर बुरा प्रभाव डालता है। अशान्ति के कारण सबों का मन खट्टा रहता है और जीवन में उत्साह नहीं रहता।

(४) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली में व्यक्तित्व के विकास का कम अवसर रहता है। प्रत्येक सदस्य कई नियन्त्रणों के अधीन रहता है। विशेषकर स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं रहती। उनका सारा समय घर के ही काम धन्धों में चला जाता है। वे स्वतन्त्र वातावरण का अनुभव ही नहीं कर सकती हैं।

(५) सम्मिलित सम्पत्ति व्यवस्था होने के कारण लोगों में अधिक धनोपार्जन की इच्छा का ह्रास हो जाता है। यह भी आर्थिक उन्नति के लिये अहितकर है।

(६) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली बहुधा निर्धनता की ओर ले जाती है। उन कुटुम्बों की अवस्था विशेषरूप से शोचनीय हो जाती जिनमें आय तो कम होती है परन्तु सदस्य अधिक होने से खर्च ज्यादा होता है।

1 Self-reliance—the great virtue without which no economic progress is possible is discouraged. Banerji, Indian Economics, p. 36, 6th ed.

(७) सम्मिलित सम्पत्ति होने के कारण जब कभी इसका बंटवारा होता है तब मुकदमेबाजी की नौबत आ जाती है।

भविष्य :—संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली भी जाति-व्यवस्था की तरह दिन पर दिन टूटती जा रही है। इसका एक कारण तो मनुष्यों में वैयक्तिक भावना की वृद्धि है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने लगा है कि उसका कर्त्तव्य केवल अपने बीवी-बच्चों तक ही है। पाश्चात्य देशों के उदाहरण का प्रभाव भी नगण्य नहीं कहा जा सकता। इसके साथ-साथ यातायात के साधनों में वृद्धि होने के कारण लोग नौकरियों की खोज में दूर-दूर तक जाने लगे हैं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण भी यह व्यवस्था टूटती जा रही है। औद्योगीकरण के बढ़ने के साथ-साथ यह व्यवस्था टूटती जायगी।

क्या इस व्यवस्था का टूटना अच्छा है? इसका उत्तर बहुतों ने यह दिया है कि संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली भारत में वही काम करती है जो कि अन्य देशों में सामाजिक-बीमे (social insurance) की प्रथा करती है।[1] परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि आर्थिक जीवन की जटिलता तथा औद्योगीकरण की वृद्धि दोनों ही संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के विरुद्ध हैं।

स्त्रियों की समस्या :—सर्व-प्रथम हमें हिन्दू समाज में विवाह-प्रथा के ऊपर दृष्टिपात करना चाहिये। हिन्दुओं में विवाह केवल एक शारीरिक सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यह दो आत्माओं का सम्बन्ध है। विवाह का आधार भी धर्म है। यह जीवन के मुख्य संस्कारों में से एक है। इसी कारण हिन्दू धर्म के अनुसार पति-पत्नी का एक दूसरे को त्याग कर दूसरा विवाह करना अनुचित समझा जाता है। अन्य समाजों में तलाक प्रचलित है परन्तु हमारे यहाँ अभी तक इसे उचित नहीं समझा जाता है। विवाह के लिये एक ही जाति का होना आवश्यक है।परन्तु गोत्र अलग-अलग होना चाहिए। जातियों के अन्दर उप-जातियाँ हैं। इसलिये इस दृष्टि से भी समानता होनी चाहिए। पुरुष को एक पत्नी के मर जाने पर दूसरे विवाह का अधिकार है और अधिकतर लोग ऐसा करते हैं। परन्तु सवर्ण हिन्दुओं में विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है।

---

1. "In a country where neither the Government nor any other institution makes arrangements for social insurance... the disruption of joint families may lead to many practical difficulties"—Banerji, Ibid, p. 37.

विवाह के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेष समस्याओं पर ध्यान देना चाहिये —

(१) बाल विवाह —यह बहुत अधिक प्रचलित है। शिक्षित वर्ग में तो अब साधारणतः इसका चलन नहीं है परन्तु अशिक्षित वर्ग में तथा गांवों में अभी तक इसका प्रचलन है। बाल विवाह का प्रारम्भ कब हुआ इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। शायद विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी कन्याओं की रक्षा हेतु यह प्रथा चली हो। जिस कारण भी यह प्रथा चली हो यह पुरुष तथा स्त्री (यथार्थ में बालक तथा बालिका) दोनों के लिये अत्यन्त हानिकर है। १९ वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज तथा आर्य-समाज ने इसका विरोध किया। एक सुधारक श्री मालाबारी ने इसके विरुद्ध एक पुस्तिका प्रकाशित की। इन सब का फल यह हुआ कि एक ऐक्ट द्वारा यह पास हुआ कि १० वर्ष से कम वयस्या की लड़की का विवाह नहीं किया जा सकता था। बड़ौदा राज्य में १९०१ में एक ऐक्ट द्वारा भी बालिकाओं के विवाह की कम से कम आयु १२ वर्ष रखी गई। परन्तु इन नियमों का अधिकतर पालन नहीं किया जाता था। सन १९३० में शारदा-ऐक्ट पास हुआ। इसके द्वारा यह निश्चित हुआ कि १४ वर्ष से कम आयु की बालिका तथा १८ वर्ष से कम आयु के बालक का विवाह करना अपराध माना जायगा तथा उसके लिये दण्ड मिलेगा। जैसा हम लिख चुके हैं बाल विवाह प्रथा अब भी प्रचलित है। इसलिये यह आवश्यक है कि इसके विरुद्ध सख्त प्रचार किया जाये।

(२) बहु विवाह —यद्यपि हिन्दुओं को एक से अधिक विवाह करने का अधिकार है परन्तु समाज में बहु विवाह अधिक प्रचलित नहीं है। पहले धनी लोग या जमींदार और राजे महाराजे एक से अधिक विवाह करते थे, और कुछ अभी भी करते हैं। परन्तु सर्व साधारण में बहु विवाह का प्रचलन कभी भी अधिक नहीं था।

(३) दहेज प्रथा —इससे यह आशय है कि लड़के वाले लड़की वालों से विवाह के समय पैसा मांगते हैं। इसके कई ढंग हैं, जैसे कुछ लोग कहते हैं कि लड़का पढ़ा लिखा है, अच्छा नौकर है, अतएव इतने हजार रुपए दो, कुछ कहते हैं लड़का आगे पढ़ना चाहता है उसका व्यय उठाओ, कुछ लोग कहते हैं हमारे लड़के के लिये मोटर खरीदो। संक्षेप में लड़की वाले को अपनी लड़की के हाथ पीले करने में हजारों रुपए खर्च करने पड़ते हैं। अमीर पिता तो यह सब कर सकता है परन्तु साधारण वर्ग के माता पिता को एक एक

लड़की के विवाह में कर्ज के बोझ में दोहरा हो जाना साधारण बात है। यह प्रथा अत्यन्त हीन है। इसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त होना चाहिये। अभी तक इस प्रथा के विरुद्ध अधिक आवाज नहीं उठाई गई है। यह आवश्यक है कि इसके विरुद्ध खूब प्रचार हो तथा सरकार किसी भी रूप में दहेज लेने या देने के विरुद्ध नियम बना दे।[1] इसी प्रकार गरीब माता-पिता त्राण पा सकते हैं।

(४) विधवा विवाह :—वैदिक-काल में विधवाओं को पुनर्विवाह की आज्ञा थी।[2] परन्तु कालान्तर में विधवाओं का फिर से विवाह करना शास्त्रों के विरुद्ध समझा जाने लगा। गुप्त काल में तो ऊँचे वर्गों में सती-प्रथा प्रचलित हो गई थी। विधवाओं की अवस्था दिन पर दिन खराब होती चली गई। बाद को तो यह होने लगा कि पति के मृत्यु के बाद पत्नी को बलपूर्वक उसी के साथ जला देते थे। यह अमानुषिक प्रथा बड़ी गौरवपूर्ण समझी जाती थी। खेद यह है कि आज भी कुछ लोग इसको हमारे नारी जीवन का सबसे महान आदर्श समझते हैं। सन् १८२९ में लार्ड बेंटिंक ने सती-प्रथा को अवैध कर दिया।

विधवा की अवस्था हिन्दू घरों में अत्यन्त शोचनीय है। साधारणतः यह समझा जाता है कि वह अपने ही कर्मों के कारण विधवा हुई। इसलिए सुबह-सुबह उसका मुँह देखना भी कहीं-कहीं पर खराब समझा जाता है। शुभ अवसरों पर विधवाओं को अलग रखा जाता है। आर्थिक-दृष्टि से भी कुछ घरों में विधवाएँ भार-स्वरूप समझी जाती हैं। उनके जीवन में किसी प्रकार का उत्साह नहीं रह जाता है। जब कि पुरुषों को एक के बाद दूसरी शादी का अधिकार है, स्त्रियों को पति की मृत्यु हो जाने पर सतीत्व तथा नारीत्व के आदर्श के नाम में एकान्त जीवन व्यतीत करने को समाज बाध्य करता है।

श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सर्व प्रथम इस बात का आन्दोलन किया कि विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार होना चाहिये। सन् १८५६ में भारत सरकार ने ऐक्ट द्वारा विधवा-विवाह को वैध मान लिया। ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज ने भी विधवा-विवाह के पक्ष में प्रचार किया। शिक्षा के प्रचार तथा पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से कई समाज सुधारकों का ध्यान इस ओर

1. अब केन्द्रीय सरकार ने एक दहेज विरोधी बिल पास कर दिया है।

2. An Advanced History of India, by Majumdar, Raychaudhury and Dutta, p. 31.

आविष्कृत हुआ। २० वीं शताब्दी में इस दिशा में और अधिक उन्नति हुई। सन् १९३७ से एक नियम द्वारा विधवाओं को सम्पत्ति में भाग मिलने लगा है।

देश में विधवाश्रम असहाय विधवाओं की सहायतार्थ खुल गए हैं। इस दिशा में भी आर्य-समाज, देव-समाज आदि ने अच्छा काम किया है। यद्यपि हिन्दू समाज में कुछ मात्रा तक विधवाओं के पुनर्विवाह के प्रश्न पर दृष्टिकोण बदला है और विधवाओं की स्थिति कुछ सुधरी है तथापि अब भी कुसंस्कारों का प्रभाव समाज के अधिकांश भाग के ऊपर है। इस दिशा में अभी और प्रचार तथा शिक्षा की आवश्यकता है क्योंकि पुरानी रूढ़ियाँ बड़ी कठिनाई से उन्मूलित होती है।

(५) वृद्ध-विवाह —अब भी बहुधा कई माँ बाप अपनी कम अवस्था की लड़कियों को वृद्धों को ब्याह देते हैं। यह प्रत्येक दृष्टि से अनुचित है। इसका कारण एक बहुत बड़ी मात्रा तक तो दहेज प्रथा है। वृद्ध पुरुष बहुत कम दहेज में विवाह कर लेगा। दूसरी बात यह भी है कि बहुत से माता-पिता कन्यादान का पुण्य कमाने को लालायित रहते हैं और सोचते हैं कि लड़की का भविष्य उनके ही भाग्य पर निर्भर है। समाज में इस प्रकार के विवाहों के विरुद्ध भी विचार बढ़ रहे हैं।

हिन्दू-समाज में विवाह के सम्बन्ध में रूढ़िवादी विचार कुछ मात्रा तक पहले की अपेक्षा अशक्त हो गए है। परन्तु अब भी इस दिशा में बहुत अधिक काम करने की आवश्यकता है। अभी तक भी बहुत थोड़े से लोग अन्तर्जातीय विवाह करने को प्रस्तुत होंगे। यद्यपि ऐसे विवाह हुए हैं तथापि उनकी संख्या अत्यन्त कम है। परन्तु जाति का बन्धन शिथिल होने के साथ-साथ इस दिशा में प्रगति होगी। विभिन्न सम्प्रदायों के बीच में तो बहुत कम विवाह होते हैं। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ ऐसे विवाह हुए हैं परन्तु साधारणतः उनका बड़ा विरोध है। जो लोग हिन्दू-समाज के अन्दर इस विषय में सब कुरीतियों को हटाना चाहते हैं वे इस प्रकार के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच विवाह को उचित नहीं समझते हैं।

अब विवाह-सम्बन्ध में लड़के-लड़कियों का भी मत जानने की चेष्टा की जाती है। शिक्षित वर्ग में तो बिना लड़के-लड़कियों की अनुमति के विवाह बहुत ही कम होते हैं। परन्तु अब भी लड़कियों के मत को कम महत्व दिया जाता है। अशिक्षित वर्ग में अभी भी विवाह अभिभावकों के द्वारा ही तय

किया जाता है। सुखी कौटुम्बिक जीवन के लिये विवाह के पूर्व लड़के-लड़कियों का मत अवश्य जान लेना चाहिये।

समाज में नारी का स्थान —यद्यपि संस्कृत में एक उक्ति है कि 'जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं' तथापि वास्तव में हिन्दू समाज में साधारण नारी का स्थान अत्यन्त ही निम्न है। प्राचीन काल में स्त्रियों की अवस्था इतनी हीन नहीं थी। यद्यपि वे पुरुषों के बराबर कभी भी नहीं समझी गईं तथापि उनका घर तथा समाज दोनों में सम्मान था। उनको शिक्षा दी जाती थी और विवाह बड़ी होने पर किया जाता था। स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। विश्ववारा, घोषा, अपाला, गार्गेयी, मैत्रेयी, विदुषी महिलाएँ थीं। परन्तु धीरे-धीरे स्त्रियों की दशा बिगड़ने लगी। इनकी स्वतन्त्रता कम होने लगी। गुप्त काल तक सती प्रथा समाज उच्च-वर्गों में काफी प्रचलित हो गई थी। परन्तु इतना सब होने पर भी स्त्रियों की अवस्था बहुत खराब नहीं थी।

मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् इस दिशा में और अवनति हुई। उस समय की परिस्थितियों के कारण पर्दा-प्रथा का आरम्भ हुआ। स्त्रियों का क्षेत्र केवल घर के अन्दर समझा जाने लगा। सती-प्रथा बहुत प्रचलित हो गई। शिक्षा की ओर भी कम ध्यान जाने लगा। मध्य काल में स्त्रियों की दशा बिगड़ती ही चली गई। कन्या का जन्म दुःख का अवसर माना जाने लगा। धीरे-धीरे यह प्रथा चल गई कि कन्या का जन्म होते ही उसे मार दिया जाता था। यह प्रथा विशेषकर राजपूतों में बहुत ही प्रचलित थी। लॉर्ड बैण्टिक ने इस अमानुषिक प्रथा को बन्द करने की ओर प्रथम पग उठाया था।

यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि हिन्दू समाज में यद्यपि काफी जागृति हो गई है तथापि आज भी स्त्रियों की दशा कोई अच्छी नहीं है। विवाह के सम्बन्ध में जो कुप्रथाएँ प्रचलित हैं उनका वर्णन हम कर चुके हैं। शिक्षा तथा संस्कृति की दृष्टि से भी स्त्रियों की अवस्था दयनीय है। अब भी बहुत से माँ-बाप अपनी लड़कियों को शिक्षा से वंचित रखते हैं। गाँवों की अवस्था तो इस विषय में बहुत खराब है। आर्थिक दृष्टि से भी स्त्रियों का स्थान अत्यन्त नीचा है। साधारणतः वे हर मामले में पुरुषों के ऊपर निर्भर हैं। सामाजिक क्षेत्र में भी उनकी स्थिति अच्छी नहीं है। पर्दे का अब भी बहुत प्रचलन है। यद्यपि पहले से स्थिति में बहुत सुधार हो गया है तथापि अब भी अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ का नारी-समाज अत्यन्त ही पिछड़ा हुआ है।

सुधार-आन्दोलन —१९ वीं शताब्दी में ब्रह्म-समाज तथा आर्य समाज ने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये आवाज उठाई। राजा राममोहन राय का काम काफी महत्वपूर्ण है। उन्हीं के कारण अंग्रेजी-सरकार ने सती प्रथा को बन्द कर दिया। श्री केशवचन्द्र सेन ने विधवा विवाह का प्रश्न उठाया। सन् १८५६ में विधवाओं का पुनर्विवाह वैध मान लिया गया। आर्य-समाज ने बाल-विवाह के विरुद्ध तथा विधवा-विवाह के पक्ष में आन्दोलन किया। स्त्रियों की दशा में अधिक सुधार राजनैतिक आन्दोलन के बढ़ने से सन् १९२० के बाद होना प्रारम्भ हुआ। इसके पहले स्त्रियाँ स्वयं अपनी हीन दशा को सुधारने में अधिक प्रयत्नशील नहीं थीं। जब होम-रूल आन्दोलन (१९१४-१९१७) आरम्भ हुआ तब भारतीय महिलाओं ने सर्व-प्रथम अपने अधिकारों के बारे में सोचना प्रारम्भ किया। जब गांधी ने देश का नेतृत्व लिया तो इस दिशा में और प्रगति हुई। उनके नेतृत्व में राजनैतिक आन्दोलन में स्त्रियों ने भी पुरुषों के साथ भाग लिया। उन्होंने लाठियाँ तथा गोलियाँ सहीं और जेल गईं। इसका फल यह हुआ कि स्त्रियों के अन्दर स्वयं एक चेतना का संचार हुआ। उनको अपनी हीन दशा का भान हुआ और इस कारण सन् १९२० के पश्चात् स्त्रियों की दशा में शीघ्रता के साथ सुधार होना प्रारम्भ हुआ।

स्त्रियों ने राजनैतिक अधिकारों की माँग की। दिसम्बर १८, १९१७ को [illegible] मि० माण्टेग्यू—जो कि भारत मन्त्री थे—से अखिल भारतीय-महिलाओं का शिष्ट-मण्डल मिला और उसने स्त्रियों के लिये राजनैतिक अधिकारों की माँग की। सन् १९२० के ऐक्ट के द्वारा ३,१५,००० स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्राप्त हुआ। सन् १९२३ में स्त्रियों ने सर्वप्रथम प्रान्तीय धारा-सभाओं के चुनावों में भाग लिया। जब लन्दन में गोलमेज सभाएँ हुईं उनमें भारतीय स्त्रियों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सन् १९३५ के ऐक्ट द्वारा स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों में वृद्धि हुई। करीबन ६० लाख स्त्रियों को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। केन्द्रीय धारासभा के ऊपरी सदन में स्थान तथा निचले सदन में स्थान उनके लिये सुरक्षित किये गये—मद्रास में ८, बम्बई में ६, बंगाल में ५, यू० पी० में ६, पंजाब में ४, बिहार में ८, मध्य प्रान्त में ३, बरार में १, सिन्ध तथा उड़ीसा प्रत्येक में २।

जब से भारत में नया संविधान लागू हुआ है इसके अधीन स्त्रियों को वे अधिकार दिये गये हैं जो कि पुरुषों को प्राप्त हैं। राजनैतिक तथा सामाजिक अधिकारों में उनमें तथा पुरुषों में अब कोई भेद नहीं रहा। वे नौकरी कर सकती हैं। उन्हें समान कार्य के लिये पुरुषों के समान ही वेतन मिलेगा।

चुनावों में उन्हें मत का अधिकार है। वे विधान-मण्डलों की सदस्यता के लिये खड़ी हो सकती हैं। वे मन्त्री, स्पीकर, ऐम्बेसेडर हो सकती हैं।

आज स्त्रियों की स्थिति पहले से बहुत अच्छी है। शिक्षा का प्रचार उनमें तेजी से हो रहा है। वे कई क्षेत्रों में नौकरी कर रही हैं। डाक्टर, नर्स, मिड्वाइफ, वकील, क्लर्क आदि, सभी प्रकार की नौकरियां वे करती हैं। मिल व फैक्टरियों में भी वे काम करती हैं। पर्दे की प्रथा अब टूट रही है। विवाह के मामले में भी पहले से अधिक स्वतन्त्रता है। अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय तथा कुछ-कुछ अलग-अलग सम्प्रदायों के बीच भी विवाह होने लगे हैं। स्त्रियां अब अकेले यात्रा कर लेती हैं। पार्कों में घूमती हैं तथा मनोरंजन के स्थानों में जाती हैं। वे समाज में विभिन्न प्रकार के कार्य करने लगी हैं। डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्डों में भी महिलाओं के लिये स्थान सुरक्षित हैं। हमारे समाज में स्त्रियों ने सन् १९२० के पश्चात् प्रशंसनीय प्रगति की है। परन्तु अभी तो केवल समाज के ऊपरी भाग में यह सब हुआ है। जो स्त्रियां आज विधान सभाओं में हैं, या ऊंची नौकरियों में हैं, या स्कूल और कॉलिज में अध्यापिकाएँ हैं, वे सब समाज के ऊपरी वर्ग की हैं। समाज के निचले वर्गों में स्त्रियों की दशा पूर्ववत् है। वे घर के बाहर किसी काम में भाग नहीं लेती हैं, इसका कारण एक तो उनकी अशिक्षा है तथा दूसरा कारण उनकी शोचनीय आर्थिक दशा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियों को यथार्थ स्वतन्त्रता समाज में तभी मिल सकती है जब वे आर्थिक-दृष्टि से स्वतन्त्र हों। जब तक पुरुषों के ऊपर अपनी दैनिक-आवश्यकताओं के लिये निर्भर हैं, पूरी स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती है।

स्त्रियों की प्रमुख संस्थाएँ :—वैसे तो देश में इस समय कई संस्थाएं हैं जो कि क्षेत्र में काम कर रही हैं, परन्तु सबसे मुख्य तीन संस्थाएं हैं :

भारतीय स्त्री संघ (Women's Indian Assoociation) :—इसकी स्थापना १९१७ में हुई थी। इसका उद्देश्य स्त्रियों में शिक्षा प्रचार तथा सुधार और उनके लिये राजनैतिक अधिकारों की मांग रहे हैं। यह अभी तक काम कर रहा है। इसी के तत्वाधान में स्त्रियों का शिष्टमण्डल सन् १९१७ में भारत-मन्त्री से मद्रास में मिला था।

भारत में स्त्रियों की राष्ट्रीय कौंसिल (Natioal Council of Women in India) :—इसकी स्थापना सन् १९२५ में हुई थी। इसने विशेषकर समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया है।

अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (All India Women Conference) —यह संस्था सबसे प्रमुख है। इसकी स्थापना सन् १९२६ में हुई थी। इस संस्था ने स्त्रियों से सम्बन्धित विभिन्न क्षेत्रों में काम किया है तथा कर रही है। इसके अतिरिक्त इसने स्त्रियों के वास्ते सम्पत्ति के अधिकारों में परिवर्तन की माँग की है। इसने अस्पृश्यता तथा जातिप्रथा के विरुद्ध भी काम किया है। इसके वार्षिक अधिवेशन होते हैं। उनमें स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं पर विचार विनिमय तथा प्रस्ताव पास किये जाते हैं। इस समय इसकी देश में करीबन २०० शाखाएँ तथा २०,००० से कुछ अधिक सदस्य हैं। यद्यपि इस संस्था ने स्त्रियों की दशा सुधारने में सराहनीय कार्य किया है तथापि यह कहने में कोई दोष नहीं होगा कि इसकी सदस्यता केवल शिक्षित, उच्च वर्ग की महिलाओं तक सीमित है। सम्मेलन समाज के निचले स्तर की महिलाओं का नहीं छू सका है। सन् १९४४ में सम्मेलन द्वारा कई माँग रखी गई थीं।

स्त्रियों की माँगें—इन माँगों का उद्देश्य महिलाओं के लिए सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करना।

स्त्रियों की शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाय। शिक्षा इस प्रकार की हो ताकि लड़कियाँ भी लड़कों की ही तरह प्रत्येक क्षेत्र में काम सकें और नौकरी कर सकें।

पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने के लिए तथा जनसंख्या की समस्या हल करने के लिए लड़के तथा लड़कियों को परिवार सम्बन्धी शिक्षा भी स्कूल कॉलिजों में देनी चाहिए।

स्त्रियों के लिए देश भर में जच्चा-घर तथा शिशु घर खोले जायें। इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। हर वर्ष कई हजार बच्चे तथा माताएँ इसके अभाव के कारण मर जाते हैं। गर्भवती स्त्रियों के लिए केन्द्र स्थापित किए जायें ताकि उनकी ठीक प्रकार से देखभाल हो सके।

केन्द्रीय सरकार तथा प्रदेश की सरकारों द्वारा समाज सेवा में लगे हुए संस्थाओं के कामों का संचालन तथा देख-भाल होना चाहिए। इसके लिए एक Ministry of Social Affairs हो। इसकी स्थापना से समाज सेवा का काम उचित रूप से हो सकेगा।

स्त्रियों के विषय में जो कानून हैं उनमें शीघ्रता से परिवर्तन किये जायें जिससे स्त्रियों की अवस्था सुधार सकें।

हिन्दू कोड बिल —भारतीय महिलाओं ने इस बात की मांग की कि उनके सम्बन्ध में जो कानून हैं उनमें सुधार किए जायें। इन सुधारों की आवश्यकता देश में प्रति दिन अधिकाधिक लोगों को ज्ञात हो रही है। सन् १९३७ में एक नियम द्वारा स्त्रियों को सम्पत्ति के कुछ अधिकार दिये गए थे। चार वर्ष बाद एक कमेटी की स्थापना की गई—राव कमेटी जिसका काम हिन्दू लॉ में सुधार सुझाने का था। इस कमेटी ने अपनी सिफारिशों को बिल के रूप में रखा। इसको हिन्दू कोड बिल कहते हैं। इसके मुख्य उपबन्ध निम्नलिखित हैं :

(१) लड़कियों को भी पिता की सम्पत्ति पर लड़कों की तरह उत्तराधिकार हो।

(२) पत्नी तथा पुत्री को अपनी सम्पत्ति पर पूरा अधिकार हो। वे उसे बेच सकती हैं या किसी को दे सकती हैं या जो चाहें कर सकती हैं।

(३) पुरुष या स्त्री पहले विवाह की पत्नी या पति के रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकते हैं।

(४) तलाक (divorce) का अधिकार कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर मान लिया जाय।

(५) स्त्री को गोद लेने के मामले में स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

इस बिल की धाराओं को देखने से स्पष्ट है कि हमारे समाज में स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये इसका पास होना आवश्यक है परन्तु देश में कई रूढ़िवादी ऐसे हैं, और उनकी संख्या कम नहीं है, जो कि इस बिल का विरोध कर रहे हैं। उनके अनुसार यह बिल हिन्दू-समाज की जड़ें काट रहा है। यह शास्त्र विरोधी है। हमारे विचार में इस प्रकार के बिल की नितान्त आवश्यकता है। बिना स्त्रियों को इस प्रकार के अधिकार दिए हुए उनकी स्थिति में पूरा सुधार होना असम्भव है।

देश में हिन्दू कोड बिल का अत्यन्त विरोध किया गया। अतएव कांग्रेस सरकार ने यह उचित समझा कि ऐसे बिल को जिसका कि इतना विरोध है पास न किया जाय। उसका विचार शनैः शनैः स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन

करता है। इसी उद्देश्य से दिसम्बर १९५२ में हिन्दू विवाह विधेयक संसद में पेश किया गया।

१९५४ में यह विधेयक अधिनियम बन गया। इस अधिनियम के अनुसार राज्य सरकार विवाह [illegible]
विवाहों की रजिस्ट्री व [illegible]
चाहे तो इस अधिनिय [illegible]
इस अधिनियम के द्वारा कुछ दशाओं में तलाक का अधिकार प्रदान किया गया है। यह स्त्री सुधार की दशा में एक महत्वपूर्ण पग है।

स्त्री सुधार के विरोधी साधारणतः यह कहते हैं कि भारतीय नारी का आदर्श पाश्चात्य नारियों से सर्वथा भिन्न है। वे सीता सावित्री का उदाहरण देते हैं। पश्चिम में उनके विचार में नारियों का नैतिक चरित्र अत्यन्त पतित है। सुधारों के द्वारा हमारे यहाँ भी ऐसा ही हो जायगा। ऐसी बातें कुछ तो अज्ञान की उपज हैं। दूसरे ये सुधार के विरोधी यह नहीं देखते कि सुधारों का यथार्थ उद्देश्य यह है कि स्त्रियाँ भी समाज की सेवा उसी प्रकार कर सकें जिस प्रकार पुरुष करते हैं। यह कहना कि स्त्रियों का क्षेत्र केवल घर के भीतर है सर्वथा अनुचित है। न यही सोचना चाहिए अगर स्त्रियाँ घर के बाहर के जीवन में भाग लेंगी तो वे घर के कर्त्तव्यों से विमुख हो जावेंगी। हमें घर तथा समाज के बीच सामंजस्य स्थापित करना होगा।

अन्य सम्प्रदायों का सामाजिक जीवन—देश में छोटे छोटे धार्मिक सम्प्रदायों का जीवन जैसे सिक्ख जैन आदि, हिन्दुओं की ही तरह है। पारसियों का सामाजिक जीवन भिन्न है क्योंकि उनमें पाश्चात्य सभ्यता का बहुत अधिक प्रभाव है तथा वे शिक्षित हैं। उनमें स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी है। वे पढ़ी-लिखी होती हैं तथा उन्हें तलाक का अधिकार भी है।

मुसलमानों का सामाजिक जीवन एक प्रकार से हिन्दुओं से भिन्न कहा जा सकता है क्योंकि उनमें और हिन्दुओं में धार्मिक विभिन्नता है। परन्तु दूसरी ओर उनके समाज में कई समस्याएँ हिन्दुओं की ही तरह हैं।

इस्लाम के अनुसार सब मनुष्य बराबर हैं और उनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। परन्तु मुसलमानों में भी हिन्दुओं के सम्पर्क के कारण कुछ मात्रा तक जाति-भेद दिखाई देता है। यह उतना कठोर नहीं कि जितना हिन्दू समाज में है। उनके यहाँ सबसे ऊँचे सैयद और शाह समझे जाते हैं। विवाह के समय इन भेदों का ध्यान रखा जाता है। इसके अतिरिक्त मुसलमान शिया

तथा गुटों इन भागों में बँटे हैं। इनमें भी आपस में भेद हैं। परन्तु इतना होने पर भी मुसलमानों में छुआछूत का प्रश्न किसी भी रूप में नहीं है। उनमें बहुत बड़ी एकता की भावना है।

मुसलमान स्त्रियों की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से इस अर्थ में अच्छी है कि उन्हें विवाह तथा सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में उनसे अधिक अधिकार हैं। मुसलमानों में विधवाओं के पुनर्विवाह की आज्ञा है। उच्च-वर्ग में यह बहुत कम प्रचलित है। कुछ अवस्थाओं में स्त्रियों को तलाक देने का भी अधिकार है। परन्तु साधारणतः पुरुष के लिए इस अधिकार का प्रयोग सुगम है। मुसलमान स्त्रियों को अपने पति तथा पिता की सम्पत्ति का भाग मिलता है।

मुसलमानों में एक पुरुष को चार विवाह करने की आज्ञा है। परन्तु हिन्दुओं की तरह इनमें भी इसका बहुत अधिक प्रचलन नहीं है। मुसलमानों में पर्दे की प्रथा हिन्दुओं से भी अधिक प्रचलित है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उनकी प्रगति हिंदुओं की अपेक्षा कम है।

हिन्दू स्त्रियों में जैसा हम लिख चुके हैं, राजनैतिक आन्दोलन के कारण एक नई चेतना संचरित हुई है। परन्तु मुसलमान स्त्रियाँ इससे पूर्णतः अलग ही रहीं। इस कारण उनमें अभी तक अपने अधिकारों के बारे में वैसी चेतना नहीं उत्पन्न हो पाई। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन असाम्प्रदायिक संस्था है। कुछ मुसलमान स्त्रियाँ भी इसमें हैं परन्तु अधिकतर मुसलमान स्त्रियाँ इन सुधार संस्थाओं से अलग रही हैं। उनमें अब शिक्षा का प्रचार पहले से बढ़ रहा है। हम यही आशा कर सकते हैं कि मुसलमान महिलाएँ भी अपनी हिन्दू बहिनों की तरह उन्नति और प्रगति का मार्ग अपनावेंगी।

प्रश्न

(१) भारतीय समाज की प्रमुख समस्याओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

(२) वर्ण-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसके क्या गुण तथा दोष हैं? (यू० पी० १९५४)

(३) स्त्रियों की समस्या के ऊपर विचार प्रकट कीजिये। किस प्रकार भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा में सुधार सम्भव है? (यू० पी० १९५२)

(४) संविधान में दलित वर्गों के हितों के संरक्षण के लिये क्या विशेष प्रबन्ध हैं? (यू० पी० १९५२)

(५) 'अस्पृश्यता हमारे समाज का सबसे बड़ा अभिशाप है" व्याख्या कीजिये। गत दस वर्षों में इस अभिशाप को दूर करने के लिये क्या उपाय किये गये ? (यू० पी० १९५८)

(६) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये हिन्दू कोड बिल। (यू० पी० १९५[illegible])

(७) देश की प्रमुख सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डालिए। इनको दूर करने के क्या उपाय हो रहे हैं। (यू० पी० १९५८)

(८) संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली से क्या लाभ तथा हानियाँ हैं ? इस प्रणाली का हमारे समाज में क्या भविष्य है कारण सहित लिखिये। (यू० पी० १९५७)

अध्याय २३

भारत की आर्थिक अवस्था

किसी भी देश का सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन वहाँ की आर्थिक अवस्था पर, बहुत अधिक मात्रा में, निर्भर रहता है। गरीब देश के निवासियों के जीवन की समस्याएँ सम्पन्न देश के नागरिकों की समस्याओं से भिन्न होंगी। इसलिए उन दोनों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में भी भेद होगा। इन्हीं कारणों से यह आवश्यक है कि भारत की आर्थिक-अवस्था का अध्ययन किया जावे।

गरीबी :—सर्वप्रथम प्रश्न यह उठता है कि क्या हमारा देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है, अथवा गरीब है ? इसका उत्तर देने के लिये कोई अधिक मस्तिष्क पर जोर देने की आवश्यकता नहीं है। अगर हम अपने चारों तरफ देखें तो कई ऐसी बातें दिखाई देंगी जो कि इस बात की ओर इंगित करती है कि हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। किसी भी नगर या गाँव को देखिये, आपको पग-पग पर ऐसी बातें दिखाई देंगी। इस आर्थिक दुरवस्था के कई कुपरिणाम होते हैं। हम में से अधिकांश व्यक्तियों का स्वास्थ्य खराब हो गया है। क्योंकि भारत में जनसंख्या के एक बड़े भाग को पेट भर खाना नहीं मिलता है। जनता का एक बड़ा भाग अस्वास्थ्यकर मकानों में रहता है। आर्थिक दुरवस्था के कारण भारत में अधिकांश व्यक्ति किसी भी प्रकार का सांस्कृतिक-जीवन नहीं बिता सकते हैं। उनका सारा समय दो समय के लिये भोजन इकट्ठा करने में ही लग जाता है और दुःख की बात यह है कि तब भी यह प्राप्त नहीं होता। गरीबी के कारण बहुत से लोगों के लिये जीवन में प्रसन्नता के स्थान में दैन्य तथा दुःख है। जीवन एक वरदान न होकर भार हो गया है।

भारत के प्राकृतिक साधन :—सर्वप्रथम हमें अपने देश के प्राकृतिक साधनों पर ध्यान देना चाहिये। प्रकृति ने भारत को प्रत्येक दृष्टि से समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया है। यह बात भारत के प्राकृतिक साधनों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाती है :

(१) भूमि :—भारत एक विशाल देश है। इसकी लम्बाई २००० मील तथा चौड़ाई १५०० मील है। इसका क्षेत्रफल १२,६९, ६४० वर्गमील है।

हम भारत के क्षेत्र को चार भागों में बाँट सकते हैं—(१) उत्तर में हिमालय पर्वत श्रेणियाँ (२) सतलज-गंगा का मैदान (३) दक्षिण का पठार तथा (४) समुद्र तट के मैदान। भारत में लगभग २५ करोड़ एकड़ भूमि कृषि योग्य है। इस भूमि में अनेक प्रकार की पैदावार हो सकती है तथा देश की आवश्यकताओं की पूर्ति अच्छी भाँति हो सकती है। भारत भूमि का २ प्रतिशत भाग वनों से ढका है यह कम से कम ३३ प्रतिशत होना चाहिये था। इसलिये सरकार को वनों का क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(२) **खनिज पदार्थ** — भारत खनिज पदार्थों में काफी सम्पन्न है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्था बिना इन खनिज पदार्थों के असम्भव है। उद्योग धंधों की उन्नति के लिए ये आवश्यक हैं। भारत में निम्नांकित खनिज पदार्थ मिलते हैं।

लोहा—बिहार, उड़ीसा, मैसूर, बम्बई तथा मद्रास में मिलता है। भारत में लोहे का उत्पादन अनुमानतः ८३.१ लाख टन है। भारत में जो लोहा पाया जाता है वह बहुत अच्छी किस्म का है।

मैंगनीज—संसार में इसके उत्पादन में भारत का दूसरा स्थान है। देश के कुल उत्पादन का ६० प्रतिशत मैंगनीज मध्य प्रदेश में तथा ३० प्रतिशत मद्रास में पैदा होता है। इसका वार्षिक उत्पादन १८.१ लाख टन है।

ताँबा—संसार में ताँबे के उत्पादन में भारत का तेरहवाँ स्थान है। यह मुख्यतः बिहार राज्य में सिंहभूमि जिले में पाया जाता है। वार्षिक उत्पादन ८ लाख टन है।

अभ्रक—संसार का ८५% अभ्रक हमारे यहाँ पैदा होता है। बिहार में भारत का ८०% अभ्रक पैदा होता है। इसके अतिरिक्त मद्रास तथा राजस्थान में भी यह मिलता है।

सोना—संसार में सोने के उत्पादन में भारत का सातवाँ स्थान है। भारत का ९९% सोना मैसूर की कोलार खान में आता है। इसके अतिरिक्त भारत में नमक, गोरा, बाक्साइट, क्रोमाइट, बाक्साइट, टंगस्टन, मैग्नेसाइट, इल्मेनाइट, चाँदी, आदि भी पैदा होते हैं।

(३) **शक्ति के स्रोत**—भारत में मुख्यतः कोयला, पट्रोल तथा जलविद्युत का शक्ति के रूप में प्रयोग होता है।

कोयला :—वार्षिक उत्पादन लगभग ३८० लाख टन है, जब कि संसार का वार्षिक उत्पादन लगभग १२२५० लाख टन है। विशेषज्ञों के अनुसार भारत में ४०० करोड़ टन कोयला होने की सम्भावना है।

पेट्रोल :—भारत में पेट्रोल बहुत कम पाया जाता है। परन्तु विशेषज्ञों का अनुमान है कि आसाम, पंजाब पश्चिमी तट पर कच्छ तथा खम्भात में पर्याप्त पेट्रोल मिल जायगा।

जलविद्युत :—हमारे देश की कोयला तथा पेट्रोल में स्थिति सन्तोषजनक नहीं है परन्तु जल विद्युत में भारत की स्थिति अच्छी है। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में ३५० लाख किलोवाट जल-विद्युत शक्ति उत्पादन करने की क्षमता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारत प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से अधिक पिछड़ा नहीं है यद्यपि यह अमेरिका या रूस की तरह सम्पन्न भी नहीं है।

जनसंख्या की दृष्टि से देश की स्थिति, हमारी पिछड़ी आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए अच्छी नहीं कही जा सकती। हमारे देश की जन-संख्या सन् १९५१ में लगभग ३५.७ करोड़ थी। हमारे देश की जन्म-दर बहुत अधिक है। यह लगभग ३५-३६ है। इसके अधिक होने के कई कारण हैं। जैसे, धार्मिक तथा सामाजिक विचार, बाल-विवाह, गरीबी, जनसंख्या निरोध सम्बन्धी ज्ञान का अभाव, आदि। भारत की जनसंख्या अधिक है और यह देश की आर्थिक अवनति तथा निर्धनता का एक प्रमुख कारण है। यह कहना असंगत है कि जितनी अधिक जनसंख्या होगी उतनी ही अधिक देश आर्थिक उन्नति कर सकता है। भारत जैसे देश में जनसंख्या का निरोध आवश्यक है।

भारत की निर्धनता के कारण :—हम देश के प्राकृतिक साधन देख चुके हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन साधनों के होते हुये भी भारत में निर्धनता क्यों है? संक्षेप में हमारी निर्धनता के निम्नांकित मुख्य कारण हैं :

(१) हमारा देश करीबन डेढ़ सौ वर्षों तक पराधीन रहा है। विदेशियों ने भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। भारतीय गृह-उद्योगों का अँग्रेजी शासन में पूरी तरह नाश किया गया है। नये उद्योग-धन्धों को भी विदेशी-शासन ने उत्साहित नहीं किया। जो उद्योग

धधे देश में है उनमे से भी बहुतो में अभी तक विदेशियो का अधिकार बना हुआ है।

(२) जनता का अधिकाश भाग भूमि पर निर्भर है। कृषि का ढग भी पिछडा हुआ है सिचाई आदि की व्यवस्था सतोष जनक नही है इसलिए यह स्वाभाविक है कि लोगो की आय बहुत कम हो।

(३) भारत की जनसख्या प्रति वर्ष बढती जा रही है, और क्योकि नौकरी के अन्य कोई रास्ते नहीं है तथा उद्योग-धधो की भी उन्नति नही हो रही है इसलिए भूमि के ऊपर ही अधिकाधिक भार बढ रहा है।

(४) भारत की अधिकाश जनता अशिक्षित है। इससे एक ओर तो यह अभी तक कई सामाजिक कुरीतियो मे फसी हुई है, दूसरी ओर इसके कारण देश में योग्य टेक्नीशियन, इजीनियर आदि का अभाव है। अशिक्षा के ही कारण हम लोग भाग्यवादी हो गये है।

(५) हमारे देश में लोग मुकदमेबाजी तथा शादी-ब्याह आदि उत्सवो के समय व्यर्थ का खर्च करते है। इससे उनके ऊपर खर्च का एक बोझ लद जाता है।

(६) हमारे देश में औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का समुचित प्रबंध नही है। इसके साथ ही साथ जनता को अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का भी ज्ञान नहीं है। जो कुछ शिक्षा हमें उपलब्ध है वह वास्तव में व्यर्थ है। क्योकि उसके बाद केवल दफ्तर मे नौकरी करने के और कोई मार्ग खुला ही नही रह जाता है।

(७) देश की की आर्थिक समस्या का सबसे बडा कारण पूंजीवादी व्यवस्था है। इसके कारण राष्ट्रीय आय का वितरण इस प्रकार होता है कि एक बहुत छोटे से वर्ग के हाथ मे करीबन चालीस प्रतिशत भाग चला जाता है। कृषि की उन्नति के लिये जमीदारी प्रथा का उन्मूलन और औद्योगिक उन्नति के लिए उद्योगो का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रीय सरकार ने जमीदारी उन्मूलन की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

उपरोक्त कारणो से हमारा देश निर्धन है। अतएव अगर हम इस निर्धनता को दूर करना चाहते है तो हमें इन गरीबी के कारणो को दूर करना चाहिये। इसके लिए आवश्यक है कि कृषि का वैज्ञानिक ढग अपनाया जाय, उद्योग-धधो की वृद्धि हो, टेक्निकल शिक्षा का प्रबन्ध, नये व्यवसायो का

खोलना तथा शिक्षा का प्रसार किया जाय। इसके अतिरिक्त जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तथा गृह-उद्योगों का विकास भी आवश्यक है। संक्षेप में भारत की निर्धनता का कारण उत्पत्ति का सीमित होना है। इसलिये निर्धनता दूर करने का उपाय यह है कि उत्पत्ति को बढ़ाया जाय और यह देखा जाय कि इसका उचित प्रकार से वितरण होता है।

(अ) कृषि

हमारा देश कृषि-प्रधान है। जनता का अधिकांश भाग गांवों में रहता है तथा कृषि में लगा है। हमारी जनसंख्या का लगभग ७० प्रतिशत भाग खेती पर निर्भर है। गांवों की जनसंख्या का ९० प्रतिशत भाग खेती पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्भर है। हमारी राष्ट्रीय आय का ८८ प्रतिशत कृषि से अर्जित होता है।

भारत की भूमि काफी उपजाऊ है। साल में दो मुख्य फसलें होती हैं—खरीफ की फसल तथा रबी की फसल। खरीफ की फसल बरसात शुरू होते ही बोई जाती है और सितम्बर से नवम्बर के बीच में काट ली जाती है। रबी की फसल जाड़ों की फसल है। यह अक्टूबर-नवम्बर में बोई जाती है और मार्च अप्रैल में तैयार हो जाती है।

यद्यपि हमारी भूमि उपजाऊ है और हमारे किसान परिश्रमी हैं तथापि हमारे देश में प्रति एकड़ उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। नीचे दी गई तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा :—

देश	गेहूँ	चावल	ईख	कपास
जर्मनी	२०१७	—	—	—
इटली	१३८२	४४६८	—	१७०
जापान	१७१३	३४४४	४७५२४	९६६
अमेरिका	८१२	२१८५	४३२७०	२६८
चीन	९८९	२४३३	—	२०४
भारत	६६०	१२४४	३४९४४	८९

यदि भारत में प्रति एकड़ उपज बढ़ जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ जायेगी और हमारे किसान खुशहाल हो जायेंगे। यह कहा जाता है कि यदि भारत में केवल गेहूँ का उत्पादन प्रति एकड़ फीस

के बराबर हो जाय तो देश की आय १०० करोड पौण्ड प्रतिवर्ष बढ जायगी। इसी प्रकार यदि प्रत्येक वस्तु का उत्पादन बढ जाय तो अनुमान लगाइये देश की आय कितनी अधिक बढ जायगी। इससे हम इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत के कृषक की निर्धनता का मुख्य कारण प्रति एकड उत्पादन का बहुत ही कम होना है। अतएव सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है कि इतनी कम उपज के क्या कारण हैं?

कम उपज के कारण —*विद्वानों के अनुसार भारत में कम उपज के मुख्य* कारण निम्नलिखित हैं —

(१) **कृषि का अवैज्ञानिक ढंग** —संसार के अन्य सभ्य तथा उन्नतशील देशों में जैसे इंगलैण्ड रूस अमरिका आदि खेती पूर्णत वैज्ञानिक ढंग से की जाती है। खेती मशीनों की सहायता से होती है, जैसे ट्रैक्टर, हारवेस्टर, कम्बाइन। इस कारण एक तो श्रम का अपव्यय नहीं होता है, दूसरे समय बच जाता है तीसरे उपज अधिक होती है। इसके साथ साथ वहां पर पैदावार बढ़ाने के लिये अच्छी खाद का प्रयोग किया जाता है। अच्छे बीज बोए जाते हैं। परन्तु अगर हम अपने देश में देखें तो अब भी यहां ९० प्रतिशत खेतिहर वैसे ही खेती करते हैं जैसे कि दो हजार वर्ष पूर्व उनके पुरखे करते थे। इससे यह स्वाभाविक है कि उपज कम हो। पाश्चात्य देशों में पैदावार बढ़ाने के लिये प्रति वर्ष नई नई विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। वहां हजारों अनुसन्धानशालाओं में इस विषय में कार्य होता है। परन्तु हमारे देश में इस प्रकार की अनुसन्धानशालाओं तथा प्रयोगशालाओं का नितान्त अभाव है। जो कुछ पैदावार होती है उसका एक भाग कीड़े मकोड़े चूहे टिड्डियाँ आदि नष्ट कर देते हैं। इनको नष्ट करने का भी अभी तक ठीक प्रबन्ध नहीं हो पाया। हर वर्ष कई हजार टन अन्न इस प्रकार नष्ट हो जाता है।

(२) *खेतों का छोटा होना* —दूसरा दोष भारत में यह है कि खेत बहुत छोटे छोटे होते हैं तथा ये भी एक ही स्थान में न होकर अलग अलग बिखरे होते हैं। इससे कई हानियाँ होती हैं। सिंचाई का ठीक प्रबन्ध नहीं हो सकता है, आपस में झगड़े तथा मुकदमे बढ़ते हैं, वैज्ञानिक ढंग प्रयुक्त नहीं किये जा सकते हैं, *श्रम तथा समय नष्ट होता है।*

(३) *किसान का अशिक्षित होना* —*भारतीय किसान अशिक्षा के* कारण इन आधुनिक ढंगों से अनभिज्ञ है। वह समझता है कि अगर जमीन में उपज कम है तो यह उसके भाग्य का दोष है। अशिक्षा के कारण वह अपना

धन व्यर्थ के रीति-रिवाजों तथा विवाह आदि में नष्ट करता है। अशिक्षा के कारण वह आधुनिक ढंगों को अपनाने में ही झिझकता है।

(४) किसान का ऋण-ग्रस्त होना :—अशिक्षा से भी बड़ी कठिनाई किसान के मार्ग में उसका ऋण-ग्रस्त होना है। अधिकतर किसान ऋण के चंगुल में फंसे रहते हैं। इसके लिये उन्हें बहुत ऊँचा ब्याज देना होता है। परिणामस्वरूप उनकी आमदनी का बड़ा भाग साहूकारों के पास चला जाता है। गाँवों में सहकारी संस्थाएँ नहीं हैं जो उचित ब्याज की दर पर किसानों को ऋण दें। इस निर्धनता के कारण किसान एक ओर तो आधुनिक साधनों का प्रयोग नहीं कर सकता है और दूसरी ओर निर्धनता के कारण ही उसका जीवन-स्तर अत्यन्त ही नीचा होता है जिसका उसके स्वास्थ्य पर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है।

(५) लगान तथा मालगुजारी प्रथा :—अभी तक हमारे देश में जमींदारी प्रथा भी कृषि की उन्नति में बाधक थी। क्योंकि विविध रूपों में किसान की आमदनी का एक बड़ा भाग इनकी जेब में चला जाता था। जमीन के ऊपर किसान का कोई स्वामित्व न होने के कारण वह उसके सुधार के ऊपर अधिक ध्यान नहीं देता था। उनमें उत्साह (incentive) की कमी हो जाती है। परन्तु राष्ट्रीय सरकार द्वारा जमींदारी का उन्मूलन कर दिया गया है। इससे आशा है कि स्थिति में सुधार अवश्य होगा।

(६) सिंचाई की उचित व्यवस्था का अभाव :—हमारे देश में सिंचाई की भी अभी तक समुचित व्यवस्था नहीं है। इसलिये किसानों को अधिकतर बादलों के सहारे रहना पड़ता है। कभी-कभी सूखा पड़ जाता है और कभी-कभी बहुत पानी बरस जाता है। दोनों दशाओं में खेती को अधिक हानि पहुँचती है। इसलिये किसान को ऋण लेना पड़ता है और उसकी निर्धनता बढ़ जाती है।

(७) भूमि क्षरण :—बरसात का पानी जब तेजी से खेतों में से बहता है तो यह अपने साथ-साथ मिट्टी के तत्वों को भी बहा ले जाता है जिसके फलस्वरूप भूमि का उपजाऊपन कम हो जाता है। इसके साथ ही हमारे देश में किसानों की यह आदत है कि वे बरसात के प्रारम्भ होने से पूर्व खेतों में खाद जमा कर देते हैं और उनका यह विचार है कि बरसात का पानी इसे खेत भर में फैला देगा। परन्तु होता यह है कि पानी इसके भी तत्वों को वहाँ ले जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि खेतों में बरसात के पहले ऊँची मेड़ बना दी जाय जिससे बरसात के पानी के बहाव से उन्हें हानि न पहुँचे।

(८) किसानों का बुरा स्वास्थ्य —यद्यपि एक भारतीय कवि ने लिखा है कि "अहा ग्राम जीवन भी क्या है !" परन्तु वास्तव में हमारे गाँवों का जीवन अनेक कारणों से, जैसे निर्धनता, अशिक्षा, बीमारी, गन्दगी आदि से ...ना खराब हो गया है कि उसमें 'अहा' कहने को कुछ भी नहीं बचा है। इसका ...ल यह हुआ है कि हमारे कृषकों का स्वास्थ्य अत्यन्त ही गिर गया है और इसके फलस्वरूप वे उतना परिश्रम नहीं कर सकते हैं जितना कि अन्य देशों के किसान कर सकते हैं। इसका स्वाभाविक फल यह है कि पैदावार गिरती जा रही है।

(९) पशुओं की बुरी दशा —किसानों के साथ-साथ उनके पशुओं की दशा भी अत्यन्त ही गिर गई है। पशुओं की दशा में इस गिरावट का मुख्य कारण चारे की कमी नस्ल में सुधार न होना, बीमारी, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रहना, आदि हैं। जनसंख्या बढ़ने से चराई की भूमि दिन प्रति दिन कम होती जा रही है। ऐसे पशु किसान को खेती में ठीक प्रकार से सहायता दे सकते हैं।

(१०) अच्छे बीजों तथा खाद की कमी —किसानों के पास अच्छे बीजों का अभाव है वे बाजार से सस्ते बीज खरीद कर बो देते हैं। इन बीजों से फसल बहुत ही कम होती है। सरकार ने स्थान स्थान पर बीज भंडार ...ले हैं। किसानों को इन्हीं में से बीज खरीदने चाहियें। बीजों के लिये सहकारी बीज समितियां भी स्थापित करनी चाहिये।

अच्छे बीजों के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि किसान अच्छी खाद प्राप्त करने की भी चेष्टा करें। यह स्पष्ट है कि बिना अच्छी खाद से अच्छी फसल नहीं हो सकती है। हमारे किसान के पास इतना पैसा नहीं है कि वह खेतों में डालने के लिए खाद खरीदे तथा वैज्ञानिक खाद का प्रयोग करे। वह गोबर की खाद डालता है। परन्तु गोबर सुखा कर जलाने के काम में अधिकतर लाया जाता है। इससे खेतों के लिये कम बचता है। उपज बढ़ाने के लिये अच्छे खाद का प्रबन्ध आवश्यक है।

... के साथ साथ प्राकृतिक ... हम देखते हैं कि ... प्रदेशों में पूर्णत हो सूखा पड़ जाता है। इससे फसल को अत्यन्त हानि पहुंचती है। इसके साथ साथ टिड्डियों का आक्रमण, कीड़े-मकोड़ों से हानि, चूहों का उत्पात आदि भी

खेती को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इन समस्याओं पर यभी तक हमारे देश में उचित प्रकार से ध्यान नहीं दिया गया है।

(१२) यातायात तथा विपणन की कठिनाइयाँ —किसान को अपनी उपज बाजार ले जाने तथा वहाँ से अपनी आवश्यकताओं की वस्तु लाने के लिए उचित यातायात के साधन होने चाहियें। परन्तु हमारे देश में यातायात के साधन अभी बहुत पिछड़ी अवस्था में हैं। गाँव की सड़कों में बरसात में चलना असम्भव हो जाता है। इसलिए किसानों को अपना सामान ले जाने या लाने में बहुत कठिनाई होती है। इसके फलस्वरूप वे गाँव में ही अपनी फसल महाजन को बेचने को बाध्य हो जाते हैं और उन्हें उचित मूल्य नहीं मिलता है। यदि वे मण्डी भी पहुँचते हैं तो वहाँ भी वे ठगे जाते हैं। मण्डियों में उनके सामान को खत्तियों में रखने की भी सुविधा नहीं होती इससे भी उनका कष्ट बढ़ जाता है। इस कठिनाई का सबसे अच्छा हल यह है कि किसान सहकारी समितियों की सहायता लें।

सुधार के उपायः—स्वतन्त्र भारत के सम्मुख प्रथम समस्या अन्न की थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात यह समस्या अत्यन्त ही गम्भीर रूप में उपस्थित हुई। भारत सरकार को लाखों टन अन्न बाहर से मँगाना पड़ा और हमारा करोड़ों रुपया विदेशों को इस कारण चला गया। इस समस्या का हल करने के लिये सरकार ने "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन चलाया। नई भूमि को हल के नीचे लाया गया। अच्छे बीज तथा उत्तम खाद का प्रबन्ध भी सरकार ने किया। किसानों को खेती के बारे में बतलाने के लिये भी कुछ काम किया गया।

राष्ट्रीय सरकार ने खेतों को विभाजन तथा उप-विभाजन को रोकने के लिये कानून बनाए हैं। खेतों की चकबन्दी के लिये कई प्रादेशिक सरकारों ने अधिनियम बनाए हैं उदाहरणार्थ, बम्बई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, दिल्ली आदि। इसी प्रकार सरकार ने सहकारी कृषि को प्रोत्साहित करने की दिशा में भी पग उठाया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कहा गया है कि 'निम्न तथा मध्य वर्ग के किसानों को राज्य सरकारों द्वारा प्रोत्साहन तथा सहायता मिलनी चाहिये जिससे वे सहकारी कृषि समितियाँ बनायें।' दिल्ली मद्रास, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के राज्यों में इस दिशा में कुछ काम हुआ है। सन् १९५३ में दिल्ली में भारत के विभिन्न प्रदेशों के कृषि मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ था तथा उसमें इस प्रश्न के ऊपर विचार किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में २४३ करोड़ रुपये तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ३५० करोड़ रुपये कृषि सुधार तथा उन्नति के लिए रखा गया है।

कृषि की उन्नति के लिये भूमि क्षरण (Soil Erosion) की समस्या को भी हल करना आवश्यक है। यह समस्या इतनी गम्भीर हो गई है कि कुछ विशेषज्ञों के अनुसार भूमि क्षरण भारत में कृषि का प्रमुख शत्रु है। अनुमानतः १५ करोड़ एकड़ भूमि को इसके द्वारा क्षति पहुँच रही है। भारत की सरकार इस समस्या पर ध्यान दे रही है। एक भूमि संरक्षण बोर्ड स्थापित किया गया है। भारत सरकार द्वारा १९५४ ५५ में कुछ योजनाओं को इसके लिए चालू करने की आज्ञा दी गई है। रेगिस्तान को रोकने के लिए जंगल लगाने के कार्य को प्रोत्साहित किया जा रहा है। भारत के कई राज्यों में भी इस समस्या का समाधान के लिये काम हो रहा है।

सरकार द्वारा सिंचाई की उचित व्यवस्था का भी प्रबन्ध किया जा रहा है। नहर कुओं तालाब के अतिरिक्त इस समस्या को हल करने के लिए भारत सरकार ने कई बहु-उद्देशीय योजनायें बनाई हैं। ये कई उद्देश्यों को पूरा करेंगी जैसे सिंचाई, बाढ़ रोकना बिजली पैदा करना आदि। ये योजनायें निम्नलिखित हैं।

योजना का नाम	सींचा जाने वाला क्षेत्र	बिजली का उत्पादन (किलोवाट)
१—दामोदर घाटी	७,६० ०००	३,५०,०००
२—मौर योजना	६,००,०००	४,०००
३—कोसी योजना	३० ०० ०००	१८,००,०००
४—महानदी योजना	२५,०० ०००	५,००,०००
५—रेहण्ड योजना	६,३५,०००	१,७०,०००
६—नर्मदा योजना	३७,००,०००	१०,००,०००
७—ताप्ती योजना	७,००,०००	४८,०००
८—चम्बल योजना	२,०० ०००	२ ००,०००
९—भाकरा योजना	४५ ०० ०००	१,६० ०००
१०—रामपद सागर योजना	१६,००,०००	७५ ०००
११—तुंगभद्रा योजना	३,०० ०००	८०,०००
१२—गोडी कोटा योजना	१,८०,०००	——
१३—लोअर भवानी योजना	२,००,०००	——
१४—भद्रा योजना	१,८०,०००	१७,०००
१५—जवाई योजना	१,१०,०००	४,५००
१७—नीयर योजना		१,००,०००

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी सिंचाई के लिए काम किया गया। मार्च १९५४ तक २८ लाख एकड़ से अधिक भूमि को सिंचाई की सुविधा प्रदान की गई है।

किसानों को साख की सहायता भी सरकार द्वारा दी गई है। इसके लिये अनेक उपाय किये गये हैं। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि सम्बन्धी अल्प-कालिक साख का प्रबन्ध प्रायः प्रादेशिक सरकारों तथा सहकारी समितियों द्वारा हुआ है।

कृषि की उन्नति के लिए तथा किसानों की अवस्था में सुधार के लिये जमींदारी उन्मूलन भी आवश्यक था। प्रादेशिक सरकारों ने इस दिशा में प्रशंसा योग्य काम किया है। बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास, आन्ध्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद, मध्य भारत, पेप्सू, सौराष्ट्र, भोपाल तथा विन्ध्य-प्रदेश में जमींदारी प्रथा की समाप्ति पूर्णतः या आंशिक रूप में की जा चुकी है।

कृषि की उन्नति के लिये यह भी आवश्यक है किसानों को कृषि सम्बन्धी शिक्षा तथा साधारण शिक्षा देने का प्रबन्ध हो। उन्हें वैज्ञानिक ढंग से खेती करने को उत्साहित किया जाय। उनके स्वास्थ्य में सुधार हो तथा जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो।

गाँवों का जीवन तथा उनकी समस्याएँ

इस स्थल पर यह उचित प्रतीत होता है कि हम अपने गाँवों की दशा का अवलोकन करें। भारत कृषि-प्रधान देश होने के कारण गाँवों का देश है। कार्य-शील जनसंख्या का ६८ प्रतिशत भाग खेती पर निर्भर है। हमारी जनसंख्या का अनुमानतः तीन-चौथाई भाग गाँवों में रहता है। भारत की आत्मा गाँवों में रहती है। बहुधा यह कहा जाता है कि आधुनिक भौतिक-सभ्यता से परे भारत के गाँव आदर्श जीवन के चित्र हैं। परन्तु वास्तव में गाँवों की दशा शोचनीय है। बीसवीं शताब्दी में भी ये अज्ञान में डूबे हैं। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, प्रत्येक दृष्टि से वे पिछड़े हैं। शिक्षा तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उनकी अवस्था अच्छी नहीं है। गाँवों का सुधार अत्यधिक आवश्यक है। अंग्रेजी शासन के पूर्व गाँवों की इतनी दुरवस्था नहीं थी। परन्तु अंग्रेजी काल में जब गाँव भी साम्राज्यवादी-शोषण की चक्की में पिसने लगे तो उनकी आर्थिक अवस्था प्रतिदिन बिगड़ती गई। उनके गृह-उद्योगों का नाश हो गया। परन्तु अंग्रेजी सरकार ने इनके पुनरुत्थान की ओर ध्यान नहीं दिया।

जब गांधी जी ने भारतीय राजनैतिक-आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया तो उन्होंने यह देखा कि गांवों में चेतना का संचार हुये बिना भारत की स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिये उन्होंने बारम्बार गांवों की अवस्था सुधारने पर जोर दिया। उन्होंने गृह-उद्योगों की पुनर्स्थापना पर ज़ोर दिया ताकि गाँव स्वावलम्बी हो सकें। उन्होंने ग्रामीण-जनता की शिक्षा तथा स्वास्थ्य की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित किया। गांवों में भी राजनैतिक चेतना बढ़ी और हजारों किसानों ने आन्दोलन में भाग लिया।

अंग्रेजी सरकार ने सन् १९३४-३५ में १ करोड़ रुपया गांवों के विकासार्थ मंजूर किया। जब सन् १९३७ में कांग्रेस ने पद-ग्रहण किया तो इसने गाँवों की दशा सुधारने की ओर विशेष ध्यान दिया। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने गाँवों की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की चेष्टा की। परन्तु इस दिशा में यह केवल पहला पग था। अगर कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बने रहते तो इस दिशा में और प्रगति होती। परन्तु सन् १९३९ में कांग्रेस ने युद्ध प्रारम्भ होने पर पद त्याग कर दिया। अंग्रेजी सरकार इस काल में युद्ध के अतिरिक्त किसी अन्य बात की सोच ही नहीं रही थी। इसलिए सन् १९४७ तक ग्रामसुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

जब से कांग्रेस ने फिर कार्य भार सँभाला है इस दिशा में फिर प्रगति आरम्भ हो गई है। यद्यपि यह सत्य है कि जितना सुधार का ढोल पीटा गया है उसकी तुलना में काम कम हुआ है। तथापि फिर भी कुछ तो अवश्य ही हुआ है। प्रादेशिक सरकारों ने अपने अपने प्रदेशों में ग्रामोत्थान के लिये चेष्टा की है। गांव वालों की शिक्षा, स्वास्थ्य, अर्थ सम्बन्धी कठिनाइयाँ, अच्छे बीज तथा खाद, आदि बातों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। जमींदारी उन्मूलन की दशा में भी प्रगति हुई है। सहकारी समितियों की भी स्थापना की जा रही है। पंचायतों की भी स्थापना की जा रही है। इनसे दो लाभ होंगे। एक तो यह कि गांव वालों के बहुत से मुकदमे वहीं पर तय हो जायेंगे और उनका पैसा व्यर्थ नष्ट होने से बच जायगा। दूसरा यह कि गांव वाले अपनी समस्याओं को सलझाने में सक्रिय भाग लेंगे। पंचायतों के विविध कार्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

गांव के निवासियों को दो भागों में बाँट सकते हैं—किसान तथा भूमि-हीन श्रमिक (landless labourers)।

आजकल यह बहुधा कहा जाता है कि किसानों की अवस्था पहले से बहुत अच्छी हो गई है और वे मालामाल हो गये हैं। क्योंकि खाद्य-फसलों तथा अन्य

फसलों के भी दाम ही बढ़ गये हैं। प्रत्येक वस्तु जैसे गेहूँ, चावल, चना, दाल, गन्ना आज बहुत मँहगे हो गए हैं। इसमें नाय का एक अंश है। जिन किसानों के पास इतनी भूमि है कि वे उसमें अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न उत्पन्न करते हैं, उनकी अवस्था पहले की अपेक्षा अच्छी है। क्योंकि वे अतिरिक्त पैदावार को ऊँचे दामों में बेच सकते हैं। परन्तु जिन किसानों की भूमि से उनकी आवश्यकता को पूरा करने योग्य भी अन्न नहीं उत्पन्न होता है उनकी दशा और बिगड़ गई है क्योंकि उन्हें मँहगे दामों में गल्ला खरीदना पड़ता है। ऐसे किसानों की संख्या कम नहीं है। जो किसान अतिरिक्त गल्ला पैदा करते हैं उनको भी उतना लाभ नहीं हुआ जितना कि होना चाहिये क्योंकि वह अपना माल उपयुक्त स्थानों पर नहीं पहुँचा पाते हैं, और जमींदार या साहूकार को बेच देते हैं जो कि उन्हें उपयुक्त कीमत नहीं देते हैं। जब हम भूमिहीन श्रमिक की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसकी अवस्था और भी खराब पाते हैं, क्योंकि उसकी आय का साधन दूसरे के खेतों में मजदूरी करना है। इस कारण से वे केवल आधे साल ही काम कर सकते हैं और बाकी समय उन्हें कोई काम नहीं रहता है।

उपरोक्त बातों (facts) को ध्यान में रखते हुए यह कहना असंगत नहीं होगा कि भारतीय किसान निर्धन हैं। संक्षेप में उनकी निर्धनता का कारण यह है कि खेती से उनको पर्याप्त आय नहीं होती है। खेती की पिछड़ी दशा के कारणों का वर्णन हम कर चुके हैं। किसान की दूसरी कठिनाई यह है कि वह अपनी पैदावार को उचित दामों में नहीं बेच सकता है। यातायात की असुविधाओं के कारण बहुधा वह इनको मण्डियों तक न ले जाकर गाँव में ही जमींदार या साहूकार के हाथ बेच देता है। वे कभी भी उचित दाम नहीं देते हैं। वर्ष भर में किसान कई महीने बेकार रहता है। फसल कट जाने के बाद उसको काम नहीं रहता है। खाली दिनों को वह व्यर्थ नष्ट करता है। क्योंकि गाँव में कोई अन्य उद्योग न होने के कारण यह समय बेकार नष्ट हो जाता है। अशिक्षा के कारण किसान को अपने समय का ठीक उपयोग ही नहीं मालूम है। इसी कारण वह अपने धन को उचित प्रकार से व्यय नहीं करता है। साल भर वह रूखी रोटी खाता परन्तु शादी-ब्याह के अवसर पर कई सौ रुपया व्यर्थ खर्च कर देता है। इसके लिए वह ऋण लेने से भी नहीं चूकता है। और एक समय ऋण लेकर वह कई वर्षों तक साहूकार के चंगुल से नहीं छूट सकता है। मुकदमों में भी किसानों का बहुत सा धन अपव्यय होता है। खेती के अतिरिक्त किसानों की आय का दूसरा स्रोत पशुपालन है। परन्तु इससे भी किसान पूरा लाभ नहीं उठा सकता है। उसके पशु चारे के कमी के कारण अशक्त होते

है। बीमारी के कारण बहुत से पशु नष्ट हो जाते हैं। अशिक्षा के कारण किसान उनकी नस्ल सुधारने की चेष्टा नहीं करता। सच तो यह है कि वह अपना जीवन तथा साथ-साथ अपने पशुओं का जीवन भाग्य के हाथों में छोड़ रहता है। भारत में पशुओं की संख्या कम नहीं है। परन्तु उनसे पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत का किसान न अपने खेत से और न अपने पशुओं से ही पूरा लाभ उठा सकता है। इन सबों के ऊपर यह कठिनाई है कि जो कुछ उसकी आय होती है उसका एक बड़ा भाग साहूकार या जमींदार हड़प लेता है। सरकारी लगान भी किसान के लिए बहुत भारी है।

सुधार के उपाय --किसानों की अवस्था में सुधार आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए निम्नलिखित सुधार करने चाहिए

(१) किसानों को इस बात के लिये उत्साहित करना चाहिए कि वे सहकारी खेती (co operative farming) के लिये तैयार हों। बड़े बड़े खेतों में मशीनों के द्वारा खेती हो सकती है। सरकार उनकी मदद ट्रैक्टर स्टेशन खोलकर, अच्छे बीज तथा खाद के वितरण का प्रबन्ध कर, तथा उनको खेती के बारे में शिक्षा देकर कर सकती है।

(२) किसानों को साहूकारी के चंगुल से मुक्त करने तथा उनकी उपज का उचित दामों में बिकवाने के लिये सहकारी समितियों की अधिक से अधिक संख्या में स्थापना की जाय। सहकारी समितियों के द्वारा ऋण ब्याज की सस्ती दरों में मिल जाता है। क्योंकि किसान स्वयं सहकारी समिति का सदस्य होता है इसलिए दोनों और में एक दूसरे के प्रति सौहार्द्र की भावना रहती है। ऋण देने का उद्देश्य ब्याज कमाना न होकर किसान की सहायता करना होता है। ये सहकारी समितियाँ किसान की पैदावार को भी उचित दामों में खरीदेंगी। जो कुछ लाभ इस प्रकार समिति को होगा उसका किसान भी हिस्सेदार होगा।

(३) सरकार की ओर से किसानों के पशु धन में सुधार के लिए भी भरसक प्रयत्न होना चाहिये। किसानों में इस विषय का ज्ञान फैलाना चाहिए तथा पशुओं के अस्पताल खोलने चाहिये। किसानों को यह भी बतलाना चाहिए कि पशुओं से जीवित अवस्था में तथा मरने के बाद भी क्या क्या लाभ उठाए जा सकते हैं।

(४) जमींदारी का पूर्ण रूप से उन्मूलन करना चाहिये। इससे किसानों को कई प्रकार के लाभ होंगे। भूमिहीन श्रमिकों को भी भूमि देने का प्रबन्ध करना चाहिये। विनोबा जी का भूमि-दान आन्दोलन इस दिशा में एक पग है।

(५) सरकार को गाँवों में गृह-उद्योगों की स्थापना की ओर ध्यान देना चाहिये। इससे किसान खाली समय में भी बेकार बैठा न रह कर कुछ काम करता रहेगा। गाँवों में अगर बिजली का प्रबन्ध हो जावे तो इन छोटे छोटे गृह-उद्योगों को चलाने में बड़ी सहूलियत होगी।

(६) गाँवों में शिक्षा की उन्नति तथा स्वास्थ्य की उन्नति के लिये भी पूर्णरूपेण प्रयत्नशील होना चाहिये। हमारी सरकार ने इस दिशा में काम आरम्भ किया है। स्त्रियों को भी उपयोगी शिक्षा देनी चाहिये।

(७) देश में औद्योगीकरण की वृद्धि होनी चाहिये। जितना अधिक उद्योगों का विकास होगा उतना ही भूमि पर भार कम होगा। इस समय जब ६८ प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या का भाग कृषि पर निर्भर है, औद्योगिक व्यवसायों में केवल १४ प्रतिशत भाग लगा है। कम से कम ऐसा होना चाहिये कि कृषि तथा उद्योगों पर निर्भर जन-संख्या में दुगने से अधिक का भेद न हो।

भू-दान आन्दोलन —जैसा कि इस पद से ज्ञात होता है भू-दान का अर्थ है कि स्वेच्छा से भूमि का दान किया जाय। यह आन्दोलन देश में आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया है। इसका जन्म १८ अप्रैल १९५१ को हुआ। इसके जन्म का प्रत्यक्ष कारण यह था कि भूतपूर्व हैदराबाद राज्य के तेलंगाना जिले में किसान आन्दोलन ने हिंसात्मक रूप धारण कर लिया था। किसानों ने जमींदारों की भूमि पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था। सरकार ने उस अवैध कार्य को बल प्रयोग द्वारा रोका। इससे जन-धन की हानि हुई। यह आन्दोलन भारतीय साम्यवादी दल द्वारा चलाया गया था। आचार्य भावे ने इस जिले का दौरा किया और वहीं पर उन्हें यह विचार आया कि भारत में भूमि की समस्या को गाँधी जी के अहिंसात्मक सिद्धान्त के अनुसार हल करना चाहिये।

इस आन्दोलन के उद्देश्यों के विषय में आचार्य विनोबा भावे ने कहा है, "समाज के न्यायोचित संगठन में भूमि पर सबों का अधिकार होना चाहिये। यही कारण है कि हम दान की भीख नहीं माँगते हैं, लेकिन भूमि में उस भाग को माँगते हैं जो कि न्यायोचित रूप से निर्धनों का भाग है।" इस आन्दोलन

का ध्येय जो समाज में भूमि का अन्यायपूर्ण वितरण है उसे शान्तिपूर्ण रूप मे बदलना है।

आचार्य विनोबा भावे ने अपने आन्दोलन को चलाने के लिये देश के कई भागों की पद यात्रा की है। प्रत्येक राज्य मे उन्हें कुछ न कुछ भूमि प्राप्त हुई है जिसे कि भूमिहीनों के मध्य वितरित कर दिया जाता है। दिसम्बर १९५७ तक उन्हें ४. ८७ लाख एकड़ भूमि प्राप्त हो चुकी थी। इसमें से ६.५४ लाख एकड़ भूमि वितरित कर दी गई थी। इस वितरण से दो लाख से अधिक कुटुम्बों को लाभ हुआ है।

यदि यह आन्दोलन अपने उद्देश्यों में सफल हो जाय तो एक महान प्रयोग सफल हो जायगा। भारत सरकार ने इस आन्दोलन को पूरी पूरी सहायता दी है। भूदान के साथ साथ अब ग्राम दान, सम्पत्ति-दान, जीवन दान, बुद्धि-दान तथा श्रमदान भी विनोबा जी द्वारा प्रारम्भ कर दिये गये हैं।

सन् १९५७ के अन्त तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में विनोबा जी को ३५४३ ग्रामों का दान मिल चुका है। इसका विवरण निम्नलिखित है

आसाम	७७		
आन्ध्र	२७०	मैसूर	१५
बिहार	९७	उड़ीसा	१९३३
बम्बई	३८०	राजस्थान	१४
केरल	४५१	उत्तर प्रदेश	६
मद्रास	२४८	पश्चिमी बंगाल	८
मध्य प्रदेश	६४		

यदि ग्रामदान आन्दोलन को व्यापक सफलता मिली तो इससे देश के पुनर्निर्माण तथा ग्रामोत्थान के कार्य में अत्यन्त सहायता प्राप्त होगी। ग्रामदान द्वारा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की जो कि समानता तथा सहकारिता पर आधारित हो, स्थापना होने की संभावना है।

(ब) उद्योग-धन्धे

भारत आज संसार के प्रमुख औद्योगिक देशों की कोटि में नहीं है, परन्तु प्राचीन काल तथा मध्य काल में भारतीय उद्योग धंधे बहुत उन्नति की अवस्था में थे और उस समय भारत इस दृष्टि से भी संसार के देशों में अग्रणी था। उस समय हमारे देश में गृह-उद्योग बहुत ही उन्नति कर चुके थे और यहाँ की

बनी वस्तुएँ बाहर के देशों में बिकती थी। उस समय यहाँ धातु की नाना प्रकार की वस्तुएँ, तथा विविध प्रकार के रेशमी और सूती कपड़े बनते थे। यहाँ की बनी वस्तुएँ योरोप में राजाओं तथा अमीरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। मध्यपूर्व के देशों से भी भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे।[1] यह दशा अठारहवीं शताब्दी तक रही। जब शुरू में यहाँ यूरोपीय व्यापारी आये उनका उद्देश्य यहाँ की बनी वस्तुएँ ले जाकर यूरोप में महँगे दामों में बेचना था न कि वहाँ की बनी वस्तुएँ हमारे देश बेचना।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप छोटे-छोटे कारखानों के स्थान में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित हुए। इनमें मशीन भाप से चलने लगी। इन मशीनों के द्वारा बहुत अधिक मात्रा में वस्तुएँ पैदा की जाने लगी। परन्तु भारत में इस प्रकार का कोई परिवर्तन वस्तुओं के उत्पादन में नहीं हुआ। इस कारण जब विदेशियों ने अपना माल भारत में भेजना शुरू किया तो वे अपनी चीजों को बहुत सस्ते दामों में बेच सकते थे। इस कारण भारत के उद्योग धंधों को बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारतीय उद्योग धंधों को नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। कम्पनी के कर्मचारियों के अत्याचार से हजारों कारीगर तबाह हो गये। विलायत में वहाँ की सरकार ने भारत की बनी चीजों पर बहुत ही अधिक कर लगाया। भारत के बने रेशमी तथा सूती कपड़ों पर सत्तर से लेकर अस्सी प्रतिशत तक कर लगाया और बाद को उनका आना ही बन्द कर दिया। इस समय भारत में भी रहन-सहन में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण परिवर्तन हो रहा था। विदेशी शासकों की देखादेखी यहाँ के पश्चिमी सभ्यता के प्रभावित वर्ग ने भी विदेशी माल को अपनाना आरम्भ कर दिया। देश में राजाओं तथा रियासतों के नाश हो जाने से भी उद्योग-धंधों को बहुत हानि उठानी पड़ी।

1. "The gossamer muslin of Dacca, beautiful shawls of Kashmere and the brocaded silks of Delhi adorned the proudest beauties at the courts of the Caesars. When the barbarians of Britain were painted savages, embossed and filigree metals, elaborate carvings in ivory, ebony and sandal wood; brilliant dyed chintzes uniquely set pearls and precious stones, [illegible] el, excellent [illegible] or ages, the [illegible] was known [illegible] e earth."—

इन बातों का परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय उद्योग धंधे पूर्णतः नष्ट हो गये और भारत केवल कृषि-प्रधान देश हो गया। भारत से कच्चा माल इंगलैंड जाने लगा और वहाँ से बनी वस्तुएँ (finished goods) भारत में आने लगीं।[1] और यातायात की सुविधाओं में उन्नति के कारण इंगलैंड से अधिकाधिक माल भारत में आने लगा। सन् १८५३ में इंगलैण्ड से भारत में ८०२४००० पौंड का माल भेजा गया। इसमें ५२२००००पौंड का कपड़ा था। अन्य प्रकार का विदेशी माल जैसे लोहे, ताँबे पीतल के बर्तन, चूड़ियाँ, चाकू, कैंची तथा शीशा आदि भी इतनी अधिक मात्रा में भारत में आने लगे कि यहाँ के ग्रामीण कारीगरों का रोजगार खत्म हो गया। इसका फल यह हुआ कि अधिकाधिक व्यक्ति भूमि पर निर्भर होते चले गये। संक्षेप में अंग्रेजों की औद्योगिक तथा व्यावसायिक नीति का फल यह हुआ कि हमारे देश में उद्योग धंधों का पुराना संगठन तो नष्ट हो गया परन्तु उसके स्थान में नया तथा उससे श्रेष्ठ संगठन नहीं बना।

भारत में उद्योग धन्धों का विकास—सन् १८५० के बाद भारत में मशीनों के उद्योग स्थापित होने शुरू हुए। सन १८५० १८५५ के बीच पहिली कपड़े की मिल स्थापित हुई। इसी समय पहली रेल की लाइनें भी बिछाई गईं। सन १८७५ में भारत में ५१ कपड़े की मिलें हो गई थीं। सन् १८९० में यहाँ जूट की मिलें खुल गई थीं। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धीरे-धीरे भारत में नये उद्योग धन्धों की नींव पड़ रही थी। परन्तु इसी समय भारत अधिकाधिक कच्चा माल इंगलैंड को भेज रहा था तथा बदले में वहाँ की बनी चीजें खरीद रहा था। २०वीं शताब्दी में भारत में लोहे तथा कागज के कारखाने खुले। पहले इनका उत्पादन बहुत कम था परन्तु यह धीरे धीरे बढ़ता गया। देश में राजनैतिक आंदोलन के बढ़ने के साथ-साथ स्वदेशी की भावना बढ़ी तथा इसके परिणामस्वरूप भारत का औद्योगिक विकास अधिक हुआ। सन १९१४ में भारत में २६४ कपड़े की मिलें तथा ६४ जूट की मिलें हो गई थीं। कोयले का उत्पादन भी बढ़ रहा था। यह करीबन एक

---

1 In the 19th century, India became a country growing raw product to be shipped by British agents in British ships to be worked into fabrics by British skill and capital and to be re-exported into India by British merchants to their corresponding British firms in India and elsewhere." Ranade—*Essays in Indian Economics*, p. 106

करोड़ अट्ठावन लाख टन हो गया था। सन् १९१८ में १२४,००० टन फौलाद भारत में पैदा होने लगा था। संक्षेप में हमारी औद्योगिक उन्नति हो रही थी।

गांधी जी ने देश में गृह-उद्योगों की पुर्नस्थापना की ओर ध्यान दिया। उन्होंने खद्दर का प्रचार किया। वे बड़े उद्योगों के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की। इस काल में गृह-उद्योगों ने उन्नति की यद्यपि वह कई कारणों से सन्तोषजनक नहीं हुई। द्वितीय महायुद्ध के काल में भारत में नये उद्योगों की स्थापना हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात हमारी सरकार ने इस ओर भी ध्यान दिया है। देश की उन्नति के लिए एक पंचवर्षीय योजना बनाई है। परन्तु अभी इस दिशा में अधिक सफलता नहीं मिली है। देश में इस समय एक आर्थिक-संकट छा गया है। आशा है धीरे-धीरे अवस्था में सुधार होगा।

नीचे उद्योग-धन्धों की समस्याओं का वर्णन किया जायगा। उद्योग-धंधों को दो कोटियों में विभाजित किया जायगा—गृह-उद्योग तथा बड़े पैमाने के उद्योग। दोनों का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

गृह उद्योग

भारत में बड़े-बड़े कारखाने केवल ०.६ प्रतिशत जनता को काम देते हैं जब कि गृह उद्योगों में ९६ प्रतिशत जनसंख्या लगी हुई है। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सौ वर्ष की औद्योगिक उन्नति के पश्चात भी गृह उद्योगों की ही प्रधानता है। इस समय यह अनुमान है कि लगभग २.१ करोड़ व्यक्ति गृह-उद्योगों में लगे हैं।

विस्तृत अर्थ में गृह-उद्योगों से तात्पर्य सब छोटे पैमाने वाले (small scale) उद्योगों से है। परन्तु संकुचित अर्थ में इसका तात्पर्य उन उद्योगों से है जिनको कारीगर अपने घर में या घर से सटी निर्माणशालाओं में एक दो सहायकों की सहायता से करता है।[1]

1. "The cottage industries are defined as industries where no power is used and the manufacture is carried on in the home of the artisan." Wadia Merchant, Our Economic Problem, p. 492, f.n.

जैसा पहले लिखा जा चुका है गृह-उद्योगों को उन्नत करने की सबसे बड़ी आवश्यकता इसलिए है क्योंकि ये किसानों के सहायक आमदनी के स्थान हैं। किसान साल में करीबन आधे समय खाली रहता है। यह समय व्यर्थ नष्ट होता है। अगर इस समय का किसी प्रकार ठीक उपयोग हो सके तो किसान को बड़ा लाभ हो। इसके लिए ऐसे गृह उद्योगों की उन्नति करना चाहिए जिनको कि किसान अपने ही गाँव में बैठा-बैठा अवकाश के समय कर सकता है। ऐसे उद्योग निम्नलिखित हैं : हाथ की कताई तथा बुनाई, गुड़ बनाना, टोकरी तथा चटाई बुनना, रस्सी बनाना, पशु पालन तथा फेरना आदि। बहुत से व्यक्ति गांवों से शहरों में जाना पसंद नहीं करते। क्योंकि शहरों में खर्च अधिक होता है तथा वहाँ रहने में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसे लोग अपने समय का उचित उपयोग विभिन्न प्रकार के गृह उद्योगों द्वारा कर सकते हैं। इससे उनको काम मिल जावेगा तथा जीवन की समस्या हल हो जावेगी। ऐसे गृह उद्योग स्वतन्त्र धंधे के रूप में किए जाने चाहिये, जैसे चमड़े का काम, धातु का काम, मिट्टी का काम, दरी या कम्बल बुनना आदि। इनके अतिरिक्त अन्य कई गृह उद्योग हैं जिनके लिए पुश्तैनी आवश्यकता है और जो गाँव तथा शहरों में विशेष वर्गों द्वारा किये जाते हैं। गृह-उद्योगों का एक लाभ यह भी है कि औरतें घर बैठे खाली समय में लाभदायक काम कर सकती हैं। जापान में दियासलाई बनाने का उद्योग इसी प्रकार से किया जाता है। यदि औरतें इस प्रकार का काम करने लगेंगी तो इससे घर की आमदनी बढ़ जावेगी तथा जीवन-स्तर ऊँचा हो जावेगा। आजकल जो बड़े-बड़े कारखाने हैं उनमें हजारों व्यक्ति काम करते हैं तथा वहाँ का वातावरण धूल, गर्मी तथा शोर के कारण अत्यन्त दूषित हो जाता है। परन्तु गृह-उद्योगों में इस प्रकार के दूषित वातावरण का सामना नहीं करना पड़ता है।

कुछ मुख्य गृह-उद्योग

सूत कताई तथा बुनाई—भारतवर्ष में यह उद्योग बहुत ही पुराना है। सूत कातना तो अब लाभदायक उद्योग नहीं रह गया है क्योंकि मिल का बना सूत हाथ के बने सूत से अधिक मजबूत तथा पतला होता है। चर्खा आन्दोलन से सूत कातने का उद्योग कुछ बढ़ा अवश्य परन्तु इसकी उन्नति मिल के मुकाबले में अत्यन्त कठिन है। परन्तु कपड़ा बुनने का उद्योग अभी तक प्रचलित है तथा इसमें और उन्नति हो सकती है। हाथ से कपड़ा बुनने के उद्योग तथा मिल में कोई प्रत्यक्ष प्रतियोगिता नहीं है। क्योंकि हाथ से अधिकतर विशेष प्रकार का कपड़ा बुना जाता है—अत्यन्त महीन या अत्यन्त मोटा। इस

अतिरिक्त हाथ से कपड़ा बुनने का उद्योग मिलों में सूत पर ही निर्भर है। यह कहा जाता है कि अब भी देश में जितने कपड़े की खपत है उसका चौथाई हाथ का बना कपड़ा होता है। भविष्य में जब देश में कपड़े की मिलें बहुत से खुल जावेंगी तब हाथ के बुने कपड़े की शायद माँग न रहे या बहुत घट जाव, जाव, परन्तु इस समय इसको पुनर्गठित करने से किसानों में अत्यन्त लाभ होगा। भारत की सरकार तथा प्रादेशिक सरकारें दोनों ही इस उद्योग को बढ़ाने का प्रयत्न कर रही हैं।[1]

गुड़ बनाने का उद्योग—देश में यद्यपि चीनी बहुतायत से पैदा होती है तथापि यह समस्त देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त इसके दाम भी काफी बढ़ गये हैं। इसलिये गुड़ बनाने के उद्योग को प्रोत्साहित करना चाहिये। इससे किसानों की आमदनी बढ़ेगी और लोगों को शक्कर के स्थान में कम दामों में गुड़ उपलब्ध हो जावेगा। इस उद्योग का भविष्य बहुत अच्छा है। परन्तु एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो बनाया जाय वह साफ हो। सरकार ने इस उद्योग में सुधार करने की ओर ध्यान दिया है।

टोकरी बुनना तथा चटाई बुनना—टोकरी बुनने का काम अधिकतर बनारस तथा इलाहाबाद के जिलों में होता है। चटाई बुनना मद्रास तथा आसाम में अधिक प्रचलित है। इस उद्योग के द्वारा भी किसान अपने खाली समय को व्यर्थ न कर अपनी आय बढ़ाने का उपाय कर सकता है इस उद्योग को देश के अन्य भागों को भी अपनाना चाहिए। औरतें घर बैठे-बैठे ये काम कर सकती हैं

पशु-पालन:—पशुओं से कई लाभ हैं—एक तो यह कि इनके गोबर की खाद बनती है जो कि खेतों के लिए आवश्यक है, दूसरे यह कि इनसे घी, दूध, मक्खन की प्राप्ति होती है जिनकी देश में बहुत माँग है, दूसरे और इससे किसान को अच्छा लाभ हो सकता है। तीसरे यह कि पशुओं के मरने के बाद उनका चमड़ा बेचा जा सकता है, आदि। हमारे देश में पशुओं की नस्ल में सुधार करने, उनके स्वास्थ्य की जाँच करने, आदि बातों की ओर कुछ तो किया गया है परन्तु यह अत्यन्त

1. प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री Cole ने लिखा है, "Gandhi's campaign for the development of the homemade cloth industry—khaddar—is no mere fad of a romantic eager to revive the past, but a practical attempt to relieve the poverty and uplift the standard of the Indian villager." A Guide to Modern Politics, p. 234.

में हुई है उसमें वे अनभिज्ञ हैं। इस कारण जो माल वे बनाते हैं वह नये प्रकार का न होकर वैसा ही होता है जैसा कि उनके पूर्वज बनाते थे। उसमें किसी प्रकार की नवीनता का अभाव होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि इन कारीगरों को ठीक ढग का कच्चा माल आसानी से उपलब्ध नहीं होता है। चूंकि कच्चा माल नहीं मिलता है इसलिए गृह-उद्योगों में निर्मित वस्तुएं स्वभावतः ही बहुत अच्छी नहीं होती। तीसरी कठिनाई यह है कि कारीगरों को रुपये की कठिनाई है। इस कारण माल नहीं खरीद सकते हैं और बुरे माल से ही काम चलाते हैं। जो कुछ रुपया वे उधार लेते हैं उसमें उन्हें बहुत अधिक ब्याज देना पड़ता है। जीवन भर वे अपने ऋण से मुक्त नहीं हो सकते हैं। चौथी कठिनाई है यह है कि गृह उद्योगों में निर्मित वस्तुओं के ठीक प्रकार से प्रचार की व्यवस्था नहीं है। इस कारण उनके लिए मांग नहीं बढ़ रही है।

अगर गृह-उद्योगों को उन्नत करना है तो इन कठिनाइयों को दूर करना चाहिये। इसलिये कारीगरों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। टैकनिकल शिक्षा की उनके लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। इसका लाभ यह होगा कि वे नए-नए डिजाइन की वस्तुएं बना सकेंगे। इन वस्तुओं की अच्छी बिक्री होगी। इस शिक्षा के साथ कारीगरों को पुराने औजारों के स्थान में नये औजारों का प्रयोग करने के लिए उत्साहित करना चाहिए। इसलिए सरकार को औद्योगिक शिक्षण संस्थाएं तथा निर्माणशालाओं की स्थापना करनी चाहिए। जहां नए औजारों का प्रयोग कारीगरों को सिखलाया जा सके। दूसरी बात यह है कि ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे कारीगरों को अच्छा कच्चा माल उचित दामों में मिलता रहे। इसके साथ-साथ उनको सहकारी समितियों की स्थापना करनी चाहिये। तीसरी इन वस्तुओं की बिक्री बढ़ाने के लिए इनका उचित प्रकार से प्रचार करना चाहिए। सरकार के उद्योग-विभाग को विज्ञापन, नोटिस, छोटी-छोटी पुस्तिकाओं द्वारा इन वस्तुओं का प्रचार करना चाहिए। देश में ही नहीं परन्तु विदेश में भी इस प्रकार की बिक्री हो सकती है। सरकार की तरफ से या सहकारी-समिति की ओर से स्थान-स्थान पर ऐसे भंडार (Emporiums) खोलने चाहिए जहाँ कि गृह-उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं का प्रदर्शन तथा बिक्री का प्रबन्ध हो। गृह-उद्योगों की उन्नति के लिए यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि सरकार विदेशों से बड़ी संख्या में छोटी मशीनें खरीदे तथा उन्हें प्रयोग करने के लिए लोगों को उत्साहित किया जाय। सरकार ने जापान से कुछ इस प्रकार की मशीनें मँगाई थीं। परन्तु वे बहुत थोड़ी थीं। इस प्रकार की मशीनों को चलाने के लिए सस्ती बिजली का भी प्रबन्ध

होना चाहिए। अगर गावों में बिजली पहुंच जावे तो इससे गृह उद्योगों को बहुत लाभ होगा। प्रथम पंचवर्षीय योजना में गृह उद्योगों की निम्नलिखित समस्याओं पर मुख्यतः विचार किया गया है —(१) संगठन (२) पूंजी (३) कच्चा माल (४) शोध (५) टेकनिकल सहायता (६) औजार तथा शक्ति की उपलब्धि (७) बिक्री तथा राज्य की इनके प्रति नीति।

कुछ अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि आधुनिक काल में गृह उद्योगों को अधिक महत्व देना उचित नहीं। क्योंकि बड़े उद्योगों के सामने गृह उद्योग अधिक दिन नहीं चल सकते हैं। इनमें व्यय में पैसे तथा श्रम की बर्बादी है। इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएँ मँहगी होती हैं। इसलिए गृह उद्योगों को बन्द कर देना चाहिए। परन्तु एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि बड़े उद्योग धंधों की वृद्धि तथा उत्पादन प्रथा में नए नए सुधारों के कारण दिन प्रति दिन कम मजदूरों की आवश्यकता होगी। उदाहरणार्थ जितना कोयला पहले ४५१२ व्यक्ति खोदते थे उतना अब १२६ आदमी खोद लेते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति बड़े उद्योग धन्धों में से बेकार होंगे वे गृह उद्योगों में लग जायेंगे।[1] बड़े उद्योग धन्धों की स्थापना का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि थोड़े से व्यक्ति तो समाज में पूंजी के स्वामी हो गए हैं जब कि समाज का एक बड़ा भाग आर्थिक दृष्टि से दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है। समाज में अमीर तथा गरीब में इतना अधिक भेद औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही हुआ है। किसी लेखक ने लिखा है कि The association of poverty with progress is the great enigma of our time इन कारणों से प्रतिस्पर्धित गृह उद्योग इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो कि बड़े पैमाने में नहीं बनाई जा सकती हैं जैसे कलात्मक वस्तुएं या ऐसी वस्तुएं जिनके लिए बहुत बड़ी मांग नहीं है जैसे काश्मीर के बढ़िया शाल या बढ़िया कालीन या ऐसी वस्तुएं जिनमें वैयक्तिक रुचि (Individual taste) के अनुसार भिन्नता होगी। हमारे देश की वर्तमान अवस्था में गृह उद्योगों की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। क्योंकि अभी तक हमारे यहाँ बड़े उद्योग धंधे इस पैमाने में नहीं चल रहे हैं कि वे बेकारी की समस्या को हल कर दें तथा भूमि पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या को काफी

---

1 'The existence of cottage industries and handicrafts side by side with factory industries may not only absorb the population displaced by machines, but save them from degradation which idleness supported by unemployment doles involve' Wadia and Merchant Our Economic Problem, p 505

कम कर दें। ऐसी अवस्था में गांवों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए गृह-उद्योग अत्यन्त आवश्यक हैं।

बड़े उद्योग-धन्धों की स्थापना से कई नैतिक तथा सामाजिक दुष्परिणाम हैं। हजारों लोगों को घनी बसी हुई बस्तियों में रहना पड़ता है। इससे स्वास्थ्य तथा चरित्र दोनों पर ही अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। गृह-उद्योगों की स्थापना से यह भय नहीं है। गृह-उद्योगों में प्रत्येक कारीगर चीजों का निर्माण करने में एक आनन्द का अनुभव करता है, परन्तु बड़े-बड़े कारखानों में वह भी मशीन का ही एक अंग हो जाता है।

कार्वे समिति—जून १९५५ में योजना आयोग द्वारा श्री कार्वे की अध्यक्षता में एक समिति इसलिये स्थापित की गई कि वह द्वितीय योजना में ग्राम तथा लघु उद्योगों के सम्बन्ध में नीति बनाए। इस समिति ने निम्नलिखित मुख्य सुझाव दिये :—

(१) राज्य सरकारें सहकारी समितियों को वित्त तथा अनुदान देकर ग्राम उद्योगों की सहायता दें।

(२) ग्राम उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का न्यूनतम मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर दी जाय।

(३) बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित उन वस्तुओं की, जिनकी प्रतियोगिता ग्राम-उद्योगों तथा गृह उद्योगों की उत्पादित वस्तुओं से होती है, अधिकतम उत्पादन मात्रा सरकार द्वारा सीमित कर दिया जाय।

(४) केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल में गृह उद्योगों के लिये एक पृथक मन्त्री हो।

(५) बड़े उद्योगों पर एक कर लगाया जाय और इस आय को गृह-उद्योगों की सहायता पर लगाया जाय।

(६) द्वितीय योजना काल में २६० करोड़ रुपये गृह-उद्योगों के विकास पर व्यय किये जांय।

द्वितीय योजना तथा गृह उद्योग—द्वितीय योजना काल में गृह उद्योगों पर २०० करोड़ रुपये व्यय होगा। इनमें से २५ करोड़ रुपया भारत सरकार तथा १७५ करोड़ रुपया राज्य सरकारें देंगी। इसका विवरण इस प्रकार है :—

उद्योग	अनुदान करोड़ रुपये में
हाथ करघा	५९.५०
खादी तथा ग्रामोद्योग	५५.५०
छोटे उद्योग	५५.००
दस्तकारियाँ	९.००
रेशम के कीड़ों का पालन	५.००
नारियल जटा उद्योग	१.००
प्रशासन शोध कार्य, आदि	१५.००
योग	२०० करोड़

इसके अतिरिक्त भारत सरकार द्वितीय योजनावधि में १८ करोड़ रुपया निर्वासितों के पुनर्व्यवस्थापन पर खर्च करेगी जिसमें से ११ करोड़ रुपया गृह तथा मध्यवर्ती उद्योगों पर तथा ७ करोड़ रुपया उनके औद्योगिक प्रशिक्षण में खर्च होगा।

बड़े उद्योग धन्धे

भारत को हम संसार के प्रमुख औद्योगिक देशों की कोटि में नहीं रख सकते हैं। औद्योगिक अवनति का कारण यह नहीं है कि भारत में प्राकृतिक साधनों (Natural resources) की कमी है। विद्वानों का कहना है कि रूस तथा अमेरिका के बाद भारत तथा चीन दो ही ऐसे देश हैं जो कि स्वावलम्बी हो सकते हैं। हमारे देश के प्राकृतिक साधनों को देखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शांति काल में तथा युद्ध काल में भी अगर हमारे साधनों का ठीक ढंग से उपयोग हो तो भारत को अन्य देशों का मुंह नहीं ताकना होगा। आर्थिक दृष्टि से भारत का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।[1]

भारत की वर्तमान अवस्था प्रकृति की कृपणता का फल नहीं परन्तु मनुष्य-कृत है। भारत के आर्थिक साधनों को देखने से यह स्पष्ट है कि यहाँ औद्योगिक विकास सम्भव है। हमारे देश का चौथाई भाग वनों से ढका हुआ है। वनों का

1 "India possesses large reserves of most of the important industrial minerals—coal, iron, several of the ferro-alloys which make good steel, and the subsidiary minerals—in ample quantity to make her a powerful and reasonably self-sufficient industrial nation" Prof. C. H Behre, Foreign Affairs. (Oct. 1942).

आर्थिक-दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। इनसे लकड़ी, जलाने के लिए ईंधन (fuel) और पशुओं के लिए चारा (fodder) प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कई तरह की घास से कागज बनाया जाता है। वनों से ही तार्पीन (Turpentine), लाख तथा वार्निश भी प्राप्त होती है। वनों से देश की आबहवा तथा वर्षा पर भी बड़ा प्रभाव होता है। देश में कपास होती है। विभाजन के कारण कपास के उत्पादन में काफी कमी हो गई है। परन्तु इसका उत्पादन बढ़ाया जा है। सरकार इसकी पैदावार को बढ़ावा दे रही है। विभाजन के पूर्व संसार का ९७ प्रतिशत जूट भारत में ही पैदा होता था। परन्तु अब मुख्य-मुख्य जूट के क्षेत्र पाकिस्तान में ही चले गये हैं। सरकार इस बात का पूर्ण प्रयत्न कर रही है कि भारत में इसकी पैदावार बहुत बढ़ जावे। देश में चाय तथा तम्बाकू की भी बहुत पैदावार होती है। पशुधन भी भारत का अत्यन्त विशाल है, परन्तु उनकी नस्ल में सुधार की आवश्यकता है। भेड़ों से ऊन की प्राप्ति होती है। इस दिशा में और अधिक उन्नति हो सकती है।

खनिज पदार्थों में भी भारत निर्धन नहीं है। सर टॉमस हॉलैंड भूतपूर्व डाइरेक्टर जिओलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, के मतानुसार भारत करीब सभी प्रकार के खनिज पदार्थों से भरा है। केवल इस दिशा में काम करने की आवश्यकता है। सबसे महत्वपूर्ण खनिज कोयला है। सन् १९४७ में करीबन ३ करोड़ टन कोयला निकाला गया था। यह मात्रा बहुत कम है। परन्तु यह नई-नई कोयला काटने की मशीनों को प्रयोग करने से बढ़ाई जा सकती है। यह अनुमान है कि भारत में सब मिलाकर ४०० करोड़ टन कोयला होगा। लोहे में भी हमारा देश बहुत धनी है। विद्वानों का अनुमान है कि भारत में उतना ही लोहा होगा जितना कि संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में। भारतीय लोहे में मिलावट बहुत कम है। इस दृष्टि से भारत अमेरिका से भी बढ़ा है। भारत में मैंगनीज तथा अभ्रक भी प्रचुर मात्रा में है। इन दोनों खनिज पदार्थों से हमारा देश अत्यन्त धनी है। इन पदार्थों के अतिरिक्त भारत में सोना, टिन, तांबा, तथा अन्य कई खनिज पदार्थ भी है।

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् मनुष्य या जानवरों के बदले कोयला तथा पानी से मशीनें चलाई जाती हैं। परन्तु अब भाप के बदले दिन पर दिन अधिकाधिक बिजली का प्रयोग मशीनें चलाने में किया जाता है। भारत में कोयले की कमी नहीं है। पानी भी बहुत है। इसलिए मशीनें चलाने के लिए संचालन-शक्ति की कोई कमी नहीं है। कोयले की तरह पेट्रोल (Petroleum) भी संचालन शक्ति के रूप में प्रयोग किया जाता है। भारत में घरों में रोशनी के

लिए भी उसकी आवश्यकता है क्योंकि अभी तक बिजली बहुत जगह नहीं पहुँची है। पेट्रोल में हमारा देश धनी नहीं है।

ऊपर के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि औद्योगिक विकास के लिए भारत में कच्चा माल है तथा शक्ति के साधन भी है। अब यह देखना चाहिए कि इतना सब होते हुए भी औद्योगिक विकास क्यों नहीं हुआ।

भारत की औद्योगिक अवनति के मूल कारण—इसका सबसे मुख्य कारण भारत पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद का अधिकार था। भारत करीबन १५० वर्षों तक इङ्गलैंड का दास रहा। इस दासता के काल में यहाँ बड़े उद्योग-धंधों का विकास तो क्या होता जो छोटे-छोटे उद्योग-धंधे थे उनको भी अंग्रेजों ने नष्ट कर डाला। अंग्रेजों का उद्देश्य भारत का अधिक से अधिक आर्थिक शोषण करने का था। इसलिए उनकी नीति सदा यही रही कि भारत कच्चा माल निर्यात करे तथा बनी हुई वस्तुओं को इङ्गलैंड से आयात करे। साम्राज्यवाद ने सब जगह यही नीति बरती क्योंकि साम्राज्यवाद का मुख्य पहलू आर्थिक शोषण ही है।

जब यहाँ कुछ उद्योग-धंधे आरम्भ हुए तो अंग्रेजों ने इस बात का प्रयत्न किया कि यहाँ मशीनों को बनाने वाले कारखाने न स्थापित हों। इसी कारण हमें आज भी विदेशों से सब मशीनें मँगानी पड़ती हैं। हमारे देश में आधारभूत उद्योगों की भी भारी कमी है। बिना इस प्रकार के उद्योगों को स्थापित किए किसी देश का औद्योगिक विकास सम्भव नहीं। जो उद्योग-धंधे भारत में हैं उनमें से कई विदेशी पूँजीपतियों के हाथ में है। चाय तथा जूट पर विदेशियों का पूर्ण अधिकार है। कई कपड़े की मिलें भी उन्हीं के हाथ में हैं।

क्योंकि देश में बहुत समय तक उद्योग-धंधे स्थापित नहीं हुए इस कारण हमारे देश में टैक्निकल आदमियों की बहुत बड़ी कमी है। देश में टैक्निकल इन्स्टीट्यूटस भी इने-गिने हैं। इसका फल यह है कि हमारे यहाँ कुशल-श्रम (Skilled labour) की कमी है। इस कारण भी औद्योगिक विकास में बाधा है। हमारे यहाँ के मजदूर अधिकतर अशिक्षित हैं, इस कारण उनकी कार्य-निपुणता (Efficiency) अन्य देशों के मजदूरों की अपेक्षा बहुत कम है।

देश में पूँजी का भी अभाव है। हमारे यहाँ साहस की भी कमी है। लोग अपना रुपया उद्योगों में लगाना नहीं चाहते। उनको यह डर लगा रहता है कि कहीं रुपया डूब न जाय। यद्यपि पहले की अपेक्षा अब पूंजी बढ़ गई है परन्तु अब भी पूँजीपतियों के रुख में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है।

भारत में संचालन-शक्ति की भी कमी रही है। परन्तु अब सरकार ने कई योजनाओं को आरम्भ किया है। इनके पूरे हो जाने पर इसकी कमी नहीं रहेगी।

औद्योगिक विकास के मार्ग में जिन बाधाओं का हमने वर्णन किया है वे सब ऐसी हैं जो कि हटाई जा सकती हैं। इसलिए अगर हमारे देश को संसार के अन्य बड़े देशों की तरह उन्नति करनी है तो अपने औद्योगिक विकास की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। आधुनिक समय में बिना औद्योगिक उन्नति के देश सम्पन्न तथा शक्तिशाली नहीं हो सकता है।

औद्योगीकरण से लाभ—भारत में औद्योगिक-क्रान्ति की सबसे बड़ी आवश्यकता इसलिए है कि केवल इसी प्रकार हमारी निर्धनता दूर हो सकती है। भूमि पर निर्भर व्यक्तियों की संख्या कम हो जावेगी। इससे किसानों की अवस्था में सुधार होगा। हजारों व्यक्तियों को रोजगार मिल जावेगा। इससे बेकारी की समस्या बहुत मात्रा तक हल हो जावेगी। रूस की अवस्था सन् १९१७ तक बहुत मात्रा तक हमारी ही तरह थी। परन्तु आज रूस संसार के शक्तिशाली तथा सम्पन्न राष्ट्रों में से एक है। सन् १८६७ के बाद जापान की उन्नति का सबसे मुख्य कारण उसका औद्योगिक विकास था। इसी प्रकार औद्योगिक विकास के फलस्वरूप हमारा देश भी उन्नति करेगा।

उद्योग-धन्धों से हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। दूसरे शब्दों में हमारा जीवन-स्तर ऊँचा होगा। इस समय संसार के उन्नत देशों की सामने हमारी प्रति व्यक्ति आय अत्यन्त ही कम है। सन् १९४७ में भारत सरकार के गवेषणा-विभाग के अनुसार यह २५० रुपया वार्षिक थी। हमारे देश की निर्धनता के कारण हजारों व्यक्ति अपने परिवार का ठीक प्रकार पालन नहीं कर सकते हैं, बाल-बच्चों को उचित शिक्षा नहीं दे सकते हैं, नाना जाति की बीमारियों के शिकार हो जाते हैं और समस्त आयु अधूरा ही जीवन व्यतीत करते हैं। औद्योगीकरण से निर्धनता दूर होगी। परन्तु एक बात का ध्यान रखना होगा कि बड़े बड़े उद्योगपति तथा पूँजीपति ही सब लाभ को न खा जायें। इसलिए कई विद्वानों का कहना है कि केवल औद्योगीकरण से ही कष्ट न होगा। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण हो जाय। इस प्रश्न की विवेचना बाद को की गई है।

आर्थिक उन्नति के साथ-साथ औद्योगिक-विकास के फलस्वरूप मानसिक उन्नति भी होगी। हमारे देशवासी धार्मिक तथा सामाजिक संकीर्णता से बहुत

अधिक सीमा तक मुक्त हो जायंगे। जाति-पाति के बन्धन शिथिल हो जावेंगे तथा एक नई चेतना का सचार होगा। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ हमारी मानसिक उन्नति भी होगी। संक्षेप में औद्योगीकरण से निम्नलिखित लाभ है—"रहन-सहन के स्तर की वृद्धि, बेकारी और अर्द्धबेकारी का निवारण, कृषि की अवस्था में सुधार आत्म-निर्भरता और आर्थिक-स्वतन्त्रता। राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति औसत आय की वृद्धि और आर्थिक सन्तुलन।"[1]

देश में प्रमुख बड़े उद्योग धन्धे—हमारे देश में निम्नलिखित प्रमुख उद्योग हैं

(१) कपड़ा—भारत में कृषि के पश्चात् बुनाई का उद्योग सबसे प्रमुख है। १८वीं शताब्दी तक यह बहुत ही उन्नत अवस्था में था परन्तु बाद को अँग्रेजो की नीति के कारण इसका ह्रास हो गया। हाथ की बुनाई का उद्योग बीसवीं शताब्दी में फिर बढ़ा और स्वदेशी आन्दोलन ने इसको बहुत प्रोत्साहन दिया। भारत में प्रथम बुनने की मिल सन् १८५८ में बम्बई में स्थापित हुई थी। १९वीं शताब्दी के अन्त तक इनकी संख्या काफी बढ़ गई थी। २०वीं शताब्दी में स्वदेशी आन्दोलन का भी इस उद्योग ने अच्छा लाभ उठाया। कपड़े की मिलों की संख्या बहुत बढ़ी। क्योंकि प्रथम महायुद्ध के समय विदेशों से कपड़ा आना बन्द हो गया था इसलिए देश में कपड़े के उद्योग को बड़ा लाभ हुआ और इसकी वृद्धि हुई। सन् १९३० में भारत सरकार ने इस उद्योग को रक्षा प्रदान की। इससे भी प्रोत्साहन मिला। द्वितीय महायुद्ध के काल में इस उद्योग ने और उन्नति की और उद्योगपतियों को लाभ हुआ। सन् १९५३ में भारत में ४५३ सूती मिलें थीं। इनमें १,१२,४१,००० तकुवे तथा २०१५०० करघे थे। इन मिलों ने ४८० करोड़ गज कपड़ा पैदा किया। इन मिलों में लगभग ६ लाख मजदूर काम करते हैं। देश के कपड़े के उद्योग के मुख्य केन्द्र बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर, नागपुर इन्दौर, मदौरी तथा कोयम्बटूर हैं।

प्रथम योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि इसके अन्त तक देश में ४७० करोड़ गज कपड़ा पैदा हो। योजना अन्त में देश में ५२० करोड़ गज वार्षिक उत्पादन हो गया था। अर्थात् प्रति व्यक्ति कपड़ा उत्पादन १५ गज हो गया था। द्वितीय योजना का लक्ष्य ७५० करोड़ गज कपड़ा प्रति वर्ष उत्पाद करना था। अर्थात् प्रति व्यक्ति १८ गज प्रति वर्ष। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष १९५ करोड़ पौंड सूत तथा रुई का ५९ लाख गांठ प्रतिवर्ष उत्पादन लक्ष्य रखा

1 भारतीय अर्थशास्त्र का परिचय, पृष्ठ ३५०।

गया है। हमारे विदेशी व्यापार में सूती वस्त्र का निर्यात महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सन् १९५५ में ८३.६ करोड़ गज कपड़े का निर्यात हुआ। द्वितीय योजना के अन्त में यह बढ़ कर १०० से ११० करोड़ गज तक हो जायगा।

(२) रेशम—देश में जो रेशम का कारबार है वह मुख्यतः गृह उद्योग तक ही सीमित है। सरकार इस उद्योग के विकास की चेष्टा कर रही है। देश में रेशम की करीबन डेढ़ दर्जन मिलें हैं। देश में लगभग ३० लाख पौंड रेशम प्रति वर्ष पैदा होती है।

(३) ऊन—भारत में ऊन की भी कई मिलें हैं। ये मुख्यतः पूर्वी पंजाब मद्रास, बिहार, हैदराबाद तथा उत्तर प्रदेश में हैं। इस उद्योग में उन्नति के लिए सरकार ने एक Wool Development Committee की स्थापना की है।

(४) जूट—भारत में इस समय ८५ जूट की मिलें हैं। देश के विभाजन के कारण इस उद्योग को धक्का पहुँचा है। पाकिस्तान में मुख्यतः वे भाग चले गए हैं जिनमें कच्ची जूट पैदा होती थी। परन्तु भारत सरकार कच्चे जूट के उत्पादन को उत्साहित कर रही है। पश्चिमी बंगाल, आसाम, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा तथा दक्षिणी भारत में जूट की पैदावार बढ़ाई जा रही है। प्रथम योजना काल में जूट उद्योग तथा जूट की खेती ने उन्नति की परन्तु यह संतोषजनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम योजना के लक्ष्यों की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो सकी १९५४ में जूट जाँच आयोग ने यह सिफारिश की इस उद्योग के लिए एक विकास परिषद् स्थापित होना चाहिए। द्वितीय योजना के जूट उद्योग के विषय में लक्ष्य यह है कि १९६०-६१ में ११०० हजार टन उत्पादन हो, ९०० हजार टन निर्यात कर दिया जाय। देश में पटसन का ५० लाख गाँठ उत्पादन हो।

(५) चीनी का उद्योग—देश के प्रमुख उद्योगों में से एक है। पहले यह एक गृह उद्योग था। परन्तु विदेशी चीनी के आयात के कारण इसको बड़ा धक्का पहुँचा। बाद को देश में चीनी की मिलें स्थापित की गयी। इस उद्योग का आरम्भ पिछले तीस वर्षों में हुआ है और इसने बड़ी उन्नति की है। सन् १९२५-२६ में भारत में केवल २३ मिलें थीं। परन्तु जावा से भारत में सस्ते दामों में चीनी आती थी। अतएव भारत में चीनी का उद्योग तभी सम्भव था जब कि विदेशी चीनी पर महसूल लगाया जाय। सन् १९३२ में Sugar Industry Protection Act पास किया गया। इसके बाद देश में इस उद्योग ने बड़ी तेजी से उन्नति की। द्वितीय महायुद्ध के काल में इसका उत्पादन बढ़ने के बजाय कुछ घट ही गया। परन्तु युद्ध के बाद फिर उत्पादन बढ़ा है।

१९५२-५३ में १२,५०,००० टन चीनी पैदा हुई। भारत में इस समय चीनी की १३७ मिलें हैं और इनमें ३६,०००,००० रुपये की पूंजी लगी हैं। भारत में संसार के उत्पादन की २६% चीनी पैदा होती है। प्रथम योजना काल में चीनी का उत्पादन १४.८९ लाख टन से बढ़ कर १६.५ लाख टन हो गया। द्वितीय योजना में १९६०-६१ में उत्पादन का लक्ष्य २२५ लाख टन रखा गया है। गन्ने के उत्पादन का लक्ष्य २२५ लाख टन रखा गया है। भारत में चीनी की खपत बहुत शीघ्रता से बढ़ेगी तथा इसका निर्यात भी बढ़ेगा यदि चीनी के दामों में कमी की जा सके।

(६) कागज का उद्योग—भारत में आधुनिक ढंग से कागज बनाने का पहला कारखाना सन १८६७ में खुला था। भारत में १९२५ से इस उद्योग को संरक्षण प्राप्त हुआ और यह १९४७ तक रहा। इस काल में इस उद्योग ने अच्छी उन्नति की। १९२१ में देश में कागज की १७ मिलें थी और इनका उत्पादन प्रतिवर्ष १०८,००० टन था। परन्तु इनसे से हमारा काम नहीं चल सकता है। सन १९५५-५६ में भारत में २ लाख टन कागज बना। अखबारी कागज ४२०० टन पैदा हुआ। इस समय देश में २१ कागज की मिलें हैं। द्वितीय योजना का यह लक्ष्य है कि १९६०-६१ में ३५० हजार टन कागज और दफ्ती तथा ३० हजार टन अखबारी कागज का उत्पादन हो।

(७) दियासलाई का उद्योग—भारत में दियासलाई के सबसे बड़े दो कारखाने (Wimco तथा Amco) विदेशी पूंजीपतियों के हाथ में हैं दियासलाई के कुल कारखानों की संख्या लगभग २०० हैं। परन्तु इनमें से अनेक इतनी छोटी हैं कि इन्हें कुटीर उद्योग की श्रेणी में रखा जा सकता है। भारत में सन् १९५३-५४ में दियासलाई का उत्पादन २९३ लाख ग्राम था। इस उद्योग में लगभग २०,००० व्यक्ति काम में लगे हैं।

(८) काँच—भारत में काँच के कारखाने पश्चिमी बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बिहार में हैं। इनमें अधिकतर बोतल, शीशियाँ, चिमनियाँ, दरवाजों और खिड़कियों के शीशे ही बनते हैं। सजेरी की वस्तुओं, वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं या सेना की आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन नगण्य हैं। प्रथम योजना में काँच उद्योग पर भी ध्यान दिया गया था। द्वितीय योजना में भी इसके विकास का प्रयत्न है।

(९) सिमेंट—भारत में इस उद्योग में लगभग २९ करोड़ रुपये की पूंजी लगी है और इसमें लगभग ३३००० व्यक्ति काम करते हैं। प्रथम योजना की

समाप्ति पर देश में सिमेंट के २७ कारखाने हो गये थे और १९५५-५६ में इसका उत्पादन ४२८ लाख टन था। द्वितीय योजना में यह लक्ष्य रखा गया है कि सिमेंट का उत्पादन १९६०-६१ में १३० लाख टन वार्षिक हो जाय।

(१०) रसायन उद्योग :—आधुनिक उत्पादन में रसायनों की आवश्यकता पग पग पर होती है। परन्तु हमारे देश में रसायन उद्योग अभी बहुत पिछड़ी अवस्था में है। इसलिये हम रसायनों के लिये विदेशों पर निर्भर हैं।

प्रमुख रसायन-उद्योग निम्नलिखित हैं :—

(अ) गंधक-अम्ल—देश में इस समय इस उद्योग में ४६ मिलें हैं। इसमें लगभग २ करोड़ रुपए की पूंजी लगी है। वार्षिक उत्पादन शक्ति १५०००० टन है। प्रथम योजना में इस उद्योग के विस्तार पर ध्यान दिया गया था। द्वितीय योजना का लक्ष्य ४७० हजार टन वार्षिक है।

(ब) कॉस्टिक सोडा :—गंधक अम्ल की ही भांति कॉस्टिक सोडा भी अनेक उद्योगों के लिए आवश्यक है। इसका उत्पादन हमारी आवश्यकताओं को देखते हुये बहुत कम है। इसलिए विदेशों से इसे आयात करना होता है। पंचवर्षीय योजनाओं में इसके विकास पर भी ध्यान दिया गया है।

(स) सोडा ऐश :—सोडा ऐश या सज्जी की आवश्यकता काँच उद्योग तथा वस्त्र उद्योग में होती है। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग ८६००० टन सज्जी का उत्पादन होता है। परन्तु हमारे देश में इससे कहीं अधिक इसकी आवश्यकता है।

उपर्युक्त रसायनों के अतिरिक्त एल्यूमिनियम सल्फेट, कॉपर सल्फेट, फिटकरी, ज़िंक क्लोराइड, आदि भी देश में थोड़ा-बहुत पैदा होता है। परन्तु इस बात की तीव्र आवश्यकता है कि इनका उत्पादन शीघ्रता से बढ़ाया जाय और हम विदेशी आयात पर निर्भर न रहें।

(११) भारी उद्योग :—भारत में लोहे तथा फौलाद का व्यवसाय अत्यन्त प्राचीन काल से था। आधुनिक काल में पहला लोहे का कारखाना सन् १८४७ में स्थापित हुआ। सन् १९०७ में टाटा आयरन ऐन्ड स्टील कम्पनी की स्थापना हुई। दिन पर दिन यह कारखाना उन्नति करता गया। आज यह एशिया का सबसे बड़ा कारखाना है। इसके अतिरिक्त देश में ७ अन्य बड़े कारखाने हैं। प्रथम महायुद्ध तथा द्वितीय महायुद्ध के काल में इस उद्योग ने बड़ी उन्नति की। पंचवर्षीय योजनाओं में इस उद्योग के विकास का पूरा ध्यान दिया जा रहा है। भारत सरकार ने एक स्टील बोर्ड की स्थापना की है। इस बोर्ड के

अधीन तीन बड़े बड़े कारखाने हैं—दुर्गापुर, रूरकेला तथा भिलाई। इन कारखानों व प्रतिरिक्त मैसूर के कारखाने का उत्पादन भी बढ़ाया जायगा। द्वितीय योजना में उपर्युक्त तीन कारखानों पर ३५० करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। यह आशा है कि द्वितीय योजना के अन्त तक देश में कुल उत्पादन (सरकार तथा निजी मिलाकर) ६३ लाख टन इस्पात प्रतिवर्ष हो जायगा।

(१२) अन्य उद्योग —उपर्युक्त संगठित उद्योगों के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योग भी भारत में स्थापित हुए हैं। एल्मूनियम के भारत में दो कारखाने हैं। इसका उत्पादन लगभग ४००० टन है। मोटर उद्योग की भी स्थापना हो चुकी है। अधिकतर कारखाने विदेशों से मगाये पुर्जों को जोड़ते हैं। परन्तु दो कारखाने 'हिन्दुस्तान मोटर्स' तथा 'प्रीमियर आटोमो-बाइल्स' मोटरों का निर्माण भी करती हैं। रेलों के डिब्बों तथा इन्जनों का निर्माण चितरंजन फैक्टरी और टाटा आयरन एन्ड स्टील कम्पनी द्वारा किया जा रहा है। जहाज बनाने के लिये विजगापट्टम में एक कारखाना है। हवाई जहाजों का निर्माण भी होने लगा है। मशीनों के कल पुर्जे बनाने के भी भारत में कुछ कारखाने खुल गये हैं। इसी प्रकार बिजली की वस्तुओं का भी देश में थोड़ा बहुत निर्माण होने लगा है। भारत में दवाइयाँ बनाने के भी कुछ कारखाने खुल गये हैं। देश में वनस्पति घी के भी कई कारखाने हैं। घी बहुत महगा होने के कारण इस उद्योग ने खूब उन्नति की है। इनके अतिरिक्त देश में कई अन्य उद्योग हैं, जैसे, चमड़ा, साबुन, मोजा-बनियाइन, शराब, चाय, कहवा, तम्बाकू, नमक, फिल्म कम्पनियाँ, साइकिल आदि। इन उद्योगों में भी हजारों आदमी काम करते हैं और करोड़ों की पूंजी लगी है।

औद्योगिक विकास की योजना —सन १९३८ में कांग्रेस ने एक नेशनल प्लानिंग कमेटी की स्थापना की थी। इसका उद्देश्य भारत के औद्योगिक विकास के लिये योजना बनाना था। इसने इस दिशा में उपयोगी काम किया। इस कमेटी के प्रधान श्री जवाहर लाल नेहरू थे। द्वितीय महायुद्ध के काल में इस कमेटी का काम रुक गया। परन्तु भारत सरकार ने एक प्लानिंग विभाग खोला (सन १९४४, जुलाई)। भारत के विभिन्न प्रान्तों ने युद्धोत्तर आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाएँ बनाई। इसी काल में भारत के आठ उद्योगपतियों तथा अर्थशास्त्रियों ने देश के सम्मुख एक योजना रखी जो कि बम्बई योजना कहलाती है। श्री एम० एन० रॉय ने अपने दल की ओर से एक योजना प्रस्तुत की जो People's Plan कहलाती है। श्री एस० एन० अग्रवाल ने जो कि वर्धा कॉमर्स कालिज के प्रिंसपल थे गाँधी जी के सिद्धान्तों

पर आधारित एक योजना रखी जिसको Gandhian Plan कहा गया है। इस समय देश में योजनाओं की एक बाढ़ सी आ गई है।

सन् १९४७ में भारत एक स्वतन्त्र राज्य हो गया। परन्तु इसी काल में देश की आर्थिक अवस्था सुधरने के बजाय बिगड़ने लगी। उत्पादन कम हो गया। इसका कारण उद्योगपतियों के अनुसार मजदूरों का कम काम करना था अर्थात मजदूरों की हड़तालें। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे। देश के विभाजन के कारण साम्प्रदायिक दंगे हुए। ऐसे अशान्ति के समय उत्पादन में कमी स्वाभाविक ही थी। इसके अतिरिक्त जूट तथा कपास के उद्योगों के लिये कच्चे माल की कमी हो गई। उत्पादन में कमी का एक कारण यह भी था कि उद्योगपति एक प्रकार का दबाव सरकार के ऊपर डाल रहे थे कि वह राष्ट्रीयकरण का इरादा छोड़ दे। सरकार से कुछ वर्षों के लिये प्रयत्नशील है कि भारत का औद्योगिक विकास हो। वह कच्चे माल के उत्पादन को बढ़ावा दे रही है। इसलिये सरकार ने विदेशी पूँजी को भी भारत में आमन्त्रित किया है। ६ अप्रैल, १९४८ को सरकार ने एक प्रस्ताव द्वारा अपनी औद्योगिक नीति का स्पष्टीकरण किया। यह कहा गया कि देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए एक राष्ट्रीय प्लानिंग कमीशन की नियुक्ति होगी।

इस आयोग की नियुक्ति सरकार द्वारा मार्च १९५० में की गई। इस आयोग ने जुलाई १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना देश के सम्मुख रखी। इस योजना का उद्देश्य देश के प्राकृतिक साधनों का इस प्रकार संगठन तथा प्रयोग करना था जिससे जनता का हित हो। इसका प्रथम उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में युद्धोत्तर काल में जो कठिनाइयाँ पैदा हो गई हैं, उनको हटाना तथा चोर बाजारी और मुनाफाखोरी को दूर करना है।[1] योजना को सीमित सफलता प्राप्त हुई। प्रथम योजना की समाप्ति पर द्वितीय योजना प्रारम्भ हो गई है। जिसका उद्देश्य देश की आर्थिक उन्नति को और आगे बढ़ाना है। यह योजना १९६१ में पूरी होगी। उसके पश्चात तृतीय योजना का प्रारम्भ होगा। इस प्रकार यह आशा है कि सुनियोजित आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप देश में कुछ

1. "High and rising prices, shortages of raw-materials, essential consumer goods and of housing and the relief and rehabilitation of displaced persons constitute the immediate problems for which the First Five Year Plan must provide an answer." The First Five Year Plan (issued) by the Planning Commission, p. 23.

वर्षों पश्चात् वर्तमान आर्थिक कठिनाइयाँ नहीं रहेंगी। परन्तु इन योजनाओं के मार्ग में अनेक बाधायें हैं और इनके कारण योजनाओं से सीमित लाभ ही हो सकता है। जैसे, देश में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ रही है तथा साधारण देशवासी अपना उत्तरदायित्व नहीं समझता है। अभी हम लोगों में सामूहिक कल्याण की भावना अत्यन्त ही अशक्त है। हम केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को ही देखते हैं। इसी का फल है कि व्यापारी वर्ग तथा उद्योगपति अपने लाभ (profit) के सामने देश तथा समाज को नगण्य समझते हैं। सरकारी कर्मचारियों में भी उतनी मात्रा में ईमानदारी नहीं है जितनी होनी चाहिये।

राष्ट्रीयकरण तथा औद्योगिक नीति—जैसा ऊपर कहा गया था केवल उद्योग धंधों को बढ़ाने से ही साधारण जनता को पूरा-पूरा लाभ नहीं होगा। क्योंकि इस प्रकार जो धन की उत्पत्ति होगी उसका अधिकांश भाग पूँजीपतियों की जेब में चला जायगा। इसलिये कई विद्वानों के अनुसार उद्योग धंधों का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिये। राष्ट्रीयकरण से यह तात्पर्य है कि उद्योग-धंधे किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति न हो कर समस्त समाज की सम्पत्ति हो अर्थात् उनका नियन्त्रण सरकार द्वारा किया जाय। उदाहरणार्थ, भारत में रेलें सरकार के नियन्त्रण में हैं तथा राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। सन् १९४७ से एक बात यह भी दृष्टिगोचर हुई है कि भारतीय उद्योगपतियों की नीति लोकहितकारिणी नहीं है। उनका उद्देश्य जनता का शोषण है। चीजों के दाम दिन प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं। उद्योगपतियों का कहना है कि इसका कारण यह है कि मजदूरों का वेतन बढ़ गया है तथा कच्चे माल का दाम बढ़ गये हैं। परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिये कि उनका मुनाफा भी कई गुना बढ़ गया है। कई उद्योगपतियों ने उत्पादन कम कर दिया है और इस प्रकार मुनाफा कई गुना बढ़ा लिया है। कपड़े, चीनी, मक्खन में प्रत्येक वस्तु के दाम बढ़ गये हैं। इसलिये भी कई विद्वानों के अनुसार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिये। राष्ट्रीयकरण में राष्ट्र का हित भली प्रकार पूरा होगा। परन्तु कुछ लोग राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि सरकार इन उद्योगों को उतनी अच्छी प्रकार नहीं चला सकती है जितनी अच्छी प्रकार कि उद्योगपति चलाते हैं। क्योंकि सरकारी अफसरों को इस बात का कतई भी अनुभव नहीं है। अगर राष्ट्रीयकरण किया जावेगा तो इससे उत्पादन घट जावेगा। राष्ट्रीकरण से बहुत बर्बादी होगी। उद्योगपति तो अधिक लाभ के लिये उद्योगों को अच्छी प्रकार चलावेंगे परन्तु सरकारी अफसरों को इस प्रकार का कोई उत्साह नहीं होगा।

1. पंचवर्षीय योजना तथा सामूहिक योजनाओं का वर्णन आगे किया गया है।

कांग्रेस सरकार का इस समय पूर्ण राष्ट्रीयकरण करने का उद्देश्य नहीं है। स्वर्गीय सरदार पटेल ने एक समय कहा था कि सरकार के पास न पैसा है और न इतनी योग्यता है कि वह राष्ट्रीयकरण की नीति का अनुसरण करे। पूर्ण राष्ट्रीयकरण के लिए कहा जाता है कि अभी उचित समय नहीं आया है।

परन्तु भारत की सरकार ने कई उद्योग स्थापित किये हैं जिनकी वह स्वामिनी है। उनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) सिन्द्री फरटिलाइजर फैक्टरी, इनकी स्थापना सितम्बर १९५१ में हुई।

(२) हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्टरी
(३) चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स
(४) नेशनल इन्स्ट्रूमेन्ट फैक्टरी
(५) रेलवे कोच फैक्टरी
(६) पैनिसिलीन फैक्टरी
(७) हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी
(८) टेलीफोन फैक्टरी
(९) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स फैक्टरी
(१०) डी० डी० टी० फैक्टरी
(११) यूरेनियम थोरियम फैक्टरी
(१२) लोहा तथा इस्पात के रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर में कारखाने आदि।

१ जुलाई, १९५५ से भारत सरकार ने इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। अब इनका नाम स्टेट बैंक आफ इंडिया हो गया है। यह एक महत्वपूर्ण पग इस दिशा में उठाया गया है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा जीवन बीमा का भी राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और जीवन बीमा निगम की स्थापना की गई है।

भारत सरकार ने सर्वप्रथम ६, अप्रैल १९४८ को अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की थी। इसी नीति पर प्रथम पंचवर्षीय योजना आधारित थी। इसके पश्चात् भारतीय सरकार ने यह घोषणा की कि उनका उद्देश्य एक समाजवादी समाज का सगठन है। इसके फलस्वरूप यह स्पष्ट था कि आर्थिक क्षेत्र में सरकारी उत्तरदायित्व बढ़ जायेगा। अतएव भारत सरकार ने ३० अप्रैल १९५६ को अपनी औद्योगिक नीति की नये रूप से घोषणा की। इसकी मुख्य विशेषतायें निम्नांकित हैं :—

(अ) सरकार का संतोषजनक आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक हो जाता है कि वह अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में औद्योगीकरण का उत्तरदायित्व ले। अतएव भारी तथा रक्षा सम्बन्धी उद्योगों में तथा उन उद्योगों में जिनकी स्थापना में बहुत बड़ी मात्रा में प्रारम्भिक पूंजी का विनियोग करना पड़े, सरकारी क्षेत्र में ही रखना पड़ेगा।

(ब) क्योंकि सरकार यह चाहती है कि आर्थिक प्रगति और विकास तीव्र गति से हो इसलिये सरकार निजी क्षेत्र को भी अपना योगदान करने के लिये पूर्णत: उत्साहित करना चाहती है। इसलिये उद्योगों को तीन वर्गों में रखा गया है; (१) वे उद्योग जो पूर्णत: सरकारी क्षेत्र में हैं; वे उद्योग जिनका कार्य-भार धीरे-धीरे सरकार पर पड़ेगा परन्तु जिनके विकास में निजी क्षेत्र भी भाग ले सकते हैं; (२) व सब उद्योग जो पूर्णत: निजी क्षेत्र में रहेंगे।

(स) कुटीर और ग्रामीण उद्योगों की उन्नति भी देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक है। बड़े उद्योगों तथा कुटीर और ग्रामीण उद्योगों के मध्य एक सामंजस्य स्थापित करना है। इन लघु उद्योगों से बेकारी की समस्या के समाधान में सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त कृषकों तथा ग्रामीण श्रमिकों की आय बढ़ाने तथा आर्थिक ढांचे की नींव दृढ़ करने में भी ये बहुत मात्रा तक सहायक होंगे।

इस नीति की घोषणा ने यह स्पष्ट कर दिया कि शनैः शनैः आर्थिक क्षेत्र में सरकार का उत्तरदायित्व बढ़ता जायगा। भारत के उद्योगपतियों को यह नीति नहीं सुहाई और व इसके, यदि खुलकर नहीं तो छिपे छिपे, विरुद्ध ही हैं।

इस औद्योगिक नीति के आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निम्नलिखित प्राथमिकताएं रखी गई हैं

(१) लोहा तथा इस्पात का उत्पादन, मशीनों तथा यन्त्रों का निर्माण और भारी रसायनों के उत्पादन में विकास करना ;

(२) अलमुनियम, सीमेंट, रासायनिक खाद आदि के उत्पादन में विस्तार करना,

(३) जूट, कपास, चीनी आदि के उद्योगों में नई मशीनों का लगाना;

(४) प्रत्येक उद्योग का उत्पादन इतना बढ़ाना कि वह पूर्ण उत्पादन क्षमता तक पहुंच जाय; तथा

(५) उपभोग की वस्तुओं का भी उत्पादन बढ़ाना।

इन प्राथमिकताओं की सूची को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार का ध्यान इस समय विशेष रूप से भारत को औद्योगिक क्षेत्र में आगे बढ़ाना है।

भारतीय श्रमिक तथा उनकी समस्यायें —भारतीय बड़े कारखानों के स्थापित होने का महत्वपूर्ण फल यह हुआ कि भारत में एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ। यह वर्ग मिल-मजदूर कहलाता है। भारतीय-मजदूर वर्ग गांवों में पैदा होता है। परन्तु वहाँ रोजी के साधन पर्याप्त न होने के कारण नगरों में नौकरी की खोज में आ जाता है। परन्तु गाँव से उसका सम्बन्ध बना रहता है। गाँवों में भूमि पर बहुत अधिक भार होने के कारण लोग शहरों में आ जाते हैं।[1] शहरों में मजदूरों की दशा शोचनीय तथा दयनीय है। उनका वेतन कम है। आमोद-प्रमोद के साधन दुष्प्राप्य हैं। जिन मकानों में वे रहते हैं वे किसी में अच्छे नहीं। खाने-पीने की कमी है। उनके बच्चों के लिये शिक्षा का प्रबंध नहीं। उनके स्वास्थ्य के लिये भी उचित प्रबन्ध नहीं है। इसका भी उनके चरित्र तथा स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होता है। इन सब बातों के कारण वह कार्यक्षमता में अन्य औद्योगिक देशों के मजदूरों की अपेक्षा बहुत पीछे हैं। परन्तु इसमें उनका दोष न होकर उनकी अवस्था का दोष है। साधारणतः मजदूर अशिक्षित होता है इसलिये वह मशीन की बातों को देर में समझता है।

भारत में मजदूरों की दशा में सुधार करने के लिये मजदूर आन्दोलन का जन्म हुआ। मजदूर आन्दोलन का जन्म भारत में १९वीं शताब्दी में हुआ। परन्तु प्रथम महायुद्ध के पहले यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो पाया था। युद्ध के बाद यह आन्दोलन अधिक संगठित हुआ। और सन् १९१८-१९२० के बीच में मजदूरों की कई हड़तालें हुईं। इस समय ही देश में कई मजदूर संघ की स्थापना हुई। सन् १९२१ में अखिल भारतीय मजदूर संघ (A. I. T. U. C.) की स्थापना हुई। परन्तु सन् १९२९ में जब मजदूर संघ पर साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ा तो श्री एन० एम० जोशी ने इंडियन ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशन की स्थापना की। इसका दृष्टिकोण साम्यवादी नहीं था। सन् १९३१ में एक नया संघ बन गया। इसका नाम आल इण्डिया रेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस रखा गया। सन् १९३१

1. The industrial worker is not prompted by the lure of city life or by any great ambition. The city as such has no attraction for him and, when he leaves the village, he has seldom an ambition beyond that of securing the necessities of life. Few industrial workers would remain in industry if they could secure sufficient food and clothing in the village; they are pushed, not pulled to the city." Whitely Commission's Report, p. 4.

म एकता का प्रयत्न हुआ और सन् १९३३ में नेशनल फेडरेशन की स्थापना हुई। यह उसी वर्ष इण्डियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन में मिल गयी। अखिल भारतीय मजदूर संघ तथा इण्डियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन में एकता की वार्ता हुई। परन्तु श्री एम० एन० राय ने इण्डियन फेडरेशन ऑफ लेबर नामक अलग संघ की स्थापना की। इसने युद्ध काल में सरकार के युद्ध-कार्य को पूरी सहायता दी।

युद्ध के पश्चात् मजदूर संघ में साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता गया। मजदूरों की दशा में कोई सुधार न होने के कारण उनमें असन्तोष बढ़ा और हड़ताल हुई। कांग्रेस मजदूर आन्दोलन के इस रूप से असन्तुष्ट थी। क्योंकि साम्यवादी मजदूर आन्दोलन वर्ग युद्ध में विश्वास रखता है। लेकिन कांग्रेस वर्ग सहयोग में विश्वास करती है। इसलिये मजदूरों को साम्यवादी प्रभाव से दूर रखने के लिये कांग्रेस ने इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना मई सन १९४७ में की। इसके विरोधी कहते हैं कि यह सरकारी संस्था है। परन्तु इसके समर्थकों का कहना है कि यह गांधी जी के सिद्धान्तों के अनुसार मजदूरों की अवस्था में सुधार करना चाहती है। अखिल भारतीय मजदूर संघ की एकता नष्ट हो गई है। समाजवादियों ने हिन्द मजदूर के नाम से अपना अलग संघ बना लिया है। एक लेखक के अनुसार कामगरियों में एकता का अभाव मजदूर आन्दोलन का बड़ा दुर्भाग्य है।

मजदूर संघों की मांगें संक्षेप में एक सरल सी हैं। वे चाहते हैं कि हफ्ते में ४८ घण्टे से अधिक काम न हो। न्यूनतम वेतन (Minimum wage) निश्चित कर दिया जाय। मजदूरों के बच्चों के लिये शिक्षा का उचित प्रबन्ध हो। मजदूरों के रहने के लिये मालिकों की ओर से घरों की व्यवस्था की जाय। उन्हें साल में कुछ काल के लिये छुट्टी दी जाय। औरत मजदूरों को बच्चा होते समय दो माह की सवेतन छुट्टी दी जाय। चोट लग जाने पर मजदूरों को हर्जाना दिया जाय। उनके बीमे का प्रबन्ध हो। औरतों को जमीन के नीचे काम करने को न भेजा जावे। १६ वर्ष से कम उम्र के बच्चों को काम में न लगाया जाय। संक्षेप में मजदूर संघ का उद्देश्य ऐसी काम की दशाएँ स्थापित करना है ताकि मजदूर भी जीवन को ठीक प्रकार बिता सकें।

मजदूर आन्दोलन के फलस्वरूप मजदूरों की दशा में कुछ सुधार हो गया है। उनकी कुछ मांगें मान ली गई हैं। परन्तु अभी केवल पहला कदम उठाया गया है। सरकार का कर्तव्य है कि कानून द्वारा उद्योगपतियों को बाध्य करे कि वे मजदूरों की मांगों को मानें। सरकार ने इस सम्बन्ध में जो कानून बनाया है उसको इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य मजदूर संघों ने असन्तोषजनक बतलाया है।

भारत में मजदूर आन्दोलन पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अशक्त है। इसके नीचे लिखे कारण हैं :

(१) मजदूरों में शिक्षा का अभाव। (२) मजदूरों में जाति, धर्म तथा भाषा की विभिन्नता। (३) मिलमालिकों का विरोध। (४) मजदूरों को अवकाश का अभाव। (५) भारतीय मजदूरों की चलिष्णुता (Migratory Character)। (६) मजदूर संघों में एकता का अभाव।

व्यापार :—भारत का दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्ध प्राचीन काल से चला आ रहा है। आधुनिक काल में हमारा विदेशी व्यापार मुख्यतः हमारे लाभ के लिये न होकर इंगलैंड के लाभ के लिये हुआ है। इसलिये अंग्रेजी काल में हमारा देश कच्चा माल निर्यात करता था और पक्का माल आयात करता था। इसका फल यह है कि हमारे उद्योग-धंधे उन्नति नहीं कर सके। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है।

भारत का व्यापार दो प्रकार का है—आन्तरिक तथा विदेशी। आन्तरिक व्यापार को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अन्तंप्रान्तीय तथा तटीय व्यापार। अन्तंप्रान्तीय व्यापार से तात्पर्य देश के विभिन्न भागों में स्थल-मार्गों के व्यापार से है। हमारे देश में इसका मूल्य विदेशी व्यापार से तिगुना आँका गया है। इसलिए यह हमारे विदेशी व्यापार से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें और अधिक उन्नति हो सकती है। उद्योग-धंधों तथा खेती के विकास के साथ इसकी उन्नति स्वभावतः ही होगी। अभी तक रेलवे की भाड़े सम्बन्धी नीति, बैंकिंग और इंस्योरेन्स व्यवस्था विदेशी व्यापार के लिये अधिक उपयोगी रही है। तटीय व्यापार से तात्पर्य उस आन्तरिक व्यापार से है जो कि देश के विभिन्न भागों के साथ स्थल के मार्ग से न होकर बन्दरगाहों द्वारा होता है। अर्थात् तट के किनारे-किनारे व्यापार। इसमें भी बहुत उन्नति हो सकती है अगर हमारे बन्दरगाहों में सुधार हो, नये बन्दरगाह बनें तथा एक बड़ा व्यापारिक बेड़ा बनाया जाये।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हमारे विदेशी व्यापार में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से हमारा व्यापार कुछ बढ़ गया है। पाकिस्तान बन जाने के कारण भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है। युद्ध के पूर्व हम अपने कुल आयात का ६४% पक्का माल मंगवाते थे। परन्तु अब यह केवल ५२% रह गया है। अब हमारे निर्यात का ६०% पक्का माल होता है। अब हमारे आयात में कच्चा माल अधिक होने लगा है। भारत के आयात का युद्ध के पूर्व मुख्य भाग सूती कपड़ा था। इसके अतिरिक्त अन्य चीजें जैसे मशीन, रेल के

इंजन तथा मोटरगाड़ियाँ तेल, अनाज, धातुएँ, औजार, रंग, रासायनिक पदार्थ भी आयात होती थीं। परन्तु अब आयात में प्रथम स्थान मशीनों का है। सूती कपड़ों का आयात घट गया है। इससे स्पष्ट है कि देश के अन्दर सूती कपड़ों का उद्योग बढ़ा है। भारत अन्य देशों को जूट का सामान तथा चाय भेजता है। कुछ देशों को वह सूती कपड़ा भी भेजता है। भारत अब भी अपने कुल निर्यात का २५% कच्चा माल बाहर भेजता है। आयात का २५% कच्चा माल होता है।

भारत का विदेशी व्यापार अन्य देशों की अपेक्षा अत्यन्त कम है। इसलिये इस क्षेत्र में उन्नति करनी चाहिये। इस क्षेत्र में हमारे पिछड़े होने का मुख्य कारण विदेशी शासन काल में हमारा औद्योगिक अवनति है। उद्योग धन्धों की वृद्धि तथा कृषि में सुधार से हमारा विदेशी व्यापार बढ़ेगा। अभी तक हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशियों के हाथ में है। इससे हमारी अत्यन्त हानि होती है। बहुत सा रुपया विदेशों को चला जाता है। जहाजी कम्पनियाँ, बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा विनिमय बैंक सभी अधिकतर विदेशियों के हाथ में हैं। परन्तु अब इस स्थिति में सुधार हो रहा है।

यातायात —किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए यातायात के साधनों की उन्नति आवश्यक है। आधुनिक औद्योगिक संगठन के लिये उन्नत यातायात के साधन आवश्यक हैं। भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ के उद्योग-धन्धे बहुत उन्नत नहीं हैं इसलिये यहाँ बैलगाड़ियों से लेकर हवाई जहाज तक सभी प्रकार के साधन पाये जाते हैं।[1] परन्तु हमारे देश में अन्य उन्नत औद्योगिक देशों के बराबर यातायात में उन्नति नहीं हुई है। इसका दोष भी हमें विदेशी साम्राज्यवादी नीति के ऊपर ही रखना चाहिये।

भारत में यातायात के साधन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अत्यन्त ही पिछड़ी अवस्था में थे। रेलों का तब तक आरम्भ नहीं हुआ था और सड़कें बहुत थोड़ी सी थीं। इनमें से भी अधिकतर सड़कें वर्षा-ऋतु में आवागमन के लिए बेकार हो जाती थीं। यातायात के साधनों का इतनी अवनत

1 'Cheap and efficient transport is indispensable for the *economic development* of the country . In an under developed country of vast distances l ke India, with a majority of its population dependent on agriculture and with industries ... all forms of transport exist ... e bullock cart to a modern ... ar Plan, p 169

अवस्था में होने के कारण देश को कई प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ी हैं। इससे न केवल हमारी औद्योगिक उन्नति में ही बाधा पड़ी है परन्तु हमारी मानसिक संकीर्णता भी बनी रही। लार्ड डलहौजी ने सर्वप्रथम भारत में आधुनिक यातायात के साधनों का आरम्भ किया। तब से देश में एक आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्ति इनके फलस्वरूप हो गई।[1] यातायात के साधनों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं—रेल, सड़कें, नहर तथा नदियाँ और आकाश मार्ग।

(१) रेल :—यह सबसे मुख्य आवागमन का साधन है। सन् १८४७ में सबसे पहले रेलें बनाने के लिए दो अंग्रेजी कम्पनियों को ठेका दिया गया। परन्तु भारत में रेलों का असली बनना सन् १८५३ के बाद शुरू हुआ। इसके बाद रेलों के बनाने में बड़ी उन्नति हुई। इस समय देश में ३४,२७५ मील रेल की लाइनें हैं। इस समय देश में ९ प्रमुख रेल की लाइनें हैं। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि रेलों का हमारे देश में प्रारम्भ अंग्रेजी शासकों ने अपनी प्रशासनीय तथा सैनिक सुविधा के लिए किया था तथा उन्होंने भाड़े की नीति ऐसी अपनाई थी कि उससे देश के औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची, तथा यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रेलों से देश को कई लाभ हुये। उन्होंने इसे एकता के सूत्र में बाँधा, देश में शान्ति स्थापित की तथा देश के व्यापार, कृषि तथा उद्योग-धंधों को लाभ पहुँचाया। हमारे देश में रेलों की और वृद्धि करनी चाहिये। हमारे यहाँ प्रति १००० मील पीछे केवल २५ मील ही रेल की लाइनें हैं। यह अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में रेलों के विकास पर ४०० करोड़ रुपया खर्च किया गया।

(२) सड़कें :—इस समय देश में २,५०,००० मील लम्बी सड़कें हैं। इनमें से ४ मुख्य सड़कें हैं। अन्य सड़कें इन्हीं की सहायक सड़कों के रूप में हैं। भारत में सड़कों की बड़ी कमी है। उनकी दशा भी सन्तोषजनक नहीं है। और सड़कें बननी चाहियें, विशेषकर जो गाँवों को नगरों से संयुक्त करें। इससे किसानों को बहुत लाभ होगा तथा कृषि की उन्नति होगी।

(३) नहर तथा नदियाँ :—भारत में नदियों की संख्या काफी है तथा ये काफी लम्बी लम्बी भी हैं। परन्तु कई कारणों से इस प्रकार के यातायात का अधिक विकास नहीं हुआ है। रेलों के बनने के कारण भी जल मार्ग से यातायात को धक्का पहुँचा है।

(४) आकाश मार्ग :—हमारे देश में इसका प्रारम्भ पिछले २२ वर्षों से हुआ है। सबसे पहले १९२१ में भारत ने कुछ विदेशी कम्पनियों के जहाजें

1. Jather and Beri, Indian Economics II, pp. 126-127 (8th ed.).

आकाश मार्ग से जाने लगे। सन् १९३८ में टाटा ने एक कम्पनी स्थापित की। तब से कई कम्पनियाँ स्थापित हो चुकी हैं। अधिकतर आकाश मार्ग का मनुष्यों तथा डाक ढोने के लिये उपयोग किया जाता है। इस दिशा में अभी बहुत उन्नति की आवश्यकता है। पंचवर्षीय योजना में इसके विकास का उपबन्ध रखा गया है। भारत सरकार ने हवाई जहाज यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। निजी कम्पनियों का अधिकार लिया गया। इसके स्थान पर दो निगमों की स्थापना हो गई है।

इन मुख्य साधनों के अतिरिक्त मनुष्य, खच्चर, घोड़े, गधा, ऊँट, बैल-गाड़ी आदि अन्य यातायात के साधन हैं।

भारत में बेकारी—देश में बेकारी की समस्या एक अत्यन्त ही भीषण समस्या के रूप में उपस्थित हो गई है। यह समस्या केवल भारत में ही नहीं परन्तु अन्य देशों में भी कम या अधिक रूप में वर्तमान है। अनेक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह एक ऐसी समस्या है जिसका कोई हल अभी तक नहीं निकला है। परन्तु कुछ ऐसे देश भी हैं जिनका यह दावा है कि उन्होंने अपनी अर्थ व्यवस्था इस प्रकार संगठित की है उसमें बेकारी के लिए कोई स्थान नहीं है और उन्होंने इस प्रकार संगठित की है कि उसमें बेकारी के लिए कोई स्थान नहीं है और उन्होंने इसे समूल नष्ट कर दिया है और भविष्य में भी यह समस्या नहीं उठेगी जैसे रूस। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि बेकारी की समस्या को किसी प्रकार हल करना ही चाहिये। लार्ड बेवरिज (Lord Bevridge) के अनुसार बेकारी का सब से बड़ा दोष भौतिक न होकर नैतिक है। बिना बेकारी दूर किये हुए देश की प्रगति नहीं हो सकती है। जहाँ बेकारी अधिक होती है वहाँ प्रो० लास्की (Prof. Laski) के अनुसार व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग नहीं कर सकते हैं। क्योंकि स्वतन्त्रता आशा पर आधारित है और जहाँ बेकारी होगी वहाँ आशा के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है।

हमारे देश में दो प्रकार की बेकारी है—(१) ग्रामीण बेकारी तथा (२) नगरों में बेकारी। हम इनका पृथक पृथक वर्णन करेंगे।

ग्रामीण क्षेत्र में बेकारी—गाँवों में बेकारी दो प्रकार की है—स्थायी तथा अस्थायी या मौसमी। स्थायी बेकारी का कारण यह है कि अनेक व्यक्ति भूमिहीन हैं। इन्हें भूमिहीन कृषक कहा जाता है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि इन किसानों का एक बड़ा भाग भी जिनके पास जमीन है पूर्णरूप से केवल भूमि पर ही आधारित नहीं है। उन्हें अपनी आय के लिये कुछ और काम करना पड़ता है। ग्रामों में ऐसे लोग भी हैं जो कि कारीगर कहे जा सकते हैं। ये छोटे उद्योग-धंधों आदि में लगे रहते हैं। परन्तु इन्हें अपने व्यवसाय

से इतनी आय नहीं होती कि उनका उचित प्रकार से पालन हो सके। दूसरी प्रकार की अर्थात् अस्थायी बेकारी का यह कारण है कि साल में कई महीने किसान के पास कुछ काम नहीं रहता। क्योंकि वह वारिश पर निर्भर रहता है इसलिए साल में कई महीने खेती का काम बन्द रहता है।

ग्रामीण बेकारी के निम्नोक्त मुख्य कारण हैं :—

(१) हमारे यहां की कृषि प्रणाली इतनी अधिक अवैज्ञानिक तथा पुरानी है कि उसमें दोष ही दोष भर गये हैं। भारतीय किसान भाग्यवान की ओर आँख लगाये बैठा रहता है। इसलिये वह पूर्णतः मानसून पर निर्भर रहता है। अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि के समाचार हमें हर वर्ष ही मिलते रहते हैं और ये दोनों ही कृषि के लिये घातक हैं इसलिये प्रतिवर्ष ही देश के किसी न किसी भाग में खाद्यान्नों की कमी तथा दुर्भिक्ष होते हैं।

(२) हमारे गांव वालों के पास कृषि के अतिरिक्त अन्य कोई सहायक धंधा नहीं है, जिससे वे अपनी आय बढ़ा सकें।

(३) खेतों से उत्पादन घटता जा रहा है। इसके अनेक कारण हैं जैसे, कृषि की अवैज्ञानिक प्रणाली, खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना किसान की निर्धनता, किसान का बुरा स्वास्थ्य, उनकी भाग्यवादिता आदि।

(४) प्रतिवर्ष जनसंख्या में वृद्धि के कारण भूमि पर भार बढ़ता जा रहा है।

(५) ग्रामीण उद्योग-धंधों का ह्रास होता जा रहा है इसलिये उसमें लगे लोग बेकार हो रहे हैं।

(६) किसान अपनी उपज को उचित दामों में नहीं बेच पाता है, अतएव वह द्रव्याभाव के कारण बहुधा ऋण-ग्रस्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह महाजनों तथा सूदखोरों के हाथों में फँस जाता है।

ग्रामीण बेकारी दूर करने के उपाय :—गांवों की बेकारी दूर करने के लिए निम्नलिखित मुख्य मुख्य उपाय हैं :—

(१) कृषि की प्रणाली में सुधार किया जाय जिससे उत्पादन में वृद्धि हो।

(२) घरेलू उद्योग धंधों की वृद्धि की जाय जिससे किसान अपने खाली समय का उपयोग कर सकें।

(३) सामूहिक खेती को प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) सिंचाई आदि व्यवस्था की जाय।

(५) जनसंख्या की वृद्धि के कारण जो भूमि पर प्रतिवर्ष भार बढ़ रहा है उसे रोकना चाहिए। इसके लिए एक उपाय तो यह है कि देश में औद्योगिक उन्नति शीघ्रता से हो तथा दूसरा यह है तथा इस पर भी हमें विशेष बल देना चाहिये कि संतति-निरोध आन्दोलन को व्यापक बनाया जाय।

नगरों में बेकारी —यह बेकारी दो प्रकार की है मध्यवर्गीय बेकारी तथा औद्योगिक क्षेत्र में बेकारी। प्रतिवर्ष हमारे स्कूल व कालिजों से लाखों नवयुवक डिग्री लेते हैं परन्तु इनमें से थोड़ों को भी काम मुश्किल से मिलता है। ये बेकार नवयुवक न केवल अपने कुटुम्बों के ऊपर भार हैं अपितु समाज के लिये भी उनसे भय पैदा होता है क्योंकि निराशा उनको घेर लेती है। राज्य तथा समाज के प्रति इस नैराश्य के कारण उनके मन में कटुता उत्पन्न होती है। उनमें असामाजिक भावनाओं का जन्म होता है। उनमें ही क्रान्तिकारी भावनाएँ जागृत होती हैं। इसलिये उनसे राज्य तथा समाज के अस्तित्व को भय पैदा हो सकता है। औद्योगिक क्षेत्र में भी बेकारी बढ़ रही है। प्रतिवर्ष हजारों व्यक्ति देहातों से नगरों में काम की खोज में आते हैं। उनमें से थोड़े ही काम पाते हैं। शेष वैसे ही मारे मारे फिरते हैं। क्योंकि अभी हमारे देश में जन-संख्या का एक छोटा सा भाग ही उद्योग धंधों पर निर्भर है इसलिए औद्योगिक क्षेत्र में बेकारी भीषण नहीं हुई है।

नगरों की बेकारी के कारण —(१) प्रतिवर्ष देश में नगरों की जन-संख्या की वृद्धि होती जा रही है। इसका कारण यह है कि गांवों से लोग काम खोजने नगरों में आते हैं। परन्तु काम केवल एक थोड़े से ही भाग को मिल पाता है।

(२) हमारी शिक्षा की प्रथा दोषपूर्ण है। यह नवयुवकों को सिवाय बाबू-

1 "The remedy of the problem of rural unemployment lies thus partly in the improvement of agriculture and the development of small scale industries but mainly in the absorption of greatly increased numbers of people in large scale manufacturing industries" Banerji Ibid, p 639

2 Unemployment of this type is a more serious evil than commonly recognized Besides the individual suffering it ... and sense of
cau ... cumulative in
inju ... existence of a
its ... ngerous to the
lar ...
political stability of the state" Jathar and Beri Ibid, p. 468.

नौरी के अन्य किसी प्रकार के काम के योग्य नहीं बनाती है। इसके स्थान में टेक्निकल तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये।

(३) हम लोग शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अतएव हमारे शिक्षित नवयुवक ऐसा काम चाहते हैं जिनमें उनके हाथ और कपड़े काले न हो जांय।

(४) जाति-प्रथा के कारण लोग कई तरह का काम नहीं करना चाहते हैं। जैसे एक ब्राह्मण का लड़का मोची का काम नहीं करेगा।

(५) बाल-विवाह तथा जनसंख्या की वृद्धि भी इस प्रकार की बेकारी के कारण हैं।

(६) संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली के कारण भी कई लोग उत्तरदायित्व विहीन हो जाते हैं।

(७) देश का उद्योग धंधों में पिछड़ा होना इस प्रकार की बेकारी का मूल-भूत कारण है। शिक्षित नवयुवकों के लिये केवल थोड़ी सी ही नौकरियों का द्वार खुला है। इंगलैंड में सेना तथा सरकारी नौकरियों के अतिरिक्त १६०० प्रकार की अन्य नौकरियां हैं। परन्तु भारत में केवल ४० ही हैं।[1]

नगरों की बेकारी दूर करने के उपाय

(१) बेकारी को दूर करने का सबसे उत्तम उपाय देश में उद्योग-धंधों का विकास करना है। इसका फल यह होगा कि लाखों की संख्या में पढ़े-लिखे नवयुवकों को काम मिल जायगा।

(२) बड़े उद्योगों के साथ-साथ छोटे उद्योगों की भी वृद्धि करनी चाहिये। इनमें भी अनेक नवयुवकों को काम प्राप्त हो जायगा।

(३) शिक्षा-प्रणाली में भी महत्वपूर्ण परिवर्तनों की आवश्यकता है। शिक्षित वर्ग में जो बाबूगीरी की भावना आगई है उसे नष्ट करना चाहिये। शिक्षा अधिकांश व्यक्तियों के लिये ऐसी होनी चाहिये कि वह उनके जीवन-निर्वाह का माध्यम हो सके।

(४) टेकनिकल तथा औद्योगिक शिक्षा पर अधिक बल देना चाहिये। हमारे अधिकांश नवयुवक इसलिये कालिजों तथा विश्वविद्यालयों में आते हैं क्योंकि इन डिग्रियों को वे नौकरी पाने में सहायक पाते हैं।

---

1. Jathar and Beri, Ibid, p. 468

(५) देश में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिये। इससे ही कई हजार नवयुवकों को नौकरी मिल जायेगी।

(६) अन्य प्रकार की सामाजिक सेवाओं का भी विकास करना चाहिये। इसके फलस्वरूप भी शिक्षित नवयुवकों को काम मिल जायगा।

(७) इस प्रकार के काम धंधों को भी बढ़ाना चाहिये, जैसे गृह-निर्माण, इञ्जीनियरिंग आदि।

(८) रोजगार केन्द्र अधिकाधिक संख्या में खोलने चाहिये।

(९) खेती की ओर शिक्षित नवयुवकों को उत्साहित करना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब कि खेती योग्य भूमि को बढ़ाया जाय तथा खेती को वैज्ञानिक ढंग से किया जाय

पंच-वर्षीय योजनाएं तथा बेकारी की समस्या का हल

हमारी सरकार का रुख इस समस्या की ओर उपेक्षापूर्ण नहीं है। अपने सीमित साधनों के द्वारा सरकार इस समस्या को सुलझाने के लिये ध्यान दे रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना एक प्रारम्भिक रूपरेखा में कहा गया है 'जब कि पहली पंचवर्षीय योजना का आधा समय बीत चुका तब एम्पलायमण्ट एक्सचेंजों अर्थात् नौकरी दिलाने के दफ्तरों में दर्ज संख्याओं से पता लगा कि देश में रोजगार की अवस्था बिगड़ रही है। इसलिये १९५३-५४ की योजना में श्रम सम्बन्धी कुछ ऐसे कार्यक्रम सम्मिलित किए गये, जिनसे अधिक लोगों को रोजगार मिल सकें। फिर भी पहली योजना की अवधि में रोजगार मिल सकने के हालात बिगड़ते ही गये। एम्पलायमण्ट एक्सचेंजों के रजिस्टरों में दर्ज बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या जो मार्च १९५१ में ३ लाख ३७ हजार थी, वह दिसम्बर १९५३ और दिसम्बर १९५५ में बढ़कर क्रमशः ५ लाख २२ हजार और ६ लाख २२ हजार तक पहुँच गई। इन संख्याओं से बेरोजगारी का अन्दाजा एक हद तक ही लगाया जा सकता है; इनकी त्रुटियाँ प्रायः सर्वविदित हैं। परन्तु यह अनुभव अधिकाधिक मात्रा में किया जा रहा है कि औद्योगिक विकास की योजनाएँ तभी लोकप्रिय हो सकती हैं जब कि लोगों को रोजगार दिलाना भी इनका एक प्रधान लक्ष्य हो। इसलिये इस सम्बन्ध में सबकी सम्मति है कि दूसरी पंचवर्षीय योजना का एक स्पष्ट उद्देश्य लोगों को रोजगार देना ही होना चाहिये।"

पहले योजना काल में लगभग ४५ लाख व्यक्तियों की रोजी का प्रबन्ध हुआ होगा। इसके अतिरिक्त व्यापार तथा वाणिज्य के क्षेत्र में भी नए अवसर उत्पन्न हुए होंगे। परन्तु इस काल में श्रमिक संख्या की वृद्धि इससे कहीं अधिक हुई।

इसके अतिरिक्त पहली योजना का प्रभाव मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में पड़ा। वहाँ कृषि के विकास और बड़ी संख्या में मकानों के निर्माण से बहुत से लोगों को पूरे समय का रोजगार मिला।

योजना आयोग द्वारा दिसम्बर १९५५ में नियुक्त एक अध्ययन समिति ने यह अनुमान लगाया है कि आगामी पाँच वर्षों में १४.५ लाख शिक्षित व्यक्ति श्रमिकों की संख्या में और बढ़ जायेंगे। इसमें वर्तमान ५.५ लाख संख्या जोड़ देने से यह विदित हो जायगा कि द्वितीय योजना काल में २० लाख शिक्षित बेकारों को काम दिलाना होगा। यह अनुमान है कि सरकारी क्षेत्रों में १० लाख तथा निजी क्षेत्रों में २ लाख व्यक्तियों को काम मिल जायगा। तब भी ८ लाख बच जायेंगे। इसके अतिरिक्त ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त बेकारी भी द्वितीय योजना काल में बनी रहेगी। यद्यपि यह बिलकुल सच है कि अनेक लोगों को काम प्राप्त होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि स्थिति आज से अधिक नहीं बिगड़ने पायेगी।

भारतवर्ष के दो देशों में विभाजन का आर्थिक परिणाम:—भारतवर्ष के विभाजन के बाद एक समस्या एकदम उठ खड़ी हुई। वह शरणार्थियों की समस्या थी: लाखों गृहहीन व्यक्ति बिना किसी आर्थिक साधनों के एक देश से दूसरे देश को गये। भारत में शरणार्थियों की संख्या ने अत्यन्त भीषण रूप धारण कर लिया था। सरकार ने अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया परन्तु अभी तक यह समस्या पूरी प्रकार से हल नहीं हो पाई है।

विभाजन के फलस्वरूप न भारत आर्थिक दृष्टि से स्वपर्याप्त हो सकता है और न पाकिस्तान। क्योंकि भारत में रुई तथा जूट के उत्पादन क्षेत्र मुख्यतः पाकिस्तान में चले गये हैं। पहले हमारे देश में अनाज की कमी नहीं थी। परन्तु अब प्रति वर्ष हमें विदेशों से बहुत परिमाण में खाद्यान्न मँगाने होते हैं। पाकिस्तान भी आर्थिक दृष्टि से स्वपर्याप्त नहीं है। वहाँ कपास तथा जूट पैदा होती है परन्तु वहाँ सूती तथा जूट की मिलें नहीं हैं। इसलिये पाकिस्तान को इन वस्तुओं के लिये दूसरे पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस प्रकार दोनों देश आर्थिक दृष्टि से कमजोर हो गये हैं। कुछ लोगों का कहना यह है कि अंग्रेजी कूटनीति का यह फन्द है। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि भारत या पाकिस्तान शक्तिशाली देश हों।

पंचवर्षीय योजनाएँ—भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। यहाँ के लोगों का जीवन-स्तर अन्य देशों की तुलना में अत्यन्त निम्न है। गरीबी तथा बेकारी यहाँ के भीषण अभिशाप हैं। भारतवर्ष की सरकार ने देश को आर्थिक उन्नति के लिए एक योजना बनाई है जो कि चालू भी हो गई है।

इस योजना को पचवर्षीय योजना कहते हैं। इस योजना का उद्देश्य जनता के जीवन स्तर को उठाना है। ताकि वे सुखी तथा सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकें। इसलिये जहाँ एक ओर इसका उद्देश्य देश के समस्त साधनों का देश की पैदावार बढ़ाने के लिये उपयोग करना है और वहाँ दूसरी ओर इसके द्वारा आर्थिक असमानता को कम करना भी उद्देश्य है। अन्त में योजना के निर्माताओं द्वारा यह कहा गया है कि यद्यपि आरम्भ में पैदावार बढ़ाने पर ही अधिक ध्यान देना पड़ेगा तथापि अन्तिम उद्देश्य वर्तमान आर्थिक ढाँचे को बदलना ही होगा जिससे कि यहाँ के सब निवासी उत्तरोत्तर अधिक शिक्षा सुरक्षा तथा सम्पन्नता का उपभोग कर सकें।

प्रथम पचवर्षीय योजना —यह पचवर्षीय योजना वास्तव में भविष्य में अधिक शीघ्र आर्थिक उन्नति प्राप्त करने के लिये प्रथम पग मात्र है। इस योजना में सरकार २०६९ करोड़ रुपया खर्च करेगी। इस खर्च करने में निम्न बातों का विशेष ध्यान रखा जायगा।

(१) विकास की प्रथा को इस प्रकार बढ़ाना जिससे भविष्य में वह इनसे भी महत्तर काम का आधार बन सके।[1]

(२) देश में विकास के लिए उपलब्ध समस्त साधन।

(३) सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में विकास तथा साधनों की आवश्यकताओं के मध्य निकट सम्बन्ध।

(४) इस योजना से पूर्व केन्द्रीय तथा प्रदेशीय सरकारों द्वारा आरम्भ की हुई विकास योजनाओं को पूरा करने की आवश्यकता।

(५) युद्ध तथा विभाजन से उत्पन्न देश की आर्थिक अव्यवस्था को दूर करना।

---

1 'While in the initial stages the accent of endeavour must be on increased production because without this no advance is possible at all—our planning even in the initial stages should be confined to stimulating economic activity within the existing social and economic framework. That framework itself has to be remoulded so as to secure progressively for all members of the community full employment education security against sickness and other disabilities and adequate income. Five Year Plan (People's ed) p 11

इन २०६९ करोड़ रुपये का खर्च विभिन्न मदों के ऊपर निम्नलिखित प्रकार से किया जायगा—

(करोड़ रुपयों में)

खेती तथा सामूहिक विकास		३६१
सिंचाई तथा बहु उद्देशीय सिंचाई	..	१६८
शक्ति योजनायें	..	२६६
शक्ति (बिजली)	..	१२७
यातायात तथा सन्देशवहन	..	४९७
उद्योग	..	१७३
सामाजिक सेवाएँ	.	३४०
पुनर्वास	..	८५
अन्य	..	५२
योग	..	२०६९

केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारों के मध्य इस खर्च का बँटवारा इस प्रकार किया गया था :

केन्द्रीय सरकार (रेलों सहित)		१२४१	करोड़ रुपये
'क' भाग के राज्य	.	६१०	" "
'ख' " "	...	१७३	" "
'ग' भाग के राज्य	..	३२	" "
जम्मू तथा काश्मीर	..	१३	" "

इस योजना की सफलता पर इसके आलोचकों को सन्देह था। उनके अनुसार इस योजना से देश को कोई भी लाभ होने की आशा नहीं थी। उनका कहना था कि इतना खर्च करने के बाद भी देश की आर्थिक अवस्था में कोई विशेष उन्नति नहीं होगी। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार इस योजना में कृषि के ऊपर अधिक ध्यान दिया गया है। परन्तु किसी देश की वर्तमान समय में उन्नति केवल तभी सम्भव है जब कि उद्योग धंधों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाय। इस योजना के सफल हो जाने पर भी, इन आलोचकों के अनुसार देश अन्य देशों पर आर्थिक दृष्टि से निर्भर रह जायगा। देश का colonial

status बना ही रहता। इसके अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से भी इस योजना की आलोचना की गई, तथा इसे अव्यवहारिक बतलाया गया। कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार इससे देश में मुद्रा प्रसार बढ़ने का भय है। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि यह योजना पूरी तरह नौकरशाही द्वारा चलाई जायगी, इसकी सफलता सन्देहजनक है। सरकार ने जनता के सहयोग पर अधिक ध्यान नहीं दिया है।

परन्तु दूसरे कई विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों द्वारा इस योजना की भूरि भूरि प्रशंसा की गई। एक पर्यवेक्षक के अनुसार यह योजना प्रजातन्त्र देश में आर्थिक योजना का प्रथम उदाहरण है। इससे देश की महत्वपूर्ण उन्नति होगी। यह भविष्य में आर्थिक विकास के लिये सुदृढ़ नींव बना देगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रगति—प्रथम पंचवर्षीय योजना किस सीमा तक सफल हुई तथा इसमें क्या कमियाँ रह गई इसका ज्ञान हमें निम्न-लिखित उद्धरण से हो जायगा[1]

'अर्थ व्यवस्था पर पहली योजना की बहुत अच्छी प्रतिक्रिया हुई है। कृषि और औद्योगिक उत्पादन में बहुत काफी वृद्धि हुई है। मूल्य उचित समतल सतह पर हैं। देश का वैदेशिक हिसाब-किताब भी सन्तुलित है। पहली योजना में जो महत्वपूर्ण लक्ष्य रखे गये थे वे पूर्ण हो चुके हैं और सच तो यह है कि कई क्षेत्रों में हम उनसे भी पार कर चुके हैं। इन पाँच वर्षों में कोई १,७०,००,००० एकड़ नई जमीन को सिंचाई के अन्तर्गत लाया गया है। बिजली उत्पादन की प्रस्थापित क्षमता २३ लाख किलोवाट से बढ़कर ३४ लाख किलोवाट हो गई है। रेलों के पुनर्स्थापन के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रगति हुई है। सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में नई औद्योगिक कारखानों ने उत्पादन आरम्भ कर दिया है। इसके विपरीत पहली योजना में लोहे और इस्पात के एक नए कारखाने और बिजली के एक भारी कारखाने के स्थापित किए जाने की जो व्यवस्था की गई थी उसके सम्बन्ध में बहुत सीमित प्रगति के अतिरिक्त उसमें कोई उन्नति नहीं हुई। इसके अतिरिक्त सामुदायिक योजना कार्य, ग्रामोद्योग तथा छोटे पैमाने के उद्योगों इत्यादि में जितना व्यय होना था, वह नहीं हो सका। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि कुल मिला कर हमारी अर्थ व्यवस्था काफी मजबूत हो गई। योजना के कारण दीर्घकाल से स्थिर परिस्थिति में एक नया प्रगतिशील उत्पादन आ गया है। गत ५ वर्ष में राष्ट्रीय आय में अनुमानतः १८ प्रतिशत वृद्धि हुई। जब कि केवल ११ प्रतिशत बढ़ने की आशा थी। १९५१-५६ में सार्वजनिक क्षेत्र में

1 द्वितीय पंचवर्षीय योजना—एक रूप रेखा, पृ० १-२

विकास सम्बन्धी खर्च १९५१-५२ के मुकाबले में ढाई गुने से अधिक है। निजी क्षेत्र में पूंजी विनियोग आशा के अनुरूप हुआ है। यह सारा विकास हमारी अर्थ-व्यवस्था पर किसी प्रकार का भारी दबाव या असन्तुलन पैदा किये बिना ही हुआ है। योजना से योगदान मिला तथा सहयोग की भावना अधिक मात्रा में जागृत हुई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की कई दृष्टियों से आलोचना की गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रथम योजना से देश को कुछ लाभ हुए तथापि यह भी निस्सन्देह है कि इस योजना में अनेक त्रुटियाँ रह गई थीं। योजना के निर्माण-कर्ताओं ने देश में उपलब्ध साधनों का पूरा-पूरा अनुमान नहीं लगाया था। इन्होंने उपलब्ध भौतिक साधनों से वित्तीय साधनों को अधिक महत्व दिया। योजना में औद्योगिक विकास से अधिक बल कृषि पर दिया। परन्तु कृषि में देश आत्म निर्भर नहीं हो सका। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस योजना से देश को लाभ नहीं हुआ। इसका सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि इसने एक निश्चित आर्थिक स्थिति में एक गतिशील तत्व का प्रवेश कराया।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना :—द्वितीय पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य प्रथम योजना के कामों को और अधिक आगे बढ़ाना है। वास्तव में द्वितीय योजना प्रथम से अधिक महत्वाकांक्षिणी है। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने इस द्वितीय योजना के विषय में कहा था; "दूसरी योजना प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वाकांक्षापूर्ण है। उसे कार्य रूप देने के लिये देश लोगों को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रयत्न करना होगा। समाजवाद के नमूने पर समाज की स्थापना, राष्ट्रीय आय का समुचित स्तर तक विकास और देश के सभी नागरिकों के लिए समान अवसर—इन सभी आदर्शों को पूरा करने के लिए अभी हमें बहुत कुछ करना शेष है। हमारी उन्नति के आधार-भूत मापदण्ड सदा समाज का हित और असमानता का क्रमिक निराकरण होंगे। हम अपनी यात्रा की एक मंजिल तय कर चुके हैं। और अब एक भाग्य-निर्णायक दूसरी मंजिल की ओर बढ़ने वाले हैं।"

---

1. "The First Plan deserves a good deal of commendation as it was the first experiment of developmental planning for uplifting the lagging Indian economy. The Indian Economy responded well to the stimulus of the Plan. The First Plan introduced a new dynamic element in a long static and stagnant situation." Alak Ghosh—Indian Economy—Its Nature and Problems. (1958)

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि द्वितीय योजना की आधार-भूमि समाज का समाजवादी संगठन है। इसीलिए योजना आयोग द्वारा प्रस्तावित इसकी रूपरेखा में इसके उद्देश्यों का वर्णन करते समय इस लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

यह योजना निम्न मुख्य लक्ष्यों को ध्यान में रख कर बनाई गई है —

(१) राष्ट्रीय आय में इतनी वृद्धि हो कि देश के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सके इससे यह तात्पर्य है कि जनता के भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की न्यूनतम आवश्यकताएँ सन्तोषजनक रूप में पूरी हो सकें।

(२) मूल तथा भारी उद्योगों के विकास पर विशेष बल देते हुए देश का द्रुतगति से औद्योगीकरण हो। यह इसलिये आवश्यक है क्योंकि इसके बिना देश का भावी आर्थिक विकास सम्भव नहीं है।

(.) रोजगार सम्बन्धी सुविधाओं का और अधिक विस्तार करना, जिससे देश की बेकारी समस्या का उचित समाधान हो सके।

(४) आय तथा सम्पत्ति की विषमताओं का निराकरण तथा आर्थिक शक्ति का पहले से अधिक समान वितरण। यह स्पष्ट है कि इसके बिना समाजवादी ढंग की अर्थ व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती है।

इन उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये केन्द्र और राज्यों की सरकार मिलकर इस योजना के पाँच वर्षों में कुल ४,८०० करोड़ रुपए व्यय करेंगी। इसमें से कृषि तथा सामुदायिक विकास पर १२ प्रतिशत, सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण पर ९ प्रतिशत, बिजली पर ९ प्रतिशत, उद्योग व खनिज पर १९ प्रतिशत, परिवहन तथा संचार पर २९ प्रतिशत, समाज-सेवा, मकान तथा पुनर्वास पर २० प्रतिशत तथा शेष अन्य मदों पर व्यय किया जायगा।

यदि हम प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं के व्यय का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हमें यह दृष्टिगोचर होगा कि द्वितीय योजना में विशेष बल औद्योगीकरण पर दिया गया है। प्रथम योजना में कृषि को अधिक महत्व दिया गया था। परन्तु इससे यह नहीं सोचना चाहिये कि द्वितीय योजना में कृषि, सिंचाई या अन्य मदों पर व्यय कम कर दिया गया है। सत्य तो यह है कि सभी मदों पर द्वितीय योजना में प्रथम की अपेक्षा अधिक व्यय किया जायगा। परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से द्वितीय योजना में उद्योगों को अधिक महत्त्व दिया गया है।

प्रथम एवं द्वितीय योजना के व्यय का तुलनात्मक विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है -

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	कुल व्यय	प्रतिशत	कुल व्यय	प्रतिशत
कृषि एवं सामुदायिक विकास	—३७२ करोड़	—१६	५६५ करोड़	—१२
सिंचाई तथा बाढ़ का नियन्त्रण	—३९५ ,,	—१७	४५८ ,,	— ९
बिजली	—२६६ ,,	—११	४४० ,,	— ९
उद्योग व खनिज	—१७९ ,,	— ७	८९१ ,,	—१९
परिवहन तथा संचार	—५५७ ,,	—२४	१३८४ ,,	—२९
समाज सेवा, गृह-निर्माण तथा पुनर्वास	—५४७ ,,	—२३	९४६ ,,	—२०
विविध	— ४१ ,,	— २	११६ ,,	— २
योग	२,३५६	—१००	४,८००	—१००

सरकारी क्षेत्र के अतिरिक्त द्वितीय योजना काल में २,३०० करोड़ रुपया निजी क्षेत्र में व्यय किया जायगा। इस व्यय की रूप रेखा निम्नांकित होगी :—

उद्योग और खनिज	—	५६०	करोड़	रुपया
परिवहन, बिजली आदि	—	९०	,,	,,
कृषि एवं ग्राम उद्योग	—	२००	,,	,,
गृह-निर्माण	—	१,०५०	,,	,,
अन्य मद	—	४०५	,,	,,
योग	—	२,३००	,,	,,

निजी क्षेत्र में भी उद्योगों पर एक बड़ी रकम व्यय की जाएगी। उद्योगों में मुख्यतः मूल उद्योगों में ही व्यय होगा इसका कारण यह है कि यदि देश में मूल उद्योगों की स्थापना हो जायगी तो इससे आर्थिक दृष्टि से देश की विदेशों पर निर्भरता बड़ी मात्रा में कम हो जायगी। परन्तु योजना में उपयोग

की वस्तुओं पर ध्यान दिया गया है। इसके लिए यह प्रबन्ध है कि इनका उत्पादन गृह एवं लघु उद्योगों द्वारा हो। इससे एक लाभ यह भी होगा कि देश के अनेकों बेकारों को रोजी मिल जायगी।

दूसरी योजना देश में फैली बेकारी समस्या को भी कुछ मात्रा तक दूर करने में सहायक होगी। दूसरी योजना की अवधि में कृषि के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में ८० लाख नए लोगों को रोजगार मिलने का अनुमान है। परन्तु इस काल में यह अनुमान है कि लगभग १ करोड़ व्यक्ति और रोजी की तलाश में होंगे। इस समय लगभग ४५० लाख व्यक्ति बेकार हैं। इससे यह देखते हैं कि द्वितीय योजना द्वारा बेकारी की समस्या का पूरी तरह हल नहीं होगा। योजना की रूप-रेखा के अनुसार इन ८० लाख व्यक्तियों को निम्नोक्त उद्योगों में काम मिलेगा

घरेलू उद्योगों तथा गृह निर्माण	—	२१	लाख
बड़े उद्योगों	—	८	,
छोटे उद्योग	—	४५	,,
सरकारी नौकरियां	—	४३	,,
वन विभाग सामुदायिक विकास आदि	—	४२	,
शिक्षा विभाग	—	२६	,
रेल तथा अन्य यातायात के साधन	—	४३	,
समाज सेवा	—	१४	,
स्वास्थ्य विभाग	—	१२	,,
व्यापार	—	२११	,,

अन्त में इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि आय तथा सम्पत्ति की विषमताओं का निराकरण किस प्रकार किया जायगा? योजना में सरकार को इसके लिए अनेक सुझाव दिए गए हैं। उदाहरणार्थ (१) देश भर में अधिक से अधिक भू सम्पत्ति कितना हो इसको सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए (२) इसी प्रकार अधिकतम आय की सीमा निर्धारित करने की दिशा में भी सोचना चाहिए। (३) धनी तथा निर्धनों के मध्य अन्तर कम करना चाहिए। इसके लिए अनेक प्रकार करों का जैसे अधिक आयकर मुनाफा कर आदि का सुझाव दिया गया है। (४) श्रमिकों, स्त्रियों पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए विशेष सुविधाएं दी जायें। (५) सामाजिक सेवाओं का विस्तार किया जाय। इत्यादि।

द्वितीय योजना में उत्पादन-वृद्धि के लक्ष्य निम्नलिखित हैं: जहाज—८०%, रेल-इंजन—७६%, मोटर कार—१४८%, भूत रसायन—२२%, सीमेंट—१०८%, कागज—४९०%, बिजली की मोटरें—१५०%, सोडा पेट्रोल—५२%, कच्चा लोहा—२७०%, तैयार लोहा—१३१%, एल्यूमीनीयम—२३३%, रसायनिक खाद—३५८%, डीजल इंजन—१०७%, साइकिल—१००%। उद्योगों के अतिरिक्त अन्न आदि के उत्पादन में भी वृद्धि होगी। यह अनुमान है कि अन्न में १५.४%, कपास में ३१%, जूट में २५%, गन्ना में २२.४% तथा तिलहन में २७.३% वृद्धि होगी।

इस योजना का फल यह होगा कि राष्ट्रीय आय ४ वर्ष पश्चात् १०,८०० करोड़ रुपये से बढ़कर १३,४८० करोड़ हो जायगी। प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय ८० रुपया बढ़ेगी। अर्थात् २५० के स्थान पर ३३० रुपया हो जाएगी।

द्वितीय योजना की कांग्रेस के विरोधियों द्वारा कड़ी आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि इसके द्वारा समाजवाद का आदर्श कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। समाजवाद की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि क्रांतिकारी कदम उठाया जाय। यह सत्य है कि विकास के द्वारा समाजवाद की स्थापना में अधिक समय लगेगा, परन्तु शान्तिपूर्ण उपायों को हम नहीं छोड़ सकते हैं। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि इस योजना द्वारा मुद्रा-स्फीति का भय बढ़ गया है और अन्त में इसी कारण समस्त देश की आर्थिक-व्यवस्था के लिये भीषण संकट उपस्थित हो जायगा। इस योजना की सफलता के लिये जितनी अधिक पूंजी की आवश्यकता है वह देश में उपलब्ध नहीं है और इसका कोई निश्चय नहीं कि विदेशों से इस उद्देश्य के लिये हमें पूंजी प्राप्त होगी। देश में कर बढ़ रहे हैं, इससे जनता का कष्ट बढ़ गया है। उससे यह आशा करना गलत है कि वह योजना कार्य में उत्साहपूर्वक सक्रिय भाग लेगी।

परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि सरकार ने योजना के निर्माण में इन सब कठिनाइयों पर ध्यान दिया है। इसलिए भारतीय जनता को उत्साहपूर्वक योजना की सफलता में योग देना चाहिये।

सामुदायिक-योजनाएँ (Community Projects):—देश में इन योजनाओं का प्रारम्भ अक्टूबर, १९५२ से हुआ। इनका उद्देश्य भारत के गाँवों की उन्नति है। यह उन्नति सर्वांगीण होगी। ग्राम्य जीवन के सम्पूर्ण स्तर

को वहाँ के निवासियों के सामूहिक श्रम से ही उन्नत करना इन योजनाओं का उद्देश्य है।[1]

इन योजनाओं की आवश्यकता के मुख्य कारण निम्नोक्त हैं

(१) ग्रामजीवन का सर्वांगीण विकास आवश्यक है। भारत मुख्यतः कृषि प्रधान देश है। यहाँ की जनसंख्या का अधिकांश भाग ग्रामों में रहता है। अतएव बिना इन ग्रामों के विकास के देश का विकास सम्भव नहीं है।

(२) यह आवश्यक है कि भारतीय ग्रामीण का जीवन-स्तर ऊँचा हो तथा उनकी दृष्टि विस्तृत हो। इसलिये यह आवश्यक है कि उन्हें शिक्षा की सुविधा हो। वह स्वास्थ्यकर वातावरण में रहें तथा उनमें आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान की भावना जागृत हो।

(३) ग्राम के विकास का मुख्य लाभ यह होगा कि देश की खाद्य समस्या का हल हो जायगा। इस समय हम अन्न के लिए न्यूनाधिक मात्रा में विदेशों के ऊपर निर्भर हैं। इसका फल यह होता है कि प्रत्येक वर्ष देश का करोड़ों रुपया जो देश के अन्दर कई उपयोगी कामों में लगता, विदेश चला जाता है।

सामुदायिक विकास योजनाओं का महत्व उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है। इनके अन्तर्गत कृषि तथा अन्य सम्बन्धित विषय, जैसे सिंचाई का प्रबन्ध, अच्छे औजारों का उपयोग, पशुपालन आदि, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, ट्रेनिंग, रोजगार मकान तथा सामाजिक सेवाएँ आते हैं। इन ग्रामीण जीवन की विविध समस्याओं के हल होने से देश के गाँवों की अवस्था में महान् सुधार होगा।

सामुदायिक योजनाओं का आरम्भ देश में २ अक्टूबर १९५२ को हो गया। सबसे पहले इटावा जिले के अन्तर्गत कुछ गाँवों में यह काम शुरू किया गया। देश भर में ५५ सामुदायिक विकास योजनाओं की स्थापना की गई प्रत्येक सामुदायिक योजना के अन्तर्गत ३०० गाँव रखे गये। इस प्रकार लगभग १६,५०० गाँवों को इस कार्यक्रम से लाभ हुआ। इस कार्य को अच्छी सफलता मिली और अक्टूबर १९५३ में ५३ सामुदायिक विकास ब्लाकों की भी स्थापना की गई। जब अक्टूबर १९५६ में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्थापित इस योजना का काम पूरा हुआ, तब तक सारे देश में इस विकास योजना के १२०० केन्द्र

---

1 "The central object of the community development programme is to mobilise local man-power for a concerted and co-ordinated effort at rising the whole level of rural life." Ibid, p. 42.

स्थापित कर दिए गए थे। इन योजनाओं की प्रगति का अनुमान निम्नोक्त आँकडों से ज्ञात होगा।

नये स्कूलों की संख्या	—	१६,०००
प्राइमरी स्कूल जो बेसिक स्कूल बनाये गये	—	५,१५५
वयस्क शिक्षा केन्द्र	—	३५,०००
इन केन्द्रों द्वारा शिक्षित वयस्कों की संख्या	—	७७३,०००
पक्की सड़कें	—	८,०६९ मील
कच्ची सड़कें	—	२८,००० मील
शौचालयों की संख्या	—	८०,०००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इस कार्य को और अधिक आगे बढ़ाया जायगा। द्वितीय योजना का यह लक्ष्य है कि १९६०-६१ तक ३८०० राष्ट्रीय विस्तार सेवा क्षेत्र और ११२० सामुदायिक विकास क्षेत्रों की स्थापना की जाय। इनमें लगभग ३२.५ करोड़ जनसंख्या को लाभ होगा। इस कार्य के लिये योजना में २०० करोड़ रुपया रखा गया है। सामान्यतः एक राष्ट्रीय सेवा क्षेत्र पर ४ लाख रुपये व्यय होंगे और एक सामुदायिक विकास क्षेत्र पर १२ लाख रुपये होगा। द्वितीय योजना काल में इन सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये २ लाख कर्मचारी होंगे। इन कर्मचारियों की शिक्षा के लिये प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं। १९६०-६१ में इन प्रशिक्षण केन्द्रों की संख्या ७१ हो जायगी।

सामुदायिक योजनाओं का संगठन.—इन योजनाओं के निरीक्षण के लिये एक केन्द्रीय समिति की स्थापना की गई है तथा एक प्रशासक समस्त देश की योजनाओं के संचालन तथा निर्देशन के लिये है। उसकी सहायतार्थ एक कार्य-समिति है। योजना-कमीशन ही केन्द्रीय समिति के रूप में काम करता है।

प्रत्येक राज्य में एक राज्य विकास समिति की स्थापना की गई है। इसके सदस्य प्रधान सचिव तथा उसके द्वारा मनोनीत अन्य सचिव होते हैं। इस समिति का मंत्री राज्य विकास कमिश्नर कहलाता है। यह कमिश्नर राज्य की समस्त योजनाओं का निर्देशन और सहयोजन (Co-ordination) करता है।

प्रत्येक जिले में वहाँ का कलक्टर या एक ऐडिशनल जिला मजिस्ट्रेट, राज्य विकास कमिश्नर के आदेशानुसार इन योजनाओं का निर्देशन करेगा। उसकी सहायता के लिये एक जिला विकास समिति होती है।

प्रत्येक योजना का सचालन तथा निर्देशन एक योजना अधिकारी द्वारा होता है। उसके अधीन कुछ निरीक्षक तथा कार्यकर्ता होते हैं। इनकी संख्या लगभग १२५ होती है।

इन योजनाओं की सफलता जन सहयोग के बिना असम्भव है। वास्तव में इनकी सफलता इसी बात से जाँचनी चाहिये इन्होंने कहाँ तक ग्रामवासियों को सक्रिय कर दिया है। योजना के कार्यकर्ताओं का काम तो योजनाओं को चालू करना मात्र है तथा समय-समय पर गाँव वालों का निर्देशन करना है। योजना को आगे बढ़ाना तो गाँव वालों का काम है। अभी तक योजनाओं की प्रगति को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस योजनाओं को उस मात्रा तक जन सहयोग नहीं प्राप्त हो सका जैसा कि होना चाहिये था। परन्तु यह निस्संकोच कहा जा सकता है जैसा कि योजना आयोग की योजना अनुमान समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "योजनाओं के फलस्वरूप जनसाधारण का सामूहिक व्यक्तिगत विश्वास निर्माण की ओर लग गया है।"

प्रश्न

(१) भारत में खेती की उन्नति के लिये आप किन-किन उपायों का सुझाव देंगे? (यू० पी० १९५५)

(२) हमारे देश में गाँवों के जीवन को अधिक सुखी तथा समृद्ध बनाने लिये आप क्या करेंगे? (यू० पी० १९५१)

(३) भारत के आर्थिक जीवन में कृषि का क्या महत्व है? (यू० पी० १९५६)

(४) पंचवर्षीय योजनाओं का क्या महत्व है? इस सम्बन्ध में बताइये कि इन योजनाओं द्वारा बेकारी किस प्रकार दूर हो सकेगी? (यू० पी० १०५६)

(५) देश में बेरोजगारी के क्या कारण है? इनको दूर करने के लिये क्या उपचार किये जा रहे है। इस दिशा में अपने भी सुझाव दीजिये। (यू० पी० १९५७)

(६) यद्यपि हमारा देश कृषि प्रधान है फिर भी हमारे यहाँ खाद्यान्न की कमी क्यों है? देश को इस दिशा में आत्म निर्भर बनाने के लिए अपने सुझाव दीजिये। (यू० पी० १९५९)

(७) भारत में बेकारी दूर करने के लिये अपने सुझाव दीजिये। सरकार इस विषय में क्या प्रयास कर रही है। (यू० पी० १९५९)

अध्याय २४

शिक्षा : समस्यायें तथा सुधार

शिक्षा का जीवन में स्थान—जीवन में शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के गुणों का विकास शिक्षा के बिना असम्भव है। इसलिये शिक्षा की आवश्यकता व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही दार्शनिकों तथा विचारकों ने शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाया है। यूनानी दार्शनिक प्लेटो के अनुसार शिक्षा द्वारा आत्मा सत्य के दर्शन करती है। शिक्षा के बिना मनुष्य तथा पशु में केवल शारीरिक बनावट की ही भिन्नता रह जाती है। मनुष्य का मस्तिष्क एक घड़े की भांति नहीं है जिसमें शिक्षक कुछ वस्तु उड़ेल देता है। परन्तु मनुष्य के अन्दर कुछ बीज गुण रूप में वर्तमान रहते हैं। उन्हें ही शिक्षा द्वारा विकसित किया जाता है।[1]

भारत में शिक्षा का इतिहास—भारतीय शिक्षा के इतिहास को तीन कालों में बांटा जाता है हिन्दू काल, मुस्लिम काल तथा अंग्रेजी काल। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

(१) **हिन्दू काल**:—इस काल में शिक्षा प्रधानतः धार्मिक तथा वैयक्तिक थी। तब शिक्षा राज्य के कर्तव्यों में सम्मिलित न थी। यह सत्य है कि राजा कभी-कभी धन तथा भूमि का शिक्षण संस्थाओं की सहायतार्थ दान कर देते थे। शिक्षा संस्थाएँ धनिकों की दानशीलता पर निर्भर थी। प्रत्येक गुरु अपने ही आश्रम में कुछ विद्यार्थियों को शिक्षा देता था। शिक्षा समाप्त होने पर शिष्य अपने गुरु को दक्षिणा देकर विदा होता था। शिक्षा ऐसी थी जिससे की जीवन में लाभ हो। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को अलग अलग

---

1. "Education is the drawing out of a child's latent potentialities by providing them with suitable opportunities for their exercise and thorough exercise, their development and perfection." Siqueira The Education of India, p. 10 (3rd ed.)

प्रकार की शिक्षा दी जाती थी क्योंकि जीवन में उनके क्षेत्र अलग-अलग थे। ब्राह्मण की शिक्षा का आरम्भ ८ वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का ११ वर्ष की आयु में, तथा वैश्य का १२ वर्ष की आयु में होता था। बुद्ध काल के पश्चात् देश में बड़े-बड़े विद्यालयों की स्थापना हुई। इनमें नालन्दा सबसे प्रमुख था। इस विद्यालय में चीनी यात्री ह्वेन्सांग के अनुसार ४००० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इसके अतिरिक्त विक्रमशिला, तक्षशिला, उदान्तपुरी, श्रीनगर, नवद्वीप आदि स्थानों में भी बड़े-बड़े विद्यालय थे। हिन्दू शिक्षा में नैतिकता को विशेष महत्त्व दिया जाता था। यह केवल मन के ही विकास पर ध्यान नहीं देती थी परन्तु चरित्र के विकास पर भी उतना ही ध्यान दिया जाता है।

(२) **मुस्लिम काल** —इस काल के आरम्भिक वर्षों में शिक्षा की ओर मुस्लिम शासकों ने ध्यान नहीं दिया। जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण तथा इस देश की विजय आरम्भ की उस समय यहाँ पर शिक्षा काफी उन्नत अवस्था में थी। मुसलमान आक्रमणकारियों ने कुछ स्थानों में हिन्दुओं के पुस्तकालयों को नष्ट कर डाला। दिल्ली-सल्तनत के काल में शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। गाँवों में मस्जिदों के साथ ही छोटा स्कूल (मकतब) जुड़ा होता था। इसमें विशेष कर कुरान की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु कुछ बादशाहों ने ऊँचे स्कूलों (मदरसों) की भी स्थापना की। फीरोज तुगलक ने कई मदरसों की स्थापना की। मदरसों में ऊँची शिक्षा दी जाती थी, जैसे इतिहास, राजनीति, कानून धर्म आदि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शिक्षा का आधार धार्मिक था। मुगल बादशाहों ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। अकबर ने इस दिशा में सराहनीय काम किया। उसने कई संस्कृत की पुस्तकों का फारसी अनुवाद करवाया। उसने साहित्य तथा कला को उत्साहित किया। मदरसों की स्थापना की। हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों की ही विद्या का वह समान आदर करता था। उसके उत्तराधिकारियों ने भी कुछ सीमा तक उसकी नीति का अनुसरण किया पर औरंगजेब ने मुसलमानों की शिक्षा की ओर तो ध्यान दिया पर हिन्दुओं की पाठशालाओं को उसने नष्ट किया। औरंगजेब के पश्चात् भारत के दुर्दिन आरम्भ हुए और इस काल में शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

(३) **अंग्रेजी काल** —भारत में पश्चिमी व्यापारियों ने आरम्भ में ही अपनी शिक्षा नीति में इस बात का ध्यान रखा कि शिक्षा के द्वारा वे अपने धर्म का प्रचार कर भारतीयों को ईसाई बना सकें। पुर्तगीज व्यापारियों तथा फ्रेंच व्यापारियों ने जो यहाँ स्कूल खोले उनमें धार्मिक शिक्षा पर विशेष

महत्व दिया गया। जब अंग्रेजी कम्पनी ने स्कूल खोले उनमें भी यही उद्देश्य सामने रखा गया। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य शिक्षालयों के पीछे धार्मिक उद्देश्य था। सन् १८३३ तक अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अंग्रेजी शिक्षा को कोई सहायता नहीं दी थी। सन् १८१३ के चार्टर में यह निश्चित हो गया था कि कम्पनी प्रति वर्ष एक लाख रुपया अपने क्षेत्रों में शिक्षा के ऊपर व्यय करेगी। सन् १८३३ तक कम्पनी ने चार विद्यालय खोले थे—कलकत्ता मदरसा (१७८१) कलकत्ता संस्कृत कालिज (१८२४) तथा दिल्ली में संस्कृत कालिज (१८२५)। कम्पनी के शिक्षालयों के अतिरिक्त कुछ स्कूल देश में ईसाई धर्मप्रचारकों (missionaries) द्वारा खोले गये थे। इनका उद्देश्य भी मुख्यतः ईसाई-धर्म प्रचार था।[1]

सन् १८१३ से शिक्षा के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है। प्रथम बार कम्पनी भारतीयों के शिक्षा के लिए उत्तरदायी बना दी गई। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि शिक्षा किस भाषा द्वारा दी जावे? इस विषय में तीन मत थे—एक मत तो यह था कि शिक्षा का माध्यम संस्कृत तथा अरबी हो। दूसरा मत था कि शिक्षा का माध्यम आधुनिक भारतीय भाषाएं हों। तीसरा मत यह था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो। अन्त में तीसरे मतवालों की विजय हुई। सन् १८३५ में मेकॉले ने, जो कि उस समय गवर्नर जनरल की कौंसिल का कानूनी सदस्य था, अपने प्रसिद्ध लेख (minute) में यह सिफारिश की कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीयों को पश्चिमी विज्ञान तथा साहित्य की शिक्षा दी जावे। उसका कहना था कि पूर्वीय विद्यालयों के शिक्षालयों को बन्द कर देना चाहिये। भारतीय अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। अंग्रेजी भाषा संस्कृत तथा अरबी की अपेक्षा अत्यन्त सरल है। उसका कहना था कि "a single shelf of a good European library was worth the whole native literature

---

1. The "missionaries soon realised that schools were both the cause and the effect of proselytisation and educational and missionary work had to be undertaken side by side; and it is out of this realisation that the mission schools of modern India were born." Nurullah and Naik, A Student's History of Education in India, p. 33.

of India and Arabia" उसका विश्वास था कि अंग्रेजी संसार की भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ है। मैकाले का वास्तविक उद्देश्य यह था कि अँग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप अँग्रेजी सभ्यता को भारत में स्थान प्राप्त हो जायेगे तथा भारतीय ईसाई-धर्म को स्वीकार कर लेंगे।

सन् १८३२ के पश्चात भारत में अँग्रेजी शिक्षा फैलने लगी। इसका कारण यह था कि भारत शिक्षालयों को सरकारी सहायता बन्द कर दी गई। इस काल में मिशनरियों ने भी शिक्षा के प्रचार में भाग लिया। सन् १८३५ में जब कम्पनी के आज्ञापत्र का नवीनकरण हुआ हाउस ऑव कामन्स की एक कमेटी ने भारत में शिक्षा के विकास की जाँच की। इस जाँच पर आधारित कर कम्पनी के डाइरेक्टरों ने भारत में सरकार के पास एक शिक्षा-सम्बन्धी पत्र (despatch) भेजा जो कि वुड का शिक्षा सम्बन्धी पत्र कहलाता है। Sir Charles Wood कम्पनी के बोर्ड आव कन्ट्रोल का सभापति था। इसमें कई सुझाव दिए गए थे जैसे कि देश में विश्वविद्यालय स्थापित किए जायें, प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा को बढ़ाया जाय सार्वजनिक शिक्षालयों को कुछ आर्थिक सहायता दी जावे टेक्निकल शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध हो शिक्षकों के लिए स्कूल खोले जायें और प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा विभाग का एक डाइरेक्टर नियुक्त हो।

इन सुझावों को भारत सरकार ने मान लिया। सन १८५७ में भारत में तीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए—कलकत्ता बम्बई व मद्रास। प्रान्त में एक शिक्षा विभाग स्थापित किया गया था। शिक्षा के सम्बन्धित अफसरों की भी नियुक्ति की गई। सन् १८५४ के बाद सरकार ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। सन १८८२ में हन्टर कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने यह राय दी कि प्रारम्भिक शिक्षा को विशेष रूप से उत्साहित किया जाय और आर्थिक सहायता बढ़ा दी जावे। इसी वर्ष पंजाब में विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। सन १८८७ में प्रयाग में एक विश्वविद्यालय खुला। ये सब विश्वविद्यालय सम्बन्धक (affiliating) थे। इस काल में कालिजों की संख्या भी बढ़ी।

लार्ड कर्जन ने सन् १९०४ में एक यूनीवर्सिटी ऐक्ट पास किया। इससे विश्वविद्यालयों को बहुत अधिक सरकारी नियन्त्रण में लाया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि देश में राजनैतिक चेतना बढ़ रही थी। इसलिये सरकार हमारी शिक्षा को अधिकाधिक अपने नियन्त्रण में रखना चाहती थी।

सन् १९१० में केन्द्रीय सरकार के अधीन एक अलग शिक्षा विभाग खोला गया। सन् १९१९ के ऐक्ट से प्रान्तों में शिक्षा विभाग मन्त्रिमंडल के हाथ में आ गया। इस काल के बाद देश में शिक्षा का तेजी से प्रसार हुआ। नये-नये स्कूल तथा कालिज खुले। लड़कियों में भी शिक्षा बढ़ी। टेकनिकल स्कूल भी खोले गये। कई नये विश्व विद्यालय खुले। सन् १९३७ के पश्चात् शिक्षा का और भी विकास हुआ। हर वर्ष विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा नये-नये स्कूल, कॉलिज खुल रहे हैं। परन्तु इतना होने पर भी अभी हमारी जन-संख्या का एक-तिहाई भाग से भी कम शिक्षित है। हमारी सरकार के सम्मुख इस समय अशिक्षा को दूर करने की विकट समस्या है।

शिक्षा विभाग का संगठन—संविधान द्वारा शिक्षा राज्यों का विषय है। परन्तु संघ सरकार में भी एक शिक्षा विभाग है। इसके अधीन कुछ विश्वविद्यालय हैं—अलीगढ़, बनारस, दिल्ली तथा विश्वभारती और कुछ सब टेक-निकल स्कूल हैं जिनको संघ सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। यह विभाग एक मन्त्री के अधीन है। मन्त्री की सहायता के लिये एक सचि-वालय है। इस समय के० एल० श्रीमाली शिक्षा मंत्री है। प्रत्येक संघीय राज्य (प्रदेश) में भी एक शिक्षा विभाग होता है जो कि एक मन्त्री के अधीन होता है। मन्त्री की सहायता के लिये एक सचिवालय होता है शिक्षा सचिव के अतिरिक्त एक शिक्षा विभाग का डाइरेक्टर होता है। यह शिक्षा का मुख्य अधिकारी है। उसके नीचे अन्य अफसर होते हैं। कई शिक्षालय पूर्णतः सरकार द्वारा चलाये जाते हैं। कई प्राइवेट स्कूल तथा कॉलिज भी है। इनको सरकार आंशिक सहा-यता देती है। इन पर भी सरकारी नियन्त्रण होता है। प्रारम्भिक शिक्षा संस्थायें नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों द्वारा चलाई जाती हैं। ये भी सरकारी नियन्त्रण से परे नहीं हैं।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था—इस व्यवस्था के अन्तर्गत (टेकनिकल शिक्षा के अतिरिक्त) शिक्षा को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। प्रत्येक का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन किया जावेगा—

(१) **प्रारम्भिक शिक्षा**—आधुनिक काल में प्रारम्भिक शिक्षालयों की स्थापना सबसे पहले बंगाल में १८८५ में की गई। इसके बाद क्रमशः अन्य प्रान्तों में भी सरकार ने इस ओर ध्यान दिया। सन् १८८२ में हन्टर कमी-शन ने यह सिफारिश की थी कि प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र

में कर दी जावे। नगर में नगरपालिकाएं तथा गांवों में जिला बोर्ड इसका प्रबन्ध करते हैं। इन पर नियन्त्रण होता है। पहिले प्रारम्भिक स्कूल दो प्रकार के होते थे—लोअर प्राइमरी तथा अपर प्राइमरी। लोअर प्राइमरी केवल दूसरी कक्षा तक होते थे। अपर प्राइमरी चौथी कक्षा तक होते थे। परन्तु अब यह भेद हटा दिया गया है। प्रारम्भिक शिक्षा लोकप्रिय न हो सकी। गांवों में बहुत कम लोग अपने बच्चों को इन स्कूलों में भेजते थे। हमारे विदेशी शासकों ने प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर कम ध्यान दिया। परन्तु अब हमारी सरकार इस ओर अधिक ध्यान दे रही है। धनाभाव के कारण इस दिशा में सफलता सीमित ही है।

प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण है। अब इन दोषों को हटाने की चेष्टा की जा रही है, परन्तु अभी केवल इस दिशा में पहला पग ही उठाया गया है।

इसके दोषों में सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अनिवार्य नहीं है। इसके कारण सब बच्चे इस का लाभ नहीं उठा सकते हैं। अब सरकार ने नगरपालिकाओं के क्षेत्र में इसको अनिवार्य कर दिया है, परन्तु जिला बोर्डों के क्षेत्र में अभी तक अनिवार्य व्यवस्था नहीं हुई है। इन स्कूलों में जो शिक्षा दी जाती है। वह जीवन से सम्बन्धित नहीं है। इसलिये व्यावहारिक जगत में वह व्यर्थ है। गाँव के बालकों को कृषि या अन्य गृह-उद्योगों की शिक्षा नहीं दी जाती है। इसलिये ऐसी शिक्षा प्राप्त कर बालकों में यह स्वाभाविक है कि शारीरिक श्रम के प्रति घृणा हो जाये। अधिकतर बालक अपनी शिक्षा को बिना पूरा किये ही बीच में से ही छोड़ देते हैं। इसका फल यह होता है कि उनके ऊपर व्यय किया हुआ धन बेकार चला जाता है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक शिक्षा अत्यन्त खर्चीली है। सन १९२९ में हारटोग कमेटी ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था। जो बालक गाँवों में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी कर लेते हैं उनमें से अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों के कारण आगे नहीं पढ़ सकते हैं। इस दृष्टि से भी उनकी शिक्षा अधूरी ही रह जाती है।[1] प्रारम्भिक शिक्षा में कई दोष इस कारण भी हैं क्योंकि इस पर आवश्यकता से कम व्यय किया जाता है।

1 In the primary system the waste is appalling so far as we can judge, the vast increase in numbers in primary schools produces no commensurate increase in literacy, for only a small *proportion of those* who are at the primary

इसका परिणाम यह है कि प्रारम्भिक स्कूल के शिक्षकों को वेतन बहुत कम मिलता है। इससे इनमें योग्य शिक्षकों का अभाव है। ये अध्यापक ठीक प्रकार से नहीं पढ़ाते हैं और न अपने काम में उन्हें रुचि ही रहती है। ये अध्यापक स्वयं ही पूरे शिक्षित नहीं हैं, इसलिए उनकी अध्यापन प्रणाली दोषपूर्ण है। आधुनिक वैज्ञानिक-प्रथा में पढ़ाई अभी प्रारम्भ नहीं हुई है। शिक्षक स्वयं ही इस आधुनिक रूप से अपरिचित होता है। बालकों को ठीक प्रकार से शिक्षा न देने से उनका मानसिक विकास नहीं होता। उन्हें पढ़ाई में कोई आनन्द नहीं आता। पढ़ना भी एक प्रकार का शारीरिक श्रम हो जाता है। इन स्कूलों में बच्चों के मनोविनोद की ओर भी ठीक ध्यान नहीं दिया जाता है। इनके खेल-कूद की सुविधाएँ असंतोष-जनक हैं।

परन्तु अब सरकार इन दोषों को दूर करने के लिए अग्रसर हुई है। हमारे संविधान में कहा गया है कि सरकार १४ वर्ष तक के बालकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करेगी। इस दिशा में कुछ काम किया गया है। परन्तु अभी पूर्ण रूप से इस उद्देश्य की प्राप्ति बहुत दूर है। प्रारम्भिक स्कूलों की संख्या में वृद्धि हुई है। सन् १९५३ के अन्त तक देश में इनकी संख्या २,७१,०८२ तथा इनमें विद्यार्थियों की संख्या १,९२,९६,८४० थी। सम्पूर्ण भारत में प्रारम्भिक शिक्षा पर वार्षिक कुल खर्च ३१ मार्च, १९५३ को ४३.७ करोड़ रुपया था। विविध प्रदेशों में वहाँ की सरकारें प्रारम्भिक शिक्षा को फैलाने के लिये प्रयत्नशील हैं तथा उपरोक्त दोषों को भी दूर करने का भी प्रयास कर रही हैं। प्रारम्भिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों पर चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसीलिये कृषि, कताई-बुनाई, बढ़ईगीरी चमड़े का काम, आदि की भी शिक्षा दी जा रही है। इन बेसिक स्कूलों के पास दो एकड़ भूमि प्रति स्कूल होगी। आशा है कि कुछ वर्षों में प्रारम्भिक स्कूलों का स्थान बेसिक स्कूल ले लेंगे। केन्द्र के द्वारा प्रदेशों को इस सुधार के लिये आर्थिक सहायता दी जा रही है। उत्तर प्रदेश में १९५० में जूनियर बेसिक स्कूलों की संख्या ३१,७११ थी। सन् १९५३ में यह संख्या ३३,७३७ हो गई थी। इस शिक्षा में सबसे प्रथम तथा मुख्य आवश्यकता यह है कि अधिक व्यय किया जावे। शिक्षकों को अच्छा वेतन दिया जावे तथा इन्हें शिक्षक नियुक्त होने के पूर्व भली प्रकार से बालकों को किस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देनी चाहिये, इसका ज्ञान होना चाहिये। इसलिये शिक्षकों

---

stage reach Class IV, in which the attainment of literacy may be expected. The wastage in the case of girls is even more serious than in the case of boys." (Hartog Committee Report).

के लिये शिक्षण संस्थाएँ खुलनी चाहिये। देश में निःशुल्क अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के लिये २८ लाख अध्यापकों की आवश्यकता है। इस समय देश में इनकी संख्या केवल ५६१००० ही है। परन्तु इस दिशा में उन्नति हो रही है। शिक्षकों की नियुक्ति करते समय इस बात का सर्वथा ध्यान में रखना चाहिये कि वे योग्य तथा सच्चरित्र हों। क्योंकि बालकों के ऊपर जिस प्रकार का प्रभाव इस समय पड़ेगा वह जन्म भर बना रहेगा। यह नहीं सोचना चाहिये कि प्रारम्भिक शिक्षा के लिये योग्य व्यक्ति नहीं चाहिये। इन स्कूलों में बालकों के खेल-कूद तथा मनोविनोद का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। बालकों को यह नहीं प्रतीत होना चाहिये कि पढ़ना कोई भार है। उन्हें पढ़ने के लिये स्वयं इच्छुक बनाना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब कि स्कूलों में आमूल सुधार किये जावें। स्कूलों में सुधारों का फल यह होगा कि अधिकाधिक बालक इनकी ओर आकर्षित होंगे। प्रारम्भिक शिक्षा फैलेगी। इसको पूरी तरह फैलाने के लिये तथा निरक्षरता को दूर करने के लिये उस शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क कर देना चाहिये।

माध्यमिक शिक्षा—सन् १९२१ के पश्चात् भारत में माध्यमिक शिक्षा का प्रसार काफी तेजी से हुआ। नये-नये स्कूल तथा कॉलिज खुले। ग्रामीण क्षेत्रों में तथा कस्बों में भी माध्यमिक स्कूल खुले। कुछ तो सरकारी थे तथा कुछ गैर सरकारी। स्त्रियों तथा पिछड़े वर्गों की शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। इस प्रगति का कारण यह था कि देश में राजनैतिक जागृति के कारण ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बढ़ रही थी। देश में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति दिन पर दिन तेजी से हो रही है। माध्यमिक शिक्षा मिडिल स्कूलों में, हाई स्कूलों में तथा इन्टरमीडिएट कॉलिजों में दी जाती है। ये शिक्षा संस्थाएं दो प्रकार की हैं,—सरकारी तथा गैर सरकारी। सरकारी संस्थाओं में सरकार ही शिक्षक नियुक्त करती है तथा उनका पूरा व्यय वहन करती है। गैर सरकारी संस्थाएँ भी सरकारी नियन्त्रण में हैं। सरकार उन्हें आंशिक आर्थिक सहायता देती है। सरकार इन शिक्षालयों के कार्यों का निरीक्षण करने हेतु इन्स्पेक्टर्स नियुक्त करती है। ये वर्ष में एक बार इन शिक्षालयों का निरीक्षण करते हैं।

माध्यमिक शिक्षाओं के पाठ्यक्रम में अंग्रेजी, हिन्दी या अन्य प्रादेशिक भाषा, इतिहास भूगोल, नागरिकशास्त्र, गणित, विज्ञान, ड्राइंग, कॉमर्स तथा कई अन्य विषय हैं। इनमें से कुछ अनिवार्य हैं तथा कुछ वैकल्पिक, जिनको विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार छाँट लेते हैं।

विभिन्न प्रदेशों (States) में इनका संगठन अलग-अलग प्रकार से किया गया है। कुछ प्रदेशों में ९वीं, १०वीं तथा इंटर कक्षाओं के लिये एक बोर्ड स्थापित किया गया है। छठी, सातवीं तथा आठवीं कक्षाओं का प्रबन्ध अलग संगठन द्वारा किया जाता है। कुछ प्रदेशों में माध्यमिक शिक्षा विश्व-विद्यालयों के अधीन है। इन प्रदेशों में इंटर की शिक्षा विश्वविद्यालयों के द्वारा दी जाती है तथा मिडिल स्कूल तथा हाई स्कूल के लिये अलग व्यवस्था होती है।

माध्यमिक शिक्षा की श्रेणियों का वर्गीकरण भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों में अलग-अलग है। कुछ प्रदेशों में पाँचवीं से सातवीं कक्षा तक की शिक्षा माध्यमिक शिक्षा कहलाती है। इन प्रदेशों में इन्टर शिक्षा का विश्वविद्यालयों द्वारा प्रबन्ध किया जाता है। कुछ अन्य प्रदेशों में पाँचवीं से ग्यारहवीं तक की शिक्षा माध्यमिक शिक्षा कहलाती है। दिल्ली प्रान्त में ऐसा ही किया गया है। वहाँ इन्टर की कक्षा दो भागों में बाँट दी गई है। एक वर्ष हाई स्कूल में जोड़ दिया गया है। तथा एक वर्ष बी० ए० में। इस प्रकार हाई स्कूल, तथा बी० ए० में तीन-तीन वर्ष लगेंगे। कुछ अन्य प्रदेशों में माध्यमिक शिक्षा से अर्थ सातवीं से बारहवीं कक्षाओं तक की शिक्षा से है।

माध्यमिक शिक्षा प्रणाली में भी कई दोष हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि सब विद्यार्थियों को एक सी ही शिक्षा दी जाती है। उनकी प्रवृत्तियों तथा रुचि का ध्यान नहीं रक्खा जाता है। इसका फल यह होता है कि माध्यमिक शिक्षा-प्राप्ति के पश्चात् भी विद्यार्थी का उचित विकास नहीं हो पाता। माध्यमिक शिक्षा का जो पाठ्यक्रम है उसमें भी कई दोष हैं। वह व्यावहारिक ज्ञान नहीं प्रदान करता है। उसका मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिये तैयार करना है। इसलिये माध्यमिक शिक्षा भी जीवन में अधिकांश व्यक्तियों के लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं होती है। माध्यमिक शिक्षा में व्यावसायिक शिक्षा के लिये अभी तक कोई स्थान नहीं है। विद्यार्थियों को किसी प्रकार के कला-कौशल या उद्योगों की शिक्षा नहीं दी जाती है। इस शिक्षा से शारीरिक परिश्रम की ओर घृणा हो जाती है और बाबूगीरी करना ही जीवन का लक्ष्य हो जाता है। इसमें नैतिक गुणों का भी विकास नहीं होता है। शिक्षकों को बहुत कम वेतन दिया जाता है, इसलिये उनका अपने काम में पूरी तरह रुचि न लेना स्वाभाविक है।

माध्यमिक शिक्षा में कई सुधारों की आवश्यकता है। उपरोक्त दोषों को दूर करना चाहिये। इस बात की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये कि इस शिक्षा

के पश्चात् नवयुवक जीवन में भाग लेने के अतिरिक्त कुछ अन्य काम भी कर सकें। इसलिए पाठ्यक्रम केवल साहित्यिक ही नहीं होना चाहिए। परन्तु व्यावहारिक भी होना चाहिए। औद्योगिक तथा टेक्निकल शिक्षा को भी पाठ्यक्रम में स्थान देना चाहिए ताकि आगे चलकर विद्यार्थियों को अपने जीवन का मार्ग चयन करने में सुविधा हो। शिक्षकों को यथेष्ट वेतन मिलना चाहिए और इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए कि वे समय समय पर अपने विषय के सम्बन्ध में अपना ज्ञान बढ़ा सकें।

अब माध्यमिक शिक्षा में सुधारों की ओर सरकार ध्यान दे रही है। दिल्ली में आठवीं कक्षा के बाद विद्यार्थी के अभिभावक को यह निश्चय करना पड़ता है कि वह विद्यार्थी को आगे किस प्रकार की शिक्षा दिलवाना चाहता है। उदाहरणार्थ वह उसे किसी विशेष पथ में भेजना चाहता है या केवल साहित्यिक शिक्षा दिलवाना चाहता है। इसके बाद विद्यार्थी को तीन वर्ष तक उन विषयों की विशेष शिक्षा दी जायगी जो कि भविष्य में उसके काम के लिए उपयुक्त होंगी।

उत्तर प्रदेश में भी सरकार ने माध्यमिक शिक्षा में बड़े महत्त्वपूर्ण सुधार किए हैं। माध्यमिक शिक्षा को दो भागों में बाँट दिया जायगा—जूनियर हाई स्कूल जिसमें छठी सातवीं तथा आठवीं कक्षाएँ होंगी तथा हायर सेकण्डरी स्कूल जिसमें ९वीं से १२वीं कक्षाएँ होंगी। इस वर्ष से उत्तर प्रदेशीय शिक्षा विभाग द्वारा उन जूनियर हाई स्कूलों में जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित हैं एक नया प्रयोग आरम्भ किया गया है। इन स्कूलों के विद्यार्थियों को कृषि की व्यावसायिक शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया जायगा। प्रत्येक स्कूल को १० एकड़ भूमि दी जायगी जिसमें विद्यार्थी कृषि का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। इस वर्ष कक्षा ६ से यह नया पाठ्यक्रम लागू होगा। तीन वर्ष में कक्षा ८ तक के विद्यार्थी इस नए पाठ्यक्रम के अनुसार शिक्षा प्राप्त करेंगे। उत्तर प्रदेश के शिक्षा सचिवालय ने इस प्रयोग के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है कि प्रदेश की लगभग पचहत्तर प्रतिशत से अधिक जनता गाँवों में बसी है और उसका व्यवसाय कृषि है। अतः ग्रामीण क्षेत्रों की पाठशालाओं तथा विद्यालयों में कृषि की शिक्षा देने तथा नवीनतम साधनों एवं प्रणालियों से बच्चों को परिचित कराने का प्रयत्न किया जायगा। इसी प्रकार नगरों तथा उपयुक्त अन्य स्थानों में स्थानीय आवश्यकताओं तथा सुविधाओं के अनुसार अन्य उद्योग या दस्तकारी तथा उचित रूप पर प्रचलित किए जाने का प्रबन्ध किया जायगा। स्पष्ट है कि इन सभी कामों में समाज से छात्रों का घनिष्ठतम सम्पर्क रहेगा। इससे उनकी आर्थिक उन्नति होगी तथा नौकरी ढूँढ़ने की भावनाओं को अवरोध मिलेगा। इसके

अतिरिक्त सामुदायिक कार्यों के फलस्वरूप उनमें श्रम, प्रतिष्ठा, सहकारिता तथा समाज-सेवा के प्रति आदर उत्पन्न होगा।" हायर स्कूल में चार प्रकार के पाठ्यक्रम होंगे और विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार इनमें से एक को चुन लेंगे—साहित्यिक, कलात्मक, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक। इस सुधार का फल यह होगा कि प्रत्येक विद्यार्थी उसी बात की शिक्षा पावेगा जिसमें उसकी रुचि है। अन्य प्रदेशों में भी माध्यमिक शिक्षा को अधिक व्यावहारिक तथा लाभदायक बनाने के उद्देश्य से सुधार किए जा रहे हैं।

सितम्बर सन १९५२ में डा० ए० एल० मुदालियर की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा कमीशन की नियुक्ति गई। इस कमीशन का उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्धित प्रश्नों की जाँच करना था। उदाहरणार्थ (१) माध्यमिक शिक्षा की भारत में वर्तमान स्थिति (२) इसके पुर्नसगठन तथा सुधार के लिये विशेषतः इनके उद्देश्य, संगठन आदि के विषय में, इसका प्रारम्भिक, बेसिक तथा उच्च शिक्षा से सम्बन्ध के विषय में तथा अन्य सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में, सुझाव रखना। अगस्त १९५३ को इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। उसकी मुख्य सिफारिशें निम्नोक्त हैं।

(अ) हाई स्कूल शिक्षा के प्रारम्भ के पूर्व ४ या ५ वर्ष प्रारम्भिक या बेसिक शिक्षा हो चुकी है। इसमें भाषा, सामाजिक अध्ययन, साधारण विज्ञान, हस्तकला आदि की शिक्षा हो। पाठ्यपुस्तकों के बनाव के लिये एक उच्चाधिकारी समिति हो।

(ब) शिक्षा माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो। इसके अतिरिक्त मिडिल स्कूल में राष्ट्रभाषा तथा एक विदेशी भाषा की शिक्षा दी जानी चाहिये।

(स) प्रारम्भिक अवस्था से ही औद्योगिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये बहुधन्धी विद्यालय खोले जाने चाहिये।

(द) सैकेन्ड्री स्कूल के शिक्षकों तथा स्नातक (Graduate) शिक्षकों के प्रशिक्षण के अलग-अलग ग्रेड होने चाहिये।

(य) कृषि, उद्योग-धन्धा, व्यापार, व्यवसाय, नागरिकता में प्रशिक्षण की प्रगति के लिये केन्द्र (centre) को चाहिये कि माध्यमिक शिक्षा के लिये वित्त का प्रबन्ध करे।

इन सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये भारत सरकार ने एक योजना तैयार कर ली है। माध्यमिक शिक्षा की मुख्य समस्याओं को हल करने के लिये एक अखिल भारतीय समिति की स्थापना का प्रस्ताव है।

विश्वविद्यालय (उच्च शिक्षा) —भारत में वुड के शिक्षा सबंधी पत्र (१८५४ सन्) के पश्चात् सरकार ने विश्वविद्यालयों की स्थापना की ओर ध्यान दिया। सबसे पहले सन् १८५७ में तीन विश्वविद्यालय कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थापित किये गए। इसके बाद सन १८८२ में पंजाब तथा सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। अन्य विश्वविद्यालयों की स्थापना २०वीं शताब्दी में हुई

इस समय देश में कुल ३७ विश्वविद्यालय हैं। उनके नाम नीचे दिए गए हैं।

आगरा (१९२७), अलीगढ़ (१९२१), इलाहाबाद (१८८७), आंध्र (१९२६), अन्नामलाई (१९२९), बनारस (१९१६), बड़ौदा (१९४९), बिहार (१९५२) बम्बई (१८५७), कलकत्ता (१८५७), दिल्ली (१९२२), गौहाटी (१९४८), गोरखपुर (१९५७) गुजरात (१९५०), जम्मू तथा काश्मीर (१९४९), जबलपुर (१९५७) जादवपुर (१९५५), कर्नाटक (१९५०), केरल (१९३७), कुरुक्षेत्र (१९५६), लखनऊ (१९२१), मद्रास (१८५७), मराठवाड़ा (१९५८), मैसूर (१९१६), नागपुर (१९२५) उसमानिया (१९१८) पंजाब (१९४७) पटना (१९१७), पूना (१९४८), राजस्थान (१९४७), रुड़की (१९४९) सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ (१९५५), सागर (१९४६) एम० एन० डी० टी० स्त्री विश्वविद्यालय (१९५१) श्री वेंकटेश्वर (१९५४) उत्कल (१९४३) विश्वभारती (१९२१) तथा विक्रम (१९५०), इनके अतिरिक्त दिल्ली का जामिया मिलिया (१९२१) तथा पूना का वीमेन्स यूनिवर्सिटी (१९०२) भी और हैं।

(१) **शिक्षक विश्वविद्यालय (Teaching Universities)** —ये स्वयं शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं तथा अपने पढ़ाए हुए विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं। इनके अपने अध्यापक होते हैं। विद्यार्थियों के लिये इनमें छात्रावास भी होते हैं। इसलिए इनको **Residential Universities** भी कहते हैं उदाहरणार्थ प्रयाग, लखनऊ आदि।

(२) **परीक्षात्मक या स** [illegible]
ये स्वयं अध्यापन का प्रबन्ध न [illegible]
हैं जिनमें पढ़ाई होती है। ये [illegible]

कालेजों का निरीक्षण करते हैं तथा इनमें शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं। उदाहरणार्थ आगरा विश्वविद्यालय।

(३) **शिक्षा तथा सम्मेलक विश्वविद्यालय**—कुछ विश्वविद्यालय ऐसे हैं जो स्वयं भी शिक्षा देते हैं तथा अपने अन्तर्गत कालिजों के विद्यार्थियों की परीक्षा भी लेते हैं। उदाहरणार्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय।

विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा देते हैं। साधारणतः प्रत्येक विश्वविद्यालय में साइन्स, आर्टस, कामर्स तथा ला ये चार फैकल्टियाँ तो अवश्य हैं। इनके अतिरिक्त एग्रीकल्चर, मेडिसिन, इन्जीनियरिंग, पूर्वी विद्या, तथा अन्य फैकल्टियाँ भी कुछ विश्वविद्यालयों में हैं। इनमें अनुसंधान कार्य भी होता है। और वे विश्वविद्यालय इस प्रकार के काम के लिये डाक्टरेट् (आचार्य) की उपाधि प्रदान करते हैं।

विश्वविद्यालय का संगठन:—प्रत्येक विश्वविद्यालय की स्थापना एक Incorporation Act द्वारा की जाती है। अपने आन्तरिक क्षेत्र में विश्वविद्यालयों को स्वतन्त्रता (autonomy) है। उन्हें सरकार से अधिक सहायता मिलती है। कुछ रुपया वह लड़कों की फीस, परीक्षा की फीस आदि से एकत्र करते हैं। भारत में अलीगढ़ बनारस तथा दिल्ली के विश्वविद्यालयों को केन्द्र से सहायता मिलती है तथा वे केन्द्रीय नियम के अधीन हैं। विश्वभारती भी इसी प्रकार का विश्वविद्यालय है। अन्य विश्वविद्यालय प्रादेशिक सरकारों के अधीन हैं और उन्हीं से उन्हें सहायता मिलती है।

प्रत्येक विश्वविद्यालय का एक कुलपति (Chancellor) होता है। केन्द्रीय विश्वविद्यालय के अतिरिक्त अन्य विश्वविद्यालय में उस प्रदेश का गवर्नर ही उपकुलपति होता है। जैसे प्रयाग, आगरा, लखनऊ, विश्वविद्यालयों का कुलपति उत्तर प्रदेश का गवर्नर है। इसके नीचे एक उप-कुलपति (Vice-Chancellor) होता है। यही विश्वविद्यालय का वास्तव में संचालन करता है। इसकी सहायतार्थ एक समिति (Executive Council) होती है। इसमें सब बातें बहुमत से तय होती हैं। उप-कुलपति इसी के परामर्श के अनुसार कार्य करता है। इसके अतिरिक्त एक सभा होती है। जिसको कुछ विश्वविद्यालयों में कोर्ट (Court) तथा कुछ में सिनेट (Senate) कहते हैं। प्रत्येक विश्वविद्यालय को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने तथा अनुशासन के लिए अध्यापकों की नियुक्ति और परीक्षाओं के सम्बन्ध में नियम बनावे।

अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड—सैडलर-कमीशन ने इस प्रकार के बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की थी। सैडलर कमीशन की स्थापना सन् १९१७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के ऊपर रिपोर्ट करने के लिये हुई थी। परन्तु इसकी रिपोर्ट अखिल-भारतीय महत्व की थी। भारतीय विश्वविद्यालय भी इस प्रकार के बोर्ड की स्थापना चाहते थे। ताकि शिक्षा के सम्बन्ध में सयोजन (co ordination) हो सके। सन् १९२४ में शिमला में एक अखिल भारतीय विश्वविद्यालय कान्फ्रेंस हुई तथा अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड की स्थापना की गई। सन् १९२५ से इसकी प्रतिवर्ष बैठक होती है। इसमें प्रत्येक विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि होते हैं। इन बैठकों में विश्वविद्यालय से सम्बन्धित विषय पर विचार विमर्श होता है। इस बोर्ड के नीचे लिखे कार्य हैं।

(१) यह विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच सम्पर्क स्थापित करता है तथा उनके कार्यों के बीच समायोजीकरण करता है।

(२) इससे विश्वविद्यालयों को एक दूसरे के काम के बारे में सूचना प्राप्त हो सकती है।

(३) उच्च शिक्षा सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में या ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत सम्मेलनों में भाग लेने के लिये भारतीय विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है।

(४) विभिन्न विश्वविद्यालयों में होने वाली नियुक्तियों के वास्ते यह एक ब्यूरो (Bureau) का भी काम करता है।

(५) विभिन्न विश्वविद्यालयों के बीच शिक्षकों के आदान प्रदान में सहायता पहुँचाता है।

उच्च शिक्षा में दोष तथा सुधार के उपाय—भारतीय विद्वान तथा विचारकों ने हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली के कई दोषों की आलोचना की है। सर्वप्रथम यह शिक्षा व्यावसायिक जीवन में अधिक लाभप्रद नहीं है। अगर माध्यमिक शिक्षा पूरी करने के बाद क्लर्क बनने की इच्छा होती है। तो उच्च-शिक्षा प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक नवयुवक जिलाधीश, जज या कोई और अफसर होना चाहता है। जिस शिक्षा से मनुष्य में सेवा भाव त्याग तथा तपस्या, देश के प्रति प्रेम आदि उदात्त गुणों का जन्म न हो वह व्यर्थ है। अंग्रेजी शिक्षा में दोष है कि हमारे कुछ शिक्षा प्राप्त नवयुवक अपने को साधारण व्यक्ति से भिन्न समझते हैं। इस प्रकार इस शिक्षित व्यक्ति तथा जनता के बीच एक

बड़ी खाई बन गई है। हमारा शिक्षित वर्ग सकीर्ण मनोवृत्ति वाला है। यह सब शिक्षा का ही दोष है। इस शिक्षा का माध्यम अभी तक अंग्रेजी है यद्यपि कुछ विश्वविद्यालयों ने हिन्दी को ऐच्छिक माध्यम मान लिया है। इसका फल यह होता है कि हमारे विद्यार्थियों का अधिक समय तो इस विदेशी भाषा को सीखने में लग जाता है। और अन्य विषयों पर वे पूरा ध्यान नहीं दे सकते हैं। इस शिक्षा में विद्यार्थियों के नैतिक चरित्र के विकास पर ध्यान नहीं दिया जाता है। इस शिक्षा का उद्देश्य केवल परीक्षा में सफलता प्राप्त करना रह जाता है। विद्यार्थी वर्ष भर केवल परीक्षा की ही सोचते हैं। और क्योंकि थोड़ा बहुत पढ़कर साधारणतः पास हो ही जाते हैं इसलिए अधिकतर विद्यार्थी वर्ष में अधिकांश समय व्यर्थ नष्ट करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अधिकतर विद्यार्थी जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने आते हैं केवल इसलिए आते हैं क्योंकि उनको कोई उपयुक्त नौकरी नहीं मिल पाती है। देश में बेकारी के कारण विश्वविद्यालयों में प्रतिवर्ष विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही है। विश्वविद्यालय में औद्योगिक तथा टेकनिकल शिक्षा का अभाव है। सैडलर कमीशन ने ३३ वर्ष पूर्व इस बात पर ज़ोर दिया था कि विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध हो।[1] बनारस, अलीगढ़ तथा कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध है। परन्तु अन्य विश्वविद्यालय आर्थिक कारणों से इस दिशा में विशेष काम नहीं कर पाये हैं।

इधर कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर गिर रहा है। संघीय लोक सेवा आयोग ने इस संस्थाओं का ध्यान आकर्षित किया था। परन्तु अभी सुधार की चेष्टा नहीं की गई है। इसका कारण यह है कि विश्वविद्यालयों के अन्दर समितियों के सदस्य आपस की दलबन्दी में इतना अधिक उलझे रहते हैं तथा अपने स्वार्थी हित को पूरा करने में इतना अधिक संलग्न रहते हैं कि उन्हें अन्य बातों के लिए समय का अभाव हो जाता है। जहाँ पर बौद्धिक योग्यता तथा नैतिक-चरित्र केवल इन्हीं दो योग्यताओं को ध्यान में रख नियुक्तियाँ आदि होनी चाहियें वहाँ पर यह देखा जाता है कि इन योग्यताओं का कोई मूल्य नहीं और अध्यापकों की नियुक्ति में इस बात का अधिक ध्यान रखा जाता है कि वे किसके भाई-भतीजे हैं।

---

1. "It is an important and, indeed a necessary function of a university to include applied science and technology in its courses and to recognize their systematic and practical study by degrees and diplomas."

अगर हम अपनी उच्च शिक्षा का स्तर ऊँचा करना है तथा इसे व्यक्ति और देश के लिये लाभदायक बनाना है तो इसमें शीघ्रातिशीघ्र सुधार करने चाहिये। इसलिए शिक्षा अंग्रेजी माध्यम द्वारा न दी जाकर हिंदी अथवा प्रादेशिक भाषा द्वारा दी जाय। विश्वविद्यालयों में अनुसंधान तथा शोध कार्य को महत्व दिया जाना चाहिये। शिक्षकों की नियुक्ति योग्यता के ऊपर होनी चाहिये न कि उनकी जाति या वंश पर। विश्वविद्यालयों को अपने यहाँ की भीड़ कम करने के लिये एम० ए० तथा शोध-कार्य के लिये आये विद्यार्थियों तक ही अपने को सीमित रखना चाहिये। एम० ए० से निम्न कक्षाएँ विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित कालेजों में होनी चाहिये। व्यावसायिक शिक्षा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता की समस्या पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। अनुशासनहीनता से तात्पर्य केवल यह नहीं लेना चाहिये जैसा कि साधारणतः शिक्षा अधिकारियों के द्वारा किया जाता है कि विद्यार्थियों में उन राजनीतिक दलों का भी प्रभाव है जो कांग्रेस के विरोधी है। परन्तु मुख्यतः नैतिक पक्ष की ओर ध्यान देना चाहिये। यह अत्यन्त ही खेद का विषय है कि कॉलिजों तथा विश्वविद्यालयों में महिला छात्रों के प्रति विद्यार्थियों का व्यवहार उद्दण्डतापूर्ण तथा कुछ मात्रा तक अश्लीलतापूर्ण है। इस दशा में शिक्षा अधिकारियों को पूर्ण ध्यान देना चाहिये जिस देश का आदर्श था कि स्त्रियां देवियाँ हैं वहां के विद्यार्थियों को ऐसा व्यवहार शोभा नहीं देता। यह सत्य है, कि अधिकांशतः विद्यार्थी सभ्य तथा सुसज्जन है।

विश्वविद्यालय आयोग (University Commission) — भारत सरकार ने विश्वविद्यालयों में सुधार के उद्देश्य से एक आयोग नवम्बर सन १९४८ में नियुक्त किया था। इसके अध्यक्ष सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन थे। इसके अन्य सदस्य भारत तथा विदेशों के प्रमुख शिक्षा विशेषज्ञ थे। इस आयोग ने सब विश्वविद्यालयों तथा कई प्रमुख कालिजों का निरीक्षण करने के पश्चात अपनी रिपोर्ट सन १९४९ में सरकार को दी। इस रिपोर्ट की अधिकतर सिफारिशों का २२ अप्रैल सन १९५० की बैठक में Central Advisory

---

' The Universities must make provision for the efficient training of personnel needed for industrial development of the country' Nurullah and Naik, Ibid, p 237

1 विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता के लिये देखिये— विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता लेखक श्री हुमायूं कबीर।

Board ने मान लिया था। आशा है भविष्य में सरकार इन सिफारिशों को लागू करेगी। देश में कुछ लोगों ने कमीशन की रिपोर्ट की कुछ सिफारिशों की आलोचना की। प्रयाग लखनऊ तथा विश्वविद्यालय के कई अध्यापकों ने इन रिपोर्टों को असन्तोषजनक बतलाया। उसमें निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें थीं:—

(१) इन्टरमीडिएट कक्षा हटा दी जावे। हायर सेकेन्ड्री कोर्स तथा बी० ए० कोर्स तीन-तीन वर्ष के हों।

(२) प्रत्येक छात्र को हिन्दी का अध्ययन कराया जाय। परन्तु जब तक हिन्दी में प्रमाणित पुस्तकों का अभाव है तब तक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहे।

(३) विश्वविद्यालय में केवल वे ही भर्ती किए जावें जिनको इस प्रकार की शिक्षा से लाभ होगा। शेष विद्यार्थी औद्योगिक तथा व्यावसायिक कालेजों में भर्ती हों। विश्वविद्यालय में तभी विद्यार्थियों को भर्ती किया जाय जब कि वे इसके पूर्व १२ वर्ष की शिक्षा समाप्त कर चुके हों।

(४) शिक्षक तथा विद्यार्थियों के बीच सम्पर्क बढ़ाने के लिये ट्यूटोरियल (Tutorial) कक्षाएं हों।

(५) विश्वविद्यालयों में छुट्टियों की संख्या कम कर दी जावे।

(६) किसी विषय के ऊपर किसी विशेष पुस्तक के आधार पर पढ़ाई के स्थान में शिक्षक विद्यार्थियों को उस विषय पर अधिकाधिक पुस्तकें पढ़ने को उत्साहित करें।

(७) ग्राम विश्वविद्यालयों की स्थापना की जावे ताकि उनमें शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी गाँवों के जीवन में भाग ले सकें। यहीं उन्हें कृषि, ग्रामसुधार आदि विषयों से सम्बन्धित बातों की शिक्षा दी जावेगी।

(८) अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की जावे।

(९) इन विषयों पर अधिक ध्यान दिया जाय—कृषि, व्यवसाय, शिक्षा, इंजीनियरिंग और औद्योगिक विज्ञान, विधि शास्त्र तथा चिकित्सा शास्त्र।

(१०) सरकारी सेवाओं के लिये विश्वविद्यालय की डिग्री आवश्यक न समझी जाय।

टेकनिकल तथा औद्योगिक शिक्षा—इस प्रकार की शिक्षा का राष्ट्र के जीवन में विशेष महत्व होता है। पहले लिखा जा चुका है कि सैडलर कमीशन ने इस प्रकार की शिक्षा की ओर ध्यान देने पर जोर दिया था। परन्तु देश में इस प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं की अत्यन्त कमी है। यह कहा जाता है कि हमारी औद्योगिक अवनति का एक प्रमुख कारण टेकनिकल तथा व्यावसायिक स्कूलों की कमी है। सन् १९४७-४८ में देश में निम्नलिखित स्कूल तथा कालिज थे जिनमें पेशे सम्बन्धी तथा व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध था।[1]

	स्कूल	कालिज
इन्जीनियरिंग तथा टेकनोलोजी	५१७	२९
मेडिकल तथा वैटेरिनरी	३९	४१
कृषि तथा वन सम्बन्धी	४१	२२
कानून	—	२०
शिक्षण संस्थाएँ	७१५	७१
कामर्स	४११	२०

ऊपर दिए हुए रेखाचित्र से यह स्पष्ट होता है कि भारत जैसे देश में इस प्रकार के शिक्षालयों की कितनी कमी है। इसका कारण यह है कि विदेशी शासन ने इस प्रकार की शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। परन्तु अब इस प्रकार की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। आशा है भविष्य में इस ओर अधिक ध्यान दिया जायेगा।

हमारे देश में औद्योगिक तथा टेकनिकल शिक्षा का विकास करने के लिये सन् १९३६ में एक कमेटी की स्थापना की गई थी। इस कमेटी ने अपनी सिफारिश में यह कहा कि देश में कुछ जूनियर तथा सीनियर वकेशनल स्कूल्स खोले जाय तथा प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय सरकार को परामर्श देने के लिये एक परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जाय। सन १९४१ में इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार दिल्ली में एक पोलीटेकनिक की स्थापना हुई।

1. ये आंकड़े Hindustan Year Book 1955 p 316 से लिये गए हैं।

युद्ध काल में टेकनिकल शिक्षा में सुझाव रखने के लिये एक समिति नियुक्त की गई थी। इसके अध्यक्ष श्री सार्जेन्ट थे। इस समिति ने नीचे लिखे तीन प्रकार के टेकनिकल स्कूल खोलने की राय दी :—

(१) जूनियर टेकनिकल या ट्रेड स्कूल—इसमें वे विद्यार्थी भर्ती होंगे जिन्होंने १४ वर्ष की उम्र के लगभग सीनियर बेसिक स्कूल पास किया हो। इनका पाठ्यक्रम दो वर्ष का होगा।

(२) टेकनिकल हाई स्कूल—इनका पाठ्यक्रम ६ वर्षों का होगा। इसमें वे भर्ती होंगे जिन्होंने ११ वर्ष की उम्र के लगभग जूनियर बेसिक स्कूल पास किया हो।

(३) सीनियर टेकनिकल इन्स्टीट्यूशन—यी तीन वर्ष के पाठ्यक्रम के बाद डिप्लोमा प्रदान करेंगे। ये उन लोगों के लिये होंगे जो कि नौकरी पेशे में हों परन्तु इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करना चाहते हों। ये पार्ट-टाइम (part time) स्कूल होंगे।

सरकार अब इस प्रकार की शिक्षा को फैलाने के लिये कार्य कर रही है। बिना इसके देश के औद्योगीकरण में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

सन् १९४५ में औद्योगिक शिक्षा के लिये अखिल भारतीय समिति (All India Council for Technical Education) की स्थापना भारत सरकार द्वारा की गई। इसका कार्य सरकार को उच्च औद्योगिक शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देना है।

सरकार द्वारा चार औद्योगिक शिक्षालयों की स्थापना की जायगी। इनमें से तीन खड़गपुर, कानपुर तथा बम्बई में स्थापित हो चुके हैं। चौथे की स्थापना मद्रास में की जायगी।

केन्द्रीय मंत्रिमंडल में वैज्ञानिक-शोध तथा औद्योगिक शिक्षा का एक विभाग है जो कि एक मंत्री के अधीन है।

अन्य संस्थाएँ:—देश में कुछ अन्य शिक्षा संस्थाएँ भी हैं। इनमें से कुछ राष्ट्रीय जागृति या धार्मिक जागृति के फल हैं—जैसे गुरुकुल (हरद्वार), महिला विश्वविद्यालय (बम्बई), जामिया मिलिया (दिल्ली), दारुलउलूम (देवबन्द), महिला विद्यापीठ (प्रयाग), हिन्दी विश्वविद्यालय (प्रयाग)। इनमें से प्रत्येक का अपना पाठ्यक्रम है। पहले शांतिनिकेतन भी इसी कोटि में था, परन्तु अब सरकार ने उसे विश्वविद्यालय स्वीकृत कर लिया है।

देश में कुछ अंग्रेजी या अमरिकन मिशन के भी स्कूल हैं। इनमें मुख्यतः अंग्रेजी शिक्षा दी जाती है। देहरादून में तथा नैनीताल में अंग्रेजी पब्लिक स्कूलों की तरह के स्कूल खुले हैं परन्तु ये धनी व्यक्तियों के बच्चों के लिये ही हैं। कुछ बच्चों के स्कूल मॉण्टेसरी ढंग से शिक्षा देते हैं। आजकल यह प्रथा बहुत प्रचलित हो रही है।

हमारी शिक्षा की समस्याएँ—इन समस्याओं में मुख्यतः तीन हैं—(१) जन शिक्षा, (२) स्त्री शिक्षा, (३) गृह शिक्षा। प्रत्येक का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

(१) जन शिक्षा—१५० वर्षों के विदेशी शासन काल में हमारे देश में आधुनिक शिक्षा का कुछ विकास तो हुआ परन्तु जनसंख्या का अधिकांश भाग अशिक्षित ही रह गया। हमारे देश में संसार के अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा अशिक्षितों की संख्या सबसे अधिक है ? अशिक्षा के सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक दुष्परिणामों का बतलाया जा चुका है ? इसलिये यह आवश्यक है कि देश से निरक्षरता को दूर किया जावे। यह असम्भव नहीं है। रूस ने ७० वर्षों के अन्दर अपने यहाँ से अशिक्षा का समूल नष्ट कर दिया। आधुनिक चीन भी इस दिशा में तेजी से प्रगति कर रहा है। हमारी सरकार ने भी इस दिशा में कदम उठाया है। स्थान-स्थान पर नए प्रारम्भिक स्कूल तथा रात्रि पाठशालाओं की स्थापना की गई है। रेडियो तथा भाषणों द्वारा जनता को शिक्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जन शिक्षा के सम्बन्ध में दो योजनाओं का संक्षिप्त विवरण आवश्यक प्रतीत होता है—गाँधी जी की वर्धा योजना तथा सार्जेन्ट योजना।

(अ) वर्धा योजना—मार्च १९३८ में डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में वर्धा में एक कमेटी की स्थापना हुई थी। उसने अपनी रिपोर्ट दी और उसकी सिफारिशों को Wardha Scheme of Basic Education कहा जाता है। यह निस्सन्देह भारत की अशिक्षा को दूर करने की सबसे बड़ी योजना है। इस अर्थ में यह एक क्रान्तिकारी योजना है। सर्वप्रथम गाँधी जी ने सन् १९३७ में अपने एक लेख में इस योजना का रेखा चित्र रखा था। इसमें चार मुख्य बातें हैं —

(क) यह योजना मुख्यतः गाँवों के लिये है, क्योंकि गाँवों में अशिक्षा शहरों से अधिक है। परन्तु यह नगरों में भी लागू हो सकती है। इसका उद्देश्य सब बच्चों के लिये अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करना है।

(ख) यह केवल प्रारम्भिक शिक्षा की योजना है। इसका पाठ्यक्रम सात वर्ष का है।

इसका उद्देश्य साधारण शिक्षा के साथ-साथ किसी प्रकार की दस्तकारी सिखाना भी है। यह दस्तकारी ही बालक के मानसिक विकास का मुख्य साधन बनाई जायगी।

(ग) इस शिक्षा के द्वारा जनता के ऊपर कोई नया कर नहीं लादा जायगा क्योंकि यह शिक्षा वस्तुतः आत्म-निर्भर होगी। क्योंकि यह विचार था कि इन शिक्षा संस्थाओं में जो माल बच्चों द्वारा तैयार होगा उसकी बिक्री से पर्याप्त आमदनी हो जावेगी।

(घ) यह शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम द्वारा दी जायगी। इसमें बच्चों को शिक्षित होने में सहूलियत होगी।

वर्धा शिक्षा योजना कम खर्च में भारत से निरक्षरता को दूर करना चाहती है। इसके साथ ही साथ वह शिक्षा देना चाहती है जो कि जीवन में बालकों के लिये लाभप्रद तथा उपयोगी होगी। इसका यह उद्देश्य था कि गाँवों से जो बहुतेरे निवासी नगरों को जा रहे हैं उन्हें रोका जाय। इस योजना के प्रवर्तकों का ठीक ही विचार था कि अभी तक जैसी अवस्था है उसमें भारत का उद्धार तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि गाँवों की दशा में सुधार न हो।

(ब) सार्जेन्ट योजना :—वर्धा योजना केवल प्रारम्भिक शिक्षा की योजना थी परन्तु सार्जेन्ट योजना माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की भी योजना है। सरकार ने एक कमेटी युद्धोत्तर भारत में शिक्षा विकास की योजना प्रस्तुत करने को नियुक्त की थी। इसकी रिपोर्ट सन् १९४४ में प्रकाशित हुई। इस कमेटी के अध्यक्ष सर जौन सार्जेण्ट थे, इसलिये यह सार्जेण्ट योजना कहलाई। संक्षेप में इस योजना के अनुसार :—

(अ) प्रारम्भिक शिक्षा के पूर्व नर्सरी स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों की शिक्षा होगी। यह निःशुल्क होगी। परन्तु अनिवार्य नहीं होगी। इसको पूर्व-प्रारम्भिक शिक्षा कहा गया है। इसमें २ से ६ वर्ष की अवस्था के बच्चे होंगे।

(ब) प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होगी। इसमें दो ग्रेड होंगे—जूनियर बेसिक शिक्षा तथा सीनियर बेसिक शिक्षा। पहले में ६ से ११ वर्ष तथा दूसरे में ११ से १४ वर्ष की उम्र के बच्चे (बालक तथा बालिकाएँ) होंगे। इस श्रेणी में साधारण ज्ञान के अतिरिक्त कोई एक उद्योग की भी शिक्षा

दी जावेगी। इसमें से केवल वही विद्यार्थी आगे पढने पा सकेंगे जो कि उच्च शिक्षा के योग्य समझे जावेंगे।

(स) प्रारम्भिक शिक्षा के बाद हाई स्कूल की शिक्षा होगी। इसका पाठ्यक्रम ६ वर्ष का होगा। ११ वर्ष से १७ वर्ष तक। जो विद्यार्थी जूनियर बेसिक पास करने के बाद योग्य समझे जायेंगे वे हाई स्कूल में भेज दिये जायेंगे। शेष सीनियर बेसिक करेंगे हाई स्कूल दो प्रकार के होंगे—एक academic और दूसरे technical। पहला विश्वविद्यालयों के लिये विद्यार्थियों को तैयार करेगा और दूसरा किसी पेशे के लिए।

(द) विश्वविद्यालयों में केवल योग्य विद्यार्थी ही भर्ती किये जायेंगे। गरीब तथा योग्य विद्यार्थियों को अधिक सहायता दी जावेगी ताकि वे अपना अध्ययन पूरा कर सकें। केवल इसी प्रकार शिक्षा का स्तर ऊँचा हो सकता है।

(य) इस योजना में इन बातों के अतिरिक्त व्यापारिक तथा व्यवसायिक शिक्षा प्रौढ शिक्षा आदि के ऊपर भी सुझाव थे।

इस योजना के कई सुझावों को अन्तर विश्वविद्यालय बोर्ड द्वारा मान लिया गया है। सार्जेण्ट योजना तथा वर्धा योजना दोनों ही हमारे देश से निरक्षरता को दूर करना चाहते हैं। वर्धा योजना बहुत कम खर्चीली है। सार्जेण्ट योजना केवल प्रारम्भिक शिक्षा की ही योजना नहीं है। इसका क्षेत्र अधिक व्यापक है।

(२) **स्त्री-शिक्षा** —जैसे पहले लिखा जा चुका है प्राचीन भारत में स्त्री शिक्षा की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाता था और कई विदुषियाँ उस समय हुई जिनका नाम आज तक हम नहीं भूले हैं। परन्तु क्रमशः स्त्री शिक्षा घटती चली गई और बाद को तो केवल प्रारम्भिक शिक्षा ही उनको साधारणतः प्राप्त थी। मध्यकाल में देश में पर्दा प्रथा का बहुत अधिक प्रचलन हो गया था। और इस कारण स्त्रियों का क्षेत्र केवल घर ही रह गया था। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक था कि उनकी शिक्षा की ओर उचित ध्यान न दिया जावे। कालान्तर में स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार बिल्कुल ही नहीं रहा। परन्तु आधुनिक काल में पुनः इस बात को सब विचारवान व्यक्ति समझने लग गए हैं कि बिना स्त्रियों को शिक्षित बनाये हमारे देश का उत्थान असम्भव है। अशिक्षित नारी अपने बाल-बच्चों का ठीक प्रकार पालन नहीं कर सकती है। यह समाज की क्या सेवा करेगी। सर्वप्रथम ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज तथा ईसाई मिशनरियों

ने स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। सरकार ने इस दिशा में बहुत बाद को कदम उठाया। २०वीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा ने पहले की अपेक्षा काफी उन्नति की है। नगरपालिकाओं तथा जिला बोर्डों ने स्त्रियों के प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था की है। उनकी माध्यमिक शिक्षा के लिये भी देश में शिक्षालय हैं। वे विश्वविद्यालयों में भी शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। बम्बई में एक स्त्री विश्वविद्यालय भी है। वे डाक्टरी, कानून तथा इन्जीनियरिंग की शिक्षा की ओर भी बढ़ रही हैं। परन्तु इतना सब होने हुए भी हमारे देश में केवल ३% स्त्रियाँ शिक्षित हैं। यह अत्यन्त लज्जा की बात है कि हमारे समाज का आधा हिस्सा पूर्ण रूप से अज्ञान में डूबा है। जो कुछ स्त्रियों की शिक्षा का प्रचार हुआ है वह भी अधिकतर नगरों तक ही सीमित है। इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि शीघ्रातिशीघ्र स्त्रियों के लिये प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य हो जाय।

(२) सह शिक्षा:—स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में ही सह-शिक्षा का भी प्रश्न उठता है। सन् १९३४ में अन्तरविश्वविद्यालय बोर्ड ने इस प्रश्न पर विचार किया था कि स्कूलों में सह-शिक्षा हो या नहीं। देश में काफी लोग इसके पक्ष में हैं। परन्तु बहुमत इसके विरुद्ध लगता है। सह-शिक्षा का प्रश्न, विश्वविद्यालयों या अन्य उच्च शिक्षा के केन्द्रों में नहीं उठता है। वहाँ तो सह-शिक्षा होगी ही। यह प्रश्न बहुत छोटी अवस्था के बालक-बालिकाओं के लिए भी नहीं उठता है। यह दोनों के बीच की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह वह अवस्था है जब हमारे चरित्र का निर्माण होता है तथा हमारी बुद्धि का विकास होता है।[1]

कुछ विद्वानों का कहना है कि सह-शिक्षा के कई लाभ हैं। उनके अनुसार बालक तथा बालिकाएँ एक दूसरे से स्वतंत्रतापूर्वक मिलकर एक दूसरों को भली-भाँति समझने लगते हैं और यह उनके भविष्य-जीवन के लिये अत्यन्त लाभप्रद होगा। सह-शिक्षा का एक गुण यह भी बतलाया जाता है कि वे एक दूसरे के गुणों को ग्रहण कर लेंगे। इससे उनका व्यक्तित्व और अधिक विकसित होगा। कुछ लोगों के अनुसार सह-शिक्षा में एक लाभ यह भी है कि बालक कक्षा में

1. "Education comprise that period of our lives in which our chatacters are formed and moulded and our faculties so developed and regulated by reason that we can therefore face life with equanimity. The question therefore is whether the education of boys and girls at that stage.. ...is possible and useful." *Siqueira, Ibid,* pp. 132-133.

कि प्रकार बैठते हैं और बदतमीजी करने की हिम्मत नहीं करते हैं। परन्तु सह-शिक्षा के विरोधियों का कहना है कि यह अत्यन्त हानिकारक है। इससे शिक्षा संस्थाओं का वातावरण दूषित हो जाता है। स्त्रियों तथा पुरुषों के क्षेत्र अलग-अलग हैं, इसलिए उनकी शिक्षा भी अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिये तथा उनमें अलग-अलग प्रकार के गुणों का विकास भी होना चाहिये। इनकी राय में सह-शिक्षा से भारतीय नारी को कोई लाभ नहीं होगा।

ऊपर संक्षेप में हमने भारत की शिक्षा से सम्बन्धित विविध समस्याओं का वर्णन किया है। एक बात स्पष्ट है, वह यह कि भारत में शिक्षा के प्रसार की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके बिना हमारी उन्नति असम्भव है।

प्रश्न

(१) भारत में शिक्षा की मुख्य समस्याएँ क्या हैं?

(२) उत्तर प्रदेश में १९४७ से लेकर अब तक शिक्षा में जो उन्नति हुई है उसका संक्षेप में वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९५५)

(३) भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली में क्या दोष हैं? आप उसमें कौन-कौन सुधार करेंगे। (यू० पी० १९५५)

अध्याय २५

भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ

अत्यन्त प्राचीन काल में विभिन्न राज्यों के बीच में किसी न किसी प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं। इन राज्यों ने कई अवसरों पर इस बात का प्रयत्न किया कि उनके बीच के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहें और वे अपने आपसी झगड़े का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा कर दें। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह भावना भी बढ़ती गई। प्राचीन यूनान में इस प्रकार के संघ थे। मध्यकाल में सब ईसाई यूरोपीय दलों में यह भावना थी कि वे सब एक ही धर्म के अनुयायी होने के कारण एक ही बृहद् समाज के सदस्य हैं। आधुनिक काल में १५वीं तथा १६वीं शताब्दियों में राष्ट्रों ने एक दूसरे के विरुद्ध युद्धों में अत्यंत ही पाशविकतापूर्ण व्यवहार किया। परन्तु सन् १६४८ के बाद यह भावना उत्पन्न हो गई थी कि सब यूरोपीय राष्ट्र एक परिवार के सदस्य हैं। इस काल में कई विद्वानों ने इस बात पर जोर दिया। इनमें से मुख्य नाम ये हैं—फ्रान्स के राजा हेनरी चतुर्थ का मंत्री सली (Sully), आबे सां पियर, रूसो, कान्ट, तथा बेन्थम। १९ वीं शताब्दी में नैपोलियन की हार के बाद यूरोप के बड़े देशों ने एक सन्धि (नवम्बर १८१५) द्वारा यह तय किया था कि प्रति वर्ष उनकी एक बैठक होगी जिसमें वे विभिन्न समस्याओं को सुलझा लेंगे। इसको Concert of Europe कहते हैं। परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चली। सन् १८९९ तथा १९०७ में दो कॉन्फ्रेंस हुईं जिनको हेग कॉन्फ्रेंस कहते हैं। ये भी अधिक सफल नहीं रहीं। सन् १९१४-१९१८ के प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह विचार बढ़ा कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना होनी चाहिये। इस संगठन को राष्ट्र-संघ (League of Nations) कहते हैं। इस संघ का उद्देश्य संसार में शांति को बनाये रखना था। इसलिए इसको यह अधिकार दिया गया था कि अगर किन्हीं राज्यों के मध्य कोई ऐसा विवाद उठ खड़ा हो जिससे कि संसार की शांति को भय हो तो राष्ट्र-संघ दोनों दलों को शांतिपूर्ण ढंग से उस विवाद को तय करने को कह सकता था और अपने सुझाव दे सकता था। इसके सदस्यों के लिए तो यह आवश्यक था कि वे अपने सब विवाद शान्तिपूर्ण ढंग से तय करें।

राष्ट्रसंघ का दफ्तर जिनेवा में था। इसके मुख्य अंग थे—सभा, कौंसिल, सचिवालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ तथा कई समितियां। राष्ट्रसंघ से जैसी आशा थी वह पूर्ण नहीं हुई। इसके सदस्यों ने अपने स्वार्थों के सम्मुख संसार की शान्ति तथा सुरक्षा की परवाह नहीं की। जब जर्मनी ने वर्साई सन्धि की उपेक्षा की या इटली ने अबीसीनिया को हड़प लिया, जब जापान ने चीन पर आक्रमण किया तब राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। इससे यह स्पष्ट हो गया कि बड़े राष्ट्र राष्ट्रसंघ की उपेक्षा कर रहे हैं। इसी का यह फल हुआ कि राष्ट्रसंघ द्वितीय महायुद्ध को नहीं रोक सका।

भारत भी राष्ट्रसंघ का सदस्य था। तब भारत परतन्त्र देश था परन्तु क्योंकि इसने वार्साई की सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे इसलिए इसको राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो गई थी। परन्तु भारत के प्रतिनिधि अंग्रेज सरकार द्वारा छांटे जाते थे अतएव वे इंगलैंड के हितैषी थे न कि भारत के हितों के प्रतिनिधि। इन सब बातों के होते हुए भी भारत ने राष्ट्रसंघ के कई कामों में महत्वपूर्ण भाग लिया जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (International Labour Organization)। राष्ट्रसंघ के बारे में कहा जाता है कि राजनैतिक मामलों में (Political matters) में तो उसे सफलता नहीं मिली परन्तु सामाजिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों में इसने अच्छा काम किया। भारत में राष्ट्रसंघ की एक शाखा दिल्ली में थी। इसका काम राष्ट्रसंघ के बारे में प्रचार करना था। भारत की सरकार ११ लाख रुपया प्रतिवर्ष राष्ट्रसंघ को देती थी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ—द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर लोगों की आंखें फिर खुलीं। इसके विनाशकारी परिणामों ने स्पष्ट रूप में यह दिखला दिया कि अगर सभ्यता तथा मानवता को नष्ट होने से बचाना है तो राष्ट्रों को आपस में शान्तिपूर्ण उपायों से अपने सब मामलों को तय कर लेना चाहिए। मित्र राष्ट्रों ने सन् १९४३ में यह तय कर लिया कि युद्ध की समाप्ति पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जावेगी जिसका प्रमुख काम संसार की शान्ति रक्षा होगा। सन् १९४४ में डम्बर्टन ओक्स में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक बैठक के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की एक योजना बनाई गई जिसको डम्बर्टन ओक्स योजना कहते हैं। सन् १९४५ में सान फ्रांसिस्को में फिर एक मित्र-राष्ट्रों की बैठक हुई। इसमें डाम्बर्टन ओक्स योजना पर विचार विमर्श हुआ तथा एक नया चार्टर बनाया गया। इसका नाम संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर (United Nations Charter) रखा गया। इस चार्टर पर ५१ राष्ट्रों ने हस्ताक्षर

किये। इस प्रकार जब संयुक्त राष्ट्रसंघ की अक्टूबर सन् १९४५ में स्थापना हुई तो इसके ५१ सदस्य थे।[1]

उद्देश्य—संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रस्तावना में कहा गया है कि युद्ध के भय का सदा के लिए नाश करने को, व्यक्ति के तथा राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा करने को, न्याय की स्थापना करने को तथा सामाजिक उन्नति और जीवन-स्तर ऊँचा करने को, इस राष्ट्रसंघ की स्थापना की जा रही है।

चार्टर की पहली धारा में निम्नलिखित उद्देश्य बतलाए गये हैं:—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना।

(२) राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को हल करने के लिए राष्ट्रों में सहयोग करना तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना।

(४) इन उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये, विभिन्न राष्ट्रों के कार्यों को संयोजित करने के लिये, केन्द्र-रूप में कार्य करना।

धारा-२ में उन सिद्धान्तों का वर्णन है जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ कार्य करता है।

---

१. निम्नलिखित राष्ट्र इसके प्रथम ५१ सदस्य थे :—

अर्जेंटाइना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, बोलिविया, ब्राजील, बेलोरूसिया, कैनेडा, चीलि, चीन, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, जैकोस्लोवाकिया, डेन्मार्क, डोमिनिकन रिपब्लिक, इक्वेडोर, इजीप्ट, एल सैल्वाडोर, इथियोपिया, फ्रांस, ग्रीस, ग्वाटेमाला, हैटी, हान्डरस, भारत, ईरान, ईराक, लेबनान, लक्जमबर्ग, मैक्सिको, नेदरलैण्ड्स, न्यूजीलैण्ड, निकारागुआ, नार्वे, पनामा, पैरेगुये, पेरू, फिलीपीन, पोलैंड, सौदी अरब, सीरिया, टर्की, यूक्रेन, दक्षिणी अफ्रीका, रूस, इंगलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, युरुग्वे, वेनेजुएला तथा युगोस्लाविया।

इन ५१ सदस्यों के पश्चात् निम्नलिखित ३० राज्य और इसके सदस्य हो गये हैं:—अफगानिस्तान, आइसलैण्ड, स्वीडेन, थाइलैण्ड, पाकिस्तान, यमन, बर्मा, इसराइल, इन्डोनेशिया, अल्बानिया, आस्ट्रिया, बल्गेरिया, कम्बोडिया, सीलोन, फिनलैण्ड, हंगरी, आयरलैंड, इटली, जोर्डन, लाओस, लीबिया, नेपाल, पुर्तगाल, रूमानिया, स्पेन, मोरक्को, सूडान, ट्यूनिशिया, जापान तथा घाना।

(अ) सदस्यों की सार्वभौमता तथा

(ब) प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्यों का ठीक ढंग से पालन करेगा।

(स) वे अपने आपसी विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से फैसला करेंगे।

(द) वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक दूसरे के विरुद्ध न युद्ध करेंगे और न इसकी धमकी ही देंगे।

(य) वे संयुक्त राष्ट्र संघ को इसकी कार्यवाही में प्रत्येक प्रकार की सहायता देंगे।

(र) संयुक्त राष्ट्र संघ किसी राज्य के आन्तरिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के छः मुख्य भाग (Organs) हैं साधारण सभा, सुरक्षा परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, सचिवालय, आर्थिक तथा सामाजिक संरक्षित-संरक्षण परिषद्।

साधारण सभा —संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य राज्य का इसमें प्रतिनिधित्व होता है। इसको हम संसार की संसद् कह सकते हैं। प्रतिवर्ष इसकी एक बैठक होती है। परन्तु इसकी विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। साधारण निर्णय बहुमत द्वारा तथा महत्वपूर्ण मामलों में दो-तिहाई बहुमत द्वारा निर्णय लिये जाते हैं।

प्रत्येक बैठक में सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य भाग साधारण सभा को अपने कामों की रिपोर्ट देते हैं। सेक्रेटरी जनरल पूरे संयुक्त राष्ट्र संघ के कामों पर एक रिपोर्ट देता है। साधारण सभा सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों का तथा आर्थिक और सामाजिक समिति और संरक्षण समिति के सदस्यों का चुनाव करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में भी सुरक्षा परिषद् के साथ भाग लेती है तथा सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सेक्रेटरी जनरल को नियुक्त करती है।

सुरक्षा-परिषद् —इसमें ११ सदस्य हैं। इनमें से ५ तो स्थायी सदस्य हैं—ब्रिटेन, फ्रांस, चीन तथा संयुक्त राज्य अमरिका। शेष ६ सदस्यों का दो वर्ष के लिए साधारण सभा द्वारा निर्वाचन होता है। सुरक्षा-परिषद् संघ की कार्यकारिणी समिति है। इसको महत्वपूर्ण अधिकार दिए गये हैं।

सुरक्षा-परिषद् का अधिवेशन स्थायी रूप से होता रहता है। प्रत्येक पक्ष इसकी कम से कम एक बैठक अवश्य होती है। प्रत्येक सदस्य को एक वोट का अधिकार है। महत्वपूर्ण विषयों के निर्णय के लिये इसके प्रत्येक स्थायी सदस्य का वोट होना आवश्यक है। अगर इनमें से कोई ऐसे विषय के विपक्ष में

मत दे दे तो फिर सुरक्षा परिषद् कोई निर्णय नहीं ले सकती है। इसको विशेषाधिकार (Veto) कहा जाता है। कार्यक्रम से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के लिये ११ में से ७ मत पक्ष में होने चाहिए।

सुरक्षा परिषद् संसार में शान्ति की संरक्षक है। इसको यह अधिकार है कि अगर किन्हीं राज्यों के बीच में युद्ध की आशंका हो तो यह उनको विवाद का निर्णय शांतिपूर्ण ढंग से करने को कह सकती है। अगर कोई राज्य इसकी सिफारिशों को न माने तो यह उसे आक्रमणकारी (aggressor) घोषित कर उसके विरुद्ध आवश्यक कार्रवाई कर सकती है। प्रत्येक सदस्य चार्टर द्वारा वचन-बद्ध है कि वह सुरक्षा परिषद् को प्रत्येक प्रकार की सुविधा तथा सहायता, जिसकी कि परिषद् मांग करे, देगा। परिषद् को सैनिक विषयों में सहायता देने के लिये सैनिक-समिति है जिसमें प्रत्येक स्थायी सदस्य का एक प्रतिनिधि है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय:—इसकी बैठकें हेग (हालैण्ड) में होती हैं। इसमें १५ न्यायाधीश होते हैं, परन्तु एक राज्य में से एक से अधिक व्यक्ति इसका न्यायाधीश नहीं हो सकता है। इन न्यायाधीशों को साधारण सभा तथा सुरक्षा-परिषद् निर्वाचित करती है। उनका कार्यकाल ९ वर्ष का होता है।

इस न्यायालय को राज्यों के बीच किसी विवाद के निर्णय करने का अधिकार है। परन्तु यह किसी विवाद का निर्णय तभी कर सकता है जबकि उससे सम्बन्धित दोनों दल इसके निर्णय को मानना स्वीकार कर लें। इस न्यायालय की व्यवस्था इसलिये की गई है ताकि विभिन्न राज्य अपने विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से तय कर लें।

सचिवालय.—यह अन्तर्राष्ट्रीय सिविल सर्विस है।[1] इसके प्रत्येक सदस्य को इस बात की शपथ लेनी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के हितों को ध्यान में रखते हुए काम करेगा। इसमें प्रत्येक जाति तथा रंग के व्यक्ति हैं। इसका प्रधान सेक्रेटरी जनरल कहलाता है जिसका निर्वाचन सुरक्षा परिषद् की

---

1. "In the performance of their duties the Secretary General and the staff shall not seek or receive instruction from any government or from any other authority external to the Organisation. They shall refrain from any action which might reflect on their position as international officials responsible only to the Organisaion.

सिफारिश पर साधारण-सभा द्वारा किया जाता है। उसको सहायक सेक्रेटरी जनरल तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त करने का अधिकार है। सचिवालय में आठ विभाग हैं। इनके क्रमशः ये काम हैं सुरक्षा परिषद् से सम्बन्धित मामले, आर्थिक मामले, सामाजिक मामले, संरक्षण तथा अधीन देशों से सम्बन्धित सूचना, सार्वजनिक सूचना कानूनी सम्मेलन तथा साधारण सेवाएँ तथा प्रशासनीय और आर्थिक सेवाएँ।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् —इसमें १९ सदस्य हैं जिनका निर्वाचन साधारण सभा द्वारा तीन वर्ष के लिये किया जाता है। इसके निर्णय बहुमत से होते हैं। इसका काम अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं के हल करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को उत्साहित करना है। यह इन समस्याओं से सम्बन्धित विविध विषयों का अध्ययन करती है तथा समय-समय पर सदस्य-राष्ट्रों के अधिवेशन बुलाती है। इसका काम संसार की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करना है। इस परिषद् के नीचे कमीशन विविध विषयों पर काम कर रहे हैं।

संरक्षण परिषद् —संयुक्त राष्ट्र संघ के कई सदस्यों के अधीन कई देश हैं। इन पराधीन देशों का भी चार्टर द्वारा ध्यान रखा गया है। इसके द्वारा इस बात की घोषणा की गई है कि जो सदस्य राष्ट्र ऐसे पराधीन देशों का शासन करते हैं वे इनके हितों का पूरा-पूरा ध्यान रखेंगे तथा प्रत्येक क्षेत्र में उन प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ को समय-समय पर रिपोर्ट देंगे जिनमें कि वहाँ की स्थिति के ऊपर प्रकाश डाला जायगा। पराधीन देशों के शासन के लिए संरक्षण परिषद् की स्थापना की गई है। इसमें इस समय १२ सदस्य हैं। इस परिषद् का मुख्य काम इन पराधीन देशों की आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति के सम्बन्ध में रिपोर्ट की जाँच करना तथा समय-समय पर इन प्रदेशों में जाँच करने के लिये मिशनों का भेजना है। कई राज्यों ने अपने अधीन देशों को संरक्षण परिषद् के सुपुर्द कर दिया है।

विशेष एजेन्सियाँ —संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ विशेष अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों के साथ अपने काम को सुचारु रूप से चलाने के उद्देश्य से समझौता कर लिया है। इन एजेन्सियों का चार्टर में कोई वर्णन नहीं है। ये संयुक्त राष्ट्र संघ के भाग भी नहीं हैं परन्तु इनका उद्देश्य भी किसी विशेष क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना है। इनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ—इसकी स्थापना २९ अक्टूबर सन् १९१९ में हुई थी। इस संघ का उद्देश्य

प्रत्येक देश में श्रमिकों की दशा में सुधार करना है। (२) खाद्य तथा कृषि संघ—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है इसका उद्देश्य संसार में कृषि की उन्नति करना है। (३) संयुक्त राष्ट्र का शिक्षा, सांस्कृतिक, तथा वैज्ञानिक संघ—इसका उद्देश्य राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में सहयोग द्वारा शान्ति को बढ़ाना है। (४) अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—यह सदस्य देशों को आर्थिक उन्नति अथवा पुनर्निमार्ण के कामों के लिये रुपया उधार देता है। इसके अतिरिक्त इस बात का प्रयास करता है कि राष्ट्रों के बीच व्यापार सन्तुलित हो।

इनके अतिरिक्त कई अन्य एजेन्सियां हैं—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व स्वास्थ्य संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था, विश्व डाक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद संघ आदि। इन संघों का काम अपने-अपने विशेष क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना है।

भारत तथा संयुक्त राष्ट्र संघ :—हमारा देश संयुक्त राष्ट्र के प्रारम्भिक सदस्यों में से एक है। आरम्भ से ही स्वतन्त्र भारत की सरकार ने इस बात की घोषणा कर दी थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति और सब राष्ट्रों में मित्रता की नीति का अनुसरण करेगी। हमारा देश संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नोक्त संगठनों (organizations) का भी सदस्य है. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संस्था, खाद्य तथा कृषि संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय तार संवाद संघ, विश्व डाक संघ, विश्व स्वास्थ्य संघ, अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री परामर्श संस्था। इन संगठनों के अतिरिक्त भारत अनेक आयोगों (commissions) का भी सदस्य है। जैसे, मानव अधिकार आयोग, मादक वस्तु आयोग, यातायात तथा संवाद आयोग, सुदूर पूर्व एशियाई आर्थिक आयोग इत्यादि।

भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति को अपनाया है। इस समय दो दल हैं—अमेरिकन तथा रूस और उनके साथी। भारत की सरकार का कहना है कि वह इन दोनों में से किसी के साथ भी नहीं है और स्वतन्त्र नीति का अनुसरण कर रही है। सरकार के कुछ आलोचकों का कहना है कि ऐसी नीति हमारे देश के हित में नहीं है। हम इससे न अमेरिका से ही सहायता की आशा कर सकते हैं और न रूस से ही।

पं० नेहरू के अनुसार संसार का दो प्रतिस्पर्धी गुटों में विभाजन शान्ति के हित में नहीं है। यदि भारत इनमें से किसी एक गुट का सदस्य हो जाय तो शान्ति

के हित में उसकी कार्य करने की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। भारतवर्ष, अमेरिका तथा रूस दोनों से ही मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता है। उसे इन दोनों महान देशों से बहुत-कुछ सीखना है। परन्तु वह इन देशों की नीति से पूर्णत सहमत नहीं। इसलिए भारत सरकार की तटस्थता की नीति वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक शान्ति के प्रयत्न में काम करने की नीति है। भारत ने अमेरिका तथा रूस के उन कामों का समर्थन किया जिनको वह ठीक समझता था उन कामों का विरोध किया जिनके औचित्य पर उसे सन्देह था।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति अत्यन्त ही सफल रही है और अब तो प० नेहरू की नीति के विरोधी भी यह स्वीकार करते हैं कि भारत को इस क्षेत्र में अत्यन्त सफलता मिली है। आज समस्त संसार भारत की शांतिपूर्ण नीति की मुक्तकंठ से सराहना कर रहा है। प० नेहरू का चीन तथा यूरोप के देशों में अभूतपूर्व स्वागत हुआ। यह इस कथन को सिद्ध करता है कि हमारी पर-राष्ट्र नीति सफल है।

प्रत्येक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामले में भारत ने इस बात का प्रयत्न किया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की मर्यादा न घटने पाए।[1] भारत के अनुसार संसार के राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े शान्तिपूर्वक सुलझाये जा सकते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ इस दशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है यदि इसे इसके सदस्यों का पूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

---

1 श्री चेस्टर बोल्स (Chester Bowles) ने जो भारत में पहले संयुक्त राज्य अमेरिका के राजदूत थे अपनी पुस्तक में भारत के विषय में लिखा है, "In the United Nations, she has stood out as a militant and uncompromising foe of colonialism and a champion of the right of still subject people to independence This position has brought her in conflict on occasion with American views that the principle of self determination must give way to the pressure of contemporary *Real politik*. On the whole, however, I think it has been to our advantage to have another democratic nation stating the case for freedom, on these occasions when rightly or wrongly, we have felt we could not rather than leave this field to Communism." The New Dimensions of Peace, p 165.

भारत ने न केवल दूसरे देशों के विषय में परन्तु उन विषयों में भी जिनमें इनके अपने स्वार्थ निहित थे इसी नीति को अपनाया है। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण काश्मीर का प्रश्न है। यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हुआ है कि भारतीय सेना उस समय इस स्थिति में थी कि काश्मीर से आक्रमणकारियों को बल प्रयोग द्वारा पूर्णतः खदेड़ सकती थी, परन्तु हमारी सरकार ने काश्मीर की समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख न्यायोचित रूप से हल करने के लिये प्रस्तुत किया। यह दुख की बात है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में कुछ राष्ट्रों ने इस प्रश्न को शीत-युद्ध से सम्बन्धित कर दिया है और यह प्रश्न अभी तक नहीं सुलझ सका है।

कोरिया का प्रश्न जून १९५० में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये भय-कारक हो गया था। इसे लेकर अमेरिका तथा चीन के मध्य इतनी अधिक तनातनी बढ़ी कि एक समय ऐसा प्रतीत होने लगा था (सन् १९५३) कि यह प्रश्न एक नये युद्ध को जन्म देगा। परन्तु भारत की सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा यह प्रस्ताव पास कराया कि दोनों के मध्य युद्ध विराम हो जाय तथा दोनों पक्ष बन्दियों को लौटा दें। इसको कार्यान्वित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की नियुक्ति की गई थी और भारत इसका अध्यक्ष था।

इसी प्रकार **हिन्दचीन (Indo-china)** की समस्या के हल में भी भारत ने प्रमुख भाग लिया। हिन्द-चीन में वहाँ के राष्ट्रीय दल तथा फ्रांस के मध्य कई वर्षों से युद्ध चल रहा था। इसमें भी विश्व शान्ति को संकट उत्पन्न हो रहा था भारत की सरकार के प्रयास से इस समस्या को भी संयुक्त राष्ट्र संघ सुलझाने में सफल हो सका। जेनेवा में एक सम्मेलन हुआ जिसके द्वारा हिन्द चीन में युद्ध-विराम हुआ और एक आयोग की नियुक्ति की गई जो कि हिन्द चीन में जेनेवा सम्मेलन के प्रस्तावों के कार्यान्वित होने का निरीक्षण करता। इस कमीशन में तीन देशों के प्रतिनिधि थे—कनाडा, भारत तथा पोलैण्ड।

स्वेज-संकट भी विश्व में तृतीय युद्ध का सूत्रपात कर सकता था। परन्तु इस संकट के सुलझाने में भी भारत का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। जुलाई १९५६ में मिश्र की सरकार ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया। अक्टूबर १९५६ में मिश्र पर इसरायल, इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षण परिषद् में एक प्रस्ताव इस आशय का रखा गया कि कोई भी राष्ट्र मिश्र पर शक्ति प्रयोग न करे। परन्तु इंगलैण्ड तथा फ्रांस ने इस प्रस्ताव को वीटो कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में पुनः शान्ति के लिये प्रस्ताव पास किये गये और इन प्रयत्नों में भारत का भी प्रमुख भाग रहा। अन्त में मिश्र में एक

अन्तर्राष्ट्रीय सेना, संयुक्त राष्ट्र संघ के नीले तथा श्वेत झंडे के नीचे भेजी गयी और भारत ने भी इसमें योग दान दिया।

अक्टूबर १९५६ में हंगरी में वहाँ की साम्यवादी सरकार के विरुद्ध एक क्रान्ति प्रारम्भ हुई। रूस ने इसमें हस्तक्षेप किया और क्रांति को कुचल दिया और रूस की सहायता से साम्यवादी सरकार की पुनर्स्थापना हुई। भारत ने हंगरी में रूसी हस्तक्षेप की निन्दा की और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि भारत प्रत्येक राज्य के कार्यों को निष्पक्ष रूप से देखता है।

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अनेक अन्य समस्याओं के सुलझाने में भी भारत का योगदान रहा है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों में भारत का महत्वपूर्ण भाग रहा है। संसार के सम्मुख युद्ध का भय बना है और यह सभी जानते हैं कि तृतीय महायुद्ध मानवता के लिये घातक सिद्ध होगा। इसीलिये निःशस्त्रीकरण मानवता के जीवन-मरण का प्रश्न हो गया है। भारत ने प्रत्येक अवसर पर इस बात का प्रयत्न किया है कि विश्व की बड़ी शक्तियाँ निःशस्त्रीकरण कर लें जिससे युद्ध का भय दूर हो जाय। हमारी सरकार का यह दृष्टिकोण है कि अणु-शक्ति का प्रयोग मानवता कल्याण के लिए होना चाहिए न मानवता के विनाश के लिये। भारतीय नीति का आधार यह है कि जिस प्रकार एक समाज के सदस्य अपने विवादों का निर्णय शान्तिपूर्ण ढंग से करते हैं उसी प्रकार संसार के विभिन्न देशों को भी शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा अपने झगड़ों का सुलझाना चाहिये।

भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में उन सब प्रस्तावों का समर्थन किया है तथा इसकी उन सब कार्यवाहियों में सक्रिय भाग लिया है जो कि विश्व-शान्ति के हित में थी। भारत की सरकार का यह मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को वास्तव में विश्व के राज्यों तथा राष्ट्रों का सच्चा प्रतिनिधि होना चाहिये। इसीलिये भारत की यह नीति है कि साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वञ्चित रखना न केवल अन्यायपूर्ण है परन्तु संसार की शान्ति के हित में भी नहीं है। साम्यवादी सरकार को भारत चीन की वास्तविक तथा वैधानिक सरकार मानता है। इस समस्या को सुलझाने के लिये भारत विशेषतः प्रयत्नशील है।

भारत ने संसार में सर्वत्र **साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद** के विरुद्ध अपनी नीति रखी है। इसने बार बार इस बात को कहा है कि शान्ति के मार्ग में साम्राज्यवाद एक बड़ा रोड़ा रहा है। इसीलिये हमारी सरकार का यह दृष्टिकोण है कि साम्राज्यवादी देशों का कल्याण इसी में है कि वे अपने आधीन देशों को स्वतन्त्र करदें। क्योंकि बल प्रयोग द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम को दबाना सम्भव नहीं है।

इसीलिये हमारी सहानुभूति उनसे है जो स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील हैं। जब हिन्दएशिया ने डच साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये प्रयत्न किया और डच साम्राज्यवाद ने शक्ति द्वारा इसे दबाये रखना चाहा तब भारत ने एशियाई राष्ट्रों का सम्मेलन दिल्ली में बुलवाया तथा हिन्दएशिया की स्वाधीनता मांग को संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने रखा। उत्तरी अफ्रीका में जिन देशों ने फ्रांस से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया या कर रहे हैं उनसे हमारे देश की सहानुभूति है। इसी प्रकार सर्वत्र भारत की नीति साम्राज्यवाद की विरोधी रही है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सांस्कृतिक तथा आर्थिक कार्यवाहियों में भारत का प्रमुख भाग रहा है। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन में भारत ने भाग लिया है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ से संबंधित अनेक परिषदों तथा संगठनों का भारत सदस्य है और इनके उद्देश्यों को पूरा करने के लिये अपनी शक्तिभर प्रयत्नशील है।

भारत की परराष्ट्र-नीति के आधार—भारत की पर-राष्ट्र-नीति अन्य राष्ट्रों के साथ शान्ति तथा मैत्री की नीति है। संसार में इस समय मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य तथा उसकी सभ्यता का तृतीय महायुद्ध के द्वारा अन्त तो नहीं हो जायगा। अणु-बम तथा उद्जन बम के आविष्कारों के कारण अब सभी समझदार व्यक्ति इस विचार से अत्यन्त ही त्रस्त हैं। शान्ति की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि युद्ध के कारणों को दूर किया जाय। पूंजीवादी तथा साम्यवादी राज्यों के मध्य संघर्ष, साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पारस्परिक विभेद, अश्वेत तथा श्वेत जातियों के मध्य संघर्ष, उपनिवेशों तथा साम्राज्यवादी देशों के मध्य विरोध तथा संसार में गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, आदि, युद्ध के मुख्य कारण हैं। यदि इन कारणों को हटा दिया जाय तो युद्ध का भय नहीं होगा। इसलिए भारत की सरकार अन्य देशों के उन सब कार्यों का समर्थन करती है जो विश्व शान्ति के पक्ष में हैं।

विश्व-शान्ति के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक देश को अपनी पसन्द के अनुसार जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिये। उसकी सरकार किस प्रकार की हो, उसकी आर्थिक व्यवस्था क्या हो, तथा वहाँ के नागरिकों के क्या अधिकार हों, आदि बातें वहाँ की आन्तरिक बातें हैं जिनमें अन्य देशों को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राज्य को दूसरे राज्य की सम्प्रभुता तथा स्वतन्त्रता का आदर करना चाहिए और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये जिससे दूसरे राज्य का अहित हो। ऐसी नीति आवश्यक रूप से शान्ति तथा सह-अस्तित्व की होगी।

भारत की पर-राष्ट्रनीति साम्राज्यवाद की विरोधिनी है। साम्राज्यवाद का अर्थ है एक देश पर दूसरे देश का प्रभुत्व। यह प्रभुत्व राजनैतिक या केवल आर्थिक भी हो सकता है। हम स्वयं लगभग दो शताब्दियों तक अँग्रेजों के अधीन थे और हमारे देश का विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा शोषण किया गया था। इस-लिये यह स्वाभाविक है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की सरकार अपना यह कर्त्तव्य समझती है कि संसार में सभी देश साम्राज्यवाद के शोषण से मुक्त हो जाँय। भारत ने एशिया तथा अफ्रीका में उन समस्त देशों से अपनी सहानुभूति प्रकट की है तथा उन्हें प्रत्येक प्रकार से नैतिक बल प्रदान किया है जो साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये प्रयत्नशील हैं।

भारत की सरकार विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग में विश्वास करती है। किसी देश का दूसरे देश द्वारा आर्थिक शोषण नहीं होना चाहिये। परन्तु विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सहयोग उनकी पारस्परिक उन्नति के लिये आवश्यक है। इसीलिये हमारा देश बिना किसी प्रकार के भेद-भाव के अन्य देशों से अपने आर्थिक सम्बन्ध दृढ़ करना चाहता है। इसमें किसी प्रकार के राजनीतिक विभेद बाधा नहीं हो सकते। हमारे देश के अमरिका, इंगलैंड, रूस आदि सभी देशों से आर्थिक सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार भारत के अन्य देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध भी है। हमारे देश की सरकार का यह विश्वास है कि इस प्रकार के आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग से देशों के मध्य द्वेष, असहिष्णुता, कटुता आदि दूर होंगे और इनके स्थान पर मित्रता, सहिष्णुता आदि का निवास होगा।

परराष्ट्र नीति में भारत का यह सिद्धान्त है कि राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध स्व-तन्त्रता तथा समानता पर आधारित हों। इसलिए भारत किसी भी प्रकार के वर्ण-भेद को स्वीकार नहीं करता। कुछ देशों में श्वेत जातियाँ अश्वेत जातियों पर अत्याचार कर रही हैं। तथा उन्हें अनेक प्रकार से राजनीतिक तथा आर्थिक अधिकारों से वञ्चित कर रही हैं। भारत ने इस नीति का सदा स्पष्ट रूप से विरोध किया है। उदाहरणार्थ, भारत दक्षिण अफ्रीका की सरकार की अश्वेतांग जातियों के प्रति नीति का कट्टर विरोधी है।

भारत की सरकार अपनी परराष्ट्र नीति में इस सिद्धान्त पर चलती है कि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य जो अनेक कारणों से विभेद उत्पन्न होते हैं कि वे शान्ति-पूर्ण उपायों द्वारा सुलझाये जा सकते हैं। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संसार में राष्ट्रों के मध्य दो गुट बन गये हैं और इससे शीत-युद्ध का सूत्रपात हुआ। इससे कभी भी तृतीय महायुद्ध का आरम्भ हो सकता है। पं० नेहरू ने कई बार यह कहा है कि शीत युद्ध का अन्त कर देना चाहिये। अमेरिका तथा रूस के नेतृत्व में संसार के

राज्य दो गुटों में बँट गए हैं। और इस गुट बन्दी के कारण इन राज्यों के मध्य इस प्रकार तनातनी के सम्बन्ध हो गये हैं कि बिना सोचे-समझे एक दूसरे का प्रत्येक विषय में विरोध करते हैं। भारत इस दलबन्दी से पूर्णतः पृथक है। हमारे प्रधान मन्त्री ने भारत की नीति को "गति-शील तटस्थता" की नीति बतलाया है। हमारा देश यदि हंगरी में रूसी हस्तक्षेप का विरोधी है तो वह पश्चिमी एशिया में अमेरिका की नीति का भी समर्थक नहीं है।

हमारी पर-राष्ट्रनीति का एक मुख्य आधार, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, यह भी है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा किसी प्रकार कम न हो तथा इसका प्रभाव व्यापक हो। यह सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र विश्व-शासन नहीं है परन्तु यह मानव जाति की संगठित आत्मा (organized conscience of mankind) कहा जाता है। यह प्रभावी ढंग से अपना कार्य सम्पन्न कर कर सके उसके लिये आवश्यक है कि इसमें संसार के समस्त राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। भारत की सरकार का यह दृढ़ विश्वास है कि कुछ शक्तिशाली राष्ट्रों की राजनीति के कारण इस संगठन में से कुछ राज्यों को बाहर रखना सर्वथा अनुचित है। इसलिये भारत ने सदा अमेरिका की इस नीति का विरोध किया है कि गणतंत्र चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित रखा जाय।

संक्षेप में उपर्युक्त तथ्य हमारी पर-राष्ट्रनीति के आधार हैं। अप्रैल, १९५४ में भारत तथा जन-राज्य चीन की सरकार के मध्य तिब्बत के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ। यह समझौता इन्हीं उपर्युक्त सिद्धान्तों पर आधारित था। इनको पञ्चशील कहा जाता है। ये निम्नोक्त हैं:

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता का पारस्परिक सम्मान;
(२) अनाक्रमण;
(३) एक दूसरे के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप न करना;
(४) समानता तथा पारिस्परिक लाभ;
(५) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

भारत की सरकार ने संसार के सभी देशों से इस बात की विज्ञप्ति की है कि वे उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही अपनी पर-राष्ट्रनीति चलावें। सन् १९५५ में भारत ने रूस तथा योरोप की कुछ अन्य सरकारों के साथ इस प्रकार की सम्मिलित घोषणायें की जिनमें यह कहा गया कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध इन सिद्धान्तों के आधार पर होंगे। बांडुंग में जो एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ उसमें यह कहा गया कि वे अपनी पर राष्ट्रनीति में पंचशील

का ही अनुसरण करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सिद्धातो के अनुसार यदि ससार के विभिन्न राज्य अपनी विदेशी नीति चलायें तो उनके मध्य युद्ध का भय सर्वथा समाप्त हो जायगा।

भारत के अन्य देशों से सम्बन्ध —इसके अन्तर्गत हम भारत का प्रमुख यूरोपीय देश, सयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा एशिया के देशो के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का अध्ययन करेंगे।

यूरोपीय देश —यूरोपीय महाद्वीप में हमारे देश के इगलैण्ड के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि हमने इगलैण्ड के विरुद्ध सघर्ष किया तथा इगलैण्ड के आधिपत्य से मुक्ति के फलस्वरूप ही स्वतन्त्रता प्राप्ति की तथा हमारे इस देश से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बने हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इगलैण्ड की श्रमिक दलीय सरकार ने १९४७ में सत्ता का हस्तान्तरण स्वेच्छा से किया तथा दूसरा कारण यह है कि हमारे नेताओ ने स्वतन्त्रता के पश्चात पुरानी शत्रुता को भुला दिया। भारत जैसा हम पहले लिख चुके हैं राष्ट्र मण्डल का सदस्य है। राष्ट्रमण्डलीय देशों में हमारे प्रत्येक सदस्य से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हैं परन्तु दक्षिणी अफ्रीका की रग विभेद नीति के कारण इस देश [illegible]

दक्षिणी [illegible]

सम्बन्धो [illegible]

समर्थन करे। उदाहरणार्थ भारत ने स्वेज सकट (१९५६) के समय खुल कर ब्रिटेन की नीति का विरोध किया। इंगलैण्ड के साथ हमारे आर्थिक सम्बन्ध भी घनिष्ठ हैं।

[illegible]

स्वरूप १९५२ में चन्द्रनगर तथा १९५४ में पाँडचेरी, कारिकल, माही तथा यनम की बस्तियाँ भारत के अधिकार में आ गई। परन्तु अभी भी भारत में कुछ बहुत ही छोटे टुकडे पुर्तगाल के अधीन हैं। इन बस्तियो को—गोआ, डामन, ड्यू—पुर्तगाल की सरकार छोड़ने को प्रस्तुत नहीं है। परन्तु हमारा देश इन पर बलपूर्वक अधिकार नहीं करना चाहता, परतु यह आशा रखता है कि पुर्तगाल की सरकार स्वय ही इसको भारत को हस्तान्तरित कर देगी। पूर्वी यूरोप में, यद्यपि हमारा देश साम्यवादी व्यवस्था का समर्थक नहीं है तथापि हमारे रूस तथा अन्य साम्यवादी राष्ट्रो के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हैं। भारत के प्रधान मन्त्री ने रूस की यात्रा की थी (१९५५) तथा रूस के प्रधानमंत्री भारत आये

थे। हमारे रूस के सम्बन्ध 'पंचशील' पर आधारित हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में कई अवसरों पर भारत तथा रूस ने एक ही पक्ष में मतदान किया है। रूस से भारत को कुछ सीमा तक आर्थिक सहयोग भी प्राप्त हुआ है। परन्तु भारत ने इस मित्रता के फलस्वरूप अपने स्वतन्त्र निर्णय को त्याग नहीं दिया है। उदाहरणार्थ भारत ने सोवियत् रूस द्वारा हंगरी में हस्तक्षेप का विरोध किया। (१९५६)।

योरोप के राज्यों के साथ हमारे आर्थिक सम्बन्ध दो शताब्दी से भी अधिक पुराने हैं। आज भी हमारे विदेशी व्यापार में आयात तथा निर्यात दोनों में— योरोप का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट हो जायगा।

भारत का आयात व्यापार — मूल्य लाख रुपयों में

देश	१९५४	१९५५
इंगलैंड	१४,६०७	१५,९०६
पश्चिमी जर्मनी	३,५२४	५,४९८
इटली	२,१२७	१,५९५
नीदरलैंडस्	१,२४०	१,३४९
बेलजियम	१,१२५	८९४
स्विटजरलैंड	१,०२२	१,०९०
फ्रांस	९६५	१,७४०
स्वीडेन	६०१	६९४

निर्यात व्यापर — मूल्य लाख रुपयों में

देश	१९५४	१९५५
इंगलैंड	१७,६११	१६,५५२
प० जर्मनी	१,४६५	१,५६०
नीदरलैंड	९९७	१,७४२
इटली	५९६	६९७
फ्रांस	५२५	६५९

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका:—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से भी हमारे देश के अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सम्बन्ध हैं। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के साथ अमेरिका ने बीच बीच में अपनी सहानुभूति प्रकट की थी, यद्यपि यह सत्य है कि कोई ठोस कार्य हमारी सहायता के लिये नहीं किया था। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत को

सरकार तथा अमेरिका की सरकार के मध्य सम्बन्ध—राजनीतिक तथा आर्थिक—घनिष्ट होते गये। सन् १९५१ में भारत ने १८७२ लाख रुपये का अमेरिका सामान आयात किया तथा १९७० लाख रुपये का सामान वहाँ को निर्यात किया। अमेरिका ने हमारे देश को करोड़ों रुपये की आर्थिक सहायता दी है। औद्योगिक क्षेत्र में भी अमेरिका ने हमारे देश की सहायता की है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भारत तथा अमेरिका एक मत हैं। परन्तु भारत इस घनिष्टता के होने पर भी अनेक अमरीकी कार्यों का आलोचक रहा है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राष्ट्रसंघ में जनवादी चीन के प्रवेश के प्रश्न पर अथवा पश्चिमी एशिया में अमरिकन हस्तक्षेप नीति का भारत द्वारा विरोध किया गया है। परन्तु यह सब होने पर भी दोनों देशों के मध्य सम्बन्ध मित्रतापूर्ण है।

भारत का एशिया के देशों से सम्बन्ध—भारत एक एशियाई देश है और इसका एशिया के अन्य देशों से सम्बन्ध हजारों वर्ष पुराना है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत का अन्य एशियाई देशों से सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ तथा मित्रतापूर्ण हो गया है। इस कथन का केवल मात्र पाकिस्तान एक अपवाद है। हमारे इन एशियाई देशों से सम्बन्ध राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक हैं। एशिया के उत्तर में रूसी भाग को छोड़ कर भारत तथा चीन दो ही विशाल क्षेत्र हैं। चीन भी आधुनिक काल में भारत की ही भाँति पश्चिमी साम्राज्यवाद द्वारा उत्पीड़ित रहा है। यद्यपि सन् १९१२ में चीनी गणतन्त्र की स्थापना हो गई थी तथापि चीन की पूर्ण एकता तथा एक केन्द्रीय संगठित सरकार की स्थापना वहाँ वास्तव में २१ सितम्बर १९४९ को हुई जब राष्ट्रपति माओ से तुंग ने चीनी जनवादी गणतन्त्र की घोषणा की। एशिया के अन्य देश भी या तो विदेशियों के अधिकार में थे या विदेशियों के प्रभाव में थे। उदाहरणार्थ हिन्द एशिया डच साम्राज्य का भाग था, हिन्द चीन में फ्रांसीसी आधिपत्य था, बर्मा अंग्रेजों के अधीन था, अन्य राज्यों में इंगलैंड तथा फ्रांस का इतना अधिक प्रभाव था कि उनकी स्वतन्त्रता केवल नाम मात्र की थी। अफगानिस्तान तथा फारस स्वतन्त्र थे लेकिन उनका प्रभाव सीमित था। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापान की पराजय होने पर सर्वत्र एक स्वतन्त्रता की लहर व्याप्त हुई। एशिया में कई देश स्वतन्त्र हो गये तथा कुछ देशों में स्वतन्त्रता संग्राम प्रारम्भ हो गये। सम्पूर्ण एशिया में राष्ट्रवादी आन्दोलन जाग से उठने लगे। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप एशिया के राष्ट्रों में आत्म-गौरव जगा तथा वे वास्तव में अपनी आन्तरिक तथा बाह्य नीतियों में स्वतन्त्र रूप से काम करने को इच्छुक हुए। साम्राज्यवाद इस स्थिति को तटस्थ रूप से नहीं देख सकता था इसलिये इस आन्दोलन को रोकने के लिये साम्राज्यवादी देशों ने प्रयत्न किये। इसके साथ ही साथ इन आन्दोलनों को एक साम्यवादी मोड़ देने

का भी प्रयत्न किया गया। परन्तु वास्तव में ये आन्दोलन मुख्यतः राष्ट्रवादी थे यद्यपि साम्यवादियों ने इस अवसर का लाभ अपना प्रभाव-विस्तार करने के लिये किया। जिन देशों में साम्यवादियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन किया वहाँ उनके प्रभाव में वृद्धि हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं। उदाहरणार्थ, उत्तरी वियतनाम में जो सरकार स्थापित हुई है वह साम्यवादी दल के नेतृत्व में ही है। इसी प्रकार हिन्द एशिया में भी साम्यवादी दल काफी प्रभावशील है।

भारतवर्ष ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अन्य एशियाई देशों में जो मुक्ति आन्दोलन चल रहे थे उन्हें नैतिक सहायता प्रदान की। भारत जैसा हम पहले बतला चुके है अपनी नीति में साम्राज्य विरोधी है। हमारी सरकार के एशिया के अन्य देशों का सरकारों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हैं। हमने एशिया की आवाज को संगठित करने का प्रयत्न किया। भारत की यह नीति है कि एशिया के देश अपनी नीति में तटस्थ रहें तथा वे किसी बड़े राष्ट्र के पिछलग्गू न हो जायें। इसलिये भारत ने एशियाई देशों में सम्मेलन भी आयोजित किये। इन सम्मेलनों का यह उद्देश्य था कि ये देश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के ऊपर विचार-विमर्श करें। इन सम्मेलनों में सबसे मुख्य सम्मेलन बांडुंग सम्मेलन था। यह सम्मेलन अप्रैल सन् १९५५ में हिन्दएशिया में बांडुंग नामक स्थान में हुआ। इसमें अफ्रीका के देश भी सम्मिलित थे। इस सम्मेलन के द्वारा संगठित रूप से इन राष्ट्रों की नीति संसार के अन्य राज्यों के सम्मुख रखी गयी।

संक्षेप में हम भारत के अन्य प्रमुख एशियाई देशों से सम्बन्धों का वर्णन करेंगे :—

भारत तथा चीन :—चीन से हमारे देश का सम्बन्ध प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। आधुनिक काल में चीन तथा भारत दोनों ही पाश्चात्य साम्राज्य द्वारा उत्पीड़ित राष्ट्र रहे हैं। इसलिये स्वभावतः दोनों देशों के मध्य परस्पर एक दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण भावना है। यद्यपि चीन की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था हमसे भिन्न है तथा भारत की सरकार साम्यवाद का विरोध करती है तथापि उस देश से हमारे सम्बन्ध अत्यन्त ही मित्रतापूर्ण हैं। एशियाई सम्मेलनों में दोनों देशों ने मिलजुलकर काम किया है। एशिया के प्रति नीति में दोनों देशों में समानता है। दोनों देश विश्व शान्ति के समर्थक है तथा साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। भारत के प्रधान मन्त्री ने चीन की यात्रा की तथा चीनी प्रधान मन्त्री भारत आ चुके हैं। दोनों देशों के मध्य केवल

राजनीतिक सम्बन्ध ही नही स्थापित हुये हैं, अपितु सांस्कृतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध भी बढ रहे हैं। भारत सतत् प्रयत्नशील है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में जनवादी चीन को अपना न्यायोचित स्थान प्राप्त हो। चीन से हमारे देश को कोई प्रतिद्वन्दिता नही है। परन्तु इस वर्ष तिब्बत के प्रश्न के ऊपर दोनो देशों के दृष्टिकोणों में भेद होने के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धो मे कुछ खिंचाव आ गया है। परन्तु आशा है यह शीघ्र दूर हो जायगा।

भारत तथा बर्मा —बर्मा से भी भारत के सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। आधुनिक में बर्मा पर भी अंग्रेजो ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तथा यह १९३७ तक भारत का ही एक भाग था। परन्तु उस वर्ष बर्मा भारत से अलग कर दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के काल मे बर्मा में जापानी प्रवेश कर गए। महायुद्ध के पश्चात् बर्मा में स्वतन्त्रता के लिये लहर उठी तथा जनवरी सन् १९४८ में बर्मा एक स्वतन्त्र राज्य हो गया। स्वतन्त्र भारत तथा बर्मा मे घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ से ही रहे हैं। बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री यू नू भारत आ चुके हैं और भारत के प्रधान मन्त्री बर्मा हो आए हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बर्मा भी भारत की ही भाँति तटस्थता की नीति का अनुसरण करता है तथा साम्राज्यवादी नीति का विरोधी है।

भारत तथा हिन्द चीन —हिन्द चीन से भी भारत के राजनीतिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। आधुनिक काल में इस प्रदेश के ऊपर फ्रांस ने अपना आधिपत्य जमा लिया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यहाँ के निवासियों ने स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध होकर युद्ध किया। इस युद्ध के फलस्वरूप उत्तरी वियतनाम तथा दक्षिणी वियतनाम के स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना हुई। उत्तरी वियतनाम साम्यवादी प्रभाव में है। इन स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना में भारत ने बडी सहायता की थी। जेनेवा सम्मेलन द्वारा इस प्रदेश में युद्ध की समाप्ति हुई थी। दोनों राज्यों से भारत के सम्बन्ध अच्छे हैं। उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति डा० हो ची मिन्ह भारत आ चुके हैं। •

भारत तथा हिन्देशिया —दक्षिण पूर्वी एशिया के नये राज्यों में हिन्देशिया का एक महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्देशिया राज्य की रचना कुछ द्वीपों के मिलने से हुई है। इन सैकड़ो द्वीपों में चार द्वीप मुख्य हैं—जावा, सुमात्रा, सेलिबीस तथा कालीमाटन हैं। हिन्देशिया के द्वीपों में डच साम्राज्यवादियों ने अपना आधिपत्य आधुनिक काल में जमा लिया था और इन द्वीपों के प्राकृतिक साधनों का उनके द्वारा शोषण किया गया। परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात हिन्देशिया की जनता ने संघर्ष के फलस्वरूप अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। हिन्दे-